

An International Registered Peer Reviewed Bilingual Research Journal

SATRAACHEE

ISSN 2348-8425

सत्राची

A UGC-CARE Enlisted
Peer Reviewed Research Journal

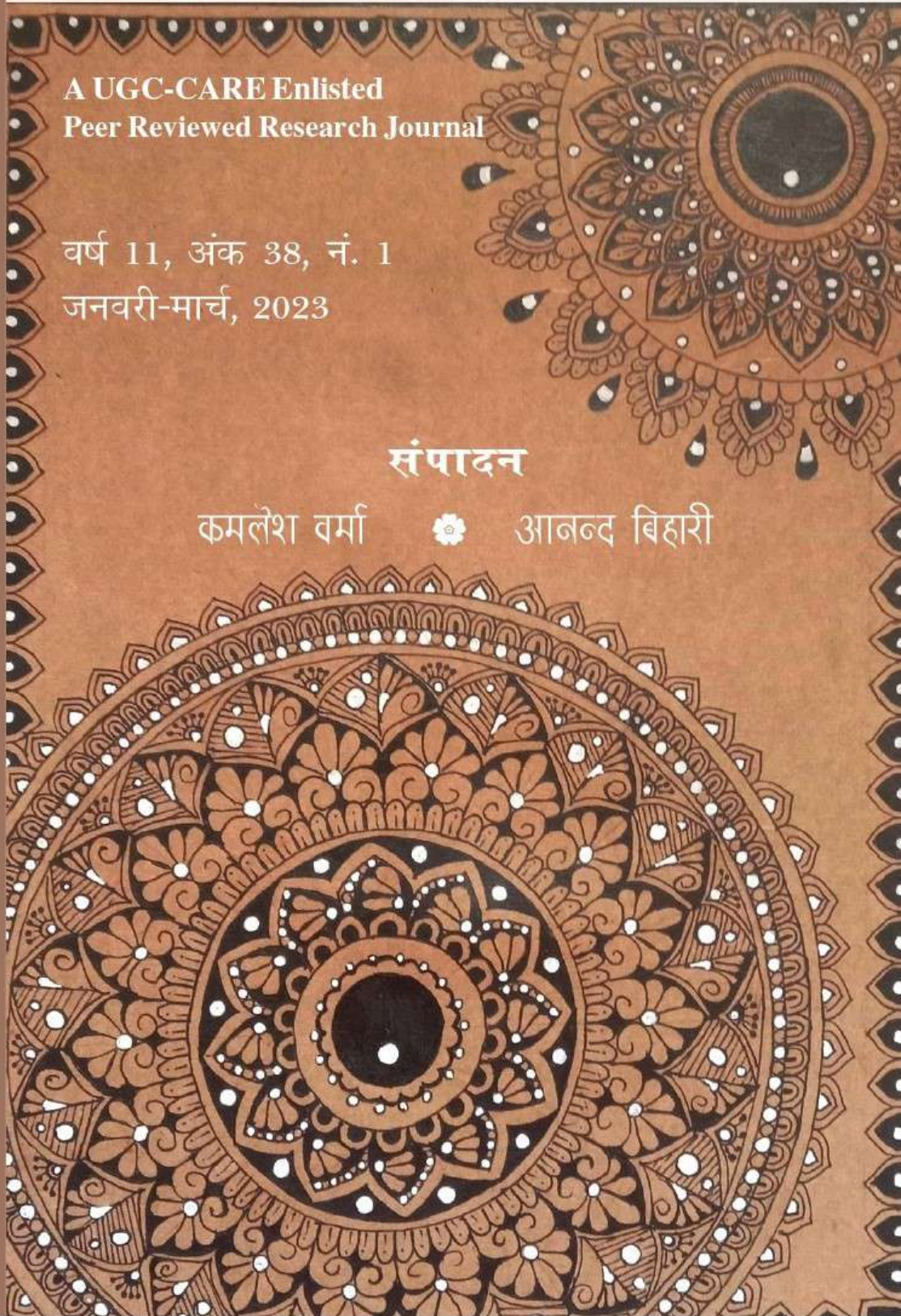
वर्ष 11, अंक 38, नं. 1
जनवरी-मार्च, 2023

संपादन

कमलेश वर्मा



आनन्द बिहारी



ISSN : 2348-8425

सत्राजिती

मानविकी एवं सामाजिक विज्ञान की पूर्व समीक्षित त्रैमासिक शोध पत्रिका

वर्ष 11, अंक 38, नं. 1, जनवरी-मार्च, 2023

प्रधान संपादक
कमलेश वर्मा

संपादक
आनन्द बिहारी

समीक्षा संपादक
आशुतोष पार्थेश्वर, सुचिता वर्मा,
प्रवीण कुमार यादव

सह-संपादक
अर्चना गुप्ता, जयप्रकाश सिंह,
हुश्रन आरा

सहायक संपादक
भावना मिश्रा

सलाहकार समिति व समीक्षा मंडल

अनीता राकेश, प्राध्यापक, हिंदी विभाग, जे.पी.विश्वविद्यालय, छपरा।
मुक्तेश्वर नाथ तिवारी, प्राध्यापक, शांति निकेतन, प.बंगाल।
ब्रज बिहारी पांडेय, असिस्टेंट प्रोफेसर, हिंदी, ओरिएंटल कॉलेज, पटना सिटी।
पुष्पलता कुमारी, एसोसिएट प्रोफेसर, राजनीति विज्ञान, म.म.कॉ., पटना।
राजू रंजन प्रसाद, असिस्टेंट प्रोफेसर, इतिहास, मुजफ्फरपुर।
नीरा चौधुरी, प्राध्यापक, संगीत, पटना विश्वविद्यालय, पटना।
अरविन्द कुमार, एसोसिएट प्रोफेसर, संगीत, पटना विश्वविद्यालय, पटना।
नीतु सिंह, सहायक प्राध्यापक, वीमेन्स ट्रेनिंग कॉलेज, पटना विश्वविद्यालय।



SATRAACHEE

Peer Reviewed and Refereed Research Journal

A UGC-CARE Enlisted Journal

मूल्य : ₹ 250

सदस्यता शुल्क :

पंचवार्षिक	: 4,000 रुपए (व्यक्तिगत)
	: 10,000 रुपए (संस्थागत)
आजीवन	: 10,000 रुपए (व्यक्तिगत)
	: 20,000 रुपए (संस्थागत)

बैंक खाते का विवरण :

SATRAACHEE FOUNDATION,
A/c No. 40034072172, IFSC : SBIN0006551,
State Bank of India, Boring Canal Rd.-Rajapool,
East Boring Canal Road, Patna, Bihar, Pin: 800001

© सर्वाधिकार सुरक्षित

प्रकाशित रचनाओं से संपादक का सहमत होना आवश्यक नहीं है।

संपादन/प्रकाशन : अखिल भारतीय/अखिल भारतीय

प्रकाशक : सत्राची फाउंडेशन, पटना

आवरण चित्र : सौम्या स्वर्णिम

संपादकीय संपर्क :

आनन्द बिहारी

कला कुंज, दूसरा तल्ला

बाजार समिति रोड, बहादुरपुर, पटना, पिन : 800016

Website : <http://satraachee.org.in>

E-mail : satraachee@gmail.com

Mob. : 9661792414, 9470738162 (A.Bihari.)
: 9415256226 (Kamlesh Verma.)



SATRAACHEE

इस अंक में...

संपादकीय

05 :: जाति के प्रश्न

कमलेश वर्मा

स्पष्ट

07 :: चाक कविता सम्मान, 2022

संतोष पटेल

आलेख

09 :: स्त्री और आदिवासी स्त्री का पक्ष रखती जसिंता केरकेट्टा की कविताएँ

प्रमोद मीणा

16 :: मैथिली में बहुजन साहित्य की संभावनाएँ

पंकज चौधरी

19 :: जाति का सवाल और निराला

अमिष वर्मा

26 :: संत रैदास के उल्लेखकार

राजेन्द्र प्रसाद सिंह

31 :: हिंदी गीत-परंपरा एवं लोक-मन का यथार्थ

चंद्रकांत सिंह

39 :: लोक कथाओं की प्राचीन परंपरा : संस्कृत साहित्य के संदर्भ में

अनीता कुमार

45 :: मध्यकालीन हिंदी साहित्य के अनुभव परिसर को विस्तार देती हैं मुग़ल बादशाहों की हिंदी कविताएँ

संगीता मोर्य

57 :: राष्ट्र और राजनीति के आईने में दलित कविता

नीरज कुमार मिश्र

66 :: दिनकर का वह छंद जो गद्य रह गया....

उज्ज्वल आलोक

72 :: अज्ञेय के संस्मरणों का विभागत वैशिष्ट्य

मुनिल कुमार वर्मा

79 :: भारतीय कथा परंपरा का वैशिष्ट्य और प्रेमचंद का कथा साहित्य

मोहन कुमार

85 :: भारतीय स्वतंत्रता आंदोलन में मंचीय हिंदी कविता की भूमिका

अनिल कुमार अनिवार्य

91 :: भारतीय स्वतंत्रता आंदोलन और हिंदी कविता

अनामिका शिल्पी

98 :: अंतरानुशासनात्मक अध्ययन की दृष्टि और उपयोगिता

शंभुनाथ मिश्र

104 :: प्रोक्ति के पक्ष

धनजी प्रसाद

109 :: नारी जागृति और वृंदावन लाल वर्मा के उपन्यास

शशिकला

114 :: फणीश्वरनाथ रेणु के उपन्यासों की संरचना और यथार्थवाद

रंजना सिंह

125 :: सुशीला टाकभौरे के उपन्यास 'नीला आकाश' में अभिव्यक्त स्त्री चेतना

रेखा यादव

134 :: चित्रा मुदगल के कथा साहित्य में वृद्ध विमर्श

प्रीति सिंह

141 :: ग्रामीण स्त्रियों का बदलता रूप और शिवमूर्ति की कहानियाँ

सोनी साव

146 :: सिद्ध-नाथ साहित्य, सरहपा और हजारीप्रसाद द्विवेदी की आलोचना दृष्टि

दिवाकर दिव्यांशु

153 :: हिंदी दलित नाटक और रंगमंच

विकास सूर्यकांत वाघमारे

157 :: 'सुगम' का मिज़ाज : 'बुरा लगे तो लगे हमारे ठेंगे से'

सुचिता वर्मा

162 :: विकास का मौजूदा मॉडल, तकनीक और गाँधी

आशुतोष पार्थेश्वर

पूर्वोत्तर की लाली (आलेख)

168 :: 'लप्या' की शिकार स्त्री की पुकार

अभिषेक कुमार यादव

कहानी

181 :: भाइट हाउस...

एस.तरंगिणी

शोधालेख

188 :: अनुराग कश्यप के सिनेमा की यथार्थवादी दृष्टि

एज़ाजुल हक

196 ::	‘हंस’ की वैचारिक बहसों में ‘कॉमरेड का कोट’ संबंधी विवाद का स्थान	उर्वशी कुमारी
202 ::	मोहन राकेश एवं निर्मल वर्मा के संदर्भ में यात्रा साहित्य का वैशिष्ट्य	शिलाची कुमारी
208 ::	पंचतंत्र एवं हितोपदेश की बाल कहानियों का तुलनात्मक अध्ययन	पूनम
212 ::	स्त्री-विमर्श : अर्थ एवं विकास	नीरज कुमार
219 ::	भारतीय स्वतंत्रता आंदोलन के इतिहास में महात्मा गांधी और सुभाष चंद्र बोस के विचारों एवं रणनीतियों का संघर्ष	अजीत प्रताप सिंह
224 ::	विपुल व विस्तृत ग्रामीण विकास का रचना संसार : एक समग्र अध्ययन	स्वर्णिम घोष
232 ::	जिला सोनभद्र में कृषि विविधता पर खनन का प्रभाव एवं भूमि के परिवर्तित होते प्रतिरूप का विश्लेषण	उरुज फात्मा
239 ::	स्वतंत्रता के बाद जन्मदर की प्रवृत्तियाँ	आर.के. मौर्य
251 ::	बाल्यावस्था में भाषा-अर्जन की प्रक्रिया	शाजिया परवीन
256 ::	माध्यमिक विद्यालय के अध्यापकों में कार्य नैतिकता का महत्व	सदफ़ अरशी

विशेष प्रस्तुति

261 ::	उद्धव-शृंखला के पद	विवेक निराला
		प्रस्तुति : कमलेश वर्मा

पुस्तक समीक्षा

266 ::	‘फ़ल्यु किनारे’ : होने और न होने का फर्क दिखाती कविताएँ	आनन्द बिहारी
--------	---	--------------



जाति के प्रश्न

जाति के प्रश्न क्रमशः महत्वपूर्ण होते जा रहे हैं। एक तरफ घोषणाएँ होती रहीं कि जाति-पाँति को छोड़ देना चाहिए और दूसरी तरफ हमारा प्रत्येक पक्ष जाति के आधार पर कुछ न कुछ निर्णय लेता रहा। एक समय था जब ऊँची जातियों का गौरव गान पुस्तकों में दिखायी पड़ता था। फिर एक समय आया जब दलित-पिछड़ी जातियों ने अपनी हिस्सेदारी की लड़ाई लड़ी। आरक्षण की व्यवस्था को मुख्य आधार बनाकर सामाजिक-राजनीतिक संघर्ष की जो प्रक्रिया शुरू हुई उसकी एक परिणति आर्थिक रूप से कमजोर सवर्ण जातियों के आरक्षण की व्यवस्था में हुई। कोशिश थी कि सबको सबल बनाया जाए। कुछ सफलता भी मिली। यह कहने में कोई हिचक नहीं हो सकती कि आरक्षण ने सामाजिक-आर्थिक-राजनीतिक परिवर्तन में प्रभावी भूमिका अदा की। हम जातिवाद के कुछ रूपों से मुक्त भी हुए और कुछ दूसरे ढंग के जातिवाद से पीड़ित भी! इस पीड़ा का विस्तार सभी जातियों तक पहुँचता है। कहने की जरूरत नहीं कि कमजोर जातियाँ ज्यादा पीड़ित रही हैं।

‘सत्राची’ – 38 में जाति के प्रश्नों पर विचार करते हुए कई लेख प्रकाशित हो रहे हैं। प्रमोद मीणा ने जसिंता केरकेट्टा के काव्य-संग्रह ‘ईश्वर और बाजार’ पर विचार करते हुए आदिवासी स्त्रियों पर कई पक्ष रखे हैं। पंकज चौधरी ने मैथिली साहित्य में बहुजन जातियों की जगह को लेकर चिंता प्रकट की है। यह दुर्भाग्य है कि मैथिली भाषा की छवि एक ऐसी भाषा की बन गयी है जिसके बारे में गैर-मैथिली भाषी समझता है कि यह मैथिल ब्राह्मणों की भाषा है। इसके साहित्यकारों के बारे में भी उसकी प्रायः यही राय है। मगर सच्चाई यह है कि मैथिली एक जनभाषा है जिसे उस क्षेत्र का प्रत्येक व्यक्ति बोलता है, चाहे वह किसी भी जाति का हो! भाषा और साहित्य को लेकर काम करनेवाली संस्थाओं को इस जातीय विविधता का ख्याल रखना चाहिए। अमिष वर्मा ने ‘जाति का सवाल और निराला’ शीर्षक लेख में निराला के कथा-साहित्य, कविता और निबंधों को समग्र रूप से ध्यान में रखकर जाति-संबंधी उनके पक्षों को सुलझे रूप में रखा है। निराला जैसे श्रेष्ठ रचनाकार के लेखन में जाति के प्रश्नों पर लगभग उसी जटिलता के साथ विचार किया गया है जितनी जटिलता के साथ ये प्रश्न हमारे समाज में मौजूद हैं। उनके लेखन में दलित-प्रश्न तो हैं ही ब्राह्मण-प्रश्न भी हैं। ब्राह्मण जाति की सीमाओं (संस्कारों) का अतिक्रमण करने वाले कुछ ब्राह्मण पात्र निराला की रचनाओं में जिस दुर्गति के साथ चित्रित हुए हैं उनका सम्बन्ध भी जाति के प्रश्नों से जुड़ता है। उन्होंने स्वयं भी ऐसी दुर्गति सही थी।

राजेन्द्र प्रसाद सिंह ने जाति के प्रश्नों के गिर्द ‘संत रैदास के उल्लेखकार’ शीर्षक लेख लिखा

है। नीरज कुमार मिश्र का लेख 'राष्ट्र और राजनीति के आईने में दलित कविता' का सन्दर्भ भी इन प्रश्नों से जुड़ा हुआ है। 'सत्राची' का यह अंक इन लेखों के माध्यम से जाति के प्रश्नों पर साहित्य के माध्यम से विचार-विमर्श का प्रयास कर रहा है। इन प्रश्नों पर विचार किए बगैर जातिवादी भेद-भाव से मुक्ति के रास्तों की तलाश नहीं की जा सकती है। वर्चस्वशाली जातियाँ भेद-भाव पर बात करने की जगह एकता पर जोर देती हैं और भीतर-भीतर अपने वर्चस्व को अभेद्य बनाती रहती हैं। उत्पीड़ित जातियाँ अपनी पीड़ा के आख्यान तक अपने को सीमित कर लेती हैं। यह जरूरी है कि जैसे वर्गविहीन समाज की स्थापना के लिए वर्गों के बारे में विश्लेषण करने की सैद्धांतिकी कार्ल मार्क्स ने विकसित की थी वैसे ही जातिवाद की पीड़ा से मुक्ति की राह जाति के प्रश्नों के विश्लेषण के भीतर से ही निकलेगी। यह ठीक है कि आज तक वर्गविहीन समाज नहीं बन सका। हो सकता है कि जातिविहीन समाज भी कभी न बन सके! मगर मार्क्सवाद ने वर्गों के कारण उत्पन्न भेद-भावों को उजागर करने में सफलता तो पायी ही। उन्होंने शोषण की पहचान तो करायी ही। मार्क्सवाद की अनुपस्थिति में वर्गीय शोषण की पहचान नहीं हो सकती थी, उसे ईश्वरीय निर्णय या पूर्वजन्म के पापों का फल मान कर संतोष कर लेने की प्रवृत्ति को ही बढ़ावा मिलता था। जाति के प्रश्नों पर विचार का अर्थ है जाति-आधारित उत्पीड़न को समझना और जागरूक होना कि हमें इसके खिलाफ होना है!

इस बार का आवरण चित्र 12 वीं कक्षा की सौम्या स्वर्णिम की पेंटिंग से बनाया गया है। एक कलाकार के रूप में सौम्या के स्वर्णिम भविष्य की हम कामना करते हैं। अनेक शोध-पत्रों से सज्जित यह अंक आपकी ज्ञानमूलक जिज्ञासाओं को समृद्ध करेगा, ऐसी आशा है।

सादर
कमलेश वर्मा

चाक कविता सम्मान, 2022

□ संतोष पटेल

मुजफ्फरनगर: डी.ए.वी. डिग्री कॉलेज में आयोजित समारोह में कवयित्री सुनीता अबाबील को उनके कविता संग्रह 'पांच मर्दों वाली औरत' के लिए 'श्री सोहनवीर सिंह प्रजापति स्मृति चाक कविता सम्मान-2022' प्रदान किया गया। इस अवसर पर मुख्य वक्ता प्रख्यात लेखिका अनिता भारती ने कहा कि सुनीता अबाबील एक सजग और सचेत कवयित्री हैं। इस दौर में जबकि भाषा के सौन्दर्य की आड़ में यथार्थ से मुंह चुगने की प्रवृत्ति बढ़ती जा रही है, सुनीता अबाबील यथार्थ को प्रकट करती हैं। उनकी कविताएं दलित स्त्री विमर्श खड़ा करती हैं। इस अवसर पर मुख्य अतिथि सुप्रसिद्ध कथाकार योगेन्द्र आहूजा ने चाक के विभिन्न पहलुओं पर चर्चा करते



हुए कहा कि चाक श्रम का प्रतीक है। सुनीता की कविताएं श्रम के महत्व को रेखांकित करती हैं। उन्होंने कहा कि इस राह में बड़े खतरे हैं। हमें इन खतरों से सावधान रहते हुए आगे बढ़ना है। विशिष्ट अतिथि 'कथादेश' के संपादक हरिनारायण ने यह सम्मान मिलने पर सुनीता अबाबील को अपनी शुभकामनाएं दी। डॉ. गोरखनाथ मस्ताना ने कहा कि सुनीता की कविताएं प्रतिरोध का जज्बा पैदा करती हैं। वे खामोशी तोड़ने वाली कवयित्री हैं।

डॉ. संतोष पटेल ने सुनीता अबाबील की कविताओं पर चर्चा करते हुए कहा कि उनकी कविताएं अपने समाज के तन्तुओं को खोलती हैं। अलक्षित बातें उनकी कविताओं में दर्ज होती हैं। युवा कवि और आलोचक अरुण कुमार ने कहा कि दलित स्त्री का दुख स्वर्ण स्त्री के दुख से अलग है। आधी आबादी की बात सुनने की प्रक्रिया में हमें दलित स्त्रियों पर विशेष रूप से ध्यान देना होगा। इस अवसर पर सम्मानित कवयित्री सुनीता अबाबील ने भी विचार व्यक्त किए और अपनी कुछ कविताओं का पाठ किया। अध्यक्षता करते हुए वरिष्ठ एवं प्रतिष्ठित आलोचक डॉ. विश्वनाथ त्रिपाठी ने कहा कि कवि या लेखक के जीवन में एक रिक्तता बनी रहनी चाहिए। यह रिक्तता ही सृजन को एक नया आयाम देती है। हमें अतीत से सबक लेते हुए अपनी जिम्मेदारियों

को समझना होगा। दूसरे सत्र में कवि गोष्ठी का आयोजन किया गया। कवि गोष्ठी में डॉ. गोरखनाथ मस्ताना, डॉ. संतोष पटेल, भारतेन्दु मिश्र, अब्दुल हक सहर, सुशीला जोशी, सुशीला शर्मा, कमला शर्मा और पूजा गोयल ने अपनी कविताएं सुनाई। संयोजक रमेश प्रजापति रहे। कार्यक्रम का संचालन रोहित कौशिक ने किया। इस अवसर पर संयोजक रमेश प्रजापति की माता जी केला देवी, ममता प्रजापति, कमल प्रजापति, परमेन्द्र सिंह, प्रो. आर.एम. तिवारी, डॉ. प्रदीप जैन, गय्यूर अहमद, नेमपाल प्रजापति, तरुण गोयल, मनु स्वामी, कमल त्यागी, डॉ. अरविन्द कुमार, संतोष शर्मा, योगेन्द्र सोम, सुनील शर्मा, विपुल शर्मा सहित अनेक साहित्यप्रेमी उपस्थित रहे।



स्त्री और आदिवासी स्त्री का पक्ष रखती जसिंता केरकेट्टा की कविताएँ

○ प्रमोद मीणा

कवयित्री जसिंता केरकेट्टा आदिवासी होने के साथ-साथ स्त्री भी हैं और यही कारण है कि उन्होंने 'ईश्वर और बाजार' शीर्षक से आए अपने कविता संकलन में स्त्री और आदिवासी स्त्री के विविध पक्षों को पूरी स्वानुभूति और संवेदना के साथ रखा है। वे स्त्री को देह मात्र समझने वाली पितृसत्ता की तो अच्छे से ख़बर लेती ही है किंतु इस पितृसत्ता के दिक्कू सवर्ण चरित्र को दलित-उत्पीड़ित स्त्री विशेषतः आदिवासी स्त्री के संदर्भ में और खोलकर रख देती हैं। इस प्रकार एक ओर जहाँ वे स्त्री उत्पीड़न और स्त्री के अपने अनुभवों की दृष्टि से विविध विषयों पर लिखती हैं, वहीं आदिवासी स्त्री का पक्ष रखते हुए स्त्री विषयक मुद्दों के सरलीकरण से भी बचने की कोशिश करती हैं।

बलात्कार किसी स्त्री देह के साथ किया जाने वाला यौन अपराध मात्र नहीं होता अपितु स्त्री जाति के खिलाफ पुरुषों द्वारा अपनाई जाने वाली डर की राजनीति का हिस्सा होता है। इसका एक आयाम यह भी है कि यह स्त्री मात्र के खिलाफ पुंसवादी हिंसा होने के साथ-साथ अपना जातीय-वर्गीय चरित्र भी लिए रहता है। अपनी कविता 'राजनीति की सड़क पर' में जसिंता बलात्कार की इस राजनीति को तो उठाती ही है, वहीं बलात्कार की राजनीति के सामुदायिक, सांप्रदायिक और जातीय आयाम को भी उजागर कर देती है- "अब यह लिंग / धीरे-धीरे बंदूकों में तब्दील हो रहा है / इसके जरिए एक साथ / किसी खास समुदाय का बलात्कार किया जाएगा"। कवयित्री दिखाती हैं कि बलात्कार की राजनीति को धार देने वाला समाज और ऐसे समाज के राजनेता बलात्कार के खिलाफ चौराहों पर होने वाले विरोध प्रदर्शनों में सिर्फ थोथे आश्वासनों की राजनीति करते हैं। कवयित्री बलात्कार की इस राजनीति और मानसिकता को जड़ से मिटाने पर बल देती हैं। वह ऐसे लोगों पर भी अपना गुस्सा व्यक्त करने से पीछे नहीं रहती जो मनुष्यता की दृष्टि से भयावह साबित होते दिनों को देखकर और दमित-शोषित-बलात्कृत स्त्री की चीखें सुनकर भी भावशून्य रह जाते हैं। ऐसे आत्मकेंद्रित लोग स्त्री पर होने वाले अत्याचारों के खिलाफ विरोध में आवाज तक नहीं उठाते और अभ्यासवत् अपने ही जीवन में डूबे रहते हैं। कवयित्री 'जिंदा कहलाता हुआ' कविता में ऐसे लोगों को लकवाग्रस्त बताती हैं जो आधे मरे होने पर भी जिंदा कहलाते हैं- "जैसे लकवा मार जाता हो / पर आदमी बचा भी रहता हो / देखता हुआ सुनता हुआ / जरूरत भर फुसफुसाता हुआ / आधा मरा हुआ फिर भी / जिन्दा कहलाता हुआ"।

स्त्री को लेकर गैर आदिवासी और आदिवासी समाज के बीच के अंतर को सामने लाने वाली जसिंता की कविताओं में एक कविता विशेष रूप से हमारा ध्यान खींचती है- 'क्यों मिटाए गए अखड़ा-धुमकुड़िया ?' कवयित्री दिखाती हैं कि पुंसवादी गैर आदिवासी सभ्यता स्त्री को देह मात्र समझती है। बलात्कार की संस्कृति में डूबी यह सभ्यता अपनी देह पर स्त्री के अधिकार को, पुरुष के साथ बराबरी के उसके रिश्ते को, उसकी

देह की गरिमा को सम्मान देने के लिए तैयार नहीं है। दूसरी ओर आदिवासियों में धुमकुड़िया, गीति:-ओड़ा और घोटुल जैसी संस्थाओं के माध्यम से स्त्री-पुरुष को बराबर समझने वाले सांस्कृतिक मूल्यों की परंपरा मिलती है। स्त्री को बराबर समझने, उसे सुनने की आदत डालने, उसकी देह की गरिमा का सम्मान करने की शिक्षा को जीवन का अंग यहाँ बनाया जाता है। कविता दिखाती है कि आदिवासियों के इन सांस्कृतिक-शैक्षणिक संस्थानों को बदनाम करके बंद करवाने की दिक्कू चेष्टाएँ इसीलिए होती आ रही हैं क्योंकि कथित सभ्य लोगों को यह सहन नहीं हो पाता कि कैसे इन आदिवासी संस्थाओं में कोई स्त्री मुक्त ढंग से हँस-बतिया सकती है। रात-रातभर अखड़ा में स्त्री-पुरुष का समूह में नाचना-गाना, हँसना-बतियाना पितृसत्ता की बलात्कारी संस्कृति को सह्य नहीं हो पाता, कारण कि लैंगिक बराबरी में बलात्कारी पितृसत्ता की कोई आस्था नहीं होती है- “पहले चकराते हैं फिर चिल्लाते हैं / स्त्रियों को समझते हुए / कैसे संभव होगा बलात्कार ? / स्त्रियों को सुनते हुए / कैसे अनसुनी की जाएगी उनकी चीत्कार ? / कैसे कुचली जा सकेगी / बेरहमी से उनकी आत्मा ? / ऐसे में कैसे होगा / उनका सम्पूर्ण खात्मा ?”

पितृसत्ता इस बात को जानती है कि अगर स्त्री को सुना गया, समझा गया, तो फिर वह उससे बलात्कार भी नहीं कर पायेगी क्योंकि फिर बलात्कारी के लिए स्त्री की चीत्कार को अनसुना करना, उसकी आत्मा को कुचलना भी संभव नहीं रह पायेगा। अस्तु आदिवासी स्त्री के हँसने-बतियाने को संभोग के लिए उसकी स्वीकृति समझने की गलतफहमी पालने वाली गैर आदिवासी सभ्यता के गाल पर यह कविता एक तमाचे की तरह है। आदिवासियों के सांस्कृतिक-शैक्षणिक संस्थानों के खत्म होने को कवयित्री गैर आदिवासी पितृसत्ता के हमलों की परिणति के रूप में चिह्नित करती है। ‘यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः’ के नाम पर भारतीय संस्कृति की महानता का डंका पीटने वाले पुरुषों की जो सच्चाई ‘एक दिन पिता हो गई’ कविता की लड़की पाती है, वह इन पुरुषों की स्त्री विरोधी यौन ग्रंथि को खोलकर रख देती है- “पिता की तरह दिखने वाले लोग भी / बच्चियों के पिता होना नहीं चाहते / वे उन्हें स्त्री ही समझते हैं / जिन्हें प्रेमी होने में कोई संकोच नहीं होता”।

आदिवासी संस्थाओं पर सीधा हमला करने के साथ-साथ आदिवासियों को सभ्य बनाने, शिक्षित करने के बहाने भी दिक्कू सभ्यता आदिवासियों में लैंगिक भेदभाव का बीज बो रही है। ‘सभ्य होते आदिवासी’ कविता में कवयित्री आदिवासियों को जंगली-असभ्य घोषित करके उन्हें सभ्य-शिक्षित बनाने का दावा करने वाले लोगों की कथित सभ्यता-शिक्षा के नीचे छिपी पुंसवादी भेदभावमूलक संस्कृति को उजागर करती है। वह पढ़-लिख जाने वाले आदिवासियों में घर करते पुंसवादी मूल्यों पर प्रहार करते हुए अपने आदिवासी समाज को चेताती है कि पढ़े-लिखे सभ्य होते आदिवासी लड़के को विवाह के लिए जहाँ गोरी लड़की की चाह रहती है, वहीं पढ़ी-लिखी सास को अपनी बहू से बेटे की चाह रहती है। कवयित्री आदिवासी समाज में विद्यमान लैंगिक समता से दूर ले जाने वाली ऐसी शिक्षा और सभ्यता में आदिवासी के पतन का उत्स देखती है- “उसका सीखना और शिक्षित होना जारी है / और जारी है सभ्य होते हुए / अपने आदमीपन से / एक कदम और नीचे गिरने का सिलसिला”।

आदिवासी साहित्य में दलित साहित्य की जैसे आदिवासी साहित्यकारों ने स्वानुभूति और सहानुभूति के सवाल को अभी उस तरह से नहीं उठाया है किंतु आदिवासी साहित्य के नाम पर गैर आदिवासी लेखकों के उस साहित्य के प्रति चुप्पी नहीं लगाई जा सकती जो आदिवासियों का गलत ढंग से चित्रण करता है, जिसके लिए आदिवासी स्त्री अपनी कामुक पुंसवादी सोच की अभिव्यक्ति का माध्यम भर होती है। प्रायः आदिवासी साहित्य के नाम पर गैर आदिवासी लेखकों द्वारा आदिवासी लड़कियों-युवतियों की अर्द्धनग्न कामुक छवियों का चित्रण कविता आदि में किया जाता है। गैर आदिवासी पाठक भी ऐसे प्रसंगों और चित्रणों को रस ले लेकर पढ़ते हैं। कवयित्री ‘आदिवासी लड़कियाँ’ शीर्षक अपनी कविता में ऐसे लेखकों और पाठकों, दोनों को लताड़

लगाती है। आदिवासी लड़की की हँसी, सहजता और अलहलडता को बिकाऊ मानने की पुरुषवादी ग्रंथ के शिकार ऐसे लेखकों की गंदी मानसिकता पर यह कविता तीखा प्रहार करती देखी जा सकती है। आदिवासी समाज की सांस्कृतिक-शैक्षणिक संस्थानों की यौनवादी कु-व्याख्या और गलत प्रस्तुति का विरोध भी यहाँ ध्यातव्य है। वास्तव में आदिवासी और आदिवासी साहित्यकार संबंध खराब होने के डर से गलत को गलत न कहने की कथित भद्रता में यकीन नहीं रखते, वे तो गलत को गलत और सही को सही कहने की सीधी-सादी नीति पर चलने वाले लोग होते हैं। यही कारण है कि जसिंता भी आदिवासी स्त्री के प्रति गंदी नजर रखने वाले लेखकों और उनके पाठकों पर अपनी इस कविता के माध्यम से हँसिया चलाती नजर आती हैं- “अब किसी कविता में उसे / ऐसी कोई लड़की नहीं मिलती / कविता चलाती है उसकी पीठ पर हँसिया / तोड़ देती है उसकी गंदी अँगुलियाँ”। आदिवासी स्त्री का गलत चित्रण करने वाले लेखकों को साफ-साफ चेतावनी देने का अब वक्त आ भी चुका है ताकि आदिवासी साहित्य की बढ़ती लोकप्रियता और प्रभाव को इस प्रकार के कूड़े-कचरे से दूर रखा जा सके।

गैर आदिवासी पितृसत्तात्मक समाजों में स्त्री को चाहे देवी का दर्जा दिया जाता हो, लेकिन दबे-कुचले, गरीब घरों की बहिन-बेटी इन मर्दों के लिए उपभोग की और वह भी सामूहिक उपभोग की वस्तु होती है। हाशिये के समाजों से आने वाली स्त्री की हाँ या ना पितृसत्ता के लिए कोई मायने नहीं रखती। अपनी कविता ‘मिल-बाँटकर खाने वाले लोग’ में कवयित्री तीखा व्यंग्य करती है कि चाहे अन्य मामलों में ताकतवर दिक्कू मर्द आपस में मिलनसारिता रखते हो या न रखते हो लेकिन हाशिये की कमजोर स्त्री का भोग लगाने में पूरी मिलनसारिता दिखाते हैं- “वे इतने मिलनसार हैं कि क्या कहूँ / कुछ और मिलकर खाएँ या न खाएँ / पर स्त्री को मिल-बाँटकर ही खाते हैं”। स्त्री देह का सामूहिक भोग उड़ाने वाली दिक्कू पितृसत्ता में डूबे मर्दों को आदमी की शक्ल में कुत्ता कहना यहाँ कवयित्री के स्त्री हृदय में सुलगते आक्रोश और व्यथा की अभिव्यक्ति कही जायेगी। प्रेमचंद ने ऐसे ही अमानवीय अपराधियों-शोषकों के संदर्भ में घृणा और नफरत की प्रासंगिकता-स्वीकार्य रेखांकित की थी।

दिक्कू पितृसत्ता का जातिवादी दोगलापना भी इस कविता में दृष्टव्य है। दिन में बात-बात पर जातिवाद करने वाली पितृसत्ता रात के अंधेरे में कथित नीच जात की स्त्री देह का सामूहिक भोग करने में नहीं हिचकिचाती। इस पितृसत्ता का दोगलापन उस प्रसंग में भी देखा जा सकता है जहाँ अपनी नाजायज बेटियों की हत्या कर उन्हें गाड़ने में इसे झिझक नहीं होती किंतु दूसरी ओर अगर ऐसी संतान बेटा हुई तो बेऔलाद पत्नी को उसे थमाने में भी इसे लाज नहीं आती। सवर्ण पितृसत्ता की भूख मिटाने को अभिशप्त दलित-आदिवासी स्त्री को कोई घर ऐसा नहीं मिलता जिसे वह अपना कह सके। मर्दों के बीच बाँटी जाती ये अभागी स्त्रियाँ मानसिक तौर पर जिस दमन और विभाजन की यंत्रणा से गुजरती हैं, उसे भी कविता स्पष्ट कर देती है।

प्रायः भारतीय सभ्यता-संस्कृति के ठेकेदारों द्वारा अपने यहाँ के सनातनी लोकतंत्र की बड़ी डींगें हांकी जाती हैं लेकिन ये लोग कभी भूलकर भी उस सवर्ण व्यवस्था के द्वारा दमित-कुचली लैंगिक अस्मिताओं और जातियों की अभिव्यक्ति पर लगाये गये तालों पर मुँह नहीं खोलते। दिक्कू सवर्ण धर्मग्रंथों और साहित्य में अगर उनके द्वारा स्त्रियों पर किये दमन-उत्पीड़न का जिक्र नहीं मिलता या स्त्रियों की मातहती को परिवार-संस्कृति के आदर्श के तौर पर स्थापित किया गया है, तो इसका यह मतलब नहीं हो जाता कि भारतीय सभ्यता-संस्कृति के कथित स्वर्ण काल में स्त्री के लिए कोई रामराज्य था। ‘किसकी है यह निर्लज्ज हँसी’ कविता में कवयित्री भारतीय इतिहास-संस्कृति के साफ-सुथरे दिखने वाले पाठ के पीछे छिपे स्याह पुंसवादी चरित्र को सामने ला देती है। वे दिखाती हैं कि पितृसत्ता अपनी सभ्यता-संस्कृति की शुचिता, अपना साफ-सुथरापन दिखाने के लिए अपनी गंदी मानसिकता, और बलात्कारी संस्कृति की शिकार लड़कियों को अपने उत्पीड़न-दमन और भेदभाव की

कहानियाँ नहीं उगलने देती- “पर कोई सफाईपसंद अदृश्य हाथ बड़ी सफाई से / उसका मुँह दबाए हर वक्त / खड़ा रहता था उसके पीछे / यह कहता हुआ कि अगर दुनिया की सारी लड़कियाँ / उगलने लगेंगी इस तरह सब कुछ धरती पर / बताओ भला ! धरती दूषित नहीं हो जाएगी ?” पितृसत्ता का यह सफाईपसंद अदृश्य हाथ किंतु खुद कितना लिजलिजा और घृणित है, गंदगी से भरा है, इसे कविता छिपा नहीं रहने देती।

परिवार के पुरुष सदस्यों की कठोरता और सख्ती अघोषित रूप से स्त्री के मुँह पर ताला लगा उसकी असहमतियों और सवालों पर सेंसर लगा देती है। वैवाहिक जीवन में लगभग पूरी तरह छिन जाने वाली बोलने-टोकने की आजादी एक माँ को अपनी संतान तक को टोकने से रोक देती है। अपनी संतान पर भी अपना अधिकार न मान पाने, उसे टोकने की हिम्मत न जुटा पाने वाली ऐसी ही माँ की बेचारगी बयां करती कविता है - ‘माँ ने मुझे क्यों कभी नहीं टोका ?’ कविता की माँ अपनी संतान को जीवन-भर कुछ नहीं कह पाती क्योंकि “क्योंकि मैंने कभी भी / सवाल करना ही नहीं सीखा।”

जसिंता की एक अन्य कविता ‘हर लड़की को आत्मकथा लिखनी चाहिए’ को भी इसी कविता के साथ पढ़ा जा सकता है। कवयित्री लिखती है कि भद्र कहा जाने वाला पुरुष समाज लड़कियों की आजादी को अपनी जरूरत के मुताबिक तय करता है। उनकी देह और उनके कपड़ों को लेकर जिस तरह छींटाकशी और छेड़छाड़ की जाती है, उससे उनका बाहर निकलना तक दूभर हो जाता है। घर के पुरुष अपने घर की बहिन-बेटी के साथ होने वाली बदतमीजी के लिए उन्हें ही दोषी मानकर उनका घर से बाहर आना-जाना ही बंद कर देते हैं, उनकी पढ़ाई ही रुकवा देते हैं। कवयित्री अपनी कविता के माध्यम से हर लड़की को कलम पकड़ना सीख अपनी आत्मकथा लिखने के लिए प्रेरित करती है ताकि स्त्री की आजादी तय करने वाले भद्र पुरुषों की स्त्री विरोधी मानसिकता और ओछापन सामने आ सके- “दुनिया की हर लड़की को एक दिन / अपनी आत्मकथा जरूर लिखनी चाहिए / कि स्त्रियों की आजादी तय करने वाले / भद्र पुरुषों की कलाई अब खुलनी चाहिए”।

जैसा कि ऊपर उल्लेखित है, पितृसत्तात्मक समाज स्त्री को अभिव्यक्ति की आजादी नहीं देता। कवयित्री इस क्रम में यह भी कहती हैं कि अगर स्त्रियाँ कुछ बोलने की कोशिश भी करती हैं, तो उन्हें हतोत्साहित करने के लिए उनके बोलने को शोरगुल की संज्ञा देकर उन्हें चुप करा दिया जाता है। इनकी कविता ‘शोर मचाती लड़कियाँ’ में लड़कियों की आवाजों को शोरगुल समझने की पुंसवादी सोच को नकारा गया है क्योंकि लड़कियों की इच्छाओं, अपेक्षाओं और संवेदनाओं को न समझ पाने वाली या समझने को न तैयार लोग ही लड़कियों पर निरर्थक शोरगुल करने, ध्वनि प्रदूषण करने का ठप्पा लगाते पाये जाते हैं। अपना मुँह सिलकर चुपचाप घुटती रहने वाली लड़की को अच्छी लड़की की उपाधि देकर दमन को आदर्श दिखलाने वाली संस्कृति पर यह कविता प्रहार करती है- “बहुत बोलती हैं जो बचपन से / उन पर फूँक दिया जाता है एक मंत्र / ‘शांत लड़कियाँ ही होती हैं सबसे अच्छी’ / और वे इस मंत्र के असर से होश सँभालते ही / सिलने लगती हैं अपना मुँह”। भाषा के सूप से कंकड़ छोटना और छोटें गये शब्दों को सुलगते चूल्हों में जला देना- इस तरह की पंक्तियाँ असहमतियों-अस्वीकृतियों को भाषा में अभिव्यक्त होने से रोक देने की व्यंजक हैं। कवयित्री सवाल पूछना और अपनी बात रखने का लोकतांत्रिक अधिकार स्त्री के लिए चाहती है और इसीलिए अपनी कविता ‘वे कौन लोग हैं’ में वह उन लोगों को मनुष्यताविहीन घोषित कर देती हैं जो सवाल पूछने वाली लड़की को सवाल पूछने से रोकने के लिए वेश्या तक कह देते हैं।

परिवार नाम की संस्था में लड़के-लड़की में किये जाने वाले भेदभाव को नकारा नहीं जा सकता। वास्तव में परिवार से ही लैंगिक भेदभाव की नींव व्यक्ति के जीवन में डाल दी जाती है। जो उम्र बच्चों के खेलने-कूदने की होती है, उसी उम्र में लड़की को आम परिवारों में चूल्हा-बर्तन थमा दिया जाता है। शोर मचाती लड़की कविता में इसी लैंगिक भेदभाव को व्यक्त किया गया है कि अपने खुद के खेलने की उम्र में लड़की को दूसरे

बच्चों को खिलाने की जिम्मेदारी दे दी जाती है। अपने समयस्क लड़कों को बड़े होते और आगे बढ़ते देख लड़की को मन मसोसकर रह जाना पड़ता है।

स्त्री को अपना जीवन अपनी शर्तों पर जीने की इजाजत पितृसत्ता द्वारा नहीं दी जाती। स्त्री के जीवन के तमाम महत्वपूर्ण निर्णय पुरुष स्वयं करता है किंतु यहाँ भी वह दोगलेपन से बाज नहीं आता। स्त्री जीवन के संदर्भ में अपने द्वारा लिये गये निर्णयों की जिम्मेदारी से वह हर जगह मुकरता देखा जा सकता है। पुरुष अपनी सुविधा से जब चाहता है तब स्त्री के जीवन में दखल देने और न देने की छूट के लिए आजाद रहता है। ‘अभी मैं बहिष्कृत हूँ’ कविता में कवयित्री दिखाती है कि एक ओर वह स्त्री की देह, उसकी कोख और उसकी आस्था विषयक निर्णय का अधिकार अपने पास रखता है, उसके प्रेम और विवाह का निर्णय वह स्वयं करता है। पुरुष के द्वारा तय विवाह संबंध में स्त्री जब पिटती और प्रताड़ित होती है, तो स्वाभाविक है कि अपनी नियति के लिए जबाबदेह पुरुष से वह सवाल करे, हस्तक्षेप की माँग करे लेकिन कविता व्यंजित करती है कि ऐसी स्थिति में प्रायः वैवाहिक उत्पीड़न और मारपीट को स्त्री का निजी मसला बता वह अपना पल्ला झाड़ने में देर नहीं लगाता- “कल मेरी देह पर डंडों के निशान देख / हाथ झाड़ते हुए बोले / ‘देखो, यह तो तुम्हारा निजी मामला है’”। स्पष्ट है कि घर-परिवार में पुरुष के हाथों पिटती स्त्री को देखकर किसी के कानों पर जूँ तक नहीं रेंगती लेकिन कवयित्री दिखाती है कि जब पिटने वाली स्त्री पलटकर पुरुष (पति) को पीट देती है, तो घर-समाज द्वारा उसे अपराधी-पापिन घोषित कर दंडित-बहिष्कृत किया जाना आम है।

इसे विडंबना ही कहा जाएगा कि पति के हाथों पिटने, ताने खाने और उसके द्वारा बदनाम किये जाने पर भी प्रायः स्त्री अपने बच्चों की खातिर घर नहीं छोड़ पाती क्योंकि वह उसे अपना मानती है किंतु वह घर भी कहाँ स्त्री का होता है। पति के घर को अपना मान दिन-रात खटती रहने वाली और शराबी-निखटू पति को सहती रहने वाली स्त्री इस सच्चाई को नहीं स्वीकार करना चाहती कि जिस घर को बचाने के लिए वह यह सब यंत्रणा सह रही है, वही उसका नहीं होता। अपनी कविता ‘औरत का घर’ में कवयित्री यही समझाना चाहती है कि स्त्री का कोई घर नहीं होता है- “चम्पा किसके लिए सहती है रे ? ... बताओ कहाँ होता है / एक औरत का घर ?”

प्रेम और वैवाहिक संबंधों में सदियों से स्त्री पैर की जूती समझी जाती रही है, उसे परिवार के अंदर पुरुष की इच्छा और हुकुम की चाकर बनकर रहना होता है। स्त्री-पुरुष के बीच की इस गैर बराबरी के कारण ही आज की जागरूक स्त्री चेतना से सम्पन्न स्त्री विवाह संस्था के ऊपर सवाल उठा रही है। विवाह जिस प्रकार स्त्री के लिए कभी न खत्म होने वाली यातना-दासता साबित होता है, वैसे में अपने जीवन में विवाह के कटु अनुभव झेल चुकी ‘विवाह’ शीर्षक कविता की माँ अपनी बेटी के विवाह को लेकर निरुत्साही है, तो वह स्वाभाविक ही है- “अगर दोबारा कोई जीवन मिलता मुझे / तो मैं फिर कभी विवाह नहीं करती / तुम में मैंने हमेशा खुद को ही देखा / शायद इसलिए तुम्हें / विवाह के लिए कभी नहीं टोका”। हर माँ अपनी बेटी के जन्म के बाद से ही उसके विवाह को लेकर सपने देखती रहती है किंतु बेटी में अपनी छवि देखने वाली कविता की माँ का बेटी से विवाह के लिए न पूछना विवाह संस्था में उसकी खत्म हो चुकी आस्था का सूचक है।

विवाह संस्था के विषमतामूलक चरित्र को उजागर करने के बावजूद जसिंता विवाह संस्था को पूर्णतः नकारकर एकाकी स्त्री जीवन की प्रखर प्रवक्ता बनती अपनी कविताओं में नहीं सुनाई देती क्योंकि आदिवासी एकांत वैयक्तिकता में यकीन नहीं रखता। कवयित्री तो आदिवासी सहजीवन और बराबरी के आदर्श को प्रेम और विवाह में भी जमीन पर उतरते देखना चाहती है। कवयित्री चाहती है कि पिता कहलाने वाला व्यक्ति अपनी स्त्री और बच्चों को लेकर अधिकार भाव से ही भरा न रहे, बल्कि वे चाहती हैं कि पुरुष अपने बच्चों की माँ के प्रति साथीपन से भरा हो, सम्मान से भरा हो ताकि बच्चे उससे डरे नहीं, अपितु आत्मीयता उससे पा

सके। उनकी कविता ‘एक दिन पिता हो गई’ की लड़की अपने पिता में ऐसे पिता की तलाश करते-करते अंततः खुद ही अपने छोटे भाई-बहनों की पिता बन जाती है ताकि उन्हें उसकी तरह पिता के प्यार और अपनत्व से वंचित न रहना पड़े। अपनी माँ के पति में अपना पिता तलाशती, माँ का साथी तलाशती कविता की लड़की अपनी माँ की तरह पति नाम के मालिक की गुलामी को तैयार नहीं है। वह तो चाहती है कि उसका प्रेमी उसका पति न बनकर साथी बने।

वैवाहिक संबंधों में पति-पत्नी के बीच साथीपन का भाव रहे, वे अपने बीच सहयात्रीपन विकसित कर सकें, इसकी चाह जसिंता केरकेट्टा की अन्य कविताओं में भी महसूस की जा सकती है। अपने आदिवासी जीवन दर्शन के ही अनुरूप कवयित्री पुरुष से बराबरी का संबंध चाहती है और साथ ही साझापन भी चाहती है। अपनी कविता ‘सहयात्री’ में इसी संदर्भ में वे पुरुष से अपेक्षा करती हैं कि वह कभी-कभी स्त्री की नजर से भी दुनिया को देखे, जैसे वह स्त्री से अपेक्षा करता है कि वह उसकी नजर से ही दुनिया को देखे। वह वैवाहिक जीवन की इस सहयात्रा में खुशी के उन क्षणों का महत्व भी रेखांकित करती है जब स्त्री-पुरुष दोनों की आखें एक साथ कुछ देखती हैं। कवयित्री के अंदर की स्त्री अपने पुरुष साथी से सहयात्री बनने की चाहे जितनी भी अपेक्षा रखती हो लेकिन कविता इस यथार्थ को भी नहीं झुठलाती कि शादी और उससे जुड़ी जीवन यात्रा में प्रायः स्त्री-पुरुष सहयात्री बनने में सफल नहीं हो पाते- “मैं समझती थी कभी / प्रेम में ‘मैं’ तुम हो गई हूँ और तुम ‘मैं’ / पर एक सुबह उठकर तुम्हारा ‘मैं’ / अपने रास्ते चला गया / और मेरा ‘मैं’ अकेला / इधर ही कहीं तड़पता हुआ छूट गया / ‘हम’ न हो सकने की कसक में”। कवयित्री ने ऐसी शादी, ऐसी वैवाहिकता को उस तमगे की जैसे बताया है जो सालों साल दीवार पर ही टँगा रहता है। शादी को तमगा न बनाकर सहयात्रा बनाने की यह अपील आदिवासी जीवन दृष्टि की आधुनिकता-प्रगतिशीलता को भी व्यंजित करने वाली है।

कवयित्री सहयात्रीपन और बराबरी के अभाव में वैवाहिक रिश्तों में आने वाली जड़ता और इस प्यार विहीन रिश्ते के कारण बच्चों पर पड़ने वाले दुष्प्रभाव को भी इंगित करने से नहीं चूकती। ‘पश्चाताप’ शीर्षक अपनी कविता में वे बताती हैं कि जिस घरों में पति अपनी पत्नी से प्रेम नहीं करते, वहाँ बच्चे भी अपनी पिता से प्रेम नहीं कर पाते- “माँ से बाबा ने कभी प्रेम नहीं जताया / इसलिए हम भी कभी बाबा से प्रेम नहीं कर पाए”। ऐसे पति और पिता के कारण स्त्री और बच्चों का जीवन त्रासद बन जाता है। यद्यपि पत्नी और बच्चे ऐसे पुरुष को माफ कर देते हैं, विशेषतः स्त्री का हृदय इस मामले में पुरुष के प्रति उदार देखा जा सकता है। कविता स्त्री की इस उदारता के बरक्स पुरुष की हृदयहीनता और अमानुषिकता को रेखांकित करती है कि वह जीवन भर स्त्री के प्रति न्याय नहीं कर पाता। कविता ऐसे पुरुषों से सवाल करती है कि वे कहाँ अपने अपराधों के लिए प्रायश्चित्त करेंगे ?

भारतीय पुरुषों की दृष्टि में प्रेम का उच्च आदर्श सोपान वह माना गया है जब स्त्री अपना पृथक् अस्तित्व मिटाकर अपने प्रेमी के व्यक्तित्व को अंगीकार कर ले किंतु कवयित्री की कविता की स्त्री को प्रेम के इस पुरुषवादी आदर्श से ‘डर लगता है’ जो प्रेम में स्त्री से अपनी स्वायत्त अस्मिता छोड़ अस्तित्वहीन हो जाने की माँग करता है। वास्तव में कवयित्री पुरुष की हाँ में हाँ मिलाने वाली और उसके पदचिह्नों पर चलने वाली मातहत की आदर्श ढोने वाली स्त्री को भारतीय संस्कृति की प्रतिनिधि स्त्री के तौर पर कहीं पेश नहीं करती बल्कि उन्हें धरती को सुंदर बनाने के लिए जेएनयू और जामिया के मुक्तिकामी छात्र आंदोलनों में बराबरी के साथ शिरकत करती, नवउदारवादी-दक्षिणपंथी ताकतों के साथ लड़ती-जूझती लड़कियों में ‘अपने समय की सबसे सुंदर तस्वीर’ पाती है- “साथ पढ़ती, लड़ती स्त्रियाँ / घेरकर एक पुरुष को / पुलिस के निर्मम डंडों से बचाती हैं”। कवयित्री पुरुष से व्यक्ति को मनुष्य बनने की ओर ढालने वाले और स्त्री को देह से बढ़कर मनुष्य के रूप में देखने-समझने की शिक्षा देने वाले विश्वविद्यालयों को उम्मीद की नजर से देखती है। स्त्री की

जुझारू-संघर्षशील छवियों में सौंदर्य देखने वाली कवयित्री स्त्री और पुरुष की लड़ाई के तौर-तरीकों के पार्थक्य से भी हमें परिचित कराती है। ‘स्त्रियाँ जब लड़ती हैं’ कविता में हम पाते हैं कि स्त्री की लड़ाई पुरुष की तुलना में कहीं ज्यादा जटिल और सृजनात्मक होती है। सीमा पर लड़ने वाले पुरुष सिर्फ एक मोर्चे पर लड़ते हैं जबकि स्त्री जो पीछे रह जाती है, उसे घर और बाहर के कई मोर्चों पर लड़ना होता है- “वे उनकी छोड़ी हर चीज को / सहेजती हुई लड़ती हैं” लेकिन स्त्री की इस बहुआयामी लड़ाई को, संघर्ष के उसके जज़्बे को नोटिस नहीं किया जाता।



मैथिली में बहुजन साहित्य की संभावनाएँ

○ पंकज चौधरी

वर्ष 2021 में अंतिका प्रकाशन की ओर से मैथिली साहित्य में पचपनिया विमर्श¹ (दलित-बहुजन साहित्य विमर्श) का शुरू होना अभी तक की सबसे क्रांतिकारी घटना है। पचपनिया मतलब दलित-बहुजन जातियाँ/गैर द्विज जातियाँ। दलित-बहुजन मतलब अनुसूचित जातियाँ/जनजातियाँ, अन्य पिछड़ी जातियाँ और अल्पसंख्यक जातियाँ। एक अनुमान के अनुसार मैथिली सहित सभी भारतीय भाषाओं में पचपनियों की आबादी 85 फीसदी से अधिक है। अगर जाति जनगणना को अंजाम दे दिया जाता है तो यह आंकड़ा 90 को पार करने की संभावना जताई जा रही है।

मैथिली में पचपनिया विमर्श की अपार संभावनाएँ हैं। मिथिलांचल के इतिहास और साहित्य का यदि सूक्ष्मता से अध्ययन किया जाए तो पता चलेगा कि यहाँ संघर्ष का आधार कुछ और नहीं बल्कि पचपनिया बनाम द्विज जातियाँ रहा है। मेरा निजी अनुभव भी इस बात की पुष्टि करता है। पचपनियों के साथ किए जाने वाले अन्याय, अपमान, अत्याचार के मुद्दे भले ही कुछ और रहे हों, लेकिन एक मुद्दा वहाँ पहले से ही फिट रहता है कि वह राड़-सोलकन (बहुजन) है। पचपनियों का राड़ होना, सोलकन होना उनके प्रति अन्याय को और निश्चित कर देता है। पचपनिया भले ही भारत का प्रधानमंत्री बन जाए लेकिन मिथिला में एक द्विज की नजर में उसकी पहचान राड़ और सोलकन के रूप में ही होगी। मिथिला में मनुस्मृति के विधानों का पालन अटल है। ये स्थितियाँ-परिस्थितियाँ सारी पचपनिया जातियों को एक सूत्र में बांधने और गोलबंद करने का काम करती रही हैं।

गौरतलब है कि पचपनियों के मनोबल को तोड़ने, आहत करने और नीचा दिखाने के उद्देश्य से द्विजों ने उनके लिए राड़ और सोलकन जैसे अपमानजनक शब्दों को गढ़ने का काम किया। जबकि वही राड़-सोलकन अपनी एकजुटता का अहसास कराने के लिए पचपनिया शब्द का इजाद करते हैं। जिससे एक ओर यदि उनकी राजनीतिक, सामाजिक और सांस्कृतिक पहचान निर्मित होती है, वहीं दूसरी ओर इससे एक गरिमा का भी बोध होता है। यह अपने-आप में एक अस्मितामूलक (आईडेंटिटी) शब्दावली है। इस शब्द में पचपन या अगणित जातियों के लिए यह आह्वान छुपा हुआ है कि हम एक हैं। हमारे सरोकार एक हैं। हमारा पहला और अंतिम लक्ष्य सामाजिक सम्मान की प्राप्ति है। हमारी दादी पचपनिया को एक विशेष तथ्य से जोड़ती थी। उनका मानना था कि यह शब्द कोसी इलाके में बहने वाली पचपन नदियों के पानी को सम्बोधित है। बहुजन या पचपनिया समाज के लोगों ने अपने लिए इस शब्द को वहीं से ग्रहण किया है। इसीलिए अब जरूरत है पचपनिया की संचित चेतना, सोच और विचार को विमर्श की भाषा और साहित्य में तब्दील करने की।

बहुजन साहित्य का मूल उद्देश्य जन-जागरूकता और पावर डिस्कोर्स है। अस्मितामूलक साहित्य इसी से

अपनी पहचान अर्जित करता है। मैथिली में बहुजन लेखकों की रचनाएँ ऐसी होनी चाहिए जिससे समाज में वैज्ञानिक और बहुजन चेतना का प्रचार-प्रसार हो। जहाँ तक साहित्य में कला का सवाल है तो ऐसी चिंता से बहुजन लेखकों को मुक्त होना चाहिए क्योंकि कला कालांतर की चीज है। वैसे हरेक तरह के साहित्य में कला होती है। जरूरत है उसकी खोज और पहचान करने की। मक्सिम गोर्की के महान उपन्यास 'मा' को आलोचकों ने साहित्य मानने से ही इनकार कर दिया था। 'मा' को आलोचकों ने महज राजनीतिक दस्तावेज की संज्ञा दे दी थी। ब्रिटिश इतिहासकार ईएच कार ने भी 'मा' को महत्वहीन करार दे दिया था। लेकिन साहित्य सिद्धांतवेत्ता और आलोचक रॉल्फ फॉक्स ने जब 'उपन्यास और लोक जीवन'² नाम का एक आलेख लिखा और उसमें 'मा' को वर्ल्ड क्लासिक्स का दर्जा दिया, तब जाकर लोगों को कुछ समझ में आया। इस तरह के बहुत सारे उदाहरण हैं।

दूसरी महत्वपूर्ण बात यह है कि बहुजन लेखक उन्हीं को माना जाएगा जो बहुजन चेतना और सरोकार से लैस होंगे। लेखकों का दलित-बहुजन होना ही काफी नहीं है। यहाँ यह भी बताना जरूरी है कि बहुजन लेखकों की लड़ाई जाति के मोर्चे पर होगी। हिन्दू-मुस्लिम मुद्दे पर नहीं। जाति के मोर्चे पर जैसे ही लड़ाई शुरू होगी समाज को हिन्दू-मुस्लिम के आधार पर बांटने वालों की हवा निकल जाएगी। बहुजन समाज विशेषकर पिछड़ों को इस पाप को धोना होगा कि मस्जिदों को तोड़ने या मुसलमानों की लिंगिंग करने में वही सबसे आगे होता है। हिन्दू धर्म की पताका, ध्वज फहराने में पिछड़े सबसे आगे होते हैं। यह पाप जितनी जल्दी धुल जाए उतना ही अच्छा। इतिहास गवाह है कि मुसलमानों के खिलाफ घृणा और हिंसा फैलाने में द्विज सबसे आगे रहे हैं लेकिन बदनाम पिछड़ी जातियाँ होती रही हैं। मुस्लिम और ब्रिटिश शासकों से सारे लाभ सवर्णों ने लिए। शूद्र तो उनके लिए हनुमान बनते रहे। दलित-बहुजन के स्वाभाविक दोस्त मुसलमान हैं। भारत में इस्लाम का प्रचार-प्रसार यदि नहीं हुआ होता तो भक्तिकाल में कबीर, रैदास, सूरदास जैसे कवि भी बहुजन समाज को नहीं मिलते। उल्लेखनीय है कि सूरदास अहीर-यादव थे। इस हकीकत को आप तभी जानेंगे जब सूरदास के साहित्य का सूक्ष्मता से अध्ययन करने के साथ-साथ उनके जीवन और परिवेश में भी झाँकने की कोशिश करेंगे। इन सभी सूचनाओं और ज्ञान को बहुजन लेखकों को आत्मसात करना अनिवार्य है।

द्विजों और पंचपनियों में बहुत सारी भिन्नताएँ हैं। पंचपनियों की भाषा अलग है। उनके अपने देवी-देवता हैं। उनके देवी-देवता वही हुआ करते हैं जो उनके पूर्वज थे। बिल्कुल अपने बीच से उठा हुआ। इहलौकिक। उनके शादी-ब्याह के तौर-तरीके भी अलग हैं। उनके अपने मेले-ठेले हैं। मैंने छठ के अवसर पर कभी भी द्विजों और पंचपनियों को एक साथ सूर्य को अर्घ्य देते नहीं देखा है। जहाँ इतनी सारी भिन्नताएँ और असमानताएँ हों वहाँ पंचपनिया विमर्श को विधिवत रूप से खड़ा करने और उसको एक प्लेटफॉर्म देने की बात सोचना आज की जरूरत है। वह स्वागतयोग्य और सराहनीय है। वैसे तो भारत की सभी भाषाओं की भूमि इस विमर्श को खाद-पानी डालने का काम कर रही है। लेकिन मैथिली में इसकी जरूरत और संभावना कहीं ज्यादा है। यह अकारण नहीं है कि संविधान की आठवीं अनुसूची में दर्ज सभी भाषाओं में इस विमर्श ने जोर पकड़ रखा है जबकि मैथिली में एक दलित लेखिका ढूँढ़ने से भी नहीं मिल रही है। यह मैथिली और जय मिथिला की डींग हाँकने वालों के लिए शर्म से मर जाने वाली बात है। ऐसे में मिथिलांचल की मांग करना भी केवल और केवल द्विजीय यूटोपिया है।

जिस भाषा में पंचपनियों की इतनी विशाल आबादी हो, उसके साहित्य में जगदीश मंडल, सुभाषचंद्र यादव, तारानंद वियोगी, विभा रानी जैसे अंगुली पर गिनने वाले 4 पंचपनिया लेखकों का होना किस बात की ओर इशारा करता है? क्या पंचपनियों में शिक्षा का अभाव है? क्या उनमें अपने राग-विराग को अभिव्यक्त करने की काबिलियत और सलाहियत नहीं है? क्या उनमें अपनी सामाजिक स्थिति या मर्यादा का बोध नहीं है? क्या

इतिहास में पचपनियों का कोई संघर्ष या आंदोलन नहीं रहा है? भारत की भाषाओं और राजनीति में सबाल्टन विमर्श और चेतना की जो बयार चल रही है, क्या उसे पचपनिए नहीं जानते? इन सभी सवालों का एक ही जवाब है कि मैथिली भाषा और साहित्य भारत का एक ऐसा भाषा साहित्य है जिसमें द्विजों या ब्राह्मणों ने अपने लिए अघोषित रूप से 100 फीसदी आरक्षण हड़प रखा है। मैथिली भाषा साहित्य उनकी चेरी बनकर रह गया है। उनकी यहाँ पर जागीरदारी चलती है। इन हालातों में जगदीश मंडल, सुभाष चंद्र यादव, चंद्रकिशोर, तारानंद वियोगी, बिभा रानी और नई पीढ़ी में रामनरेश यादव, बैद्यनाथी राम, बिभा कुमारी, अमरेंद्र यादव, आरके परार्थी, किशन कारीगर, रघुनाथ मुखिया, मुख्तार आलम को कितने संघर्षों और चुनौतियों का सामना करना पड़ रहा होगा, इसकी हम कल्पना कर सकते हैं।

मैथिली भाषा साहित्य में पचपनियों का रिकॉग्नेशन या इंटी कितना दुष्कर कार्य है इसको हम सतीश वर्मा³ द्वारा दिए गए उदाहरण से भली-भांति समझ सकते हैं। महाप्रकाश मैथिली के एक बड़े लेखक हुए। लेकिन वे बड़े लेखक या लेखक तभी हुए जब उन्होंने अपनी रचनाओं को श्रीकांत मिश्र के नाम से पत्रिकाओं में भेजना शुरू किया। श्रीकांत मिश्र के नाम से उन्होंने जैसे ही अपनी रचनाएँ पत्रिकाओं में भेजनी शुरू की, वे धड़ाधड़ प्रकाशित होने लगे। लेकिन सुधाकांत लाल दास के नाम से भेजी उनकी रचनाएँ पहले कभी नहीं छपीं। मैथिली में जब द्विज कर्ण-कायस्थ का यह हाल है तब हम समझ सकते हैं कि पचपनियों की वहाँ क्या बिसात होगी।

खैर, जमाना बड़ी तेजी से बदल रहा है। टेक्नोलॉजी और पूंजी ने वर्चस्ववादी संस्कृति को धक्का पहुँचाया है। उसने सामाजिक और सांस्कृतिक लोकतंत्र का विस्तार किया है। आज सम्पादकों की जरूरत नहीं रह गई है, जो अपने पास लेखक, विचारक, पत्रकार बनाने का ठेका लिए हुए था। सोशल मीडिया आज उन सबको लेखक बना रहा है जो अपने विचारों, अनुभूतियों और संवेदना को अभिव्यक्त करने की क्षमता रखता है। सोशल मीडिया पर व्यक्त आपके विचारों को जितना तक्जो मिलता है उतनी किताबें नहीं बिकतीं। गोष्ठियों, सेमिनारों में लोगों ने जाना छोड़ दिया है या वहाँ उतने लोग नहीं जुटते जितने सोशल मीडिया पर आपकी रचनाओं या विचारों पर बहस होती है। वहाँ पर आपकी चीजें सदा के लिए सुरक्षित भी हो जाती हैं। यह अकारण नहीं है कि इससे सबसे ज्यादा खलबली वर्चस्वादियों में मची हुई है।

पचपनिया विमर्श, भाषा और साहित्य को स्थापित करने के लिए सोशल मीडिया एक उपयुक्त और सुनहरा मंच साबित हो सकता है। इस मंच का सदुपयोग पचपनिया लेखकों को उभारने और वर्चस्ववादी संस्कृति के खिलाफ खुलकर किया जाना चाहिए। इस बात की हमें गांठ बांध लेनी चाहिए कि विकल्पहीन नहीं है दुनिया। भारत में सामाजिक न्याय और डायवर्सिटी इन पावर (सत्ता में हिस्सेदारी) की जो बयार चल रही है उसके झोंके यदि हमें आज नहीं झकझोरते हैं, तो ये दिन कभी नहीं आने वाले।

संदर्भ :

1. अंतिका प्रकाशन, ऑनलाइन सेमीनार, वर्चस्ववादी संस्कृति बनाम हाशियाक समाज उर्फ पचपनियाक संघर्ष, 12 सितंबर, 2021
2. फॉक्स, रॉल्फ, उपन्यास और लोक जीवन, शिल्पायन बुक्स, शाहदरा, दिल्ली, 2014, पृ.सं. 54
3. अंतिका, वर्चस्ववादी संस्कृति बनाम हाशियाक समाज उर्फ पचपनियाक संघर्ष अंक, संपादक-अनलकांत, जनवरी-मार्च, 2023, पृ. सं. 30



जाति का सवाल और निराला

○ अमिष वर्मा

निराला का दौर भारतीय नवजागरण का दौर था। उस पूरे दौर में जाति का सवाल एक महत्वपूर्ण सवाल बनकर उभर रहा था। उस दौर में जाति के सवाल को लेकर दो महत्वपूर्ण दृष्टियाँ दिखाई पड़ रही थीं। एक नजरिया था गाँधी का और दूसरा नजरिया था अंबेडकर का। 1920-25 के बाद ये दोनों दृष्टियाँ ज्यादा स्पष्ट रूप से दिखाई पड़ने लगती हैं। गाँधी और अंबेडकर दोनों ही मूल रूप से दलितों को केंद्र में रखकर आंदोलन चला रहे थे। लेकिन इन दोनों की दृष्टियों के बीच बड़ा फर्क था, यह हम सब जानते हैं। गाँधी और अंबेडकर के विवाद से हम सब परिचित हैं, गाँधी और अंबेडकर की दृष्टियों में जो बुनियादी फर्क थे, उस बुनियादी फर्क से भी हम परिचित हैं। ध्यान देने वाली बात यह है कि नवजागरण के उस पूरे दौर में हिन्दी के साहित्यकारों को अगर हम देखें तो वहाँ गाँधी की दृष्टि का प्रभाव ज्यादा दिखाई पड़ता है। प्रेमचंद के साहित्य में भी गाँधीवाद के प्रभाव पर खूब बातें हुई हैं, लेकिन प्रेमचंद के यहाँ गाँधी के विचारों से, खासतौर पर गाँधी के जाति संबंधी विचारों से बहुत सारी असहमतियाँ भी हैं। गाँधी के जाति संबंधी विचारों को लेकर प्रेमचंद गाँधी की आलोचना करते हैं और कई जगहों पर तो बहुत तीखी आलोचना करते हैं। व्यंग्य बहुत गहरा है वहाँ। लेकिन जब हम निराला के चिंतन-लेखन में गाँधी के प्रभाव का विश्लेषण करते हैं तो पाते हैं कि निराला गाँधी के अछूतोंद्वारा आंदोलन से बहुत गहरे प्रभावित हैं। उस जमाने में बहुत सारे लेख उन्होंने लिखे हैं, खासतौर से 1929-30 से लेकर 1938-39 के बीच के उनके बहुत सारे लेख और कई टिप्पणियाँ हैं, जो निराला रचनावली के छोटे खंड में स्फुट निबंधों के रूप में संकलित हैं। उन निबंधों को अगर देखें तो यह मालूम पड़ता है कि गाँधी के अछूतोंद्वारा आंदोलन, जाति के सवाल को हल करने की गाँधीवादी समझ और खासतौर से दलितों के सवाल को लेकर गाँधी का जो अप्रोच था, उससे निराला बहुत हद तक प्रभावित थे। गाँधी और अंबेडकर दोनों उस दौर में जाति के प्रश्न पर दो अलग-अलग दृष्टियों का प्रतिनिधित्व कर रहे थे। इस बात की भी तलाश करनी चाहिए कि निराला के यहाँ कहीं अंबेडकर का जिक्र है क्या? जाति और वर्ण संबंधी निराला के तमाम निबंधों (करीब 21-22 निबंध) को देखने से यह पता चलता है कि निराला कहीं भी अंबेडकर के नाम का जिक्र नहीं करते। अक्टूबर, 1932 में निराला का एक लेख छपा 'महात्माजी की भीषण प्रतिज्ञा'। इस लेख में गाँधी के आमरण अनशन का जिक्र है, पूना पैक्ट का जिक्र है, उस गोलमेज सम्मेलन तक का जिक्र है जिसमें गाँधी और अंबेडकर दोनों शामिल हुए थे। निराला उस गोलमेज सम्मेलन का जिक्र करते हुए यह भी बताते हैं कि उस सम्मेलन में अछूतों के दूसरे नेता भी शामिल हुए थे, लेकिन वे अंबेडकर का नाम नहीं लेते। और उस निबंध में वे बहुत स्पष्ट तरीके से यह कहते हैं कि दूसरे अछूत नेताओं के शामिल होने के बावजूद 'महात्माजी ही देश की सब जातियों की तरफ से मान्य एकमात्र मनुष्य थे।' यहाँ इस बात को रेखांकित करने का उद्देश्य यह है कि इससे

निराला की जाति संबंधी दृष्टि को समझने में सहूलियत हो। अंबेडकर के नाम का जिक्र न करने के जो भी कारण हों, लेकिन बिना नाम लिए निराला अंबेडकर का उल्लेख करते हैं। ‘अछूतों के नेता’ के रूप में अंबेडकर को वे सामने रखते हैं और उनकी आलोचना भी करते हैं। जिनको निराला अछूत नेता कह रहे हैं, उनके बारे में निराला का कहना है कि “देश में कुछ ऐसे भी लोग हैं, जो अपने संप्रदाय की भलाई के सामने देश की व्यापक भलाई को कुछ भी नहीं समझते। कुछ ऐसे हैं, जो अपना संप्रदाय-बल बढ़ाते हैं।”² संकेत बहुत स्पष्ट है। तो गाँधी और अंबेडकर को ध्यान में रखकर अगर हम देखें तो निराला जाति के सवाल को लेकर गाँधी के करीब हैं, अंबेडकर को वे उस तरह से महत्वपूर्ण नहीं मानते और प्रकारांतर से उनकी आलोचना ही करते हैं।

लेकिन जब यह बात कही जा रही है कि निराला जाति और वर्ण के सवालों को लेकर गाँधी के करीब हैं तो इसका मतलब यह नहीं है कि निराला गाँधी के विचारों से कहीं कोई असहमति नहीं रखते। गाँधी के अछूतोंद्वारा संबंधी जो विचार हैं और जाति मुक्ति या दलित मुक्ति के सवाल को गाँधी जिस तरह से देखते हैं उससे कुछ भिन्न तरह की दृष्टि भी निराला के यहाँ दिखाई पड़ती है। दो बहुत महत्वपूर्ण मसले हैं जाति के सवाल को लेकर- सहभोज और अंतरजातीय विवाह। ये दो ऐसे सवाल हैं जिन पर अंबेडकर भी जोर देते रहे और कहते रहे कि जब तक सहभोज और अंतरजातीय विवाह का प्रचलन नहीं बढ़ेगा, समाज से जाति प्रथा खत्म नहीं हो सकती यानी एक उपचार के तौर पर, एक दवा के तौर पर अंबेडकर सहभोज और अंतरजातीय विवाह को देखते हैं। जाति के रोग से मुक्त होना है तो उसकी दवा अगर कोई हो सकती है तो वह सहभोज और अंतरजातीय विवाह ही हो सकती है, जिससे धीरे-धीरे जातियों के बीच का जो वैमनस्य है, जातियों में जो श्रेष्ठता बोध है, वह खत्म होगा और उससे जातियाँ करीब आएँगी। इससे जाति प्रथा नष्ट हो सकती है या कम-से-कम कमजोर हो सकती है। सहभोज और अंतरजातीय विवाह को लेकर गाँधी का जो नजरिया था वह इससे बिल्कुल अलग था। इन दोनों बातों को गाँधी पसंद नहीं करते थे। बल्कि वह कहते हैं कि मैं यह चाहूँगा कि लोग अपनी-अपनी जातियों में ही खान-पान और विवाह करें।³ सहभोज और अंतरजातीय विवाह के मसले पर जहाँ गाँधी की दृष्टि लोगों को जाति की सीमा के भीतर रखने की थी, वहीं दूसरी तरफ निराला अपने लेखों में बहुत साफ तौर पर यह बात कहते हैं कि सहभोज और अंतरजातीय विवाह के माध्यम से जातियाँ टूटेंगी, जातियाँ करीब आएँगी। नवंबर, 1932 की ‘सुधा’ में प्रकाशित अपने संपादकीय लेख ‘हिंदुओं का जातीय संगठन’ में निराला लिखते हैं- “सब वर्णों में एकता हो जाने पर विवाह वाला आदान-प्रदान देश की बहुत बड़ी रक्षा कर सकता है। पहली बात जो सबसे आवश्यक है, वह है तमाम जातियों की एकता, वह हासिल हो जाएगी, आपस का वैमनस्य मिट जाएगा। विवाह के लिए विशेष चिंताजनक भी कोई बात नहीं हो सकती, क्योंकि ज्ञान, स्थिति और मर्यादा के बराबर वालों में ही यह आदान-प्रदान होगा।”⁴ इसी तरह अगस्त, 1933 की ‘सुधा’ के संपादकीय लेख ‘राजनीति और समाज’ में भी निराला सहभोज और अंतरजातीय विवाह का समर्थन करते हैं।⁵

अंतरजातीय प्रेम और विवाह को लेकर समाज की रूढ़िवादी मानसिकता और झूठे अभिमान पर निराला की टिप्पणी को अक्टूबर, 1935 की कविता ‘प्रेयसी’ में भी देखा जा सकता है:

“किन्तु हाय/ रूढ़ि, धर्म के विचार/ कुल, मान, शील, ज्ञान/ उच्च प्राचीर ज्यों घेरे जो थे मुझे/ घेर लेते बार-बार/
जब मैं संसार में रखती थी पदमात्र/ छोड़ कल्प-निस्सीम पवन-विहार मुक्त/ दोनों हम भिन्न-वर्ण/ भिन्न-जाति,
भिन्न-रूप/ भिन्न-धर्मभाव, पर/ केवल अपनाव से, प्राणों से एक थे/ किन्तु दिन-रात का/ जल और पृथ्वी का/ भिन्न
सौंदर्य से बंधन स्वर्गीय है/ समझे यह नहीं लोग/ व्यर्थ अभिमान के!”⁶

1939 की एक कविता ‘प्रेम-संगीत’ में भी निराला लिखते हैं:

बम्हन का लड़का/ मैं उसको प्यार करता हूँ/ जात की कहारिन वह/ मेरे घर की है पनहारिन वह/ आती है होते

तड़का/ उसके पीछे मैं मरता हूँ।

निराला के तमाम निबंधों में कम-से-कम बीस ऐसे निबंध जरूर हैं जो उनके जाति और वर्ण संबंधी विचारों के लिहाज से बहुत महत्वपूर्ण हैं। कई जगहों पर उनमें अंतर्विरोध भी दिखाई पड़ता है, लेकिन सहभोज और अंतरजातीय विवाह के मसले पर निराला बहुत स्पष्ट हैं और वे मानते हैं कि इससे धीरे-धीरे चीजें बदलेंगी। निश्चित तौर पर इस मामले में निराला की दृष्टि गाँधीजी से भिन्न है। लेकिन वर्णाश्रम व्यवस्था को लेकर निराला गाँधी के करीब दिखाई पड़ते हैं। वर्ण व्यवस्था के प्रति निराला के मन में एक मोह बना हुआ है, और उस मोह का कारण है, वर्ण व्यवस्था के बारे में यह समझ कि वर्ण एक कर्म आधारित व्यवस्था है। गाँधी भी यही मानते थे और इसलिए वर्ण व्यवस्था को वे एक आदर्श समाज व्यवस्था स्वीकार करते हैं। निराला भी वर्ण व्यवस्था को एक आदर्श सामाजिक व्यवस्था मानते हैं। वर्ण व्यवस्था का जो समर्थन निराला के यहाँ दिखाई पड़ता है, उससे मेरी असहमति दरअसल इसी बात पर है कि वर्ण व्यवस्था को कर्म आधारित व्यवस्था के रूप में व्याख्यायित करते हुए उसे एक आदर्श समाज व्यवस्था बताना मेरी समझ से ठीक नहीं है। पता नहीं किस जमाने में वर्ण व्यवस्था का वह आदर्श वास्तव में मौजूद रहा होगा जिसकी दुहाई दे-देकर इस शोषणकारी अमानवीय व्यवस्था का महिमामंडन किया जाता रहा है! और निराला स्वयं वर्ण व्यवस्था के वास्तविक स्वरूप को लेकर स्पष्ट नहीं हैं। निराला के यहाँ दो तरह की बातें दिखायी पड़ती हैं। ‘महात्माजी और हरिजन’ निराला का एक लेख है, जो अगस्त, 1933 में ‘सुधा’ के संपादकीय के रूप में प्रकाशित हुआ है। उस लेख में निराला इस व्यवस्था को ‘सहस्रों वर्ष का सामाजिक कोढ़’ और ‘अनिष्टकारी सनातनी नीति’⁸ कहते हैं। यहाँ हमें ‘अनिष्टकारी सनातनी नीति’ पद को ध्यान में रखना चाहिए। यही निराला अपने 1931 के लेख ‘मनुष्य गणना और जात-पाँत’ में ‘जाति-पाँत का सदियों पुराना पचड़ा’ दूर करने का उपाय बताते हुए लिखते हैं कि “जब तक हम हिन्दू परस्पर मिलकर एक नहीं होते, जब तक चारों वर्णों के असंख्यों उपभेदों का नाश होकर केवल सनातन कर्मानुयायिनी वर्ण-व्यवस्था का शुद्ध रूप अवशिष्ट नहीं रह जाता, तब तक इस प्रकार के कागजी घोड़ों के दौड़ाने-मात्र से कोई कार्य सिद्ध नहीं हो सकता।”⁹ अब यहाँ ‘सनातन कर्मानुयायिनी वर्ण-व्यवस्था’ पद को देखें जिसके प्रति निराला का मोह साफ दिखाई पड़ रहा है। ध्यान देने की बात है कि 1931 में निराला जिस ‘सनातन कर्मानुयायिनी वर्ण-व्यवस्था’ के प्रति मोह-ग्रस्त हैं, दो साल बाद 1933 में उसी व्यवस्था को ‘सहस्रों वर्ष का सामाजिक कोढ़’ और ‘अनिष्टकारी सनातनी नीति’ बता रहे हैं। लेकिन फिर दिसंबर, 1933 के अपने एक लेख ‘अधिकार समस्या’ में वे लिखते हैं कि “वर्णाश्रम-धर्म एक ऐसी सामाजिक स्थिति है, जो चिरंतन है। स्वाधीन भारत की इससे अच्छी वर्णना हो नहीं सकती।”¹⁰

वर्णाश्रम को लेकर यह अंतर्विरोध निराला के लेखन में है। लेकिन यहाँ एक बात रेखांकित की जा सकती है कि मोटे तौर पर 1932-33 तक निराला के लेखन में वर्णाश्रम के प्रति मोह ज्यादा दिखाई पड़ता है। 1932-33 के बाद जाति और वर्ण को लेकर निराला ज्यादा क्रिटिकल होते जाते हैं। इस बात को भी रेखांकित किया जाना चाहिए कि निराला के ज्यादातर लेख या उनकी कहानियाँ या उनके उपन्यास या उनकी थोड़ी-बहुत कविताएँ जिनमें जाति के सवाल को निराला ने उठाया है और जिनमें निराला की वर्ण-जाति संबंधी दृष्टि दिखाई पड़ती है, उनमें से अधिकांश 1932 के बाद के हैं। उनके पूरे लेखन में जाति और वर्ण व्यवस्था संबंधी लेखन मात्रा के हिसाब से 1932 के बाद ज्यादा दिखाई पड़ता है।

अगर हम विधाओं के आधार पर तुलना करें तो कविता में निराला की जाति-वर्ण संबंधी दृष्टि हमें कम दिखाई पड़ती है। यह जानना दिलचस्प है कि निराला की कुल 714 कविताओं में जाति शब्द (जात-पाँत के अर्थ में) केवल दो से तीन बार और वर्ण शब्द (रंग के अर्थ में नहीं, चार वर्णों के अर्थ में) अलग-अलग ढंग से केवल पाँच से छह बार प्रयुक्त हुआ है।¹¹ कहानी-उपन्यास में और खासतौर से उनके वैचारिक लेखन

में यह दृष्टि ज्यादा साफ तौर पर दिखाई पड़ती है। इसलिए अगर हम केवल कवि निराला को पढ़ें, अगर केवल कविताओं के आधार पर निराला की वर्ण और जाति संबंधी दृष्टि को समझने की कोशिश करें तो हम उसे अधूरेपन के साथ ही समझ पाएँगे। निराला की कई कविताओं को हम तब ज्यादा बेहतर तरीके से समझ पाते हैं जब उनके गद्य के साथ मिलाकर उसको पढ़ते हैं। एक छोटा सा उदाहरण देखा जा सकता है। निराला की 1946 की एक कविता है ‘जल्द-जल्द पैर बढ़ाओ’। उस कविता की अत्यंत प्रचलित पंक्तियाँ हैं:

“आज अमीरों की हवेली
किसानों की होगी पाठशाला,
धोबी, पासी, चमार, तेली
खोलेंगे अंधेरे का ताला,
एक पाठ पढ़ेंगे, टाट बिछाओ।”¹²

निराला की कविता की इन पंक्तियों को 1939 में प्रकाशित उनके छोटे-से उपन्यास ‘कुल्ली भाट’ के साथ रखकर पढ़ने पर इन पंक्तियों के अर्थ और अधिक खुल जाते हैं। ‘कुल्ली भाट’ उपन्यास के पं. पथवारीदीन जी भट्ट एक कुजात ब्राह्मण हैं जिन्हें ब्राह्मण समाज ने कुल्ली भाट बना दिया है। कुल्ली अछूत पाठशाला चलाते हैं, जिसमें ‘तीस-चालीस लड़के आते हैं, धोबी, भंगी, चमार, डोम और पासियों के।’¹³ बिल्कुल यही भाव और लगभग इसी तरह की पंक्ति ‘जल्द-जल्द पैर बढ़ाओ’ कविता में दिखाई पड़ती है। ‘कुल्ली भाट’ उपन्यास में कुल्ली के पूरे चरित्र को जिस रूप में निराला विकसित होता हुआ दिखाते हैं, कुल्ली के साथ ब्राह्मण समाज जिस तरह का व्यवहार करता है, उस पूरे प्रसंग को देखते हुए उस परिस्थिति में एक ब्राह्मण व्यक्ति द्वारा अछूत पाठशाला चलाने का जो महत्व है, पूरे राष्ट्रीय आंदोलन के लिए उसका जो महत्व है, वह बात ज्यादा खुलकर अपने पूरे प्रभाव के साथ समझ में आती है। जाहिर है कि इस पूरे प्रसंग को ध्यान में रखकर जब हम ‘जल्द-जल्द पैर बढ़ाओ’ कविता को पढ़ते हैं तब कविता भी ज्यादा अर्थवान हो उठती है।

निराला की जाति संबंधी दृष्टि को समझने के लिए इस बात पर भी ध्यान दिया जाना चाहिए कि निराला के यहाँ दलितों-पिछड़ों के शोषण के चित्र कम हैं, इसकी तुलना में ब्राह्मण समाज का चित्रण यहाँ ज्यादा है। निराला स्वयं कान्यकुब्ज ब्राह्मण थे। ब्राह्मणों की उपजातियों के वर्गीकरण की बारीक समझ निराला को थी। निराला का ताल्लुक जिस बैसवाड़ा से था, उसके बारे में रामविलास शर्मा ने लिखा है- “बैसवाड़ा वर्णगत संकीर्णता का भी गढ़ था। ऊँच-नीच का भेद-भाव अलग-अलग वर्णों के बीच में ही न था, एक ही वर्ण में, विशेष रूप से ब्राह्मणों में- बीघा-बिस्वा के अनुसार- यह भेद बड़ा प्रबल था।”¹⁴ यह अकारण नहीं है कि ब्राह्मण समाज का चित्रण करते हुए ब्राह्मणों के बीच के जातिवाद, ब्राह्मणों के भीतर उपजातियों की तमाम परतों और ब्राह्मणत्व के तथाकथित सामाजिक आदर्शों से च्युत समाज-बहिष्कृत पात्रों को लेकर निराला ने ज्यादा लेखन किया है। ‘कुल्ली भाट’, ‘निरुपमा’ और ‘बिल्लेसुर बकरिहा’- इन तीनों उपन्यासों में जाति के सवाल को निराला ने रेखांकित किया है। ध्यान दीजिए कि इन तीनों उपन्यासों के मुख्य पात्र ब्राह्मण हैं, लेकिन वे कुजात ब्राह्मण हैं, वे ब्राह्मणत्व के तथाकथित आदर्शों से च्युत हो चुके हैं और वे सब ऐसे ब्राह्मण पात्र हैं जिसका ब्राह्मण समाज ने बहिष्कार किया हुआ है। जाति बहिष्कृत व्यक्ति के साथ अधिकतम असहयोग करके और उन्हें अपमानित करके जातिवादी समाज न केवल उन्हें जाति के नियमों को तोड़ने का दंड देता है, बल्कि इसके माध्यम से पूरे समाज को जातिवाद का यह अमर संदेश देता है कि यदि समाज में रहना है तो जाति के नियमों के अनुसार चलना होगा। असल में जातिवाद को टिकाए रखने में सामाजिक बहिष्कार के इस भय की बहुत बड़ी भूमिका है। ‘निरुपमा’ उपन्यास का नायक है कृष्णकुमार, जो रामपुर के मिश्रों के परिवार का है, जाति का कान्यकुब्ज ब्राह्मण है, लंदन से अंग्रेजी साहित्य में डी.लिट्. है, लेकिन किसी बड़े आदमी की पैरवी के

अभाव में उसे कहीं कोई नौकरी नहीं मिल पाती और तब वह लखनऊ में चमार का काम- जूते पॉलिश करने का काम शुरू कर देता है। अब एक तो लंदन से डी.लिट्. करके यानी विलायत जाकर इसने अपना धर्म पहले ही भ्रष्ट कर लिया था, जाति-बहिष्कृत होने के लिए तो यही काफी था, ऊपर से चमार का काम करना शुरू कर दिया! ब्राह्मणों के 'पवित्र' समाज से उसका बहिष्कृत होना तो तय था!

इसी तरह से कुल्ली भाट, जिसकी चर्चा ऊपर की गयी है, वह भी एक समाज-बहिष्कृत कुजात ब्राह्मण है, जो ब्राह्मणत्व की तथाकथित मर्यादा को नहीं ढोता है। वह दलित समाज के लिए काम कर रहा है, दलितों के बीच बैठ रहा है, उनके साथ भोजन कर रहा है।

तीसरे उपन्यास 'बिल्लेसुर बकरिहा' में भी जो बिल्वेश्वर है वह बिल्लेसुर हो गया है और बकरी पालने के कारण बकरिहा हो गया है। वह भी ब्राह्मण है, लेकिन ब्राह्मण समाज ने उसे जाति-बहिष्कृत कर बिल्लेसुर बकरिहा बना दिया है। जैसे निराला अपने बारे में कहते हैं- 'ब्राह्मण समाज में ज्यों अछूत' वैसे ही ये तीनों पात्र ब्राह्मण समाज में अछूत की तरह हैं, लेकिन यही निराला के आदर्श पात्र हैं। निराला की रचनाओं में जातिवाद के सामाजिक यथार्थ का चित्रण ब्राह्मणों के भीतर के जातिवाद और उस जातिवाद से मुक्त होने की कोशिश के रूप में ज्यादा हुआ है। कहा जा सकता है कि ब्राह्मण समाज के भीतर से लोगों के 'डिकास्ट' होने की प्रक्रिया पर निराला जोर देते हैं। निराला की यह चाहत है कि ब्राह्मण समाज या तमाम ऊँची जातियाँ अपने को 'डिकास्ट' करें और दलित-पिछड़ी जातियों के साथ बराबरी का व्यवहार करें। 1934 में निराला ने 'चतुरी चमार' कहानी लिखी। आत्मकथात्मक शैली में लिखी गई इस कहानी में भी कहानी का सूत्रधार, जो ब्राह्मण है, ब्राह्मणत्व के सामाजिक बंधनों और विशेषाधिकारों से अपने को मुक्त करता है। कहानी का सूत्रधार चतुरी चमार के बेटे अर्जुन को अपने घर में बुलाकर पढ़ाता है और इसलिए गाँव के ब्राह्मण उसके घड़े का पानी छोड़ चुके थे। 'चतुरी चमार' कहानी में भी ब्राह्मण पात्र के 'डिकास्ट' होने की प्रक्रिया को निराला बहुत स्पष्ट तौर पर चित्रित करते हैं। कहानी का सूत्रधार कहता है- "समय-समय पर लोध, पासी, धोबी और चमारों का ब्रह्मभोज भी चलता रहा। घृतपक्व मसालेदार मांस की खुशबू से जिसकी भी लार टपकी, आप निमंत्रित होने को पूछा। इस तरह मेरा मकान साधारण जनों का अड्डा, बल्कि House of Commons हो गया।"¹⁵ जातिवादी समाज की तथाकथित मर्यादा को भंग करके अपने घर का दरवाजा तमाम जातियों के लिए खोल देना और अपने घर को 'हाउस ऑफ कॉमन्स' में तब्दील कर देना- यही दरअसल अपने को 'डिकास्ट' करने की वह पूरी प्रक्रिया है, जो निराला की रचनाओं में बार-बार दिखाई पड़ती है। इसलिए इस बात को मैं रेखांकित करना चाहता हूँ कि निराला के यहाँ जाति का सवाल नीचे के तबके से उतना नहीं आया है जितना ऊपरी जातियों की तरफ से आया है। निराला की मान्यता भी यही है कि चूँकि ब्राह्मणों और ऊँची जातियों ने ही जातिवाद को बनाए रखा है, इसलिए उसे तोड़ने के लिए भी उन्हें ही आगे आना होगा।

विवेकानंद का गहरा प्रभाव निराला पर रहा है। विवेकानंद ने एक बहुत महत्वपूर्ण बात कही थी कि आने वाला जमाना शूद्रों का होगा। निराला बार-बार अपने कई लेखों में इस बात का जिक्र करते हैं, कभी विवेकानंद का उल्लेख करते हुए, कभी विवेकानंद का उल्लेख किये बिना। आने वाला समय शूद्रों का होगा- इस बात की भविष्यवाणी जैसे विवेकानंद ने की थी वैसे ही निराला भी करते हैं, मगर किसी भविष्यवक्ता की तरह नहीं, बल्कि एक समाज वैज्ञानिक की तरह, समाज की नब्ज को पहचानने वाले रचनाकार की तरह। जैसे प्रेमचंद गोदान में चमारों द्वारा मातादीन के मुँह में गाय की हड्डी ठूँसे जाने का प्रसंग रचते हुए दलित आंदोलन की भावी आक्रामकता का अंदाजा लगा लेते हैं कि अगर ऊँची जातियों का रवैया नहीं बदला तो कैसे ये दलित जातियाँ अपना अधिकार छीन लेंगी, उसी तरह निराला भी इस बात का अनुमान करते हैं कि आने वाला समय शूद्र शक्ति के उत्थान का समय होगा। दिसंबर, 1929 में 'माधुरी' में छपे एक लेख 'वर्णाश्रम-धर्म की वर्तमान स्थिति'

में निराला लिखते हैं- “भारतवर्ष का यह युग शूद्रशक्ति के उत्थान का युग है। और देश का पुनरुद्धार उन्हीं के जागरण की प्रतीक्षा कर रहा है।”¹⁶ इसी तरह दिसंबर, 1933 की ‘सुधा’ के संपादकीय में निराला लिखते हैं- “जिस तरह एक ओर प्रकृति वर्णाश्रम-धर्म को तोड़ रही थी, उसी तरह दूसरी ओर वह शूद्रशक्ति के अभ्युत्थान की तैयारी कर रही थी।...शूद्रों के इसी अधिकार पर भारत का भविष्य जातीय संगठन अवलंबित है।”¹⁷ भविष्य का यह ‘प्रोजेक्शन’ निराला की दूरदृष्टि और उनकी गहरी सामाजिक-राजनीतिक समझ का प्रमाण है।

एक बात और। भारतीय किसान क्या केवल एक वर्ग है या उसकी कोई जातिगत पहचान भी है? प्रेमचंद के यहाँ किसान पिछड़ी जाति के लोग हैं। वहाँ कोई ऐसा किसान पात्र दिखाई नहीं पड़ता जो ऊँची जाति का हो या फिर दलित हो। वहाँ किसान पिछड़ी जाति का व्यक्ति है, जिसके पास बहुत थोड़ी-सी जमीन है और जिसपर वह अपने पूरे परिवार के साथ खुद काम करता है। प्रेमचंद के संदर्भ में यह बात बहुत स्पष्ट रूप से दिखाई पड़ती है। अब सवाल है कि क्या निराला के लेखन में भारतीय किसानों की जातिगत पहचान दिखाई पड़ती है? इस सवाल का जवाब निराला के लेखन में मौजूद है। निराला की एक कहानी है ‘श्यामा’ जो 1932 में प्रकाशित हुई। इस कहानी की पात्र श्यामा एक गरीब किसान सुधुआ की लड़की है। सुधुआ के पास अपनी जमीन भी नहीं है, वह पिछड़ी जाति का है- लोध जाति का। निराला का यह किसान बिल्कुल प्रेमचंद के किसान की तरह है। अपनी इस कहानी में निराला भारतीय किसानों की जातिगत पहचान को स्पष्ट रेखांकित करते हैं। कहानी के एक प्रसंग में वह लिखते हैं- “भारतीय किसानों के घर में दरवाजे नहीं होते। सिर्फ टट्टर रहता है। रात को भेड़िए से बकरियों को बचाने के लिए एक डंडे से बाँध दिया जाता है। फिर शूद्र के मकान में प्रवेश के लिए आज्ञाविशेष आवश्यक नहीं।”¹⁸ यहाँ निराला बात की शुरुआत करते हैं भारतीय किसान से और आगे चलकर उसी के लिए शूद्र शब्द का प्रयोग करते हैं। निराला के लिए दोनों एक हैं। भारतीय किसान (वर्ग) की स्पष्ट जातिगत पहचान शूद्र (पिछड़ी जातियाँ) के रूप में निराला के यहाँ मौजूद है।

अब यहाँ एक सवाल उठता है कि निराला के उपन्यासों में ब्राह्मण समाज का चित्रण है और वहाँ तो ब्राह्मण भी खेती करते हुए दिखाई पड़ रहे हैं, ऐसे में यह कहना कितना उचित है कि निराला किसान की जातिगत पहचान पिछड़ी जातियों के रूप में करते हैं? इस सवाल का जवाब निराला के उपन्यासों में ही मौजूद है। ‘बिल्लेसुर बकरिहा’ उपन्यास में निराला एक बात लिखते हैं, जिसमें इस सवाल का जवाब नजर आता है कि निराला के यहाँ ब्राह्मण खेती करते हुए दिखाई क्यों पड़ रहे हैं। ‘बिल्लेसुर बकरिहा’ उपन्यास के एक प्रसंग में बिल्लेसुर से कोई पूछता है कि ब्राह्मण होकर बकरी पालोगे? बिल्लेसुर ने मन में कहा कि “जब जरूरत पर ब्राह्मणों को हल की मूठ पकड़नी पड़ी है, जूते की दूकान खोलनी पड़ी है, तब बकरी पालना कौन बुरा काम है?”¹⁹ अब यहाँ बिल्लेसुर के माध्यम से निराला ने जो बात कही वह उस सामाजिक संरचना को समझने में बड़ी मददगार है। खेती करना- हल की मूठ पकड़ना किसी ब्राह्मण के लिए गर्व, गौरव और मरजाद की बात नहीं है, बल्कि वह उसके लिए अपमानजनक बात है। खेती करने के कारण ब्राह्मणत्व की उसकी मर्यादा कम हो जाएगी! ‘निराला की साहित्य साधना-1’ में निराला के पैतृक गाँव गढ़ाकोला के बारे में रामविलास शर्मा लिखते हैं- “गढ़ाकोला, जिला उन्नाव में, बैसवाड़े का एक छोटा-सा गाँव है। ज्यादातर लोग गरीब थे। ब्राह्मण लोग हल चलाना आत्म-सम्मान के विरुद्ध समझते हैं, फिर भी गरीबी के मारे गढ़ाकोला के ब्राह्मण खेती करते थे।”²⁰ ध्यान देना चाहिए कि ब्राह्मण गरीबी के मारे खेती करने के लिए मजबूर होते हैं, लेकिन इसके ठीक उलट जो पिछड़ी जाति का किसान है, उस किसान के लिए हल चलाना मरजाद की बात है। इससे उसकी इज्जत जुड़ी हुई है, उसकी प्रतिष्ठा, जिसके लिए वह तमाम कष्ट सहता है, जोखिम उठाता है। तो एक तरफ पिछड़ी जाति का किसान है जिसके लिए हल की मूठ पकड़ना मरजाद का सवाल है, दूसरी तरफ ब्राह्मण है जिसके लिए हल की मूठ पकड़ना अपमानजनक है। इस बात को निराला भी रेखांकित कर रहे हैं। इसलिए

निश्चित तौर पर किसान की एक स्पष्ट जातिगत पहचान निराला के यहाँ मौजूद है और वह स्वाभाविक रूप से पिछड़ी जातियों के रूप में ही है।

स्पष्ट है कि निराला के लेखन में, विशेष तौर पर उनके गद्य में, उनकी जाति-वर्ण संबंधी दृष्टि बहुत साफ दिखायी पड़ती है। वर्ण को लेकर निराला के यहाँ कुछ अंतर्विरोध मौजूद हैं, मगर जाति के सवाल को लेकर निराला की दृष्टि साफ है। जाति हमेशा ही निराला के लिए एक 'सामाजिक कोढ़' रही है, जिसने भारतीय समाज की प्रगति को बाधित किया है। नवजागरण के दौर में जाति से जुड़े विभिन्न प्रश्नों पर निराला की अपनी समझ है, जो उनके लेखन में मौजूद है। इनको एक साथ रखकर देखने पर ही निराला की जाति संबंधी दृष्टि को समग्रता में समझा जा सकता है। प्रस्तुत आलेख इसी दिशा में एक प्रयास है।

संदर्भ :

1. सूर्यकांत त्रिपाठी निराला, निराला रचनावली- 6, संपा.- नंदकिशोर नवल, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, 2006, पृ. 378
2. वही, पृ. 377-78
3. विस्तार के लिए देखें- अमिष वर्मा, श्रीभगवान सिंह के बहाने गाँधीजी के वर्ण-जाति संबंधी विचारों पर पुनर्विचार (लेख), सत्राची (पत्रिका), अंक-3, अप्रैल-जून, 2014, पृ. 7-15
4. सूर्यकांत त्रिपाठी निराला, निराला रचनावली- 6, पृ. 389
5. वही, पृ. 416
6. सूर्यकांत त्रिपाठी निराला, निराला रचनावली- 1, संपा.- नंदकिशोर नवल, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, 2006, पृ. 327-28
7. सूर्यकांत त्रिपाठी निराला, निराला रचनावली- 2, संपा.- नंदकिशोर नवल, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, 2006, पृ. 35
8. सूर्यकांत त्रिपाठी निराला, निराला रचनावली- 6, पृ. 419
9. वही, पृ. 368
10. वही, पृ. 437
11. देखें- कमलेश वर्मा, निराला काव्य-कोश, अनन्य प्रकाशन, दिल्ली, 2022, पृ. 107, 208, 218, 219, 269
12. सूर्यकांत त्रिपाठी निराला, निराला रचनावली- 2, पृ. 167-168
13. सूर्यकांत त्रिपाठी निराला, निराला रचनावली- 4, संपा.- नंदकिशोर नवल, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, 2006, पृ. 61
14. रामविलास शर्मा, निराला की साहित्य साधना-1, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, 2002, पृ. 14
15. सूर्यकांत त्रिपाठी निराला, निराला रचनावली- 4, पृ. 365
16. सूर्यकांत त्रिपाठी निराला, निराला रचनावली- 6, पृ. 113
17. वही, पृ. 437
18. सूर्यकांत त्रिपाठी निराला, निराला रचनावली- 4, पृ. 311
19. वही, पृ. 96
20. रामविलास शर्मा, निराला की साहित्य साधना-1, पृ. 16



संत रैदास के उल्लेखकार

○ राजेन्द्र प्रसाद सिंह

I

जीते जिंदगी ख्याति बहुत विरल लोगों को मिलती है। संत रैदास उन विरल लोगों में से थे, जिनकी ख्याति जीते जिंदगी मिली थी। जिस संत की प्रशंसा कबीर ने की और जिस संत को मीराबाई ने अपना गुरु माना, वह संत किसी परिचय का मोहताज नहीं है। कबीर ने समस्त संतों में रैदास को विशिष्ट माना है।

साधुन में रैदास संत हैं, सुपच ऋषि सो मानियां।

हिंदू तुरुक दुई दीन बने हैं, कछु नहीं पहिचानियां॥

कबीर ने रैदास को 'साधुन में रैदास संत' कहकर उनके महत्व को स्वीकार किया है। कबीर खुद बड़े संत थे और ऐसे बड़े संत यदि किसी संत को 'संतों का संत' कहे तो इसका मूल्य है और बहुत बड़ा मूल्य है। मीराबाई की कुछेक रचनाओं में गुरु के रूप में रैदास का उल्लेख है - 'गुरु मिलया रैदास जी दीन्हीं ग्यान की गुटकी'।¹ जाहिर है कि संत रैदास मीराबाई के गुरु थे। मीराबाई ऐसे-वैसे को गुरु नहीं कह देंगी। संत रैदास में ऐसा कुछ था, जिससे प्रभावित होकर मीरा ने रैदास को गुरु माना। ओशो रजनीश ने लिखा है कि रैदास का अगर एक भी वचन नहीं बचता और सिर्फ मीरा का यह कथन बचता, गुरु मिलया रैदास जी, तो काफी था।

II

धन्ना भगत किसानी करते थे। लेकिन नामदेव छीपा, कबीर जुलाहा, सेन नाई और रैदास चमार की प्रेरणा से वे भगत हो गए। यह बात उन्होंने खुद ही लिखी है। जाहिर है कि संत रैदास प्रेरक बन चुके थे। एक मिसाल कि कई लोगों ने उनकी राह अपनाई।

गोबिंद गोबिंद संगि नामदेउ मन लीणा।

आढ दाम को छीपड़ो होइओ लाखीणा॥

बुनना तनना तिआगि कै प्रीति चरन कबीरा।

नीच कुला जोलाहरा भइओ गुनीय गहीरा॥

रविदास दुवता ढोर नीत तिन तिआगी माइआ।

परगट होइआ साध - संगि हरिदरसन पाइआ॥

सैनु नाई बुत कारिआ ओहु घरि - घरि सुनिआ।

हिरदे बसिआ पारब्रह्म भगता महिं गनिआ॥

इह विधि सुनिकै जाटरो उठि भगति लागा।

मिले प्रतखि गुसइयां धन्ना बड़ भागा॥

गोविंद के साथ नामदेव का मन सदैव जुड़ा रहता था। आधी कौड़ी का छीपा लखपति बन गए। बुनना-तनना छोड़कर कबीर ने सिरि-चरणों से लगन लगा ली। नीच कुल के जुलाहा गुणों का समंदर हो गए। रैदास जो नित्य मरे हुए पशु ढोते थे, वे मोह त्याग और साधु-संगति में रहकर हरि के दर्शन कर लिए। सेन नाई भी भगतों में गिने जाने लगे। धन्ना भगत कहते हैं कि ये सब बातें सुनकर मैं भी भक्ति की ओर उन्मुख हो गया और गुसाई के दर्शन कर धन्य हो गया। इस प्रकार धन्ना भगत ने बड़े ही आदर के साथ और प्रेरक के रूप में संत रैदास का नाम लिया है। दादूदयाल का नाम कबीर और रैदास जैसे संतों की श्रेणी में गण्य है। दादू के विचारों पर कबीर का अत्यधिक प्रभाव है- जो था कंत कबीर का, सोई वर वरिहूँ। लेकिन दादू ने भी बड़े आदर के साथ रैदास का उल्लेख किया है।

कहां लीन सुकदेव था, कहां पीपा रैदास।

दादू सांचा क्यों छिपे, सकल लोक परकास॥

अर्थात् सुकदेव मुनि कब भक्ति द्वारा भगवान में लीन हुए थे, पीपा और रैदास का शरीर अब कहाँ है ? किंतु वे सच्चे भक्त थे। अतः वे छिप कैसे सकते थे? उनका यश तो सकल लोक में प्रसिद्ध हो रहा है। दादूदयाल के अग्रणी शिष्य रज्जब जो जन्म से मुस्लिम थे, उन्होंने रैदास के बारे में कहा कि भक्ति का जो प्रकाश रैदास को मिला, वह रैदास के व्यक्तित्व में ही समा गया था। सिखों के गुरुग्रंथ साहब में रैदास के 40 सबद तो हैं ही, खुद सिख गुरुओं ने भी बड़े आदर के साथ संत रैदास का उल्लेख किया है। सिखों के चौथे गुरु रामदास ने कहा -

साधू सरणि परै तो उबरै खत्री ब्राह्मणु सूदु वैसु चंडालु चंडईआ।

नामा जैदेउ कबीरु त्रिलोचनु अउजाति रविदासु चमिआरु चमईआ॥

(आदि ग्रंथ, अंग-835/6)

अर्थात् साधुओं की शरण में जो भी जाता है, उसे मुक्ति मिल जाती है, चाहे वह क्षत्रिय हो, ब्राह्मण हो, शूद्र हो या वैश्य हो या कथित अच्छूत से अच्छूत ही क्यों न हो, मिसाल के तौर पर नामदेव, जयदेव, कबीर, त्रिलोचन और कथित नीच जाति के रविदास चमार। यहाँ से जयदेव की जाति खुलती है, जिन्हें गलती से ब्राह्मण मान लिया गया है। पाँचवें गुरु अर्जुन देव ने भी रैदास की महिमा का बखान किया है।

भलो कबीरु दासु दासन को ऊतमु सैनु जनु नाई।

ऊच ते ऊच नामदेउ समदरसी रविदास ठाकुर बणि आई॥

(आदि ग्रंथ, अंग-1207/1)

अर्थात् दासों के दास कबीर भले हैं और सैन भगत उत्तम हैं। भगत नामदेव महान हैं और समदर्शी रैदास तो ईश्वर के साथ एकाकार ही हैं। एक ब्राह्मण संत हरिराम व्यास ने तो रैदास की प्रशंसा दिल खोलकर की है।

व्यास बड़ाई छाड़ि कै, हरिचरणा चित जोरि।

एक भक्त रैदास पर, वारूँ ब्राह्मण कोरि ॥

जन्म से कथित ब्राह्मण हरिराम व्यास तो एक भक्त रैदास पर करोड़ों ब्राह्मण न्योछावर करने को तैयार बैठे हैं। भारत के अनेक संतों ने रैदास का उल्लेख बड़े गर्व के साथ किया है। संत रैदास का उल्लेख एकनाथ ने किया है। हरिदास, तुकाराम, सेवादास और रूपदास जी ने भी उल्लेख किया है (संत रविदास, इंद्रराज सिंह, पृ.65-66)। मीराबाई के बाद महिला संतों में से एक दयाबाई ने भी संत रैदास का उल्लेख बड़े सम्मान के साथ किया है।

भेंटो जब रविदास कू लीन्हो भुजा पसार,
हरि लीला रीझै नहीं अचरज कहों अपार।

III

संत रैदास के साथ अनेक चमत्कारी कथाएँ जुड़ी हुई हैं। कुछ कथाएँ तो उनके गद्दीधारी और चले लोग अपने गुरु की महिमा बढ़ाने के लिए जोड़ दिए हैं और कुछ कथाएँ अन्य संप्रदाय के लोगों ने जोड़ दी हैं। लेकिन दोनों प्रकार की कथाओं ने रैदास के वास्तविक इतिहास को क्षतिग्रस्त किया है। दैवीय चमत्कारों के खिलाफ आवाज बुलंद करने वाले रैदास खुद ही चमत्कारपूर्ण कथाओं के शिकार हो गए। यह भारतीय इतिहास की विडंबना है। चंद्रिका प्रसाद जिज्ञासु ने अपनी पुस्तक 'संत प्रवर रैदास साहेब' में ऐसी कई चमत्कारी कथाओं का जिक्र किया है और फिर खंडन किया है। एक ऐसी ही मनगढ़ंत कहानी का जिक्र करते हुए लिखा है कि झाली रानी के दरबार में शास्त्रार्थ होने वाला था, जिसमें सिंहासन की मूर्ति को अपने पास बुलाने की शर्त थी। ब्राह्मण पंडितों के तीन पहर तक मंत्र पढ़-पढ़ाकर आह्वान करने पर भी मूर्ति उस से मस नहीं हुई और रैदास जी के केवल एक बार भक्ति-भाव से पुकारने पर मूर्ति तुरंत उनकी गोद में आ विराजी। जाहिर है कि इस कथा को इसलिए गढ़ा गया है ताकि रैदास को सगुणवादी तथा मूर्तिपूजक साबित किया जा सके। यह रैदास जैसे धर्मांडबरो के विरोधी संत को फिर से उन्हीं धर्मांडबरो में ढालने की साजिश है। लेकिन यही साजिश आगे चलकर इतिहास में जुड़ आती है। पलटू दास मध्यकाल के प्रमुख संत कवि हैं। उन्हें हिंदी साहित्य में दूसरा कबीर कहा जाता है। बड़े क्रांतिकारी, जनेऊतोड़क और वर्ण-व्यवस्था के विरोधी कवि हैं। लेकिन वे भी इन भ्रामक कथाओं के चक्कर में फँस गए। लिखा -

नहाते त्रिकाल रोज पंडित आचारी बड़े,
सदा पट बसतर खूब अंगन लगाई है।
पूजा नैवेद आरती करते हम विधि-विधान,
चंदन औ तुलसी भली-भाँति से चढ़ाई है।
हारे हम कुलीन सब कोटि-कोटि कै उपाय,
कैसे तुम ठाकुर हम अपने हूँ न पाई है।
पलटू दास देखो रीझ मेरे साहिब की,
गए हैं वहां जब रविदास जी बुलाई है।

जाहिर है कि पलटू दास की इस कविता में उस घटना का संकेत है, जिस घटना को रैदास के साथ जोड़ दिया गया है। मूर्तिपूजक पंडित गण कहते हैं कि हे ठाकुर जी, हम लोग आपकी पूजा और आरती करते हैं। नैवेद्य, चंदन और तुलसी चढ़ाते हैं। रोज तीन बार नहाते हैं। आप तो हम लोगों के अपने हैं। फिर आपने हम लोगों के बुलाने पर क्यों नहीं आए? आप तो न जाने क्यों रीझकर रैदास जी के पास चले गए। या तो यह कविता पलटू दास की है या फिर वे भी सगुणवादियों की साजिश के शिकार हो गए। जो भी हो, कहा जाता है कि पलटू दास ने रैदास का उल्लेख किया है। रैदास के संबंध में प्रचलित ऐसी चमत्कारपूर्ण कथाओं के शिकार आधुनिक काल के भी कवि हुए। एक ऐसी ही मनगढ़ंत कहानी रैदास के साथ गंगा जी और ठाकुर जी की जुड़ी हुई है। घटना कुंभ मेले में प्रयाग की है। शर्त लगी कि रैदास अपने शालिग्राम तथा पंडे-पुजारी अपने अपने ठाकुरों की मूर्तियाँ गंगा में तैराएँ। जिसकी मूर्ति तैरती रहे, वह जीत जाएगा तथा जिसकी डूब जाएगी, वह हार जाएगा। किंतु आश्चर्य कि ब्राह्मणों की मूर्तियाँ पानी में डूब गईं और रैदास जी का शालिग्राम तैरता रहा। निश्चित ब्राह्मण गण यहाँ हार गए, लेकिन यह कथा जोड़कर जीत गए। यही कारण है कि दलित कवि बिहारीलाल

‘हरित’ ने भी इस घटना को कविताबद्ध कर दिया है। वही बिहारीलाल ‘हरित’ जिन्होंने ‘भीमायण’ (1973 ई.) की रचना की थी।

श्री रविदास का सत्य जाँचने आए।
ठस गंगाघाट पर सालिग्राम तिराए।।
श्री रविदास ने पत्थर के बनवाए।
दूजे लकड़ी के बनवाए अति हर्षाए।
डालत हरी न उठे धरा को सर के।
क्यों गए काठ के डूब तरे पत्थर के

रैदास न तो शालिग्राम पूजते थे और न गंगा नहाते थे। लेकिन ऐसी अवैज्ञानिक कथाएँ उनके साथ जोड़ दी गईं और आश्चर्य कि बिहारीलाल हरित जैसे दलित कवियों ने भी इसे मान लिया। प्रसिद्ध है कि एक बार रैदास को किसी साधु ने पारस पत्थर लाकर दिया और उनके जूता बनाने वाले लोहे के औजारों से उसे छुलाकर सोना बना पारस का उपयोग भी बतला दिया। रैदास ने पारस लेने से इनकार कर दिया। साधु के बहुत आग्रह पर रैदास ने उसे छप्पर में खोंस देने को कहा। 13 माह बाद साधु आया और रैदास से पत्थर हाल पूछा, तब उन्होंने कहा कि देख लीजिए, जहाँ था वहीं पड़ा होगा। इस कथा से यह साबित होता है कि रैदास परम संतोषी और निस्पृह थे, मगर कथा अवैज्ञानिक और अंधविश्वासजनक है। इस कथा का संकेत आधुनिक काल के छायावादी कवि सूर्यकांत त्रिपाठी निराला में मिलता है। यह कविता 1942 ई. में लिखी गई थी।

छुआ पारस भी नहीं तुम ने, रहे
कर्म के अभ्यास में, अविरत बहे
ज्ञान - गंगा में, समुज्ज्वल चर्मकार,
चरण छूकर कर रहा मैं नमस्कार।

इस प्रकार कहने को तो किंवदंतियाँ हवा-हवाई होती हैं। लेकिन इनकी चपेट में बड़े-बड़े विचारक भी आ जाते हैं, सामान्य आदमी की बात कौन करे। इन किंवदंतियों की चपेट में पलटू साहब आ गए, सूर्यकांत त्रिपाठी निराला आ गए और प्रख्यात दलित कवि बिहारीलाल हरित आ गए हैं। इसलिए इन किंवदंतियों को मामूली समझकर टाल देना खतरे से खाली नहीं है।

IV

हिंदी साहित्य सबसे पुराना इतिहास गार्सा द तासी कृत ‘इस्त्वार द ल लितरेत्यूर ऐंदूर् ई ऐंदूस्तानी’ है। इसका प्रथम संस्करण दो भागों में 1839 तथा 1847 ई. में प्रकाशित हुआ था। डॉ. लक्ष्मीसागर वाष्णीय ने इसका हिंदी अनुवाद प्रस्तुत किया है। इस हिंदी अनुवाद में रैदास के बारे में 5 पन्ने हैं।² लेकिन हिंदी में लिखा हिंदी साहित्य का प्रथम इतिहास शिवसिंह सेंगर कृत ‘शिवसिंह सरोज’ है, जिसका प्रकाशन 1877 ई. में हुआ था। इसमें कुल मिलाकर 1003 कवि हैं।³ अफसोस कि इस इतिहास-ग्रंथ में रैदास का नाम गायब है। हिंदी साहित्य के एक विदेशी इतिहासकार ने रैदास के बारे में लिखा, किंतु हिंदी साहित्य के एक देशी इतिहासकार ने उन्हें छोड़ दिया। अंग्रेजी में लिखा हिंदी साहित्य का प्रथम इतिहास जार्ज ग्रियर्सन कृत ‘वर्नाक्यूलर लिटरेचर ऑफ हिंदुस्तान’ है, जिसका प्रकाशन 1889 में हुआ था। डॉ. ग्रियर्सन ने ‘शिवसिंह सरोज’ को इतिहास-लेखन का आधार बनाया। परिणामतः इस ग्रंथ से भी रैदास का नाम गायब हो गया, जबकि इसमें 951 कवियों का इतिहास दर्ज है। आगे के इतिहास-ग्रंथों में भी रैदास के बारे में कम ही लिखा गया। आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने ‘हिंदी साहित्य का इतिहास’ (1929 ई.) में रैदास पर सिर्फ 1 पन्ना लिखा है,⁴ जबकि उन्होंने तुलसीदास के बारे में 16 पन्ने लिखे

डाले हैं। डॉ. रामकुमार वर्मा भी 'हिंदी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास' (1938 ई.) में रैदास पर सिर्फ 2 पन्ने लिखकर रुक गए हैं।⁵ डॉ. गणपतिचंद्र गुप्त ने अपने इतिहास-ग्रंथ को वैज्ञानिक होने का दावा किया है। उनका इतिहास-ग्रंथ 'हिंदी साहित्य का वैज्ञानिक इतिहास' 1965 में प्रकाशित हुआ। इस ग्रंथ में भी रैदास पर सिर्फ 1 पन्ना है,⁶ जबकि मैथिलीशरण गुप्त पर 6 पन्ने हैं। एक ओर हिंदी साहित्य के इतिहास-ग्रंथों में रैदास पर कम लिखा गया है, दूसरी ओर इतिहासकारों ने अधिक ऊर्जा उनके जाति-विमर्श पर ही लगा दिया है कि वे ब्राह्मण थे या चमार थे। एक तो रैदास ब्राह्मण नहीं थे, फिर भी 1 पन्ना में से आधा पन्ना इसी पर वे खर्च कर डाले हैं। परिणामतः पुराने इतिहास-ग्रंथों में उनका साहित्यिक मूल्य नहीं आंका जा सका है। लेकिन संतोष की बात है कि दलित साहित्य के आने से संत रैदास पर अनेक शोध-कार्य हो रहे हैं।

V

बात 1640 ई. की है। भारत में तब शाहजहाँ का शासन था। उस समय में भी रैदास और कबीर के ज्ञान की बड़ी शोहरत थी। ज्ञान-पिपासु दारा शिकोह रैदास और कबीर के ज्ञान से प्रभावित थे। शाहजहाँ के समय में फकीर उल्ला बड़े चित्रकार थे। दारा शिकोह ने फकीर उल्ला से आग्रह किया कि आप रैदास और कबीर की संयुक्त पेंटिंग बनाइए। आखिरकार फकीर उल्ला ने 1640 ई. में रैदास और कबीर की संयुक्त पेंटिंग बनाई। यह पेंटिंग फिलहाल नेशनल म्यूजियम, नई दिल्ली में मौजूद है। पेंटिंग का खूबसूरत किनारा है। धूसर रंग का सर्वाधिक प्रयोग है। पेंटिंग में कबीर की झोंपड़ी के बाहर रैदास पधारे हैं। दोनों के सिर पर पगड़ी है। कबीर बुनाई का कार्य कर रहे हैं और रैदास चटाई पर बैठे हैं। पूरी चित्रकारी में शांति का अखंड साम्राज्य है। सर्वत्र शांति मानो बुद्ध फिर से धरती पर उतर आए हों। राजकीय पक्षों को ज्यादा दिखाने वाले तत्कालीन चित्रों के बीच यह पेंटिंग बताती है कि लोक में कबीर और रैदास का कितना प्रभाव था। दारा शिकोह ने फकीर उल्ला से रैदास और कबीर की जो संयुक्त पेंटिंग बनवाई है, वह मुगल कालीन चित्रकला का मास्टरपीस है। नेशनल म्यूजियम, नई दिल्ली में 19 सदी के आरंभ की एक और पेंटिंग है, जिसमें कबीर के साथ नामदेव, पीपा और रैदास हैं। पेंटिंग में कबीर अपनी कुटी के पास कपड़ा बुन रहे हैं और उनके आसपास नामदेव, पीपा और रैदास बैठे हैं। तीनों संत का ध्यान कबीर की ओर है और चारों संत सिर पर पगड़ी या टोपी धारण किए हुए हैं। 18-19वीं सदी में पेंटिंग की एक कंपनी शैली भी प्रचलित हुई। यह इंडो-यूरोपियन शैली है। इस शैली में भी कबीर और रैदास की एक संयुक्त पेंटिंग मिलती है। यह पेंटिंग सेंट्रल म्यूजियम, जयपुर में रखी है जो 1825 में बनी थी और फकीर उल्ला की पेंटिंग से मेल खाती है।

संदर्भ :

1. मीराबाई की पदावली, हिंदी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, पृ. 10
2. हिंदुई साहित्य का इतिहास, गार्सॉ द तासी, अनु. लक्ष्मीसागर वाष्णोय, हिंदुस्तानी एकेडेमी, इलाहाबाद, पृ. 250-254
3. शिवसिंह सरोज, सं. किशोरीलाल गुप्त, हिंदी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, पृ. 25
4. हिंदी साहित्य का इतिहास, आ. रामचंद्र शुक्ल, नागरीप्रचारिणी सभा, काशी, पृ. 57
5. हिंदी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, डॉ. रामकुमार वर्मा, रामनारायणलाल बेनीमाधव, इलाहाबाद, पृ. 224-225
6. हिंदी साहित्य का वैज्ञानिक इतिहास, गणपति चंद्र गुप्त, भारतेंदु भवन, चंडीगढ़, पृ. 208



हिंदी गीत-परंपरा एवं लोक-मन का यथार्थ

○ चंद्रकांत सिंह

गीत मानव-मन की कोमल अवस्था को दर्शाते हैं। मनुष्य के सभ्यता-विकास की कहानी में गीतों की महती भूमिका है। जब भी मनुष्य के भीतर सौंदर्य की आकंठ प्यास जगी और मनुष्य रूप के जगत में विचरण करने लगा। उसने गीत को अपने आह्लाद को व्यक्त करने का पहला माध्यम बनाया। एक तरह से कह सकते हैं कि गीतों में मनुष्य के चित्त की आर्द्र ध्वनियाँ हैं। इन्हीं ध्वनियों से सौंदर्य के जगत का विकास होता है। शम्भुनाथ सिंह जी अपनी पुस्तक 'नवगीत सप्तक' में कहते हैं कि, "गीत काव्य की आदिम और सनातन विधा है। जब मनुष्य सभ्यता की आदिम अवस्था में था, तभी उसने अपने जीवन को आनंदमय मनाने के लिए एक साधन के रूप में गीत का आविष्कार किया था और उस समय से आज तक यह काव्य-विधा मनुष्य जाति से लगी-लिपटी चली आ रही है। सभ्यता के विकास और उत्थान-पतन के साथ इस काव्य-विधा में भी युगानुरूप परिवर्तन होते आये हैं- किसी युग में उसका उत्थान हुआ तो किसी युग में वह पतन की स्थिति में पहुँच गई, किंतु कभी भी उसकी जड़ें सामाजिक-जीवन से उखड़ कर विलुप्त नहीं हुईं। इसका कारण यह था कि संगीत के समान गीत-काव्य भी मानव की भावात्मक-ऊर्जा के पोषण और संवर्धन के लिए अनिवार्य है। इसी कारण गीत का मानव-जीवन के साथ अविच्छेद्य संबंध है।"¹

निश्चय ही मानव की जय-यात्रा में गीत महत्वपूर्ण हैं, गीतों में मनुष्य के राग-विराग के साथ आकांक्षाओं, संकल्पों आदि के भी दर्शन होते हैं। एक गहरे अर्थ में गीत मनोरंजन के साथ सामाजिक सरोकारों की युगानुरूप व्याख्या भी करते हैं। हिंदी में आदिकाल से ही गीत रचे जाते रहे हैं किन्तु खड़ी बोली में गीतों की व्यवस्थित परम्परा का प्रारंभ निराला ने किया। निराला गीत-रचना के प्रवर्तक हैं, शलाका-पुरुष हैं जिन्होंने राग, लय एवं ताल के आधार पर गीतों को नया रूप देने का कार्य किया। ऐसा नहीं कि निराला से पूर्व गीतों की परम्परा न थी किन्तु वह जीवन से विलग थी। उसमें दरबारी अभिजात्यता एवं चारणप्रियता थी। सर्वप्रथम निराला ने ब्रजभाषा की दरबारी प्रवृत्ति से गीत परम्परा को विलग किया। उनके गीत जीवन से जुड़े हैं साथ ही इन गीतों में संगीत की अविरल परम्परा दिखती है। अपने गीतों के संदर्भ में निराला स्वयं कहते हैं कि, "मैं खड़ी बोली में जिस उच्चारण-संगीत के भीतर से जीवन की प्रतिष्ठा का स्वप्न देखता आया हूँ, वह ब्रज भाषा में नहीं। ब्रजभाषा के पदों के गाने वाले उस्ताद, प्राचीन उत्तरी-संगीत स्कूल के कलावंत, जिन्हें खड़ी बोली का बहुत साधारण ज्ञान है, मेरे गीत गा न सकेंगे।"²

निराला के गीतों में जीवन की व्याप्ति है। रूप-रस-गंध के साथ निराला के सभी गीत भारतीय-बोध को उद्घाटित करते हैं। गीतों में कृत्रिमता या बनावटीपन नहीं है बल्कि गीतों की एक-एक टेक जीवन की व्यथा को उभारती है। निराला ने अपने गीतों के जरिये कोमल अनुभूतियों को तो बानी देनी ही चाही, उनके गीतों में

जीवन का रौरव-संगीत है। उनके गीत संघर्ष एवं जीवन की अनगढ़ता को पार्श्व रूप देते हैं। निराला के गीतों पर विचार करते हुए स्वयं उनके मित्र जयशंकर प्रसाद कहते हैं कि, “निराला जी हिंदी की नवीन धारा के कवि हैं, और भारती मंदिर के गायक भी। उनमें केवल पिक की पंचम पुकार ही नहीं, कनेरी की-सी एक मीठी तान ही नहीं, अपितु उनकी ‘गीतिका’ में सब स्वरों का समारोह है।”³

निश्चय ही निराला के गीतों में हिंदी की जातीय-परम्परा दिखती है जिसे निराला ने सजाने-सँवारने के साथ गढ़ने का कार्य भी किया। निराला के गीतों की नियोजन शक्ति एवं जीवनपरकता पर प्रकाश डालते हुए डॉ. रामविलास शर्मा जी सही लिखते हैं कि “खड़ी बोली में उच्चारण-संगीत के भीतर से जीवन की प्रतिष्ठा निराला के गीतों की यह विशेषता है।”⁴

गीतों में जिस सादगी एवं राग की एकतानता की आवश्यकता होती है उसकी बहुरंगी छटा निराला के यहाँ दिखाई पड़ती है। निराला ने मानव-मन की झाँकी को गीतों के द्वारा रचना चाहा है, यही उनकी विशिष्टता है। ‘बाँधो न नाव इस ठाँव’ निराला का अनूठा गीत है। जिसमें गीत-योजना के सम्यक निर्वाह के साथ कवि ने लोक की चिंताधारा का समुचित विकास भी किया है। यह गीत इस अर्थ में महत्वपूर्ण है कि इसमें केवल व्यक्तिगत राग का चित्र भर नहीं है बल्कि स्त्री की अन्तर्दशा एवं प्रेम की सामाजिक भूमिका के प्रति भी निराला ने ध्यान खींचा है। निराला के गीत इस गहरे अर्थ में भिन्न हैं कि इनमें प्रेम की स्निग्ध पहचान के साथ जीवन को देखने-परखने की अपूर्व दृष्टि भी है। अपने गीतों की रस-धार में सबको भिगोने के साथ निराला एक गंभीर चुनौती भी पाठकों के समक्ष रखते हैं। उनकी यही विशिष्टता उन्हें उनके समकालीन रचनाकारों से भिन्न बनाती है—

बाँधो न नाव इस ठाँव बंधु!

पूछेगा सारा गाँव, बंधु !

यह घाट वही, जिस पर हँसकर

वह कभी नहाती थी धँसकर,

आँखें रह जाती थीं फँसकर,

कपँते थे दोनों पाँव, बंधु !

वह हँसी बहुत कुछ कहती थी,

फिर भी अपने में रहती थी,

सब की सुनती थी, सहती थी,

देती थी सबको दाँव, बंधु !⁵

‘स्नेह निर्झर बह गया है’ नामक गीत में निराला के निजी संघर्षों और पीड़ा को अभिव्यक्ति मिली है। निराला ने जिस संघर्ष और विषमता का साक्षात्कार किया, उनके गीतों में उसकी स्पष्ट ध्वनि सुनी जा सकती है। उनके गीत निजी पीड़ा को रचने के साथ जीवन के तत्त्व अनुभव को भी व्यक्त करते हैं, यही कारण है कि इनमें दार्शनिकता है। निराला के गीत जीवन के मर्म को छूते हैं इसलिए एकांगी नहीं हैं बल्कि जीवन की सर्वांगता को प्रकट करते हैं। घनी उदासी एवं नैराश्य-बोध को उकरते हुए निराला लिखते हैं—

स्नेह निर्झर बह गया है

रेत ज्यों तन रह गया है।

आम की यह डाल जो सूखी दिखी,

कह रही है— अब यहाँ पिक या शिखी,

नहीं आते, पक्ति मैं वह हूँ लिखी,

नहीं जिसका अर्थ-
जीवन दह गया है।⁶

निराला के गीतों में मानव-मन की आकुल व्यथा का चित्रण भर नहीं है बल्कि इन गीतों में प्रकृति के सजीले रूप का सुंदर एवं व्यवस्थित वर्णन है। नभचर-खगचर की आकाशीय उड़ान के साथ इन गीतों में प्रकृति के शोभाकारी रूप का प्राकट्य है। पूरेपन के साथ प्रकृति के उल्लास एवं उछाह को यदि कहीं देखना हो तो आसानी से 'सखि वसंत आया' नामक गीत में देखा जा सकता है। जहाँ निराला ने गत्वर प्रकृति के हर्ष को चित्रित किया है। निराला का यह गीत भाव-प्रवण तो है ही साथ ही शस्य श्यामला रूप के कारण मोहक एवं आर्द्र भी है-

सखि वसंत आया।
भरा हर्ष वन के मन,
नवोत्कर्ष छाया।
आवृत सरसी-उर-सरसिज उठे,
कंसर के केश कली से छूटे,
स्वर्ण-शस्य-अंचल
पृथ्वी का लहराया।⁷

निराला के बाद गीत परम्परा का समुचित विकास नहीं हो पाया। छायावाद के बाद जो गीत हरिवंश राय बच्चन एवं उनके समकालीन कवियों द्वारा लिखे गये उनमें भाव का एकान्तिक रूप था। गीत प्रणय एवं रोमांस तक ही सीमित रहे इनमें वैविध्य नहीं दिखता है। प्रयोगवाद के बाद तो गीतों की स्वाभाविक धारा मानो रुक-सी गयी हो। इस काल में शैली एवं स्थापत्य का इतना दबाव रहा कि गीत विधा को विकसित होने का जैसे अवकाश ही नहीं मिला। इस संदर्भ में शम्भुनाथ सिंह ने सही कहा है कि "स्वतंत्रता प्राप्ति के ठीक पूर्व वाले दशक में जिस छायावादोत्तर गीत-काव्य का विकास हुआ, वह मुख्यतः व्यक्तिवादी, स्वच्छंदतावादी एवं प्रगतिवादी गीत-काव्य था। राष्ट्रीयतावादी गीत-काव्य स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद समाप्त प्राय हो गया। प्रगतिवादी गीत काव्य की रचना भी राजनीतिक कारण से प्रायः रुक गई। प्रयोगवादी काव्य मुक्त छंद में लिखे जाने के कारण गीत-विधा का विरोधी था। इस तरह छायावादोत्तर युग के पहले दशक में व्यक्तिवादी स्वच्छंदतावादी गीत-धारा हिंदी कविता की मुख्यधारा बन गई। किंतु शीघ्र ही यह अपनी सस्ती भावुकता और रोमानी मनोवृत्तियों के कारण इतनी सतही और बाजारू हो गई कि गंभीर चेतना वाले पाठकों के मन में उसके प्रति अरुचि उत्पन्न होने लगी।"⁸

स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद निपट अकेलेपन और एकाकीपन से जूझते हुए मनुष्य ने गीतों में अपने अस्तित्व की तलाश करनी चाही। प्रयोगवाद के बाद बढ़ती हुई हताशा एवं शहरी विभ्रम की स्थिति ने मनुष्य को एक-बार पुनः सोचने पर बाध्य किया। भीड़ में एकांत तलाशता हुआ व्यक्ति स्वयं को पुनः स्थापित करने के लिए गीत विधा में स्वयं को सुरक्षित महसूस करने लगा। यह वह समय था जब कवियों ने गीतों को राजनीति की भदेस भाषा पर प्रहार करने के लिए आवश्यक टूल्स के रूप में भी प्रयोग किया। इस तरह नई कविता के कवियों ने गीतों की शक्ति एवं क्षमता को पहचानने का कार्य किया। उनके गीतों में समाज की नई व्याख्या एवं दृष्टिकोण दिखता है। डॉ. शम्भुनाथ सिंह ने गीतों के प्रति नयी कविता के रागात्मिक लगाव को चिह्नित करते हुए सही कहा है कि "सन् 1950 के बाद स्वतंत्रता-प्राप्ति के कारण देश की बदली हुई मानसिकता के फलस्वरूप काव्य के क्षेत्र में भी नया कर गुजरने का दौर प्रारंभ हुआ। देश की बदली हुई राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक परिस्थितियों तथा उत्तरोत्तर बढ़ते हुए औद्योगिक और वैज्ञानिक प्रभाव ने भी काव्य को नई दिशा में मुड़कर अनुभूति के नये और अछूते आयामों को उद्घाटित करने के लिए विवश किया। फलतः छायावादोत्तर युग के

दूसरे दशक (1950-60) में पुनः गुणात्मक परिवर्तन हुआ और हिंदी कविता विकास की तीसरी अवस्था-संस्थिति की सीमा में प्रविष्ट हुई। इस अवस्था में हिंदी कविता की विभिन्न धाराओं का पारस्परिक संश्लेषण हुआ और उनकी वादग्रस्त भूमिकाएँ बहुत हद तक समाप्त हो गईं। उन सबका संश्लेषण ही गुणात्मक परिवर्तन था, जिससे कविता ने एक नवीन रूप ग्रहण कर लिया। इसी को 'नई कविता' नाम दिया गया, जिसमें व्यक्तिवादी स्वच्छंदतावाद, प्रयोगवाद की प्रवृत्तियाँ अंतर्निहित तो थीं, पर उनकी अलग पहचान लुप्त हो गई थी। इन सभी धाराओं के प्रमुख नये कवि एक कविता मंच पर एकत्र हो गए। इस नवीन काव्य-धारा में सभी काव्य विधाओं-गीतिकाव्य, मुक्तक काव्य, प्रबंध-काव्य, लंबी कविता को निस्संकोच भाव से अपनाया गया।”⁹

छठे दशक में सक्रिय ठाकुर प्रसाद सिंह के गीतों में मानसिक-सौंदर्य है जिसे वह अपने गीतों में रचते चलते हैं। उनके गीतों में स्वतंत्रता के बाद बदले हुए भारत की सच्ची तस्वीर है। उनके गीतों को व्यथा, पीड़ा एवं मोहभंग के गीत कहा जा सकता है। कवि अपने कोमल भावों को गीत की शकल में ढालते हैं। उनके गीतों को अंतर्मुखी मानव की संतप्त वाणी कह सकते हैं। 'शीशे के नगर में' गीत भौतिक चकाचौंध एवं अजनबीपन को दर्शाता है, जिसे कवि ने अभिव्यक्त किया है। कवि ठाकुर प्रसाद सिंह लिखते हैं-

नगर में आ गए
शीशे के नगर में
लगे शीशे गली में
हर मोड़ पर
हर घर-डगर में
देखते हो, देखते ही रहो
कहो सब कुछ कहो
कुछ मत कहो
सहो, केवल सहो, सहते रहो,
आ गए तो चुप रहो, बैठो
न घोलो मधु जहर में ।
नगर में आ गए
शीशे के नगर में!¹⁰

'पहली बूँद' गीत में ठाकुर प्रसाद सिंह ने ग्रामीण बिंबों को चित्रित किया है। यह गीत निसर्ग के चित्रों एवं दृश्यों की मोहक प्रस्तुति है जिसमें कवि ने अपने मानस को मिलाया है। वर्षा की पहली बूँद पड़ते ही प्रकृति में जो हलचल उठती है उसे कवि शब्दों के सहारे उकेरते हैं-

यह बादल की पहली बूँद कि यह वर्षा का पहला चुंबन स्मृतियों के
शीतल झोंकों में झुककर काँप उठा मेरा मन।
बरगद की गभीर बांहों से बादल आ आँगन पर छाए
झाँक रहा जिनसे मटमैला थका चाँद पत्तियाँ हटाये नीची-ऊंची
खपरैलों के पार शांत वन की गलियों में रह-रह कर लाचार पपीहा
थकन घोल देता है उन्मन
यह वर्षा का पहला चुंबन।
पिछवारे की बैसवारी में फँसा हवा का हलका अंचल खिंच-खिंच पड़ते
बांस कि रह-रह बज-बज उठते पत्ते चंचल
चरनी पर बाँधे बैलों की तड़पन बन घण्टियाँ बज रहीं यह उमस से भरी

रात यह हाँफ रहा छोटा-सा आँगन
यह वर्षा का पहला चुंबन¹¹

सातवें दशक में उद्भ्रांत अत्यंत सक्रिय गीतकार के रूप में उभर रहे थे। उनके गीतों में जीवन को प्रकृतस्थ रूप में देखने की चाह है। डॉ. रवींद्र भ्रमर ने उनके सृजन-कर्म पर बात करते हुए सही कहा है कि “मन की रागात्मक और कहीं-कहीं वैचारिक अनुभूतियों को भी प्राकृतिक चित्रों से जोड़कर उद्भ्रांत ने अपनी रचनाओं में एक अपूर्व कलात्मक आलाप भर दिया है। अंतर्निहित भाव-संगीत, कलात्मक बिंबधर्मिता और अर्थबोध की समग्रता के कारण ये गीत ‘नवगीत’ की एक विशिष्ट पहचान कायम करते हैं।”¹²

‘बर्फ जम गयी है’ गीत में उद्भ्रांत आपसी संबंधों में जमी हुई बर्फ का चित्रण करते हैं। यह गीत उद्भ्रांत के जीवन-संघर्षों की आकुल कथा है जिसमें उनके व्यक्तिगत जीवन की ऊहापोह दिखाई पड़ती है-

खुलकर हम-तुम कैसे बात करें
यहाँ-वहाँ , सब जगह
बर्फ जम गयी है।

कच्चे नाखूनों से
इसे कौन तोड़े
पता नहीं कहाँ गए
दर्द के हथौड़े

गति में कैसे झंझावात भरें
तेजी से भागती
सदी थम गई है
यहाँ-वहाँ सब जगह
बर्फ जम गयी है।

मन से टकराता है
ऐसे सन्नाटा
कंठ में फँसे जैसे
मछली का काँटा

कैसे हम कदम साथ-साथ धरें
कठिन आग ये
ठौर-ठौर रम गई है
बर्फ जम गयी है
खुलकर हम-तुम कैसे बात करें!¹³

‘मोरपंखी’ गीत में उद्भ्रांत यथार्थ की विषम स्थिति को दिखाते हैं। यह कटु यथार्थ का गीत है। मोरपंखी के प्रतीक द्वारा कवि उद्भ्रांत ने जीवन के विषाद को निरूपित किया है। यह कविता जीवन के नकारात्मक पक्षों की छाया भर नहीं है बल्कि इस गीत में अँधेरे से भरे मानस की कथा के साथ कई स्वर हैं, कई प्रश्न आकृतियाँ हैं जिन्हें कवि ने शब्दांकित किया है। कवि जीवन की विडंबना को दर्शाते हुए कहते हैं-

फैलाया विषधर ने जाल मोरपंखी
चंदन की देह को सम्हाल मोरपंखी !

घुमड़ रहे हैं काले आवर्तों में
 बोझिल प्रश्नचिन्ह
 टकराते हैं आपस में
 सबके दृष्टिकोण भिन्न-भिन्न
 सदियों के बाद आज
 ले बैठा है करवट काल मोरपंखी
 चंदन की देह को सम्हाल मोरपंखी !
 छाया है कुहरा, अब नहीं नजर
 आती है कहीं धूप
 लगता जैसे नभ के प्रांगण में
 उग आया अंध-कूप
 मरकर बिजली मन की
 जोर से अस्तित्व निज उछाल मोरपंखी
 चंदन की देह को सम्हाल मोरपंखी !¹⁴

उमाकांत मालवीय के गीतों में जनता की आशा-आकांक्षा एवं जनवाद में गहरी आस्था के स्वर मिलते हैं। उनके गीत जीवन के गहरे यथार्थ को व्यक्त करते हैं। 'जिन्दगी नेपथ्य में गुजरी' महत्वपूर्ण गीत है। इसमें कवि ने जीवन की विडंबना को दर्शाने के साथ भ्रष्ट व्यवस्था को भी उजागर किया है। ताउम्र जनता कष्टों में जीवन जीती है और सुविधाभोगी लोग उसका उपयोग करते हैं, यह गीत जनता की लाचारी और अवशता को दर्शाता है-

जिन्दगी नेपथ्य में गुजरी
 मंच पर की भूमिका तो सिर्फ अभिनय है।
 मूल से कट रहे
 परिशिष्ट में
 एक अंधी व्यवस्था की दृष्टि में।
 जिन्दगी तो कथ्य में गुजरी
 और करनी
 प्रश्न से आहत अनिश्चय है।
 क्षेपकों के
 हाशियों के लिए हम
 दफन होते
 कागजी हैं ताजिये हम
 जिन्दगी तो पथ्य में गुजरी
 और मन बीमार का परहेज संशय है।¹⁵

ओम प्रभाकर के गीतों में मानव जीवन के यथार्थ के साथ प्रकृति के साहचर्यगत-बोध का उल्लेख हुआ है। ओम प्रभाकर प्रणय-प्रसंगों के चित्र खींचते हैं, प्रेम को प्रकृति के विकास के साथ विकसित होते हुए देखना चाहते हैं। उनके गीतों में प्रेम की भाषा प्रकृति के साथ जीवन-रस प्राप्त करती है। उनके कवित्व की विशेषता ग्राम्य-बोध है, इसी से कवि के गीतों में देशजता आती है, स्थानीय खिलावट उपलब्ध होती है। डॉ. विश्वनाथ प्रसाद इस संदर्भ में लिखते हैं- "ओम प्रभाकर ने ग्राम जीवन की यथार्थता को व्यक्त करने में नवगीत को नई कविता के समानांतर लाकर स्थापित करने का पूरा प्रयास किया।"¹⁶

प्रेयसी को संबोधित करते हुए ओम प्रभाकर जी ने अपने गीतों में प्रकृति के के विराट-सौन्दर्य को उकेरा है, ऐसा लगता है मानो प्रेयसी के रूप-जगत को प्रकृति से जीवन-रस प्राप्त होता हो। उनके गीत 'ओ प्रिया' में प्रेमी-प्रेमिका का संलाप भर व्यक्त नहीं हुआ है बल्कि इस गीत में प्रकृति की जीवनदायिनी शक्ति के साथ प्रेम का समुचित विकास भी प्रकट हुआ है -

ओ प्रिया

पिन्हाऊँ तुम्हें जूही के झुमके।

इस फूली सांझा के तट पर,

आ बैठें बिल्कुल सट-सटकर,

दृष्टि कहे जो

उसे सुनें तो

अर्थ खिलेंगे नये आज गुमसुम के।

किरन बनाती तुझे सुहागिन,

आँखें खोल अरी बैरागिन,

इत-उत अहरह

अहरह इत-उत

लट ले तेरी मंदिर हवा के तुमके।¹⁷

ओम प्रभाकर के गीतों की भाँति आठवें दशक की नवगीत परम्परा के कवि नरेश सक्सेना के गीतों में भी प्रणय-राग के चित्र उभरते हैं। कवि ने अपने गीतों में प्रकृति के साथ प्रेम को आकंट मिला दिया है। उनके हाव-भाव और प्रकृति की बिम्बात्मकता के नैकट्य को देखकर प्रेम की स्निग्धता के वृत्त-चित्र उभरते हैं। 'साँकल खनकायेगा कौन' शीर्षक गीत में बिछोह की पीड़ा है, मिलन की चाह है, इसके साथ प्रकृति के विविध रूपों के साथ एकमेव हो जाने का भाव है। यही भाव कवि को भराव देता है, प्रकृति के साथ गहरे उतरने-रमने के कारण यह गीत भावोच्छ्वास का गीत भर नहीं रह जाता अपितु इसमें जीवन का विस्तीर्ण यथार्थ उतरता है। कवि नरेश सक्सेना के गीतों में सांकेतिक अभिव्यक्तियों, मौन अभिव्यंजनाओं के साथ हृदय का उन्मुक्त प्रसार है इसलिए ये गीत मन को कहीं अधिक भिगाते हैं। प्रकृति के साथ गहरे रमते हुए कवि नरेश सक्सेना लिखते हैं-

दिन भर की अलसाई बाहों का मौन,

बाहों में भर-भर कर तोड़ेगा कौन,

बेला जब भली लगेगी।

आज चली पुरवा, कल डूबेंगे ताल,

द्वारे पर सहजन की फूलेगी डाल,

ऊंची हर डाल को झुकायेगा कौन

चौथे दिन फली लगेगी ।

दिन-दिन भर अनदेखा, अनबोली रात

आँखों के सूने से बरजोरी बात,

साँझ गए साँकल खनकायेगा कौन,

कितनी बेकली लगेगी।¹⁸

हिंदी की गीत-परंपरा के विकास को देखते हुए कहा जा सकता है कि हिंदी की गीत-परंपरा समृद्धि एवं

ऐश्वर्य लिए हुए है। संगीत की स्वर लहरियों के साथ इस गीत परम्परा में हृदय के खुलेपन एवं आपसी संबंधों की समुचित व्याख्या है। ये गीत व्यक्तिगत रोमांस के गीत तो हैं ही साथ ही इन गीतों में अपनी धरती, देश और काल को व्यक्त करने की छटपटाहट भी है जो इन्हें बड़ा बनाती है। हिंदी के गीत हृदय-प्रदेश से निकली हुई ध्वनियाँ हैं जिनमें भावनाएँ, कामनाएँ एवं इच्छाओं का अपरिमित जगत है किन्तु इसके साथ इन गीतों में समाज-राजनीति की समुचित व्याख्या भी है। इन गीतों में प्रकृति के शस्य श्यामल रूप के चित्र के साथ हृदय की उर्वर भूमि का अंकन भी है जो इन्हें विशेष बनाती है। एक बड़े अर्थ में ये गीत हमारी धरोहर हैं, इन गीतों में हमारे समाज एवं पुरखों के श्रम की गाथा के साथ उनके अनचीन्हे कदमों की आहट है जिन्हें कवियों ने बड़े सलीके से व्यक्त किया है। कुल मिलाकर यह कहा जा सकता है कि जब भी थकान और उदासी से मनुष्यता शैथिल्य अनुभव करेगी, ये गीत अपूर्व स्फूर्ति और रसमयता की सृष्टि करेंगे। अपनी रसमयी फुहार से ये गीत रसिकों को रससिक्त करेंगे और धरती को खुशारंग बनाने में अपना अतुल्य योग प्रस्तुत कर सकेंगे।

संदर्भ :

- 1 शम्भुनाथ सिंह (संपादक), 'नवगीत सप्तक', पृ. 13
- 2 संध्या सिंह, 'निराला का गीत-काव्य', पृ. 17
- 3 शम्भुनाथ सिंह (संपादक), 'नवगीत सप्तक', पृ. सं. 50
- 4 संध्या सिंह, 'निराला का गीत-काव्य', पृष्ठ संख्या- 23
- 5 कन्हैया लाल नंदन (भूमिका, चयन एवं संपादन), 'श्रेष्ठ हिंदी गीत संचयन', पृ. 84
- 6 कन्हैया लाल नंदन (भूमिका, चयन एवं संपादन), 'श्रेष्ठ हिंदी गीत संचयन', पृ. 84
- 7 कन्हैया लाल नंदन (भूमिका, चयन एवं संपादन), 'श्रेष्ठ हिंदी गीत संचयन', पृ. 85
- 8 शम्भुनाथ सिंह (संपादक), 'नवगीत सप्तक', पृ. 17
- 9 शम्भुनाथ सिंह (संपादक), 'नवगीत सप्तक', पृष्ठ संख्या-18
- 10 कन्हैया लाल नंदन (भूमिका, चयन एवं संपादन), 'श्रेष्ठ हिंदी गीत संचयन', पृ. 190
- 11 कन्हैया लाल नंदन (भूमिका, चयन एवं संपादन), 'श्रेष्ठ हिंदी गीत संचयन', पृ. 191
- 12 शम्भुनाथ सिंह (संपादक), 'नवगीत सप्तक', पृ. 49
- 13 कन्हैया लाल नंदन (भूमिका, चयन एवं संपादन), 'श्रेष्ठ हिंदी गीत संचयन', पृ. 389
- 14 कन्हैया लाल नंदन (भूमिका, चयन एवं संपादन), 'श्रेष्ठ हिंदी गीत संचयन', पृ. 390
- 15 कन्हैया लाल नंदन (भूमिका, चयन एवं संपादन), 'श्रेष्ठ हिंदी गीत संचयन', पृ. 246
- 16 शम्भुनाथ सिंह (संपादक), 'नवगीत सप्तक', पृ. 49
- 17 कन्हैया लाल नंदन (भूमिका, चयन एवं संपादन), 'श्रेष्ठ हिंदी गीत संचयन', पृ. 321
- 18 कन्हैया लाल नंदन (भूमिका, चयन एवं संपादन), 'श्रेष्ठ हिंदी गीत संचयन', पृ. 352



लोक कथाओं की प्राचीन परंपरा : संस्कृत साहित्य के संदर्भ में

○ अनीता कुमारी

भारत में लोक साहित्य की परंपरा अत्यंत प्राचीन है। परंपरा से लोक जीवन में गाए जाने वाले गीत लोकगीत तथा श्रुति परंपरा से प्राप्त कथाएँ लोक कथाएँ कहलाती हैं। संस्कृत में लोक साहित्य की उत्पत्ति तथा विकास की कथा बहुत मनोरंजक है। प्राचीन काल से लेकर अद्यतन जिस प्रकार से लोक साहित्य का प्रचार प्रसार हुआ वैसे ही इन लोक कथाओं की उद्भावना और प्रचार प्रसार हुआ। इस प्रकार अज्ञात जनसामान्य लोगों के अनुभवों की यह अर्द्ध कपोल कल्पित कथाएँ जनमानस की भावनाओं में अपना स्थान बना लिया और हमारी सभ्यता और संस्कृति की विरासत कर्ण परंपरा से हस्तांतरित होती रही। लोक जीवन की कथाओं का जलसिंचन ही कालांतर में लिखित अथवा अलिखित लोक साहित्य बना, जिसके ज्ञान की गहराइयों में अवगाहन के लिए मानव का लोक दर्शन करना आवश्यक है। आचार्य मम्मट ने काव्य प्रकाश में लोकवृत्त, शास्त्र, काव्य आदि के विमर्श से काव्योत्पत्ति का होना स्वीकार किया है।

विश्व का प्राचीनतम ग्रन्थ ऋग्वेद लोक साहित्य का आदि ग्रंथ है, जिसमें वर्णित लोक कथाएं आख्यानो के रूप में सुरक्षित हैं। इन्हें संवाद सूक्त कहते हैं। ऋग्वेद के संवाद सूक्त चमत्कारी कथाओं के लिए प्रसिद्ध है। ऋग्वैदिक पुरुरवा-उर्वशी संवाद² यम-यमी संवाद³ सरमा-पणि संवाद⁴ आदि प्रसिद्ध आख्यान है। कालांतर में इन आख्यानों के स्वरूप में परिवर्तन हुआ। पुरुरवा-उर्वशी की कथा को लेकर महाकवि कालिदास ने विक्रमोर्वशीयम् नाटक और कवि रामधारी सिंह दिनकर ने उर्वशी नामक महाकाव्य का प्रणयन किया। ऋग्वेद और ऐतरेय ब्राह्मण में ऋषि शुनः शेष का आख्यान है।⁵ यह इतना प्राचीन है कि यह राजसूय यज्ञ का प्रमुख अंग बन गया। यह कथा विजय तथा पुत्रोत्पत्ति से भी संबंध रखता है। मैत्राण्णी संहिता में पर्वतों के पंखों के उत्पन्न होने की कथा है। अपाला, लोपामुद्रा, गार्गी, मैत्रेयी, सती अनुसुइया, आत्रेयी आदि नारियों के आदर्श सतीत्व एवं विद्वता की गाथाओं का चित्रण इन्हीं वेदों में मिलता है।⁶ तांड्य ब्राह्मण में ऋषि भार्गव च्यवन और देवी सुकन्या की कथा उपलब्ध होती है।⁷ शतपथ ब्राह्मण में ऋषि दधीचि के त्याग व बलिदान की कथा है, जिसमें ऋषि दधीचि ने लोक कल्याण के लिए देवराज इंद्र को अपनी अस्थियां दान कर दी। इन अस्थियों से देवराज इंद्र ने वज्र का निर्माण कर वृत्रासुर का वध किया।⁸ ब्राह्मण ग्रंथों के पश्चात उपनिषदों में भी अनेक कथाओं का उल्लेख है। कठोपनिषद में यम-नचिकेता की कथा का वर्णन मिलता है।⁹ जिसने नचिकेता अपनी अद्भुत प्रतिभा से स्वर्ग प्राप्ति और आत्मा विषय गूढ़ विषयक ज्ञान प्राप्त करता है तो केनोपनिषद में अग्नि और यक्ष की कथा मिलती है।

वैदिक संहिताओं और उपनिषदों में जिन कथाओं की केवल सूचना प्राप्त होती है उसका विस्तृत वर्णन यास्क के निरुक्त, ऋषि शौनक के वृहदेवता, षड्गुरु रचित वेदार्थ दीपिका और सायण के भाष्यो में मिलता है।¹⁰

सायण के पश्चात गुजराती विद्वान् द्वा द्विवेद ने समस्त वैदिक कथाओं का अध्ययन कर नीतिमंजरी¹¹ नामक ग्रंथ की रचना की। इस ग्रंथ की रचना 14वीं शती के आस-पास सिद्ध होता है। ऐतिहासिक वैदिक कथाओं तथा उपदेशों का यह संकलन अति महत्वपूर्ण है। यज्ञ, अनुष्ठान इत्यादि कर्म काण्डों की व्याख्या के लिए ऋषि गण आख्यानो के माध्यम से समाज को ज्ञान प्रदान करते थे।

संस्कृत साहित्य में लोक कथा साहित्य को बौद्ध और जैन विद्वानों ने भी पुष्पित पल्लवित किया। अज्ञात लेखक रचित अवदान शतकम्, क्षेमेन्द्र रचित अवदान कल्प लता, आचार्य हेमचन्द्र रचित परिशिष्ट पर्वन् तथा आर्यशूर रचित जातकमाला विशेष उल्लेखनीय हैं। इन जातक कथाओं में भगवान् बुद्ध के पूर्व जन्मों का वर्णन है। बौद्ध ग्रंथ त्रिपिटक के सुत पिटक के अन्तर्गत खुहकनिकाय का यह दसवां भाग है। इसमें ईसवी संवत् से 300 ईसा पूर्व की घटनाएँ वर्णित की गयी हैं। पंचतंत्र और अकबर बीरबल की कहानियों के समान जातक कथाओं में मनोरंजन के माध्यम से नीति और धर्म को समझाने का प्रयत्न किया गया है। भाषा शास्त्र, समाजशास्त्र और पुराण शास्त्र की दृष्टि से इन जातक का कथाओं का बड़ा महत्व है।

अनेक शताब्दियों बाद संस्कृत में रामायण और महाभारत दो महाकाव्य और पुराण रचे गए। यह लोक साहित्य और लोक कथा जीवन के प्रतिरूप थे। महाकवि कालिदास रचित रघुवंशम्, विक्रमोर्वशीयम्, अभिज्ञान शाकुंतलम्, महाकवि भारवि विरचित किरातार्जुनीयम्, महाकवि माघ रचित शिशुपालवधम्, श्री हर्ष रचित नैषधीयचरितम् आदि मे रामायण, महाभारत और पुराणों के लोकप्रिय कथानक को अपनाया गया। महाकवि बाणभट्ट रचित कादंबरी, कवि दण्डी रचित दशकुमारचरितम्, महाकवि भास रचित स्वप्नवासवदत्तम्, कवि शूद्रक विरचित मृच्छकटिकम् एवं श्री हर्ष रचित रत्नावली नाटिका भी अनुश्रुति एवं लोक कथाओं पर आधारित है। भारतीय कथाओं की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इनका प्रभाव विश्व के सभी देशों के कथा साहित्य पर अत्यधिक पड़ा। सर्वप्रथम इन लोक कथाओं का अनुवाद पहलवी और अरबी भाषा में हुआ। इसके पश्चात यूरोप के विभिन्न भाषाओं में अनुवाद हुआ। यूरोप में प्रचलित इसाप्स फेबुल्स में भारतीय लोक कथाओं का स्पष्ट प्रभाव देखा जा सकता है।¹² इन कथाओं में संस्कृत साहित्य के महाकाव्य और नाटकों के समान इतिहास प्रसिद्ध पात्रों को आधार न बनाकर अपितु जन सामान्य मनुष्यों व पशु पक्षियों को कथा के आधार के रूप में चित्रित किया गया है। इस कथा साहित्य के दो रूप मिलते हैं -

1. नीति कथा
2. लोक कथा

नीति कथाओं का उद्देश्य मनोरंजन के माध्यम से समाज को उपदेश देना। इसके पात्र समाज के सभी वर्गों के लोग तथा पशु पक्षी होते हैं। इनकी प्रमुख विशेषता है कि यह सभी पात्र मानववत् व्यवहार करते हुए जीवन के विविध पक्षों यथा धर्म, अर्थ, काम, राजनीति, सदाचार, नैतिक व चारित्रिक ज्ञान आदि के गूढ़ रहस्य का ज्ञान प्रदान करते हैं। वर्तमान समय में नंदन, चंपक, चंदामामा आदि पत्रिकाएँ इसी श्रेणी में आती हैं। इनकी भाषा शैली सरल व रोचक होती है, जिसे बालमन सरलता से ग्रहण कर लेते हैं।

लोक कथाओं का प्रधान उद्देश्य मनोरंजन करना है। इसमें पशु-पक्षी व मानव कथा का आधार होते हैं। इसकी भाषा-शैली सरल, अलंकारिक व कौतुहल वर्धक होती है। अर्द्ध कपोल कल्पित तथा मुंडे मुंडे मतिभिन्नः शुण्डे-शुण्डे सरस्वती की तरह कर्ण परंपरा से आगे बढ़ती जाती है।

भारतीय लोक साहित्य में लोक कथाओं को के दो चक्र उपलब्ध होते हैं- वृहत् कथा और पंचतंत्र।

वृहत् कथा :

वृहत् कथा पंचतंत्र से प्राचीनतर है तथा साक्षात् सरस्वती है। इसके रचनाकार गुणाढ्य स्वयं ब्रह्मा हैं।

कमला सणो गुण्डो सरस्सई, जस्स बड्ड कहा¹²

वृहत् कथा अत्यंत अद्भुत, यात्रा विवरण तथा प्रसंगों का विशाल समुद्र है, जिसकी एक - एक बूंद से कितनी ही विचित्र कथाओं की रचना हुई।

सत्यं वृहत्कथाम्भोधेर्बिदुमादाय संस्कृताः।

तेनेतरकथाः कन्थाः प्रतिभान्ति तदग्रतः ॥

(तिलक मंजरी : कवि धनपाल सं. सा. 28)

वृहत्कथा पैशाची भाषा में निबद्ध है जो अनुपलब्ध है। वृहत् कथा संस्कृत नाटककारों के लिए उपजीव्य काव्य था। कालांतर में नाटककार भास, शूद्रक, श्री हर्ष आदि ने अपने नाटकों की कथा का आधार बनाया। वर्तमान समय में संस्कृत में वृहत्कथा के तीन अनुवाद उपलब्ध होते हैं -

1. वृहत्कथा संग्रह।
2. वृहत्कथा मंजरी।
3. कथासरित्सागर।

वृहत् कथा संग्रह :

इस ग्रंथ के रचयिता नेपाल देश निवासी बुद्ध स्वामी थे। इनका स्थितिकाल आठवीं या नवीं शताब्दी माना जाता है। लोक कथाओं में वृहत् कथा का सर्वोच्च स्थान है। मूल कथा पैशाची भाषा में लिखी गई थी। सम्प्रति वह उपलब्ध नहीं हैं परन्तु प्राप्त ग्रंथ में 28 सर्ग और 4539 श्लोक पाये जाते हैं।

वृहत् कथा मंजरी :

इस ग्रंथ के प्रणेता आचार्य क्षेमेन्द्र हैं, जो कश्मीर के राजा अनंत के आश्रित कवि थे। इनका समय ग्यारहवीं शताब्दी माना गया है। इस ग्रंथ में 7500 श्लोक निहित हैं।

कथासरित् सागर :

इस ग्रंथ के रचयिता सोमदेव हैं, जो कश्मीर के राजा अनंत और महाकवि क्षेमेन्द्र के समकालीन थे। यह वृहत्कथा का सबसे प्रसिद्ध अनुवाद है। इस ग्रंथ की रचना 1063 ई. से लेकर 1081 ई. के बीच हुआ। इस ग्रंथ में 24000 श्लोक निहित हैं। इस ग्रंथ का अंग्रेजी में अनुवाद प्रोफेसर टानी तथा पेंजर ने दस भागों में ओशन ऑफ स्टोरी के नाम से सम्पादित किया है।

पंचतंत्र :

संस्कृत लोक साहित्य में पंचतंत्र का महत्वपूर्ण स्थान है। इस ग्रंथ के लेखक विष्णु शर्मा हैं, जिन्होंने राजकुमारों को नीतिशास्त्र की शिक्षा देने के लिए इसका प्रणयन किया। इसमें पाँच तंत्र या भाग हैं -

1. मित्र भेद (मित्रों से मनमुटाव)
2. मित्र लाभ (मित्र प्राप्ति और उसके लाभ)
3. काकोलुकीयम् (कौवे और उल्लू की कथा)
4. लब्ध प्रणाश (हाथ में आई वस्तु का हाथ से निकल जाना अर्थात् हानि)
5. अपरीक्षतमकारकम् (जांच परख कर कार्य करना और जल्द बाजी में कदम न उठाना)

पंचतंत्र की भाषा शैली सरल एवं मुहावरेदार है। कथानक का वर्णन गद्य में है परंतु उपदेशात्मक एवं नीतिपरक सूक्तियाँ पद्य में हैं जो आज भी जनमानस के जिह्वा पर स्वतः आ जाती हैं। कोमल मति बालकों के लिए यह कथाएँ मनोरंजन और कौतुहल की सामग्री प्रस्तुत कर उन्हें निपुण व प्रबुद्ध नागरिक बनाने में सहायता प्रदान करती हैं -

अपरीक्ष्य न कर्तव्यम्, कर्तव्यम् सुपरीक्षितम् ।
पश्चात् भवति संतापो, ब्राह्मणी नकुले यथा ॥¹³
बुद्धिर्यस्य बलम् तस्य, निर्बुद्धेश्च कुतो बलम् ।
वने सिंहो मदोन्मत्तः, शशकेन निपातितः ॥¹⁴

अनेक शताब्दियों में अनेक प्रांतों में पंचतंत्र के अनेक अनुवाद प्रकाशित हुए। इनमें सबसे प्राचीन तंत्रिकाख्यायिका नामक ग्रंथ है। पंचतंत्र की लोकप्रियता को देखते हुए दूरदर्शन पर इसका प्रसारण भी किया गया है।

हितोपदेश :

नीतिकथाओं में पंचतंत्र के बाद हितोपदेश का स्थान है। इसके रचयिता नारायण पंडित थे, जो बंगाल के राजा धवलचन्द्र के आश्रय में रहते थे। इस ग्रंथ की रचना 14वीं शताब्दी के लगभग हुई। इस ग्रंथ का मूल आधार पंचतंत्र है। इसके 4 भाग हैं -

1. मित्र लाभ
2. सुहृद भेद
3. विग्रह
4. संधि

इसमें पंचतंत्र के पांचों भाग समाहित हैं। विभिन्न जंगली जानवरों पर आधारित कथाएं इसकी प्रमुख विशेषता हैं। इसमें 41 कथाएँ और 679 नीति विषयक पद्य हैं। इसमें लोभ के दुर्गुणों को बताते हुए कहा गया है -

लोभात् क्रोधः भवति, लोभात् कामः प्रजायते ।
लोभान्मोहश्च नाशश्च लोभः पापस्य कारणं ॥¹⁶

बैताल पंचविंशतिका :

इस ग्रंथ की रचना विद्वान् शिवदास ने की। इसमें राजा विक्रम सेन से संबंधित 25 कथाएँ हैं। प्रत्येक कथा में राजा की व्यवहारिक बुद्धि का कौशल देखने को मिलता है जो रोचक, बुद्धिवर्धक तथा विस्मयोत्पादक है। बैताल पच्चीसी नाम से हिन्दी में अनुवाद तथा विक्रम बैताल नाम से दूरदर्शन पर इसका प्रसारण किया जा चुका है।

सिंहासन द्वात्रिंशिका :

इसमें राजा भोज और राजा विक्रमादित्य के सिंहासन को पकड़े हुए 32 पुतलियों की कथा है। प्रत्येक पुतली राजा भोज को विक्रमादित्य के सिंहासन पर बैठने से रोकते हुए एक कथा सुनाती है और अंत में सभी पुतलियाँ सिंहासन को लेकर उड़ जाती हैं। इस की कथाएं मनोरंजन की दृष्टि से अत्यंत उपयोगी हैं। सिंहासन बत्तीसी के नाम से इसका हिंदी में अनुवाद मिलता है।

शुक सप्तति :

शुक सप्तति 70 कहानियों का बड़ा ही रोचक लोक कथा संग्रह है। इस ग्रंथ की रचना चिंतामणि भट्ट ने की थी। इसमें बुद्धिमान शुक प्रोषित भर्तृका नायिका को उपदेशात्मक कथाओं के माध्यम से पर पुरुष संग से रोकता है। इसमें स्त्रियों की धूर्तता, कपट, त्रियाचरित आदि का मनोरंजक ढंग से चित्रण किया गया है। इस ग्रंथ की प्रसिद्धि का अनुमान इस बात से लगाया जा सकता है कि 14 वीं शताब्दी में जियाल दीन नक्शाबी ने फारसी भाषा में शुक सप्तति का तूतीनामा के नाम से अनुवाद किया गया था। 16 वीं शताब्दी में मुगल सम्राट अकबर ने 250 लघु चित्रों के रूप में दोबारा बनवाया। इस प्रकार शुक सप्तति की अनेक कथाएं पश्चिम एशिया

और यूरोप में फैल गयी। सिंधुबाद जहाजी नामक कथा पर शुक सप्तति का प्रभाव देखा जा सकता है।¹⁷

इसके अतिरिक्त आनंद रचित माधवानल कथा, शिव दास रचित कथार्णव (जिसमें 35 कथाएँ संकलित हैं) मैथिली कवि विद्यापति रचित पुरुष परीक्षा (जिसमें 44 कथाएँ संकलित हैं) आदि। 15वीं शताब्दी में यूसुफ जुलेखा की कथा के आधार पर कथा कौतुक की रचना की गयी। बल्लालसेन रचित भोजप्रबंध में महा कवियों से संबंधित अनेक दंतकथाएँ हैं।

लोक कथाओं की विशेषता :

मानव जीवन में लोक कथाएँ अक्षय ज्ञान का भंडार हैं। अपनी सरल, सरस और मनोरंजन शैली के कारण बालकों में बहुत लोकप्रिय हैं। लोक कथाओं की उपयोगिता का सम्यक अनुशीलन करने पर उनकी अनेक विशेषताओं का पता चलता है -

1. *अश्लील शृंगार का अभाव* : लोक कथाओं में प्रेम का भाव प्रचुर मात्रा में होने पर भी उनमें अश्लीलता का अभाव है। प्रेम का भद्दा प्रदर्शन आधुनिक कथाओं की विशेषता भले ही हो, परंतु लोक कथाएँ इससे अछूती हैं।

2. *मंगल कामना का भाव* : इन लोक कथाओं की एक प्रमुख विशेषता है - जनकल्याण की मंगल कामना। लोककथाकार जनकल्याण की भावना से ओतप्रोत होकर विश्व शांति और कल्याण की कामना करता है। लोक कथाओं में कल्याण की भावना सर्वत्र दिखाई पड़ती है।

सर्वे भवन्तु सुखिनः, सर्वे संतु निरामयाः ।

सर्वे भद्राणि पश्यन्तु, मा कश्चित् दुःखभाग्भवेत्।

3. *पौराणिक आधार* : लोक साहित्य में पौराणिक कथाओं का अत्यंत महत्वपूर्ण स्थान है। राजा शिवि, राजा हरिश्चंद्र-तारामती, ऋषि दधीचि, नल-दमयंती की कथा, भगवान राम, भगवान कृष्ण, महात्मा बुद्ध, श्रवणकुमार की कथाएँ नीतिपरक, सामाजिक व मनोरंजक हैं। कालांतर में गोपीचंद, राजा भरथरी, गुरु गोरखनाथ, सारंगा आदि की कथाएँ बड़ी लोकप्रिय हुईं। यह कथाएँ पौराणिक न होकर भी पौराणिकता के पुट से समन्वित हैं।

4. *उत्सुकता की भावना* : इन लोक कथाओं की अन्य विशेषता है उत्सुकता की भावना बनाए रखना। इससे श्रोतागणों की कथा में दिलचस्पी बनी रहती है। श्रोताओं को ऐसी कथाओं को सुनने की इच्छा इतनी बलवती होती है कि वे आगे की कथा सुनने के लिए अत्यंत उत्सुक रहते हैं।

5. *रहस्य और अलौकिकता की प्रधानता* : इन लोक कथाओं में रहस्य और अलौकिकता का अंश मिश्रित रहता है। भूत-प्रेत, राक्षस, दानव, पिशाच परी, राजा, रानी आदि की कथाएँ अद्भुत रस से परिपूर्ण होती हैं। राजा और योद्धाओं के अलौकिक पराक्रम की कथाएँ इसी के अंतर्गत आती हैं। जन साधारण ऐसी कथाओं को बड़े चाव से सुनते हैं।

6. *मनुष्य की मूल प्रवृत्तियों से अन्तः सम्बन्ध* : इन कथाओं में मनुष्य के जीवन की मूल प्रवृत्तियों से सम्बन्धित घटनाएँ होती हैं। व्यक्ति के सुख-दुःख, सफलता-असफलता, काम, क्रोध, लोभ, अहंकार आदि मानवीय संवेगों का वर्णन इन कथाओं में रहता है। साथ ही नीतिपरक व उपदेशात्मक होने से व्यक्ति स्वयं शिक्षा ग्रहण करता है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि संस्कृत लोक कथाएँ जनमानस के ज्ञान विज्ञान का अक्षय भंडार हैं। यह लोक कथाएँ भारतीय सभ्यता, संस्कृति ज्ञान-विज्ञान की संवाहिकाएँ हैं। सीधी, सरल, मुहावरेदार, सुभाषित लोकोक्तियों से परिपूर्ण, मनोरंजक भाषा शैली होने के कारण आबाल-वृद्ध बड़े प्रेम से सुनते हैं। इन कथाओं की विषय वस्तु इतनी स्वाभाविक होती है कि लोक कथाएँ निर्बाध गति से एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी हस्तांतरित

होती रहती हैं। लोक कथाएँ ऐसी पवित्र नदी की भाँति हैं जिसमें जनमानस अवगाहन कर आनंदित होता रहता है। यह लोक कथाएँ प्रायः गद्य शैली में मिलती हैं, परंतु बीच-बीच में पदों का प्रयोग किया गया है। ऐसा प्रतीत होता है कि श्रोताओं पर स्थाई प्रभाव डालने के लिए बीच-बीच में मनके की भाँति पदों का प्रयोग किया गया है। गद्य-पद्य मिश्रित गंगा-जमुनी ने लोक कथाओं के महत्व को द्विगुणित कर दिया और इनकी चमक विश्व की अनेक भाषाओं के अनुवाद के रूप में दिखाई पड़ती है। इस प्रकार लोककथा की प्राचीन परंपरा प्राचीन काल से अद्यतन निर्बाध गति से प्रवाहमान है।

संदर्भ :

1. ऋग्वेद 10.90.24
2. ऋग्वेद 10.95
3. ऋग्वेद 10.10
4. ऋग्वेद 10.108
5. ऋग्वेद 1.24.30, ऐतरेय ब्राह्मण 7.13.18
6. ऋग्वेद 8.9.1; ऐतरेय ब्राह्मण 7.3
7. तांड्य ब्राह्मण 14.6.11
8. शतपथ ब्राह्मण 14.1.1
9. कठोपनिषद्, प्रथम अध्याय
10. आचार्य बलदेव उपाध्याय, संस्कृत साहित्य का इतिहास, शारदा संस्थान, वाराणसी, पृ. सं. 431.
11. पं. सीताराम एवं जयराम जोशी (सं.), नीति मंजरी का एक विमर्श संस्करण, चौखंबा विद्याभवन, वाराणसी, 1942.
12. डॉ कृष्णदेव उपाध्याय, लोक साहित्य की भूमिका, साहित्य भवन लिमिटेड, इलाहाबाद, पृ. 157.
13. उद्योतन सूरि, कुवलयमाला कहा प्राकृत ग्रंथ, पृ.सं. 3, पंक्ति 22
14. आचार्य बलदेव उपाध्याय, संस्कृत साहित्य का इतिहास, पृ.सं. 447 से उद्धृत
15. डॉ० वचन देव कुमार, संस्कृत साहित्य का इतिहास, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दरियागंज, नई दिल्ली, पृ.सं. 209.
16. नारायण पंडित, हितोपदेश, श्लोक संख्या 27
17. डॉ वचन देव कुमार, संस्कृत साहित्य का इतिहास, पृ.सं. 212
18. निशा रानी, संस्कृत लोक कथा साहित्य, journals and scholarly researches in allied education में प्रकाशित
19. डॉ० राम प्रसाद दाधीच (सं.), लोक साहित्य, लोक साहित्य केंद्र, जोधपुर।



मध्यकालीन हिंदी साहित्य के अनुभव परिसर को विस्तार देती हैं मुग़ल बादशाहों की हिंदी कविताएँ

○ संगीता मोर्य

दैनिक समाचार पत्र अमर उजाला 26 अप्रैल 2022 की अमित शर्मा की छपी एक रिपोर्ट के अनुसार सी. बी.एस.ई. के नये पाठ्यक्रम में मुगलों के इतिहास को सीमित करने एवं मध्यकालीन भारत के विषय में छात्रों को सीमित जानकारी देने की बात की गयी है। इस तरह की और भी घटनाएँ हम सुन चुके हैं कि फलाँ शहर का नाम बदल कर फलाँ रख दिया गया है। इसी के क्रम में मुगलसराय, इलाहाबाद आदि शहरों के नाम में परिवर्तन को हम देख सकते हैं। भारत देश की खूबी इसकी अनेकता में एकता ही है। विभिन्न धर्म, विभिन्न संस्कृतियाँ, तीज-त्योहारों की यह विविधता ही इसकी सुंदरता है। इसकी सुंदरता में दाग लगाने का काम समय-समय पर होता रहा है। मुगल राजवंश भारत में एक गौरवपूर्ण स्थान रखता है। नाम बदलने की इस प्रक्रिया से या पाठ्यक्रम में मुगलों के इतिहास को सीमित करके मुगलों के योगदान को कमकर नहीं आँका जा सकता। मुगलों ने भारत वर्ष में एक बड़े साम्राज्य का निर्माण किया। हिन्दुओं की संस्कृतियों, उनकी भाषाओं को जानने-समझने की एक शानदार कोशिश की। मुगल बादशाहों ने पर्शियन शैली को भारतीय शैली में मिलाकर एक अनूठी भारतीय वस्तुकारी का अद्भुत नमूना पेश किया। इन्होंने वास्तुकला, स्थापत्य कला, चित्रकला के साथ ही संगीत तथा साहित्य को भी अपने अनुभव संसार से सृजित करने का महनीय काम किया। मुगल बादशाहों का यह कार्य भारत को और हिंदी साहित्य के अनुभव संसार को विस्तार देता है। “मुगल-वंश के समय में भारत ने पुनः विदेशों से संपर्क स्थापित किया। भारत ने विदेशों और मुख्यतया उत्तर-पश्चिम के दूरस्थ देशों से व्यापारिक और सांस्कृतिक संबंध स्थापित किये। भारत के व्यापार, उद्योग और संपत्ति में भी वृद्धि हुई। इसका प्रभाव कला और साहित्य पर पड़ा। मुगल-काल में वास्तुकला, चित्रकला, नृत्यकला, संगीतकला आदि सभी कलाओं और फारसी, उर्दू, हिन्दी आदि विभिन्न भाषाओं के साहित्य की प्रगति हुई।”

मुगल बादशाहों की मातृभाषा तुर्की थी, जबकि उनके धर्म की भाषा अरबी और फारसी थी। लेकिन उनकी रुचि और पसंद की भाषा हिंदी थी। इतिहास गवाह है कि मुगल बादशाह बाबर से लेकर अंतिम मुगल बादशाह बहादुर शाह जफर तक सभी ने हिंदी और हिंदी कवियों का बड़ा आदर किया। मुगल साम्राज्य की स्थापना का श्रेय जहीरुद्दीन मोहम्मद बाबर को जाता है। इसका जन्म फरवरी 1483 में आन्दिजान में हुआ था। जो वर्तमान में उज्बेकिस्तान का हिस्सा है। जब बाबर अपने राज्य आन्दिजान में शासन कर रहा था, उन दिनों इब्राहिम लोदी की सेना का एक सैन्य अधिकारी बाबर से जा मिला। उस समय बाबर अपने अधिकारियों को बेग उपाधि से नवाजता था। इब्राहिम लोदी का अधिकारी जब बाबर की सेना में मिल गया तो वह ‘हिन्दू बेग’ के नाम से प्रसिद्ध हुआ। इस ‘हिन्दू बेग’ ने बाबर, हुमायूँ और अन्य सैन्य अधिकारी को, जो अब ‘बेग’ के नाम से प्रसिद्ध थे, सबको हिंदी सिखाई।

बाबर अपनी मातृभाषा तुर्की में कविता लिखता था। भले ही बाबर का समय युद्धों और संघर्षों का रहा हो, बावजूद इसके बाबर के कवि हृदय में कविताएँ हमेशा हिलोर लेती रहीं। प्रोफेसर हादी हसन के मुताबिक बाबर की फारसी में लिखी उन्नीस कविताएँ मिलती हैं। बाबर अपने 'बाबरनामा' में जिक्र करता है कि 13 शव्वाल 928 हिजरी (6 सितंबर, 1522 ई.) का यह वर्ष बाबर की अति व्यस्त साहित्यिक गतिविधियों का वर्ष भी रहा। उसने अपने पुत्र कामरान की शिक्षा के लिए दो हजार पंक्तियों की एक तुर्की कविता लिखी। नादिराते शाही में लिखा है- “ भारतीय मुगल राजवंश के बादशाहों और उनके परिवार के सदस्यों के जीवन में कविता हमेशा मौजूद रही है। यहाँ तक कि उनके बारे में जो इतिहास लेखन हुआ है, उसमें भी कविता मिलती है।² तुर्की मातृभाषा होने के बाद भी मुगल बादशाहों ने हिंदी में कविताएँ लिखीं। जिन्होंने कविताएँ नहीं लिखीं, वह भी हिंदी को सम्मान देने में पीछे नहीं रहा। मैनेजर पाण्डेय लिखते हैं- “बाबर जब भारत का बादशाह बना तभी से मुगल-दरबार में हिन्दी कविता की मौजूदगी के प्रमाण मिलते हैं।” चन्द्रबली पांडे बाबर के दरबार में एक दोहा सुनाये जाने का उल्लेख करते हैं-

“नौ सौ ऊपर था बतीसा, पानीपत में भारत दीसा।

अटई रज्जब सुक्करवारा, बाबर जीता वराहीम हारा।।”³

बाबर यह स्वीकार करता है कि वह यहाँ की बोली-भाषा से परिचित नहीं था। इस संबंध में अजीजुद्दीन हुसैन लिखते हैं- “न हम यहाँ की बोली समझ सकते हैं और न यहाँ वाले हमारी जवान जानते हैं।” लेकिन बाबर यहाँ की बोली-बानी समझने का पूरा प्रयास करता है क्योंकि वह जानता है कि जब तक हम यहाँ की बोलियों-भाषाओं से परिचित नहीं होंगे, तब तक यहाँ के लोगों से मिलना संभव नहीं है। मैनेजर पाण्डेय लिखते हैं कि- “बादशाह रहते हुए उसने स्थानीय बोली सीखने और समझने की कोशिश की, जिसका सबूत यह है कि उसके तुर्की कविता के दीवान में एक शेर है जिसमें दो शब्द हिंदी के हैं।

“मुज-का न हुआ कूज हवस-ए-मानक-ओ-मोती।

फुकरा हालीन बस बुलुसिदुर पानी-ओ-रोती।”⁴

इसमें 'पानी' और 'रोटी' शब्द हिंदी के हैं। इसके साथ ही बाबर की आत्मकथा 'बाबरनामा' पढ़ते हुए कुछ रुबाईयों का जिक्र मिलता है-

“हाय, तौबा के मारे परेशान हूँ!

क्या करूँ क्या नहीं, सख्त हैरान हूँ!

लोग पछता के करते हैं तौबा,

मगर मैं तो तौबा ही करके पशोमान हूँ !”⁵

अतः हम कह सकते हैं कि बाबर के समय में हिंदी की रुबाईयाँ प्रचलित थीं। बाबर ऐसा शासक था जो युद्ध के साथ ही भारत के साहित्य, कला और भाषा आदि से प्रभावित हुआ और इन सबको प्रभावित भी किया। बाबर के बारे में इतिहासकार हरवंश मुखिया लिखते हैं कि, “अगर बाबर भारत न आता तो भारतीय संस्कृति के इन्द्रधनुष के रंग फीके रहते।”⁶ उनके अनुसार भाषा, संगीत, चित्रकला, वास्तुकला, कपड़े और भोजन के मामलों में मुगल योगदान को नकारा नहीं जा सकता।

मुगल काल का दूसरा बादशाह बाबर और माहम सुल्ताना का बड़ा पुत्र हुमायूँ था। हुमायूँ का जन्म 6 मार्च 1508 ई. में काबुल में हुआ था। 26 दिसंबर को बाबर की मृत्योपरांत 30 दिसंबर, 1530 ई. को हुमायूँ मुगल-सिंहासन पर बिराजमान हुआ। हुमायूँ को आर्थिक कठिनाई विरासत के स्वरूप ही प्राप्त हुई थी। यह सच है कि बाबर द्वारा अपने भाईयों को साथ लेकर चलने की नसीहत ने हुमायूँ के रास्ते की मुश्किलों को और बढ़ाया। हुमायूँ के सामने कई कठिनाईयाँ थीं जिसमें कलिंगर पर आक्रमण, चुनार का घेरा, बहादुरशाह से संघर्ष,

शेरखां से संघर्ष, चौसा का युद्ध बिलग्राम का युद्ध आदि कठिनाईयों का सामना करते हुए हुमायूँ अपने शासनतंत्र को मजबूत करने की कोशिश करता रहा। इन संघर्षों के बीच भी हुमायूँ ने हिन्दी भाषा और हिन्दी कविता दोनों को प्रश्रय देने में कहीं कोई कोताही नहीं बरती। यह अलग बात है कि हुमायूँ के कविता लेखन का कोई प्रमाण नहीं मिलता लेकिन वह कविता प्रेमी था जिसके सबूत के तौर पर चंद्रबली पांडे लिखते हैं- “उसके दरबार में फारसी के कुछ ऐसे कवि थे जो हिन्दी में गीतों की रचना करते थे। वे थे अब्दुल वाहिब बिलग्रामी और शेख गदाई देहलवी।”⁷ आगे लिखते हैं, “हुमायूँ के दरबार में छेम नाम का एक हिंदी कवि भी था।”⁸ इस तरह से हम कह सकते हैं कि हुमायूँ ने हिन्दी कवियों को स्थान दिया था।

मुगलकाल का सबसे यशस्वी और उदार सम्राट अकबर था। राहुल सांकृत्यायन लिखते हैं- “अशोक के बाद देश में दूसरा ध्रुवतारा अकबर ही दिखाई पड़ता है। कुषाण कनिष्क (ईसवी प्रथम सदी) अकबर से भी बड़ा विजेता और भारतीय संस्कृति से अत्यंत प्रभावित था। पर, उसे उन पहाड़ों के तोड़ने की आवश्यकता नहीं पड़ी, जिनसे अकबर को मुकाबिला करना पड़ा। समुद्रगुप्त (ईसवी सातवीं सदी) बहुत बड़ा विजेता था, संस्कृति और कला का बड़ा प्रेमी तथा उन्नायक था। पर, उसने करीब-करीब भारत के सारे भाग को एकराष्ट्र कर दिया था। पर, उसके सामने भी वह दुर्लभ भयंकर मार्ग-रोधक पर्वतमालाएँ नहीं आई, जो अकबर के सामने थीं। यही बात हर्षवर्धन (ईसवी सातवीं सदी) के बारे में है। उसके बाद तो कोई ऐसा पुरुष नहीं दीख पड़ता, जिसका नाम अकबर के सामने लिया जा सके।”⁹ 15 अक्तूबर, 1542 ई. में अकबर का जन्म हुआ। इनकी माता का नाम हमीदा बानू बेगम था। अकबर समन्वय की संस्कृति को लेकर आगे बढ़ा। वह हिन्दू-मुस्लिम दोनों को एक साथ मिल-जुल कर रहना सिखाना चाहता था। इसके लिए उसने सुन्दर प्रयास किया। राहुल सांकृत्यायन लिखते हैं- “अकबर ने इसी महान समन्वय का बीड़ा उठाया....वह दूर तक सफल हुआ।...हिन्दू-मुसलमान दोनों की संस्कृति-साहित्य, संगीत, कला, ज्ञान-विज्ञान का सब आदर करें, सभी उन्हें स्नेह और सम्मान की दृष्टि से देखें, यह पहला काम था, जिसे अकबर ने सबसे पहले शुरू किया। फिर अकबर ने चाहा, दोनों की मिलकर एक जाति हो जाय- एक हिन्दी या भारतीय जाति बन जाये। इसके लिए उसने दोनों में रोटी-बेटी का संबंध स्थापित किया।”¹⁰ अकबर का यही समन्वय भाषाओं में भी दिखता है। अकबर ने हिन्दी भाषा और हिन्दी कवियों को अपने दरबार में ही नहीं, बल्कि अपने दिल में भी जगह दी। वह केवल हिन्दी कवियों को जगह ही नहीं देता है, बल्कि स्वयं भी हिंदी में कविताएँ लिखता है। अकबरनामा खंड-1 से यह उद्धरण उद्धृत है कि, “बादशाह सलामत का स्वभाव बड़ा प्रेरणामय है और वे हिन्दी तथा फारसी में कविताएँ भी लिखते हैं। वह बहुधा काव्यालोचन के गंभीर विषयों पर भी चर्चा करते हैं। काव्य पुस्तकों में वे रूमी की मसनवी तथा हाफिज के दीवान के अंश मुँह जबानी सुनाते हैं तथा उनकी विविधता एवं सुंदरता की व्याख्या भी करते हैं। निम्नलिखित काव्यांश बादशाह की योग्यता का परिचय देता है-

मजनुँ के गले में ये पागल-पन की जंजीर नहीं है,

यह स्नेह का हाथ है जिसे प्रेम ने उसके गले पर रखा है।

आगे लिखते हैं, हिंदी में भी उन्होंने कविताएँ बहुरंगी अनोखे ढंग की लिखी हैं जो काव्यकला का बेजोड़ उदाहरण हैं।”¹¹ समन्वय की विराट चेष्टा अकबर के यहाँ मौजूद थी। यही कारण था कि जितना वह हिन्दू को सम्मान देता था, उतना ही मुस्लिम को। दोनों के लिए बराबर नियम कानून थे। कृष्ण कल्पित लिखते हैं- “अकबर ने हिन्दू-मुसलमान में कोई भेद नहीं किया। अकबर दिल्ली के अंतिम हिन्दू सम्राट पृथ्वीराज चौहान का वैसा ही मुरीद था जैसा असदुल्ला खां, गालिब, मीर तकी का। अकबर ने चन्द बरदाई विरचित एक लाख छंदों वाले महाकाव्य पृथ्वीराज रासो को आद्यांत सुना था।”¹² इतना ही नहीं इनके यहाँ धर्म का समन्वय भी खूब दिखाई पड़ता है। इनका धर्मग्रंथ ‘दीन-ए-इलाही’ धर्म के समन्वय का अनूठा उदाहरण है। मैनेजर पाण्डेय

ने 'मुगल बादशाहों की हिन्दी कविता' नाम से एक महत्वपूर्ण पुस्तक का संकलन और संपादन किया है, जिसमें उन्होंने बाबर और हुमायूँ का जिक्र करते हुए अकबर से लेकर बहादुर शाह जफ़र तक की कविताओं को रखा है। इसमें अकबर की लगभग 36 कविताओं का संकलन है। मैनेजर पाण्डेय के संपादन में निकली यह पुस्तक महत्वपूर्ण है, जिसको पढ़ा जाना चाहिए। मैनेजर पाण्डेय लिखते हैं कि "इस कविता-संग्रह को पढ़ते हुए पाठकों को यह ध्यान रखना चाहिए कि ये पद, गीत, और गान जिस ग्रंथ से लिए रचे गए हैं, वह संगीत का ग्रंथ है। संग्रहकर्ता कृष्णानन्द व्यास देव रागसार ने 32 वर्षों तक सारे भारत में घूम-घूम कर गीतों का संग्रह किया था। ये पद, गीत या गान गायकों की मदद से मौखिक परंपरा से प्राप्त हुई हैं। गायिकी की प्रक्रिया में स्वर, तान, लय, राग-रागिनी आदि की सुविधा और जरूरत के अनुसार पाठों में परिवर्तन संभव है।"¹³ इस संग्रह की अधिकतर कविताएँ 'संगीत रागकल्पद्रुम' नामक ग्रंथ से और कुछ 'नदिराते शाही' से ली गयी हैं। संगीत ग्रंथ होने के कारण इसके पाठ का प्रभाव और इसके श्रवण का प्रभाव में अंतर आना स्वाभाविक है। अकबर के दरबार के नवरत्नों में वीरबल और राजा टोडरमल जैसे कवि भी थे, जो मुख्य सलाहकार भी थे। हिन्दू और मुस्लिम को बाँटने वाले कुछ लोग अकबर और महाराणा प्रताप की लड़ाई को धर्म की लड़ाई बताकर आपस में वैमनस्य फैलाना चाहते हैं। लेकिन उनको यह बात याद रखनी होगी कि अकबर और महाराणा प्रताप की लड़ाई धर्म की लड़ाई नहीं थी, बल्कि वह सत्ता की लड़ाई थी। डॉ. रामपुनियानी अपने एक व्याख्यान में कहते हैं कि "हल्दी घाटी के मैदान में एक तरफ अकबर की सेना है तो दूसरी ओर महाराणा प्रताप की सेना है। अकबर की सेना में अकबर खुद नहीं है बल्कि अकबर के बदले राजा मान सिंह हैं जो अकबर के प्रधान सेनापति हैं। राजा मान सिंह की सेना में हिन्दू भी हैं, मुसलमान भी हैं। इधर महाराणा प्रताप की सेना में उनके सेनापति हकीम खान सूर हैं। दोनों ही सेनाओं में हिन्दू और मुसलमान दोनों हैं। इसलिए यह लड़ाई धर्म के लिए नहीं है, सत्ता के लिए है। यह लड़ाई हिन्दू मुसलमानों के बीच की लड़ाई नहीं है, बल्कि यह लड़ाई दो राजाओं के बीच में है।"¹⁴ आगे कहते हैं कि "अकबर की मृत्यु के बाद जहाँगीर राजा बने और महाराणा प्रताप की विरासत मिली राजा अमर सिंह को। लेकिन जहाँगीर और अमर सिंह में दोस्ती हो गई। बाद में अमर सिंह, जहाँगीर के एक मजबूत आधार के रूप में रहे।"¹⁵ एक बड़ी अच्छी फिल्म आई थी 'मुगले आजम' जिसमें धर्म के समन्वय को बड़ी खूबसूरती से दिखाया गया है। अकबर के महल के अंदर कृष्ण-मंदिर होना और कृष्ण जन्माष्टमी जैसे उत्सव का बड़े धूम-धाम से मनाया जाना धार्मिक समन्वय का एक बड़ा संदेश है। इस तरह की बात का उल्लेख इतिहास में भी मिलता है।

इससे बढ़िया समन्वय क्या हो सकता है कि अकबर जैसा बादशाह हिन्दी में कविता लिख रहा है। अकबर की कविताओं को पढ़ने पर सूरदास की कविताओं की याद आने लगती है जिसमें वह कृष्ण की आराधना करता है-

कन्हाते अब घर झगरो पसारो / कैसे होय निरवारो।

यह सब घेरो करत है तेरो रस/ अनरस कौन मंत्र पढ़ डारो॥

इन कविताओं में संगीत की गहरी समझ के साथ ही भक्ति है, जिसमें कृष्ण की आराधना की गयी है। अब सब घर में जो झगड़ा फैल गया है, उसका निपटारा कैसे हो? अकबर की एक और कविता जिसमें वह जनता के दुःख को हरने की बात करता है-

"शाह अकबर के दुरजन दूर करो मौन-दीन ख्वाजा।

सप्तदीप और अष्ट दिशा पर हुकुम होय ॥

सब मुलक खलक पर और जाय तन मन ते।

दुःख दारिद्र भाजा ॥"¹⁶

कुछ पद ईश्वर की वंदना के भी मिलते हैं-

“प्यारे तू मन मेरे तन में बसत रजनी दिन तोही सों
जीवन बनत मेरो।”¹⁷

तो कुछ पदों में राग-रागिनियों की गहरी समझ अभिव्यक्त होती है-

“भोरही भैरवराग अलाप्यो/ अहो प्यारे वंशी में आन।

खरज गांधार रिषभ पंचप/ मध्यम निषाद धैवत तान।।

आरोही अवरोही अस्थायी/ संचाई ताल काल और मान।

उरपति रप लाग डांट देशी/मारग तानसेन सुनो साह अकबर परमान।”¹⁸

अकबर की कविताओं को पढ़ते हुए बहुत बार ब्रज भाषा कवि सूरदास की कविताएँ मेल खाती प्रतीत होती हैं-

‘नाथ, अनाथन की सुधि लीजै’ कुछ इस तरह के और भी पद देखने को मिल जाते हैं। हम जानते हैं कि अकबर के नवरत्नों में से एक रहीम भी भक्ति कविता लिखते थे। अकबर के दरबार में प्रसिद्ध संगीतकार तानसेन भी थे। उन दिनों राजा टोडरमल भी ‘राजा ढोल और मरवन’ की कथा लिख रहे थे। अकबर के समय के ही कवि श्रीपति लिखते हैं-

“अब के सुल्तान फुनियान समान है, बांधत पाग अट्बबर की
तजि एक को दूजो भजै जो कोई, जब जीभ कटे वहि लब्बर की
सरनागत श्रीपति ‘श्रीपति’ की, नहिं त्रास है काहुहि जब्बर की
जिनको कुछ आस नहीं हरि की, सौं करौ मिलि आस अकब्बर की।।”¹⁹

श्रीपति इस कविता में सीधे कहते हैं जिसको हरि की आस नहीं है, वह ही अकबर की आस करता है। अर्थात् श्रीपति, अकबर के संरक्षकत्व को अस्वीकार करते हैं। इस कविता को श्रीपति अकबर के दरबार में सुनाते हैं। जिसे सुनकर अकबर नाराज नहीं होता, बल्कि श्रीपति को पुरस्कृत करता है। कवि और कविता के प्रति इतना आदर कम देखने को मिलता है।

जहाँगीर, अकबर और जयपुर की राजकुमारी मरियम उज्ज्मानी का पुत्र था। जहाँगीर तीक्ष्ण बुद्धि वाला योग्य शासक था। डॉ. बेनी प्रसाद ने जहाँगीर के बारे में लिखा है कि, “सर्वांगिक रूप से जहाँगीर का शासन काल साम्राज्य के लिए शांति और समृद्धि का रहा। उसकी संरक्षता में उद्योग और व्यापार की उन्नति हुई, स्थापत्य-कला ने महत्वपूर्ण सफलता पायी, चित्रकला अपने उच्चतम शिखर तक पहुँच गयी, साहित्य की इतनी प्रगति हुई जितनी पहले कभी नहीं थी।”²⁰ मैनेजर पाण्डेय जहाँगीर की 4 कविताओं का जिक्र करते हैं। संभवतः कविताओं की संख्या ज्यादा भी हो सकती है। क्योंकि जहाँगीर ने अपने शासन काल के सत्रह वर्ष तक का वृत्तांत अपनी आत्म कथा में लिखा है। जहाँगीर के दरबार में कवियों का खूब सम्मान था। जहाँगीर अपनी आत्मकथा ‘तुजुक-ए-जहाँगीरी’ में स्वयं लिखता है, “मैंने निशापुर वाले नाजिरी को बुलाया था। यह काव्य कला में अन्य लोगों से बढ़कर था। इस समय वह मेरी सेवा में आया और उसने अनवरी की इस कसीदे का अनुकरण किया- बाज इंचे जवानी व जमालस्त जहाँरा। आगे लिखते हैं मैंने उसको एक हजार रुपये और एक घोड़ा, एक लिखत इस कसीदे के लिए पुरस्कार स्वरूप दिया।”²¹ इस पुरस्कार से यह अनुमान लगाया जा सकता है कि जहाँगीर कला प्रेमी के साथ ही साहित्य प्रेमी भी था। इसकी कविताएँ इसका प्रमाण हैं -

बनि बिन वनिता आई है पिय मन भाई सौतन/मध खेलत लालभँवर मानों फूल फुलवारी।

एकनसों नैन सैन एकनसों मीठे वैन एकन को/पाछे ते अंक भरत अचानके छवि।

भई दूनी दुले रागहिंडोल मिल गई।²²

शाहजहाँ के शासनकाल की अवधि लगभग तीस वर्ष की थी। यह काल भी मुगल साम्राज्य के लिए वैभव का काल रहा। इसलिए इसको मुगल काल का स्वर्ण-युग भी कहा जाता है; क्योंकि अकबर ने जो श्रेष्ठता का पैमाना निर्धारित कर दिया था, उसको आगे बढ़ाने का काम शाहजहाँ ने किया। शाहजहाँ के समय में वास्तु-कला की खूब उन्नति हुई, साथ ही भाषा के क्षेत्र में भी शाहजहाँ ने महत्वपूर्ण काम किया। इस समय में फारसी, हिन्दी, संस्कृत आदि भाषाएँ भी उन्नति कर रही थीं। वह हिन्दी प्रेमी था। शाहजहाँ के समय में राज कवि पंडितराज जगन्नाथ थे, जिन्होंने ‘गंगाधर’ और ‘गंगा लहरी’ नामक ग्रंथ की रचना की। ‘सिंहासन बतीसी’ और ‘बारहमासा’ के लेखक सुंदरदास को भी शाहजहाँ का संरक्षण प्राप्त था। यह बात भी गौर करने वाली है कि साहित्य और कला को सम्मान देना वाला शाहजहाँ कविता का भी बड़ा प्रेमी था। एके क्राइनिकी लिखते हैं—

“कविता शाहजहाँ के दरबार की भाषा बन गयी थी। बादशाह दरबार में कविता में बात करता था, आम जनता से अपने दरबारियों से भी, और दूसरे लोग कविता में ही जवाब देते थे।”²³ इस तरह शाहजहाँ के दरबार में फारसी, संस्कृत, हिंदी आदि भाषाओं के कवि स्थान प्राप्त किये हुए थे। इतना ही नहीं, शाहजहाँ ने स्वयं कविता रची। मैनेजर पाण्डेय ने अपनी संपादित पुस्तक ‘मुगल बादशाहों की हिंदी कविता’ में शाहजहाँ की चौदह कविताओं को संकलित किया है, जिसमें कुछ पद विरह के हैं तो कुछ शृंगार के, कुछ भक्ति के पद भी हैं—

“माई काहे को कहो अब ही जो मोहि जिन बरजो/ लाल तन को री चिताबो।

मनमोहन प्राणेश्वर की छवि रीझत/ अति मति गति सुध बुध बिसारी।

सब अजहूँ भूल जैहें री तोहि सिख देबो॥

लगन सों फल ताकी कहा कहिये री/ अब लोगन सुंदर सखि भायो प्रेम बीज को बोयेबो।

पर रुचिर हो ‘साहजहाँ’ तिनको पंच सरहू ते सरस/ अब बस करके मति गति मनहर लेबो॥”²⁴

शाहजहाँ कह रहे हैं कि मनमोहन की ऐसी छवि मन में बस गयी है जिसके कारण अब सुध-बुध भी बिसर गया है। कुछ इस प्रकार की भी पंक्तियाँ हैं कि,

“भादों कैसे दिनन माई श्याम काहेकों आवेंगे॥”²⁵

कुछ शृंगार के पदों को इस प्रकार रचते हैं कि,

“अधर चन्दन घसिले पूरी सखियाँ आज मोरे आइए

रसलावन गुणवंत जुरमिल सखियाँ इन सेजरीयाँ॥”²⁶

इसी तरह की एक कविता जिसका रचना विधान अद्भुत है—

“दादुर चातक मोर करो किन सोर सुहावन को भरू है॥

नाह तेही सोई पायो सखी मोहिं भाग सोअहगाहूँ को बरू है॥”²⁷

इस कविता का भाषिक सौन्दर्य और लयात्मकता उभर कर सामने आयी है। जिसका संगीत मन को सुकून देना वाला है। कहा जाता है कि जब औरंगजेब, शाहजहाँ को कैद कर लिया था तब अपने उन दुर्दिन दिनों को शाहजहाँ हिन्दी कविता में अभिव्यक्त करता है—

जनमत ही लख दान दियो अरु नाम रख्यो नवरंग बिहारी।

बालाहिं को प्रतिपाल कियो अरु देस मुलक्कु दियो दल मारी।

सो सुत बैर बुझे मन से धरि हाथ दियो बंधि सारि में डारी।

शाहजहाँ बिनवै हरि सों बल राजीब नयन जाए बिहारी॥”²⁸

औरंगजेब जैसे बादशाहों ने भी हिन्दी में कविताएँ लिखी हैं। मुगल बादशाहों के बारे में बात करने पर उनके कत्लेआम, धर्म परिवर्तन और हिन्दू मंदिरों को गिराने जैसी बातों को याद दिलाया जाता है। औरंगजेब के बारे में भी यह बताया जाता है कि वह बहुत कट्टर राजा था। औरंगजेब ने भारत में लगभग 50 वर्षों तक राज्य किया

और अपने राज्य का विस्तार भी किया लेकिन यह ध्यान देना होगा कि इन 50 वर्षों में वह चाहता तो जबरदस्ती सबको इस्लाम धर्म स्वीकार करवा सकता था लेकिन उसने ऐसा नहीं किया। प्रो. अथर अली की अपनी पुस्तक में लिखते हैं कि हिन्दू अधिकारियों की सबसे अधिक संख्या जहाँगीर के समय में थी, जो कि 34 प्रतिशत थी। हमें राम पुनियाजी जी के इस व्याख्यान की ओर ध्यान देना चाहिए, जिसमें वे कहते हैं- “दिल्ली में एक रोड का नाम बदला गया है, उसका नाम है औरंगजेब। औरंगजेब का नाम इस लिए भी बदला गया कि उसने हमारे मंदिरों को तोड़ा। पहली बात यह कि औरंगजेब ने काशी में भगवान विश्वनाथ के मंदिर को तोड़ा था साथ में एक और बात पता चली कि वह आसाम के गोहाटी में स्थित कामख्या देवी मंदिर को दान दिया, उज्जैन में महाकाल का मंदिर है उसको भी दान दिया, औरंगाबाद में भगवान कृष्ण का मंदिर है उसको भी दान दिया। तीसरी एक और महत्वपूर्ण बात यह है कि उसने मंदिरों को दान दिया तो मस्जिद भी तोड़ी। एक बार की बात है गोलकुंडा के नवाब ने औरंगजेब को तीन साल तक लगान नहीं दिया जबकि औरंगजेब महाराजा है। यहाँ राजा तानाशाह है। औरंगजेब जब नवाब से पूछा आपने तीन साल तक लगान क्यों नहीं दिया तब नवाब ने कहा कि मेरे राज्य में अकाल है मेरी प्रजा मुझे लगान नहीं दे रही है तो मैं आपको लगान कहाँ से दूँ। लेकिन महाराजा भी चालाक था। महाराजा ने अपने जासूस को भेजा और इसका पता लगवाया तो पता चला कि तानाशाह ने अपनी सारी संपत्ति एक मस्जिद के नीचे छिपा रखी है। तो औरंगजेब क्या करेगा मस्जिद तुड़वायेगा। हम केवल औरंगजेब के मंदिर तोड़ने की बात को लेकर चलते हैं और बातों को भूल जाते हैं।”²⁹ औरंगजेब केवल मंदिरों को दान ही नहीं देता था, बल्कि सगुण भक्ति की कविता भी करता था-

“उत्तम लगन शोभा सगुन गिन ब्रह्मा विष्णु।

महेश व्यास कीनो शाह औरंगजेब जसन तखत बैठो आनन्दन।

नग खेंच दाम विशात वर गायन मोहनप्रत।

ब्रह्मा रचौ तिन मध गायन गुमी जन गाबत तिनके हरत दुखदंदन।”³⁰

औरंगजेब की इस कविता को पढ़कर सहसा यह यकीन करना मुश्किल होता है कि इसके रचयिता औरंगजेब हैं। लगता है कि यह कविता भक्तिकालीन कवियों की है लेकिन वास्तविकता यही है कि इसका रचयिता औरंगजेब है। औरंगजेब के बारे में बर्नियर लिखते हैं- “शासक बनने के बाद औरंगजेब ने मजहबी उस्ताद से कहा था, एक शासक के लिए धर्म की भाषा से अधिक उपयोगी है, स्थानीय भाषा।”³¹ यही कारण है कि औरंगजेब अपने बेटे आजमशाह को ब्रजभाषा में शिक्षित करने के लिए ब्रजभाषा का व्याकरण लिखने वाले उस्ताद मिर्जा खां को नियुक्त करता है। श्याम कुलपत लिखते हैं- “औरंगजेब के दरबार में हिन्दी के एक कवि वृन्द थे, जो कभी-कभी औरंगजेब को खरी-खोटी सुना देते थे। कालिदास जैसे कवि औरंगजेब की वीरता की तारीफ करते थे। औरंगजेब के कुछ मसनबदार भी हिन्दी के कवियों को संरक्षण देते थे। ऐसे ही एक मसनबदार हिम्मत खां मीर थे, जो कवियों को संरक्षण देने के कारण अपने समय के रहीम खान खाना कहे जाते थे। उन्होंने श्रीपति भट्ट, बलवीर और कृष्ण कवि को संरक्षण दिया।”³²

औरंगजेब के बाद से मुगल काल के पराभव का समय शुरू हो चुका था। अब जितने भी बादशाह रहे, उनके शासन की अवधि बहुत कम रही। उनको अपनी बादशाही बचानी मुश्किल पड़ने लगी। औरंगजेब के समय में ही जाटों, सिखों और मराठों में कुछ धार्मिक सामाजिक असंतोष बढ़ने लगा। यह ही मुगल साम्राज्य से संघर्ष का कारण बना। इन शासकों की दुर्बलता का लाभ मराठों ने उठाया। औरंगजेब की मृत्यु के बाद उसके उत्तराधिकारी शाहजादा आजम और शाहजादा कामबक्श में सिंहासन के लिए संघर्ष हुआ। इस तरह से बादशाही के संघर्ष में उलझे उन तमाम मुगल बादशाहों ने भी हिंदी कविता लिखी, जिनको कम समय के लिए बादशाही नसीब हुई।

औरंगजेब के पुत्र आजमशाह के बारे में मैनेजर पाण्डेय का कहना है कि वह सुलझी हुयी भाषा का कुशल कवि था। इनकी कविताओं में प्रेमाभिव्यक्ति देखी जा सकती है। इनकी काव्य कुशलता का एक नमूना इन कविताओं में देखा जा सकता है जिसमें दरिद्रता हरने के लिए गौरी और शिव की आराधना की गई है-

गौरी ईश्वरी शिवा भवानी आनन्द देजै।

रुद्राणी सर्वाणी सर्व मंगला मृडानी मैनेका दारिद्र भंजै॥

आगे की कविता भी शिव को समर्पित है-

भस्म भूषण अंग चर्चित गंग शिखर बहुर रूप शिवजी

गांडवर में डमरू बाजत फूँकत फणेश भारी॥

अपनी कविताओं में इस तरह की भाषा का प्रयोग तो कोई भाषा का मर्मज्ञ ही कर सकता है।

औरंगजेब का दूसरा पुत्र 'मोजम शाह' शाह आलम बहादुर शाह की कविताओं में ब्रज भाषा का वह माधुर्य है, जो हमें अपनी ओर खींचता है। वे उच्च कोटि के कवि थे। ब्रजभाषा की इनकी कविताओं को पढ़ते हुए लगता है कि पूरी राग-रागिनियों को ध्यान में रखकर लिखी गई हों। मैनेजर पाण्डेय का मानना है कि वह रीतिकालीन परम्परा का कवि है-

अब तुम जागो क्यों मोरे मीत पियरवा हमारी प्रीत तुम सन लागी।

नींदके माते साहआलम सुरजनुमा भव

नुमा सगरी रैन रंग रस पागी॥³³

इन गीतों में प्रिय से उलाहना भी है कि मैं तुम्हारे प्रेम में पगी हुई हूँ और तुम नींद में इतने मतवाले थे कि तुमको इसकी खबर ही नहीं हुई।

जहाँदार शाह भी हिन्दी में कविताएँ लिखते थे। इनकी कविताओं में एक तरह की सरसता दिखाई पड़ती है-

“मोरे गरवां फूलन को हरवा।

रात चोर चोरी आन कर डार गयो प्यार से सुन्दर मीत पियरवा॥

हाँतो ऐसी नींद की माती करवाटीयाँ न लई सारी रतवा।”

इन कविताओं को पढ़ते हुए भोजपुरी पट्टी में गाये जाने वाले गीत उभर कर सामने आने लगते हैं। साथ ही विद्यापति की एक बड़ी मशहूर कविता की याद दिलाता है कि-

मोरे रे अंगनवा चानन केरि गछिया, ताहि चढ़ी कुररए काग रे।

इस तरह की लोक गीत संबंधी कविताओं के साथ ही जहाँदार शाह की कई कविताएँ देवी गीत की कविताएँ भी हैं-

“भोरवा भवा मइका नीक सगुणवा आवेंगे पियरवा

मंदिर सखीरी मोरी पहर सिंगारावा करहु भेंट जीवनवा।

मौज भई जियरा सुख पाइली आनन्द से चमक

रह्यो धाम अंगनवा॥”³⁴

जहाँदार शाह की एक और बड़ी सुन्दर कविता है- “कौन जानेरी सखी मनकी बात वीरानी।” सच में इन कविताओं में कितना सादापन है जो दिल की गहराइयों को छुए बिना नहीं रह सकता। उत्तर भारत में माई के गीत आज भी उसी रूप में प्रचलित है जिस रूप में शाहआलम अपनी कविताओं में वर्णित करते हैं। इन कविताओं को पढ़ते हुए एक शांत समाज की प्रतिछाया महसूस की जा सकती है। यहाँ किसी तरह की साम्प्रदायिकता की कहीं कोई गुंजाइश नजर नहीं आती।

मैनेजर पाण्डेय ने मोहम्मद शाह की सबसे अधिक 58 कविताओं का जिक्र किया है। इन कविताओं की विषयवस्तु विभिन्नता लिए हुए है, जिसमें से कुछ कविताएँ होली की हैं-

होरी की ऋतु आई सखी री चलो पिया पै खेलिए होरी।

अबीर गुलाल उडावत आवत सिर पर गागर रस की भरी री ।

महम्मद शा सब मिल मिल खेले मुख पर अबीर मलो री॥

इन होली के गीतों में भारतीय संस्कृति की सोंधी महक को महसूस किया जा सकता है। होली हिन्दुओं का एक बड़ा त्यौहार है। आज भी होली के गीत गाये जाने की परम्परा विद्यमान है। मोहम्मद शाह की एक और कविता की बानगी देखी जा सकती है-

आओ बलमजी हमारे डेरे अबीर गुलाल मलो मुख

तेरे होरी के दिनन मोसे मत उरझे रे।

जो पिया मोसे रूस रहे हो बलि-बलि जाऊं सब ही घने रे।

महम्मद शा पिया सदाही रंगीले दूर न/ बसो बसो मोरे नरे।³⁵

मोहम्मद शाह साहित्य में अपने रंगीन स्वभाव के कारण मोहम्मद शाह रंगीले के रूप में जाने जाते हैं। मोहम्मद शाह का समय परिवर्तन का समय था। गुजरात, मालवा और बुंदेलखंड के कुछ भागों में मराठों की सत्ता स्थापित हो गयी और मुगल साम्राज्य विघटित होने लगा।

मुगल बादशाह अहमद शाह कविता के बड़े प्रेमी थे प वे लिखते हैं-

तनकी तनक सराय में किनइ ना पायो चौन/ शाम नगरा कूचका बाजत हैं दिन रैन।

को रूप देख के चित न रहा एक ठोर/ अहमद अपने मीत की वह चितवन कछु और॥

बादशाह अजीज अल-दीन आलम गीर अपनी कविताओं में हिन्द में आनन्द की बात करते हैं-

“हिन्द में आनन्द भयो कोटि दुरजन गए/ बैठे तखत वली आलमगीर सानी।

बाजे निशान फरहान सुने गढ़पति/ फरर नई गई धाक डर हुकुम मानी ॥”³⁶

जहाँ कबीर “पानी बीच मीन पियासी” कहते हैं तो वही आलमगीर लिखते हैं-

“भई तुमारे दरश विन मानो विन नीरा”³⁷

मैनेजर पाण्डेय ने अबुल मुजप्फर जलाल उद्दीन मुहम्मदशाह आलम सानी की सबसे अधिक कविताओं का जिक्र किया है। इनकी कविताओं का फलक व्यापक है। जिसमें कुछ सीठने हैं तो कुछ होरी कवित्त से संबंधित कविताएँ हैं तो कुछ नायिका भेद की कविताएँ शोभा बढ़ा रही हैं। मैनेजर पाण्डेय सीठने का अर्थ स्पष्ट करते हुए लिखते हैं “सीठने का अर्थ है- शादी में बारात के आने पर भोजन के समय स्त्रियों द्वारा गाया जाने वाला गीत, जिसे गाली या गारी गाना भी कहते हैं।”³⁸ इनकी कविताओं में लोक गहरे रंग को देखा जा सकता है। भारतीय संस्कृति में किसी भी शुभ कार्य पर गाली गाने की परंपरा है। यह गाली यहाँ का शगुन है, जिसके बदले में गाली गाने वाले को शगुन के तौर पर रुपये-पैसे दिए जाते हैं। उदाहरण स्वरूप इस ‘सीठने को देख सकते हैं-

“समधी ने समधन को जल्दी हाथ में ले दिखलाया।

मोट, खासा बड़ा, सुनहरा, भला पलंग का पाया॥”³⁹

ऐसी कविताओं को लिखने वाला कवि निश्चय ही भारतीय परम्परा में रचा बसा कवि होगा। होली की हुड़ङ्गई के बारे में सबको पता है। इसीलिए आलम सानी होली एक पर्व की तरह मनाने का आग्रह इसके साथ करते हैं कि,

खेलत फाग को आज सबे, मीरो भीज गई अब रंग सू सारी।

खेल की राह सू खेल करो नहीं फेंटे गहो और देउंगी गारी॥
अबीर, गुलाल सुगंध रलो और रंग भरी पिचकारी ही मारी।
मो सू करो बरजोरी लला मत, दौर गहो नहीं बाँह हमारी॥⁴⁰

मुहम्मद शाह आलम सानी अपनी लगभग साठ कविताओं के माध्यम से होली गीतों में एक अलग रंग भरते हैं। इतना ही नहीं नायिका भेद के सभी रूपों की जानकारी भी कवि को है—

जो पिया आवे मोरे घरवा, करूँ संगरावा, लेहू बलाएँ, परहूँ पाएँ।

कहा करूँ, कित जाऊँ, सखी री, भोर भए, लो अज हूँ न आए छैल तुरकवा ॥⁴¹

एक प्रेमिका अपने प्रेमी को याद करते हुए कहती है कि अगर प्रिय घर आ जाएँ तो वह अपना श्रृंगार करेगी और उनकी बलायें लेगी, लेकिन इंतजार करते हुए रात बीत गयी, भोर हो गया, फिर भी वह नहीं आया क्योंकि वह अब विदेशी हो गया है।

अंतिम मुगल सम्राट बहादुर शाह जफर के समय में मुगल सत्ता और दिल्ली शहर दोनों की स्थिति ठीक नहीं थी। इनकी कविताएँ अंग्रेज कंपनी के लूट के बाद देश और दिल्ली की बदहाल स्थिति का एक आर्तनाद है। एक उदाहरण देख सकते हैं—

“जिन गलिन में पहले देखीं लोगन की रंगरलियाँ थीं।

फिर देखा जो उन लोगन बिन सूनी पड़ी व गलियाँ थीं।

ऐसी अखियाँ मीचे पड़े हैं करवट भी नहीं ले सकते,

जिनकी चालें अलबेली और चलने में छलबलियाँ थीं।

खाक का उनका बिस्तर है और सर के नीचे पत्थर है,

हाय! वह शकलें प्यारी-प्यारी किस किस चाव से पलिया थीं।

हम देख सकते हैं कि दर्द में डूबे इनके शेरों में मानव जीवन की गहरी सच्चाई और भावनाओं की दुनिया बसती थी। जफर साहब बेहतरीन शायर थे इनके बारे में यह भी कहा जाता है कि रंगून में अंग्रेजों की कैद में रहते हुए भी उन्होंने बहुत सी गजलें लिखीं बतौर कैदी उन्हें कलम नहीं दी जा सकती थी लेकिन सूफी संत की उपाधि वाले बहादुर शाह जफर ने जली हुई तीलियों से दीवार पर गजलें लिखीं। विलियम डैलरिम्पल लिखते हैं— “वह अपनी नस्ल के बहुत काबिल, शायरों, मुसव्विरों और छोटी तस्वीर बनाने वाले कलाकारों के संरक्षक, संगीत के शौकीन और बाग लगवाने और इमारतें बनवाने में माहिर और सबसे ज्यादा यह कि वह खुद बहुत पहुँचे हुए सूफी शायर थे और न सिर्फ उर्दू और फारसी बल्कि ब्रजभाषा और पंजाबी में कलाम फरमाते थे। और उनके संरक्षण की वजह से इस दौर में हिन्दुस्तानी साहित्य, ललित कलाओं और संस्कृति का एक नया जन्म हुआ जिसकी मिसाल आधुनिक इतिहास में मिलना नामुमकिन है। वह खुद बहुत उम्दा और मंझी हुई गजलों के शायर थे। लिहाजा वह एक मिशाल थे जिसकी वजह से उनके दरबार में उर्दू के और कई शायरों की योग्यता उभरी हैसे गालिब या उनके प्रतिद्वंदी महाकवि जौक, जो गालिब के मोजार्ट के लिए सैलिलेरी की हैसियत रखते थे।”⁴² इस तरह इनकी उर्दू गजलों की प्रसिद्धि से सभी परिचित हैं लेकिन बाद में वे सूफीमत के प्रभाव में आकर हिन्दी में रचनाएँ करते हैं। जिस प्रकार सूफी कवि मलिक मुहम्मद जायसी अपने ‘पद्मावत’ में रानी पद्मावती का क्रम बद्ध वृत्तांत रचते हैं ठीक उसी प्रकार बहादुर शाह जफर भारतीय समाज में स्त्री के दुःख-दर्द से परिचित हैं वह लिखते हैं कि,

“सुन री सहेली मोरी पहेली/ बाबल घर में रही अलबेली,

मात पिता ने लाड़ से पाला/ समझा मुझे सब घर का उजाला,

एक बहन थी एक बहनेली॥”⁴³

आज भी छेका की रस्म यानी आज भी भाषा में कहें तो गठबंधन या एंगेजमेंट की रस्म का भी वर्णन किया है-

“कुछ कुछ मोहि समझ जो आई/ एक जा ठहरी मोरी सगाई/
आवन लागे ब्राम्हन नाई/कोई ले रूपया कोई ले धेली॥”⁴⁴

आगे उसकी शादी का जिक्र है कि,

“ब्याह का मोरे समां जब आया/ तेल चढ़ाया,मढ़ा छवाया/
सालू सूहा सभी पिन्हाया/ मेहंदी से रंग दिए हाथ हथेली॥”⁴⁵

और आगे भी सास-ननद और बहू के संबंधों के ताने-बाने की कहानी इसमें अंकित है। बहादुर शाह जफर की कविताएँ पढ़ते हुए इसके अर्थ साफ दीखते हैं, कोई मशक्कत नहीं करनी पड़ती। कहने का आशय यह है कि ये सारी कविताएँ ब्रज भाषा के वर्तमान स्वरूप के ज्यादा करीब हैं। इन कविताओं को पढ़ने पर कहानी-सा आनंद आता है। इन कविताओं में भारतीय समाज व संस्कृति की गहरी पड़ताल है। ऐसी रचना बिना भारतीयता में रचा-बसा कोई कवि कर ही नहीं सकता है।

इस तरह हम देखते हैं कि मुगल बादशाह बाबर से लेकर अंतिम बादशाह बहादुर शाह जफर तक लगभग सभी बादशाहों ने हिंदी के ब्रजभाषा में कविता लिखी। जिसने कविता नहीं भी लिखी, वह हिन्दी भाषा, उसके कवि एवं उनकी कविताओं के लिए हमेशा भूमि तैयार करता रहा। मुगल बादशाहों ने केवल हिन्दी कविता का विकास ही नहीं किया, बल्कि रचा भी। इनकी कविताओं से हिन्दी क्षेत्र के सामाजिक, सांस्कृतिक एवं धार्मिक विकास को समझा जा सकता है। भले ही इनकी मातृभाषा तुर्की और राज-काज की भाषा फारसी रही हो, लेकिन इनके भाषिक व्यवहार की भाषा तो हिन्दी ही थी। उस समय में राजनीति कई टुकड़ों में बँटी थी, लेकिन इन बादशाहों ने पूरे मनोयोग से भारत वर्ष के लिए एक सर्वमान्य भाषा निर्मित की। इनकी कविताएँ मुगल बादशाहों के सहृदय होने का प्रमाण भी देती हैं। इन कविताओं में वह मानवीय छवि निर्मित होती है, जिससे पूरे हिन्द के निवासियों को पुनः एकसूत्र में पिरोया जा सकता है। यह बात हमें और हमारी आने वाली पीढ़ियों को भी याद रखनी होगी कि इस एकता की हर समय जरूरत रही है और आज भी है।

संदर्भ :

1. मध्यकालीन भारत, एल.पी.शर्मा, प्रकाशक एवं विक्रेता : लक्ष्मी नारायण अग्रवाल, पृ. 4
2. नादिराते शाही, दूसरी बार बार प्रकाशित सन् 2006, रामपुर रजा लाइब्रेरी, प्रस्तावना, पृ. क
3. मुगल बादशाहों की हिन्दी कविता, संकलन और संपादन : मैनेजर पाण्डेय, पृ. 15
4. मुगल बादशाहों की हिन्दी कविता, मैनेजर पाण्डेय, पृ.15
5. बाबरनामा, अंग्रेजी से हिन्दी अनुवाद : युगजीत नवलपुरी, साहित्य अकादेमी, नवीन शाहदरा, दिल्ली, पृ. 419
6. अगर बाबर न आता तो भारत कैसा होता? जुबैर अहमद, बीबीसी संवाददाता, दिल्ली 14 फरवरी 2016
7. मुगल बादशाहों की हिन्दी कविता-चन्द्रबली पांडे, नागरी प्रचारणी सभा, काशी, संवत् 1997, पृ. 61
8. वही, पृ. 7
9. अकबर, राहुल सांकृत्यायन, किताब महल एजेंसीज, इलाहाबाद, प्राक्कथन से
10. वही, प्राक्कथन से
11. अकबर के जीवन की कुछ घटनाएँ, संपादक : शीरी मूसवी, नेशनल बुक ट्रस्ट, 2000 ई., पृ. 92
12. हिन्दनामा एक महान देश की गाथा, कृष्ण कल्पित, राजकमल पेपरबैक्स, पृ. 217
13. मुगल बादशाहों की हिन्दी कविता, संकलन और संपादन : मैनेजर पाण्डेय, पृ. 21
14. <https://youtu.be/9DgxVPcnnlg>
15. <https://youtu.be/9DgxVPcnnlg>

16. मुगल बादशाहों की हिंदी कविता, संकलन और संपादन : मैनेजर पाण्डेय, पृ. 37
17. वही, पृ. 39
18. वही, पृ. 35
19. आजकल, संपा. सीमा ओझा, वर्ष-64, अंक-5, सितंबर 2008, पृ. 44
20. मध्यकालीन भारत, एल.पी.शर्मा, पृ. 115
21. तुजुक-ए-जहाँगीरी, अनुवादक : डॉ. मथुरा लाल शर्मा, राधा पब्लिकेशन, नई दिल्ली, पृ. 105
22. मुगल बादशाहों की हिंदी कविता, मैनेजर पाण्डेय, पृ. 47
23. <https://hindi.newsclick.in/Mughal-Emperor-and-Hindi-Poetry>
24. मुगल बादशाहों की हिंदी कविता, मैनेजर पाण्डेय, पृ. 51
25. वही, पृ. 50
26. वही, पृ. 50
27. वही, पृ. 51
28. आजकल, संपा. सीमा ओझा, वर्ष-64, अंक-5, सितंबर 2008, पृ. 44
29. <https://youtu.be/CvSTMDx1QjU>
30. मुगल बादशाहों की हिंदी कविता, मैनेजर पाण्डेय, पृ. 55
31. <https://hindi.newsclick.in/Mughal-Emperor-and-Hindi-Poetry>
32. <https://hindi.newsclick.in/Mughal-Emperor-and-Hindi-Poetry>
33. मुगल बादशाहों की हिंदी कविता, मैनेजर पाण्डेय, पृ. 61-62
34. वही, पृ. 65
35. वही, पृ. 66
36. वही, पृ. 81
37. वही, पृ. 83
38. वही, पृ. 29
39. वही, पृ. 86
40. वही, पृ. 94
41. वही, पृ. 97
42. आखरी मुगल (एक साम्राज्य का पतन, दिल्ली 1857, विलियम डैलरिम्पल, अनुवाद : जकिया जहीर, प्रस्तावना, पृ. 2
43. मुगल बादशाहों की हिंदी कविता, मैनेजर पाण्डेय, पृ. 132
44. वही, पृ. 132
45. वही, पृ. 132



राष्ट्र और राजनीति के आईने में दलित कविता

○ नीरज कुमार मिश्र

प्रत्येक राष्ट्र के साहित्य का अपनी सीमा के अंदर के भौगोलिक, सामाजिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक परिस्थिति से अन्योन्याश्रित संबंध होता है। हम जब भी साहित्य में राष्ट्र की बात करते हैं तो यह पाते हैं कि राष्ट्र शब्द राजनीति शास्त्र के लिए रूढ़ हो गया है। लेकिन इस शब्द का व्यापक अर्थ है। इसमें मानव-चेतना की भावनात्मक अभिव्यक्ति दर्ज मिलती है। यदि सही मायने में कहें तो किसी प्रदेश के लोग एक साथ एक विशेष भाषा में अपने विचारों का आदान-प्रदान करते हैं; वह प्रदेश ही राष्ट्र कहलाता है। नंददुलारे वाजपेयी 'राष्ट्र' की निम्नलिखित परिभाषा देते हैं- "राष्ट्र केवल सीमाओं और जनसंख्या के समुच्चय का नाम नहीं है। उसके साथ परिस्थितियों के एक विशिष्ट आपात और एक विशिष्ट इतिहास का भी योग होता है। राष्ट्र एक व्यक्ति के सदृश ही है। जिन परिस्थितियों और ऐतिहासिक प्रतिक्रियाओं से भारत गुजरा है, वे अपना स्वतंत्र स्वरूप रखती हैं। उनके अनुरूप हमारी चेतना और व्यापक जीवन-परिवेदनों का निर्माण हुआ है।" प्राचीन समय से यह कहा जाता रहा है कि देश, भाषा, जाति, संस्कृति और धर्म ये तत्त्व ही मिलकर राष्ट्र का निर्माण करते हैं। प्राचीन समय में इस शब्द को एक दायरे में सीमित रखकर देखते थे, तब उस समय राष्ट्र उसी को कहा जाता था, जो एक निश्चित भौगोलिक इकाई में बसा जनसमूह होता है। उस जनसमूह की अपनी सभ्यता, भाषा, संस्कृति, धर्म और इनसे जुड़े विधि-निषेध की परम्परा हो। लेकिन अब राष्ट्र का अर्थ व्यापक हो गया है। आज राष्ट्र की परिकल्पना ऐसे समाज से की जाती है, जिसमें अपनत्व एवं भाई-चारे ने सबको एक ही भावनात्मक सूत्र में बाँधे रखा है। इसलिए हम इस आधार पर कह सकते हैं कि जब समाज राजनैतिक दृष्टि से स्वतंत्रता प्राप्त करने के लिए जाग्रत हो जाता है, तब राष्ट्र निर्माण की संभावनाएँ बलवती होने लगती हैं। कोई भी राष्ट्र तभी प्रगति की राह पर चल सकता है जब उस राष्ट्र के लोग राष्ट्र और समाज के प्रति अपने उत्तरदायित्व को समझें और उसके अनुसार चलें। इस उत्तरदायित्व की भावना से ही हम सामंतवाद और साम्राज्यवाद से लड़ सकते हैं। इस लड़ने की भावना को ही हम राष्ट्रीय भावना कह सकते हैं। अज्ञेय भारत में राष्ट्र बनने की प्रक्रिया को स्पष्ट करते हैं- "हमारे काल का साहित्य सब से पहले राष्ट्रवादी अथवा राष्ट्रीय चेतना का साहित्य रहा राष्ट्र की कल्पना निःसंदेह क्रमशः विकसित होती रही। यह कह देना आसान है- और इधर सारी नयी परिस्थिति और परिवेश के मूल भारतीय संस्कृति के आदि-काल में ही खोज निकालने की हवा फिर बहने लगी है- कि हम सनातन काल से ही 'वसुधैव कुटुम्बकम्' मानने वाले मानवतावादी रहे। लेकिन वास्तव में वैसे 'उदारवादी' हम नहीं थे, और न जिन परिस्थितियों में हमारे इस राष्ट्रवाद का नया दौर आरम्भ हुआ, वे परिस्थितियाँ ही उदारता का पोषण करने वाली थीं। बल्कि बीसवीं शती के आरम्भ के साथ पाश्चात्य विचारों की खाद से पनपने वाले राष्ट्रवाद में दीक्षित होकर कदम उठाते हुए ही हम यह देखने और सीखने को बाध्य हुए कि राष्ट्र-शक्ति उदारता की शक्ति नहीं है बल्कि संकीर्णता की शक्ति है। यह मानने में हमें संकोच नहीं होना चाहिए कि राष्ट्रवाद का

यह दौर एक संकीर्ण संगठन-बुद्धि से ही आरम्भ हुआ, और वास्तव में आरम्भ में केवल जातीय ही था। पहली क्रांति-चेष्टाएँ भी जातीय क्रांति की चेष्टाएँ थीं, न कि राष्ट्रीय क्रांति की। और इस जातीय जागृति का कारण एक तो पाश्चात्य उदार विचारों का प्रभाव था, और दूसरे अंग्रेजों की जात्यभिमान पर आश्रित वह भेद नीति जो कि जाति द्वेष और उस के द्वारा जातीय उत्कर्ष की भावनाओं को उभारती थी।”²

समाज का राजनीतिक रूप राष्ट्र की श्रेणी में आता है। ये सर्वविदित है कि सामाजिक व्यवस्था के अनुसार किसी भी देश की संस्कृति और राष्ट्र का विकास होता है। राष्ट्रवाद के आविर्भाव से ही उसमें नैतिक समानता और सामाजिक न्याय की बात जुड़ जाती है। अब सवाल ये उठता है कि दलित साहित्य की राजनैतिक दिशा-दशा क्या होनी चाहिए? यह हम सभी जानते हैं कि अभी तक दलित साहित्य की कोई राजनैतिक विचारधारा हमारे सामने नहीं आ पाई। यही वजह है कि उनकी राजनैतिक भूमिका भी अभी तक स्पष्ट नहीं हो पाई। दलित चिंतक कँवल भारती ने ‘दलित साहित्य की वैचारिकी’ लेख में दलित साहित्य की राजनैतिक विचारधारा को स्पष्ट किया है- “दलित साहित्य की राजनैतिक विचारधारा क्या हो, इसपर अभी तक गम्भीर होकर विचार नहीं किया गया है। आमतौर पर दलितों की राजनीति को ही दलित साहित्य की राजनीति मानने की धारणा बनी हुई है। इसी आधार पर एक समय था, जब कांग्रेस को अधिकांश दलित बुद्धिजीवियों का समर्थन प्राप्त था। जैसे-जैसे दलित राजनीति में बदलाव आया, दलितों के समर्थन में भी बदलाव आया। इसी परिवर्तन के तहत आज रिपब्लिकन पार्टी को महाराष्ट्र के दलितों का तथा बहुजन समाज पार्टी को उत्तर प्रदेश के दलितों का समर्थन प्राप्त है। लेकिन यह समर्थन जाति पर आधारित है और इसे हम महारों तथा चमारों की राजनैतिक गतिशीलता से ज्यादा कुछ नहीं कह सकते। यह भले ही दलीय दलित राजनीति हो, पर यह कोई राजनैतिक विचारधारा नहीं है।”³

गाँधी और अम्बेडकर दलितों के उत्थान के लिए राजनीति को जरूरी मानते हैं। गाँधी ने राजनीति को साधन के रूप में देखा, साध्य के रूप में नहीं। उनका मानना था कि दलितों का उत्थान राजनैतिक जागरुकता से ज्यादा सामाजिक जागरुकता पर निर्भर करता है। यही वजह है कि गाँधी सबसे पहले अस्पृश्यता के इस सामाजिक कलंक को दूर करना चाहते थे। तभी तो वह कहते हैं कि “ऐसे बहुत से हरिजन हैं, जो आर्थिक रूप से काफी सम्पन्न हैं और राजनीतिक दृष्टि से विधायिकाओं और नगरपालिकाओं में सदस्य भी हैं। लेकिन सनातनी सवर्ण हिंदुओं के लिए वे अस्पृश्य ही हैं। इसी कारण धार्मिक अस्पृश्यता मिटाए बिना आर्थिक और राजनीतिक उत्थान का कोई प्रश्न ही नहीं है।”⁴ वहीं दूसरी तरफ बाबा साहब डॉ. भीमराव अम्बेडकर केवल सामाजिक और राजनीतिक रूपांतरण की प्रक्रिया को केवल गति नहीं प्रदान कर रहे थे, बल्कि वह भारतीय राष्ट्र राज्य के लोकतंत्रात्मक ढाँचे के निर्माण में भी महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। यही वजह है कि उन्होंने गोलमेज सम्मेलन के पूर्ण अधिवेशन की बैठक में स्पष्ट किया कि, “देश के राजनीतिक उत्थान पर जब जब बहस हुई है, हर बार दलितों की समस्याओं को रेखांकित किया गया है और सरकारी दस्तावेजों में बकायदा दर्ज किया गया है। परंतु जब जब अंग्रेजी सरकार ने, सरकार से प्रतिनिधित्व देने के लिए कदम उठाये, हर बार दलित वर्गों को जानबूझकर छोड़ दिया जाता है। राजनीतिक सत्ता में उनके दावे पर बिलकुल ध्यान नहीं दिया गया है। हम इस बात का पुरजोर विरोध करते हैं और अब और सहन नहीं करेंगे।”⁵

आधुनिक दलित साहित्य की पहली दस्तक कविता के माध्यम से सुनी गयी, 1914 में ‘सरस्वती’ में हीरा डोम की कविता ‘अछूत की शिकायत’ प्रकाशित हुई थी। तब से अबतक लगभग सौ वर्षों की यह यात्रा हमारे सामने है। इन वर्षों में दलित साहित्य शिकायत और शोक से आक्रोश और चेतना की ओर बढ़ा है। दलित कविताओं ने अपने समय को न केवल देखा बल्कि उसे अपनी कविताओं में दर्ज भी किया। यही वजह है कि दलित कविताओं में भूमंडलीकरण के प्रभाव को देखा जा सकता है। दलितों के इतिहास के पन्नों को इसने

फाड़ दिया है। अनिता भारती अपनी कविता “इतिहास” में इस दर्द को रेखांकित करती हैं-

“इतिहास से भी हमारा नाम गायब है
बेदखल हैं हम उससे
फाड़ दिया गया है,
हमारे संघर्ष का पन्ना
हमें शिकायत है
उस अबोध निर्मम इतिहास से
कि जिसके लिए
हम दिन-रात
सुबह-शाम
आंधी-तूफान में लड़ते रहे
बनाते रहे अपने निशां
वही विद्रूपता से
हमारी झुलसी नंगी पीठ पर
हाथ रख कहता है
तुम अपने पैरों से कब चली
तुम्हारे पैर थे ही कब ?
तुम तो बस हम पर थी आश्रित
मैंने तुम्हें दी
छाया-माया-काया
अब तुम्हें और क्या चाहिए ?”⁶

दलित कविता सही मायने में दलित जन की कविता है। कविता चाहे किसी प्रदेश या बोली-भाषा की हो, उसके सरोकार आपस से जुड़े हुए हैं। केरल के समकालीन कवि राघवन अत्तोली ने विकास के नाम पर देश में जो हो रहा है, उस दशा का अन्वेषण इनकी कविता “भूखा का बाजार” कविता में देखा जा सकता है-

“अकाल पकाए बर्तन पूछते हैं
खेत को भूले फसल पूछते हैं
जिगर झुलसती कविता पूछती है
रीढ़ झुके मन पूछते हैं
अंगार भरे अलाव कहाँ
काल की गति का भी
संचालन करती शक्ति कहाँ ?
अनदेखी रास्ता दिए दीप कहाँ ?
दुख के अंत की घोषणा किए जीभ कहाँ ?
बिकने के बाद बचे बाकी सच कहाँ
कौर कौर की भीख ने जिस
देश की माँग की थी, देश कहाँ”⁷

दलित साहित्य के संघर्ष और उसकी चेतना को व्यक्त करने में कविता का महत्वपूर्ण योगदान है। हिंदी कविता के महत्व को रेखांकित करते हुए मराठी कवि नामदेव ढसाल ने कहा है कि “कविता मुझे आकृष्ट नहीं करती तो मैं बड़ा गैंगस्टर होता या फिर चकलाघर का मालिक। कविता कवि को बदलने के साथ ही सामाजिक बदलाव में भी अहम भूमिका अदा करती आई है। यही कारण है कि कवियों को युगद्रष्टा कहा जाता है। कविता, आदमी को मनुष्य बनाने में मददगार है। समता, स्वतंत्रता और बंधुत्व की स्थापना दलित कविताओं का मूल स्वर है, जो फुले-आंबेडकरवादी चिंतन एवं विचारधारा पर आधारित है। एक अर्थ में दलित कविता, अतीत और वर्तमान की सामाजिक एवं सांस्कृतिक आलोचना भी है। वर्चस्वशाली सभ्यता एवं संस्कृति के हजारों वर्ष के इतिहास को प्रश्नांकित कर दलित कविता ने साहित्य की अवधारणा और सौंदर्यबोध के मानदंडों को अर्थांतरित कर नवीन स्वरूप दिया है। आंबेडकरवादी दर्शन एवं विचारधारा से दलित चेतना का जन्म हुआ है।”⁸

दलित सामाजिक विद्रुपताओं को लेकर लगातार संघर्ष कर रहा है। भूमंडलीकरण के इस दौर में जब राष्ट्र और राजनीति का गठजोड़ अपने चरम पर हो, जिसने दलितों को केवल वोट में तबदील कर दिया है। तब दलित इस व्यवस्था के प्रति विद्रोही हो जाता है- “अब दलित भी धीरे-धीरे विद्रोही हो रहे हैं, जिसके संकेत कुछ दलित रचनाकारों की कविताओं में मिलने भी लगे हैं। वे इस सम्पूर्ण दुरावस्था का जिम्मेदार व्यवस्था को मानते हैं क्योंकि सामन्ती युग में तो दलित शोषण और अत्याचार के शिकार थे ही, लेकिन आज भी उन पर अत्याचारों में कमी नहीं आई है। उनके मामले में कानून अंधा हो जाता है और पुलिस तंत्र नाकारा। नेता दूसरे राजनीतिक दल को बदनाम करने के लिये इस स्थिति को एक राजनीतिक हथियार के रूप में इस्तेमाल करते हैं। इन सभी के लिए दलित व्यक्ति नहीं, ‘वोट’ होकर रह गया है।”⁹

असंग घोष का कविता संग्रह ‘समय को इतिहास लिखने दो’ विद्रोही होते जा रहे दलितों की गाथा है। उनकी कविताएं आक्रोश को आत्मसात नहीं करती बल्कि उसे अपने में दर्ज करती हुई आशा की ओर बढ़ती हुई दिखती हैं। इनकी इसी शैली के कारण इनकी कविताएं दलित कविता का नया वितान रचती हैं। यह शैली कवि के आत्मविश्वास के धरातल पर खड़ी होकर अपनी लेखनी से विद्रोह का बीज बोती नजर आती है-

“मैंने
अपनी लेखनी से
तेरे खिलाफ
विद्रोह का बीज
बो दिया है।”¹⁰

दलित कविता अपनी यातनाओं के अतीत के साथ ही नहीं बल्कि समसामयिक जीवन और परिवेश के साथ भी गहराई के साथ जुड़ी हुई प्रतीत होती है। जिससे इसकी प्रासंगिकता और ज्यादा बढ़ गई है। हिंदी दलित कविता आंदोलन चेतना के स्तर पर बहुत गहराई से जुड़ा है, जिसकी जड़ में सदियों का अन्याय, अत्याचार और शोषण का इतिहास है। इसलिए हिंदी की दलित कविता समय के दौर में दलित आंदोलन को स्थायित्व प्रदान करनेवाली कविता है। वह वर्ण-व्यवस्था के सामाजिक, सांस्कृतिक एवं राजनीतिक वर्चस्व के खिलाफ प्रतिरोधात्मकता का अपना नया मोर्चा निर्मित करती है। यह सदियों की यातना है जो आक्रोश एवं विद्रोह के रूप में फूट रही है-

“मेरी पीढ़ी ने अपने सीने पर
खोद दिया है संघर्ष
जहाँ आँसुओं का सैलाब नहीं
विद्रोह की चिंगारी फूटेगी

जलती झोपड़ी से उठते धुएं में
तनी मुट्टियाँ
तुम्हारे तहखानों में
नया इतिहास रचेंगी।”¹¹

दलितों की सामाजिक और राजनीतिक दुर्दशा को देखकर बहुत सारे सवाल हमारे जेहन में आते हैं। सत्ता की शतरंजी चालों ने दलितों को केवल समाज की परिधि में रखा है और दलितों के प्रति सरकार का दृष्टिकोण उपेक्षित रहा है। इस उपेक्षा की अनुगूँज दलित कविताओं में सुनी जा सकती है। भूमंडलीकरण के दौर में राष्ट्र और राजनीति का लेखा-जोखा दलित कविता में दर्ज किया जा रहा है। आज सबसे बड़ा सवाल ये है कि भारत का लोकतंत्र किस ओर जा रहा है? राजनीति में दलितों का क्या स्थान है? आज संसदीय प्रणाली में दलितों को उचित और कितने प्रतिशत हिस्सा मिल रहा है? ऐसे अनेक सवाल हैं जो दलित कविताओं में लगातार दर्ज हो रहे हैं। साहित्य का काम केवल मनोरंजन करना भर नहीं होता बल्कि वह समाज में घटित होती घटनाओं को अपने में दर्ज करता रहता है। यही वजह है कि भारत में दलितों की दशा और दुर्दशा को दलित कवियों ने दलित साहित्य में समाविष्ट कर लिया है- “साहित्य का काम लोरी सुनाकर जनता को सुलाना नहीं है। साहित्य वह है जो उसकी रोजमर्रा की जिन्दगी में घट रही घटनाओं को उसके सम्मुख रखे, उन पर अपनी राय बनाने में उसकी मदद करे और उनके कारणों की खोज कर उन्हें बेनकाब भी करे। जिससे जनता लामबन्द होकर संघर्ष करने को तत्पर हो सके. कुल मिलाकर वह साहित्य ही है जो आम आदमी के जीवन में परिवर्तन लाने की प्रेरणा दे सकता है, उसके सुख-दुःख में उसके साथ खड़ा रहता है।”¹²

देश के आजाद होने के वर्षों बाद भी आज दलित उत्पीड़न का सिलसिला थमा नहीं है। श्योराज सिंह बेचैन ने अपने कविता संग्रह ‘चमार की चाय’ की भूमिका में इस सवाल को बहुत गम्भीरता से उठाया है और अपनी अनेक कविताओं में भी इसे रखा है। ‘जारी है’ शीर्षक कविता में वे दलितों पर हो रहे अत्याचार और उनके संघर्ष को रेखांकित करते हैं-

“ सत्तर साल
हो गये स्वराज को
अब तक दलित को
दला था
अब क्रूरता से कुचल रहा है
और मुक्ति युद्ध
दलित स्त्री को साथ
साथ न रहने से
विफल रहा है।”¹³

मोहनदास नैमिशराय की कविताओं में भूमंडलीकरण के दौर में राष्ट्र और राजनीति के मायने कैसे बदल जाते हैं इसकी झलक मिल जाती है। यही वजह है कि इनकी कविताओं में दलित जीवन के दुख-दर्द, उनके संघर्ष के साथ-साथ उनका राष्ट्रीय एवं सामाजिक चिंतन भी अपने असली रूप में चित्रित होता है। कैसे राजनीति अपने स्वार्थ की रोटी सेंकने के एवज में देश में साम्प्रदायिकता के बीज बोती रहती है। ‘सच यही है’ साम्प्रदायिकता की उसी पनप रही फसल को लेकर लिखी गयी एक महत्वपूर्ण कविता है। साम्प्रदायिकता समाज में फैला एक ऐसा भयानक रोग है। जो एक बार किसी देश में लग गया तो उसके भाईचारे, सदभाव और मैत्रीपूर्ण संबंध को खत्म कर देती है। इस रोग को दलित समाज कैसे देखता है, इस कविता से हमें उसे समझ सकते

हैं। इस कविता से हमें ये सीख मिलती है कि साम्प्रदायिकता से समाज में किसी को कुछ नहीं मिलता बल्कि आमजन की एकता तार-तार हो जाती है और मुक्ति का बृहद सपना भी टूट जाता है। यही वजह है कि ये कविता सामाजिक जुड़ाव की बात करती है और साम्प्रदायिकता जैसे भयानक रोग को नकारती है-

“बात एक ही है
पहले साम्प्रदायिक दंगे कराओ
फिर शांति मार्च के ढेर सारे आयोजन
सच यही है
कब्रों पर फूल उगाने जैसा।
सच की कल्पना
कितनी कड़वी होती है
और बीभत्स भी
एक सच
जो पहले से ही तैयार होता है।”¹⁴

दलित कविता का विस्तृत फलक है। प्रारंभिक दलित कविताओं की बात की जाये तो हम पाते हैं कि इनमें भूमंडलीकरण और पूंजीवाद गठजोड़ से उपजे उत्पीड़न का जिक्र बहुत कम मिलता है। लेकिन 2014 के बाद दलित कवियों की कविताओं में उस दर्द को महसूस किया जा सकता है। उस समय प्रकाशित दलित कविता की कई पुस्तकों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि ये कविताएं सामाजिक सत्ता के साथ-साथ राजनीतिक सत्ता के विविधवर्णी उत्पीड़न दमन के रूपों की मुखर और स्पष्ट आलोचना प्रस्तुत करती हैं। आज के राजनीतिक परिदृश्य को देखने से ये पता चलता है कि दलित आज मुख्यधारा की राजनीति का हिस्सा बन तो गए हैं, लेकिन उनके बुनियादी सवाल और मुद्दे अभी-भी जस के तस मुख्यधारा के विमर्श से बहुत दूर उपेक्षित पड़े हैं। इन हालातों को देखकर यह कहना ज्यादा सही होगा कि राजनीति के केन्द्र में आने के पहले ही उनके मुद्दे राजनीति के शिकार होने लगे हैं। दलितों की मनोभावों, उनकी तकलीफों, उनकी जरूरतों, उनके गुस्से, उनके आक्रोश आदि को अभिव्यक्त करने वालों को भी राजनीति या फिर गुटबंदी का शिकार बना दिया जाता है।

दलित कविता ने दलितों के भोगे सामाजिक यथार्थ को पूरे यथार्थ के साथ चित्रित किया है। यह भोगा हुआ यथार्थ दलितों के शोषण, अपमान, और वर्जनाओं की गाथा कहता है। जयप्रकाश कर्दम अपनी कविताओं में उसी गाथा को व्यक्त करते हैं। इनकी कविताएं सामाजिक और राजनैतिक परिवर्तन एवं क्रांति के आह्वाहन से उपजी हैं-

“मेरे शब्दों
केवल शब्द मत बने रहो
अपने अर्थों में आ जाओ
तीर तलवार में बदल जाओ
धरती आसमान को हिला दो
अन्याय की दुनिया में
आग लगा दो
क्रांति का बिगुल बजा दो।”¹⁵

भूमंडलीकरण के इस दौर में राष्ट्र और राजनीति की आड़ में दलितों का लगातार शोषण कर रही इस व्यवस्था के विविध रूपों की पहचान करना जरूरी कविता का एक धारदार हथियार के रूप में प्रयोग हो रहा है। यह जीवन के भीतर पैठकर देखने वालों की दृष्टि से देखा हुआ यथार्थ है। यह ऐसा यथार्थ है जो जीवन की पीड़ा से गुजरता, उसकी पर्तें खोलता, उसके कारणों को उजागर करता, वहाँ से जन जन को रास्ता तलाशने की प्रेरणा की ओर ले जाने वाला है। शहर के भागमभाग वाले जीवन में विज्ञान और तकनीक की अनावश्यक और उपभोक्तावादी बढ़त ने सामाजिक की दूरी को बढ़ाया है। पूंजीवाद अपने साथ व्यक्तिवादी, अलगाववादी सांस्कृतिक मानसिकता लेकर आता है, जिसका सबसे ज्यादा शिकार मेहनतकश जनता होती है। मनुष्यता की अवधारणा पर टिका दलित साहित्य कहीं पूंजीवाद के खत्म होने की वकालत करता है तो कहीं उसके समर्थन में खड़ा है। एक तरफ शरण कुमार लिंबाले जैसे कई दलित साहित्यकार भूमंडलीकरण के पक्ष में खड़े हैं- “भूमंडलीकरण से यदि किसी का नुकसान होने वाला है तो वह यहाँ के हिंदू का, उच्चवर्ग का, अमीरों का होने वाला है।” दूसरी तरफ ओम प्रकाश वाल्मीकि इसे असली मुद्दे से भटकाने के रूप में देखते हैं- “दलितों का सबसे बड़ा मुद्दा घोषित करना.... असली मुद्दे से बहकाने की साजिश है।”¹⁶

जयप्रकाश लीलवान भूमंडलीकरण पर अलग राय रखते हुए हमें इसके संकटों से हमें आगाह करते हैं-

“ भूमंडलीकरण
स्वयं के भेड़ियों को
सब कुछ पर
आच्छादित करते हुए
आक्रमण करने वाले पूंजीवादियों के
पैरवीकारों की व्यूह रचना है।”¹⁷

सामाजिक कुरूपताओं और विद्रुपताओं का यथार्थ वर्णन की पहचान दलित कवियों की प्रमुख विशेषता है। आधुनिक दलित कवि देवेन्द्र कुमार बंगाली की कविता ‘भेड़िया’ इन विशेषताओं पर खरी उतरती है-

“ रात के उन्हीं उन्हीं पहरों में
जिसमें नींद अपनी जवानी पर होती है
वह आता है
और बगल में सोये हुए
बच्चों को उठा ले जाता है।
इससे पहले कि
लोग उसे जाने-सुनें देखें
उसका पीछा करें
एक को छोड़कर ‘वह’
दूसरे गाँव की ओर मुड़ चुका होता है।
फिर लौटकर आये न आये
इससे कोई अंतर नहीं पड़ता
बल्कि उसका आतंक बराबर बना रहता है।

...
उसकी भनक पाते ही
जलती हुई लालटेनों की रोशनी

कहाँ चली जाती है?
या आदमी और उसकी चारपाई के बीच
इतना लंबा फासला कहाँ से आ जाता है?
कि एक अकेला घर पूरा देश बन जाता है
और देश अज्ञात जंगलों का विस्तार
जहाँ से पक्ष-प्रतिपक्ष
किसी भी प्रकार की कोई आवाज
हिचक भी सुनाई नहीं पड़ती।

...
जब तक वह दुबारा लौटकर
आये-आये
तब तक हम या तो उसे पूरी तरह
भूल गए होते हैं
या हमारे हथियारों में
इतने जंग लग चुके होते हैं
या हम इतने परमुखापेक्षी हो चुके होते हैं
कि कोई दूसरा ही उसे मारे तो मारे
वरना हमारे बस का नहीं रहता!
और बच्चे भी
आदमी की शक्ल में
भेड़िया बन चुके होते हैं
किसी और की तलाश में।”¹⁸

दलित साहित्य कई मोर्चों पर अपनी अस्मिता की लड़ाई एक साथ लड़ रहा है। भूमंडलीकरण के संदर्भ में सामाजिक दायरे के भीतर दलितों की हिस्सेदारी के मायने अब बदल गये हैं। वरिष्ठ आलोचक बजरंग बिहारी तिवारी से की गई बातचीत में शरण कुमार लिम्बाले ने दलित राजनीति के मायने को स्पष्ट किया है- “दलित राजनीति की समीक्षा करना दलित लेखकों का अहम काम है। कुछ दलित लेखक राजनीति में आ सकते हैं। दलित राजनीति का असर दलित साहित्य पर हमेशा हुआ है। दलित राजनीति के संदर्भ में दलित लेखकों ने विपुल लेखन किया है। कुछ दलितों का बीजेपी और शिवसेना के साथ जाने दलित आंदोलन पर बुरा असर नहीं हुआ। कांग्रेस ने हिंदुत्ववादी संगठनों का डर दिखाकर दलितों का इस्तेमाल किया। दलितों को गुमराह किया। दलित जनता कांग्रेस के पीछे-पीछे भागती थी। दलितों को जब इस गलती का अहसास होने लगा तब उन्होंने कांग्रेस को नकारना शुरू किया। दलितों का बीजेपी के साथ जाना ‘निगेटिव वोटिंग’ जैसा है। दलित वोट जब बीजेपी को मिलने लगे तब कांग्रेस की आंखें खुलने लगीं। उसने दलितों और अल्पसंख्यकों के संदर्भ में अपना रवैया बदला।”¹⁹

आज दलित राजनीति दोराहे पर खड़ी है। सभी पार्टियाँ अपने स्वार्थ की रोटियाँ सेंक रहे हैं। आम्बेडकर के बाद दलित आंदोलन और उसकी राजनीति में बहुत सारे परिवर्तन देखने को मिले। अपने देश में दलित केवल वोट बनकर रह गया है। कोई भी राजनीति दलित जनाधार को खिसकते देख किसी व्यक्ति को उच्च पद पर आसीन कर उन्हें लुभाने की कोशिश करती है। दलितों को अपने पाले में करने के लिए सभी पार्टियाँ अपने

तरफ करने के लिए हर हथकंडे अपना रही हैं। डॉ. आंबेडकर ने जो फ्रेमवर्क राजनीतिक और सामाजिक उत्पीड़न के खिलाफ तैयार किया था, वह आज बदल गया है। साहित्य का राजनीति पर असर नहीं पड़ता, राजनीति का असर साहित्य पर पड़ता है। राजनैतिक, सामाजिक वातावरण के अनुरूप ही साहित्य भी विकसित होता है। जो दलित जिस पार्टी का है उसी पार्टी की बात करता है। अपने-अपने सरोकारों के बावजूद दलित राजनीति अपने अस्मिता को बचाने की जद्दोजहद में लगी है।

संदर्भ :

1. राष्ट्रीय-साहित्य, प्रकाशन संस्थान, दिल्ली, प्र.सं. 1996, पृ. 9
2. सर्जना के संदर्भ, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, प्र.सं. 1985, पृ. 69-70
3. दलित साहित्य की वैचारिकी, दलित साहित्य: समग्र परिदृश्य, सं- डॉ. मनोहर भंडारे, स्वराज प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम सं. 2013, पृ. 31
4. मो.क.गाँधी, संपूर्ण वाङ्मय, खंड-54, 1973, सूचना और प्रसारण मंत्रालय, नई दिल्ली, पृ. 361
5. भीमराव अम्बेडकर, संपूर्ण वाङ्मय, खंड-5, 1994, डॉ. अम्बेडकर प्रतिष्ठान, कल्याण मंत्रालय भारत सरकार, पृ. 19
6. यथास्थिति से टकराते हुए : दलित-स्त्री-जीवनसे जुड़ी कविताएँ, सं- अनिता भारती/बजरंग बिहारी तिवारी, लोकमित्र प्रकाशन, प्र.सं. 2013, पृ.20
7. दलित साहित्य(वार्षिकी), सं-जयप्रकाश कर्दम, शब्द संयोजन, 2005, पृ. 108
8. डॉ. रामचन्द्र, 'दलित कविताओं का स्वर परिवर्तनकामी है', दलित चेतना की कविताएँ, सं. रामचन्द्र, प्रवीण कुमार. नई दिल्ली: स्वराज प्रकाशन, 2014 पृ.सं. 8
9. सं डॉ. एन. सिंह, 'हिन्दी काव्य में दलित चेतना', दर्द के दस्तावेज, अलीगढ़, आनंद साहित्य सदन, 1992, पृ.सं. 14
10. असंग घोष, 'समय को इतिहास लिखने दो', प्र.सं. 2015, पृ. 83
11. सदियों का संताप, ओमप्रकाश वाल्मीकि, पृ. 7
12. एन. सिंह. 'मेरी ओर से', प्रतिनिधि कविताएँ, नई दिल्ली, ईशा ज्ञानदीप, पृ.सं. 25
13. श्यौराज सिंह बेचौन, 'चमार की चाय', वाणी प्रकाशन, प्र.सं. 2017, पृ. 80
14. दलित निर्वाचित कविताएँ, संपादन डॉ. कँवल भारती, इतिहास बोध प्रकाशन, इलाहाबाद, प्र.सं. 2006, पृ. 126
15. जयप्रकाश कर्दम, तिनका तिनका आग, अमन प्रकाशन, प्र.सं. 2020, पृ. 102
16. दलित और पुरोहितवाद, ओम प्रकाश वाल्मीकि, जनसत्ता, 1 8.12.2011
17. समय की आदमखोर धुन, जयप्रकाश लीलवान, भारतीय दलित अध्ययन संस्थान, अनामिका पब्लिशर्स एंड डिस्ट्रीब्यूटर्स, नई दिल्ली, प्र.सं. 2009, पृ.42
18. देवेन्द्र आर्य, 'आधुनिक हिन्दी कविता के पहले दलित कवि : देवेन्द्र कुमार बंगाली', ऑर्थर्स प्राइड पब्लिशर प्रा.लि., मयूर विहार, नई दिल्ली, 2017, पृ. 277-78
19. भारतीय दलित साहित्य : आंदोलन और चिंतन(साक्षात्कार आधारित), बजरंग बिहारी तिवारी, शब्दारंभ प्रकाशन, दिल्ली, प्र.सं. 2015, पृ. 31



दिनकर का वह छंद जो गद्य रह गया...

○ उज्ज्वल आलोक

दिनकर की प्रतिष्ठा राष्ट्र कवि के रूप में है। उर्वशी, रश्मिरथी, कुरुक्षेत्र आदि ऐसी रचनाएँ हैं जो विश्व की श्रेष्ठ कविताओं में शामिल हैं। इसलिए दिनकर का पहला मूल्यांकन एक कवि के रूप में होता है। सन् 1956 में प्रकाशित और सन् 1959 में साहित्य अकादमी पुरस्कार से सम्मानित 'संस्कृति के चार अध्याय' भारतीय संस्कृति का दस्तावेज है। इसके अतिरिक्त 'भारत की सांस्कृतिक कहानी', 'भारतीय एकता' तथा 'हमारी सांस्कृतिक एकता' आदि रचनाएँ भी भारतीय संस्कृति का स्वरूप हमारे सामने स्पष्ट करती हैं। इसके अतिरिक्त कई निबन्ध भी हैं, जो भारतीय संस्कृति के अन्य पहलुओं पर प्रकाश डालते हैं। अतः दिनकर का दूसरा मूल्यांकन संस्कृति चिन्तक के रूप में किया जाता है। जिन दो क्षेत्रों में उनका मूल्यांकन कम हुआ है, वे हैं—कथा और आलोचना। इस लेख में हम उनके कथा लेखन के माध्यम से उनकी रचना प्रक्रिया को समझने का प्रयास करेंगे।

दिनकर ने किसी कहानी या उपन्यास की रचना नहीं की। लेकिन कथा तत्त्व लिए हुए जो रचना उन्होंने की है उसे गद्य काव्य कहा है। गद्य काव्य एक विधा के रूप में संस्कृत साहित्य में अधिक प्रचलित है और हिन्दी में बहुत कम। हिन्दी आलोचना की पारिभाषिक शब्दावली के अनुसार "गद्य काव्य शब्द संस्कृत का है और वहाँ इसके अन्तर्गत कथा, वृत्त, आख्यायिका आदि को भी समाहित किया जाता है, परन्तु हिन्दी में प्रयुक्त गद्य काव्य शब्द एक निश्चित विधा का संकेत करता है। इस अर्थ में गद्य काव्य वह रचना है, जिसमें कविता जैसी संवेदनशीलता और रसात्मकता होती है। वैयक्तिक आत्मनिष्ठता, तीव्रभावात्मकता, अन्तर्निहित संगीत आदि इसके गुण हैं। फलस्वरूप उसका बाह्य रूप भी साधारण गद्य की अपेक्षा अधिक लययुक्त, अलंकृत और साधा हुआ होता है।" दिनकर का मानना है कि कल्पना, कोमल चिन्तन, रागपूर्ण और ओजस्वी अभिव्यंजना जो काव्य के तत्त्व हैं, गद्य में भी हो सकते हैं और होते भी हैं, किन्तु उन्हें हम काव्य नहीं कहते बल्कि एक उपसर्ग जोड़कर गद्य काव्य कहते हैं जिसका अभिप्राय यह है कि काव्यात्मक अभिव्यंजना से जिस गद्य की सुन्दरता बढ़ जाती है वह औसत गद्य से ऊपर उठ जाता है पर वह काव्य का पद नहीं पाता।

ऐसी ही एक अमूल्य कृति है— उजली आग, जो काव्य का रूप लेते लेते रह गई। कुछ आलोचक इसे बोध कथा संग्रह के रूप में देखते हैं। किन्तु दिनकर रचनावली के संपादक तरुण कुमार को इसे बोध कथा कहना अनुपयुक्त जान पड़ता है। उनके अनुसार "इसमें काल्पनिक कथा-कहानी का आश्रय लेकर, और कई बार यँ ही, दिनकर अपने अनेक प्रकार के जीवनानुभवों और रचनानुभवों को अत्यन्त कलात्मक रूप में और पूरी संक्षिप्तता एवं सटीकता के साथ व्यंजित करते हैं। अनावश्यक एक शब्द भी नहीं। इसे बोध कथा कहना नितान्त अनुपयुक्त जान पड़ता है। गद्य-काव्य कहे जाने में भी भ्रम की गुंजाइश नहीं है, सो बात नहीं। कई बार

एक खास तरह की गद्यमय संरचना को गद्य-काव्य कहा जाता है। अपने यहाँ आलंकारिक गद्य के लिए भी गद्य-काव्य जैसे पदबन्धों का इस्तेमाल किया जाता रहा है। यहाँ हम ‘उजली आग’ को गद्य-काव्य उक्त दोनों अर्थ से भिन्न अर्थ में कहना चाहते हैं- काव्यगंधी गद्य के अर्थ में।”²

काव्यगंधी गद्य कहने से कथा तत्त्व उपेक्षित हो जाता है। जबकि लेखक इसकी कथा को प्रमुखता से रेखांकित करता है। इस रचना के सन्दर्भ में लेखक ने स्वयं लिखा है कि “कोई दो वर्ष पूर्व मैंने अचानक ही थोड़ी कहानियाँ लिख डाली थीं। किन्तु शुद्धतः वे कहानियाँ नहीं हैं। उनका मूल आकर्षण दर्शन और कवित्व का आकर्षण है। हाँ, ढाँचा उन कहानी का अवश्य रखा गया है। असल में यह कथाएँ कविता, कहानी और दर्शन के तिमुहाने पर खड़ी हैं और उनके भीतर प्रायः उसी प्रकार का छिछला या गाढ़ा रस है जो रस हमें खलील जिब्रान की रचनाओं में मिलता है। ये कहानियाँ मैंने क्यों शुरू कीं, कुछ ठीक समझ में नहीं आता। साहित्य का सबसे अधिक केन्द्रित आनन्द काव्य में होता है और आनन्द का केन्द्रीकरण प्रबन्ध-काव्य से अधिक स्फुट कविताओं के समान है। किन्तु, कविता से कुछ नीचे जाती हैं। इधर हाल से, कविता की चढ़ाई मुझे बहुत कठिन दिखाई देने लगी है। जहाँ तक पहुँचने की क्षमता है, वहाँ डेरा डालकर पड़ा रहना पसन्द नहीं और ऊपर उठने में थकान महसूस होती है। ऐसी दशा में मन कभी-कभी कविता के घेरे से बहककर बाहर निकल जाता है और तब जो लकीरें बन जाती हैं, वे ही मेरी कहानियाँ हैं। पता नहीं पाठकों को ये कहानियाँ कैसी लगेंगी, किन्तु नाम उनका मैंने ‘उजली आग’ रखा है यानी वह आग जिसमें धुआँ नहीं होता, जिसमें ज्वालाएँ नहीं उठतीं, जो सुस्थिर अकंप अंगारों का पुंज है। आग और पानी का भेद मिटा दें तो यह ‘नील कुसुम’ के आमुख का ही प्रतिरूप है। ‘नील कुसुम’ में जो तत्त्व ‘आसिन का दर्पण सा जल’ है, कहानियों में उसी का नाम ‘उजली आग’ हो गया है।”³ दिनकर के वक्तव्य से स्पष्ट है कि यह रचना कविता, कहानी और दर्शन के तिमुहाने पर खड़ी है और कवित्व और दर्शन इसका आकर्षण है। कविता, कहानी और दर्शन का समन्वय ही इस रचना को बोधकथा के रूप में रेखांकित करती है।

इस गद्य-काव्य-संग्रह में कुल 38 कथाओं का संग्रह है। दिनकर रचनावली में इसे खण्ड 11 में संकलित किया गया है। इसकी भूमिका को संपादक ने परिशिष्ट में रखा है। अपने इस संग्रह की भूमिका में दिनकर ने मकड़ी और मधुमक्खी के बीच एक वार्ता कराई है। वार्ता कुछ इस प्रकार है--

मकड़ी ने मधुमक्खी से कहा, “हाँ, बहन ! शहद बनाना तो ठीक है, लेकिन, इसमें तुम्हारी क्या बड़ाई है ? बौरे हुए आम पर चढ़ो, तालाब में खिले हुए कमलों पर बैठो, काँटों से घिरी कलियों से भीख माँगो या फिर घास की पत्ती-पत्ती की खुशामद करती फिरो, तब कहीं एक बूँद तुम्हारे हाथ आती है। मगर, मुझे देखो। न कहीं जाना है न आना, जब चाहती हूँ जाली पर जाली बुन डालती हूँ। और मजा यह कि मुझे किसी से भी कुछ माँगना नहीं पड़ता। जो भी रचना करती हूँ, अपने दिमाग से करती हूँ, अपने भीतर संचित संपत्ति के बल पर करती हूँ। देखा है मुझे किसी ने किसी जुलाहे या मिलवाले से सूत माँगते ?

मधुमक्खी बोली, “सो तो ठीक है बहन ! मगर, कभी यह भी सोचा है कि तुम्हारी जाली फिजूल की चीज है, जब कि मेरा बनाया हुआ मधु मीठा और पथ्य होता है ?”⁴

मधुमक्खी और मकड़ी का यह छोटा-सा संवाद सृजन की सार्थकता पर बल देता है। दिनकर की स्पष्ट धारणा है कि “काव्य जीवन का हलका और महत्त्वहीन अंश नहीं है। मन की साध को वायु में विसर्जित कर देना, पागलों के समान माला गूँथकर फिर उसे छिन्न कर देना, अकारण रोना, अकारण गाना और अकारण चुप हो जाना, ये क्रियाएँ किसी हलके गायक की हो सकती हैं; किन्तु अगर कवि, जो संसार के मस्तक पर आसन जमाना चाहता है, ऐसे निरुद्देश्य काम करे तो उसकी महत्ता नष्ट हो जाएगी।”⁵

सार्थक उद्देश्य के बिना रचना करना व्यर्थ है। साथ ही बिना श्रम और समाज के अध्ययन के साहित्य की

रचना करना फिजूल है। रचना यदि मानव जीवन को कुछ नहीं देती तो वह बेकार है। अर्थात् कला जीवन के लिए होना उनकी दृष्टि में कला की प्राथमिक शर्त है। यह प्राथमिकता कुछ हद तक उन्हें उपदेशक की भूमिका में लाकर खड़ा कर देती है। यह उपदेशात्मकता उनकी कहानियों में स्पष्टता के साथ सामने आती है।

‘उजली आग’ संग्रह की पहली कहानी है- ‘आदमी का देवत्व’। एक प्रसिद्ध लोकोक्ति है- ‘कस्तूरी कुंडल बसे, मृग ढूँढत बन माहि’। इस कहानी में दिनकर ने इस लोकोक्ति को आधार बनाकर एक कथा की कल्पना की है। कहानी में मनुष्य का निर्माण हो चुका है। देवता मनुष्य की शक्ति से परिचित हैं। वे मनुष्य के दावे को अस्वीकार नहीं कर पाते कि वह भी देवता है। किन्तु देवता नहीं चाहते कि मनुष्य उनकी बराबरी करे। इस लिए मनुष्य का देवत्व चुराकर ले आते हैं जिसे ब्रह्मा छिपा देते हैं और देवताओं को आश्वस्त करते हैं कि “चिन्ता न करो। मैंने आदमी के देवत्व को एक ऐसी जगह पर छिपा दिया है, जहाँ उसे खोजने की बात आदमी को कभी सूझेगी ही नहीं। मैंने यह प्रकाश स्वयं उसी के हृदय में छिपा दिया है।”⁶

कबीर ने कहा है-

ज्यों तिल माहि तेल है, ज्यों चकमक में आग ।

तेरा साईं तुझ ही में है, जाग सके तो जाग ॥

दिनकर ने भी इस कहानी में मनुष्य को जगाने का प्रयास किया है। उन्होंने हालाँकि आगे कुछ नहीं लिखा लेकिन संकेत स्पष्ट है कि मनुष्य अपनी अन्तरात्मा की आवाज सुनकर देवत्व को प्राप्त कर सकता है। अन्तरात्मा की अन्तर्गुंज की ध्वनि उनकी एक और कहानी ‘गुफावासी’ में सुनाई पड़ती है। लेखक कहता है “मेरे हृदय के भीतर एक गुफा है और वह गुफा सूनी नहीं रहती। आरम्भ से ही देखता आ रहा हूँ कि उसमें एक व्यक्ति रहता है, जो बिलकुल मेरे ही समान है। और जब मैं उसके सामने जाता हूँ मेरी अक्ल गायब हो जाती है और मैं उसे यह कहकर बहला नहीं सकता कि मैंने छिपकर कोई पाप नहीं किया है और जो मलिन बातें हैं, उनके लिए मुझमें लोभ नहीं जागा है।”⁷

लेखक की स्पष्ट मान्यता है कि मनुष्य सबसे झूठ फरेब कर सकता है अपनी अन्तरात्मा से नहीं। मनुष्य की अन्तरात्मा निष्पाप है, किन्तु मनुष्य अपने कर्मों द्वारा उसका क्षरण करता है। गुफावासी कहता है “मैं तेरी वह मूर्ति हूँ, जो स्फटिक से बनायी गयी थी। किन्तु तू जो-जो सोचता है उसकी छाया मुझ पर पड़ती जाती है तू जो-जो करता है, उसका क्षरित रस मुझ पर जमता जाता है। और जन्म-जन्मान्तर में रस के इस क्षरण से और विचारों की इस छाया से मुझ पर परतें जम गयी हैं।”⁸ अन्तरात्मा की दुर्गति देख दिनकर का उपदेश मन बोल उठता है कि “इसलिए, अब ऐसा कर कि नयी परतें जमने न पायें और पुरानी परतें भी छूट जाएँ। क्योंकि स्वर्ग और नरक भले ही न हों, किन्तु, जन्म-जन्मान्तर की यह यात्रा स्वयं भारी विपत्ति है और परतों के बोझ को लेकर एक जन्म से दूसरे जन्म तक उड़ने में काफी मशक्कत पड़ जाती है।”⁹

संग्रह की दूसरी कहानी है- बीज बनने की राह। दो राहगीर किसी गाँव से होकर जा रहे होते हैं तभी अचानक गाँव में आग लग जाती है। एक राही भागकर पेड़ की छाया में बैठ जाता है जबकि दूसरा गाँव वालों को बचाने निकल जाता है। वह थोड़ा-बहुत जल जाता है। वापसी पर पहला राहगीर समझाता है कि दूसरों के लिए अपनी जान खतरे में डालते हो कहीं जल जाते तो? इसपर दूसरा राहगीर कहता है कि ‘तब तो मैं स्वयं बीज बन जाता।’ दिनकर की दृष्टि में यह बीज मनुष्यता का बीज है मनुष्य की वीरता का बीज है। इसे और समझने के लिए हम उनकी रश्मिरथी कविता की पंक्तियाँ देख सकते हैं-

सच है, विपत्ति जब आती है,

कायर को ही दहलाती है,

सूरमा नहीं विचलित होते,

क्षण एक नहीं धीरज खोते,
विघ्नों को गले लगाते हैं,
काँटों में राह बनाते हैं¹⁰

दिनकर की दृष्टि में मनुष्यता के विकास के लिए जो दूसरे अनिवार्य तत्त्व हैं, वे त्याग और समर्पण हैं। उनकी एक और कहानी है- ‘उजला हाथी और गेहूँ के खेत’। इस कहानी में भी दो भाइयों की कथा है। भारतीय मिथक में उजला हाथी हम ऐरावत को कहते हैं। यह समुद्र मंथन के समय देवताओं को प्राप्त हुआ था। दिनकर के अनुसार मनुष्य में जब त्याग और समर्पण होगा वह सफेद हाथी पर बैठकर भ्रमण करेगा।

दिनकर सबको उपदेश नहीं देना चाहते वे सिर्फ उसे ही उपदेश देते हैं जो पथभ्रष्ट हो गए हैं। उनकी कहानी है- दो ध्रुव। एक प्रसंग में ईसा मसीह अपने शिष्य मैथ्यू को समझाते हैं कि “मैथ्यू, जो राग में फँसा है, उसे विराग सिखलाओ। किन्तु, जो वैरागी हो चुका है, उसे रागों से अलग रहने का उपदेश तो निरर्थक उपदेश है।”¹¹

दिनकर की नारी दृष्टि प्रसाद की नारी दृष्टि “नारी तुम केवल श्रद्धा हो” से भिन्न है। दिनकर की दृष्टि में पुरुषत्व बड़ी चीज है। उनका यह पुरुषत्व प्रेम में भी दिखाई पड़ता है-

मर्त्य मानव की विजय का तूर्य हूँ मैं,
उर्वशी! अपने समय का सूर्य हूँ मैं

नदियों और समुद्र का मिलन साहित्य में प्रायः प्रेम के मिलन के रूप में व्यक्त होता है और प्रेम में अहम का नाश हो जाता है। लेकिन नारी की रुचि नामक कहानी में अहम का नाश नहीं होता बल्कि समुद्र का पुरुषत्व उभरकर सामने आता है। शिष्य को नदियाँ पावन दिखती हैं और समुद्र बेफिक्र पागल की तरह। शिष्य निवेदन करता है, “बड़ी बात तो है महाराज! अब यही देखिए कि जितनी नदियाँ हैं, वे सब की सब श्रद्धेय हैं, उनका रूप मनोहर और जल सुस्वादु है और उनके किनारों पर इतने फूल खिलते हैं, इतने पक्षी चहचहाते रहते हैं कि आदमी का जी वहाँ से हटने को नहीं चाहता। मगर नदियाँ हैं कि एक क्षण कहीं रुकने का नाम नहीं लेती, वे भागी जा रही हैं, भागी जा रही हैं। और किसकी तरफ को महाराज? उस समुद्र की तरफ को, जिसका रंग नीला और सारा शरीर लवण से तित्त है, जिसके मुँह से हर समय पागलों की तरह झाग चलता रहता है और जिसे यह फिक्र ही नहीं रहती कि कौन उससे मिलने को आ रहा है।”¹²

ऋषि का पुरुषत्व शिष्य द्वारा समुद्र की उपेक्षा स्वीकार नहीं करता इस लिए कह उठता है- “बेटा, समुद्र नर और नदियाँ नारी हैं। नारियों का स्वभाव है कि वे अपने प्रेमी का चुनाव, गुण देखकर करती हैं। समुद्र नीला और खारा भले ही हो, मगर वह गम्भीर है और बड़ा मर्यादावान भी। इसलिए वह न तो कभी घटता है और ना उसमें बाढ़ ही आती है। ऐसे सुगम्भीर मर्यादा-पुरुषोत्तम का आकर्षण भला कौन नारी रोक सकती हैं?”¹³

नर-नारी के इस भेद पर दिनकर कई स्तरों पर विचार करते हैं। ‘नर-नारी’ नामक कहानी में कई प्रश्नों से टकराते हैं। पहले ही वक्तव्य पर नारी के प्रति उनकी दृष्टि की झलक मिलती है। “आनन्द! मैंने जो धर्म चलाया था, वह पाँच सहस्र वर्ष तक चलने वाला था, किन्तु, अब वह केवल पाँच सौ वर्ष चलेगा, क्योंकि नारियों को मैंने भिक्षुणी होने का अधिकार दे दिया है।”¹⁴

कबीर ने नारी को महा विकार कहा लेकिन दिनकर का मानना है कि नारी सत् चित् और आनन्द में से आनन्द का प्रतीक है और उसमें आनन्द के अनेक रूप हैं।¹⁵ सम्भवतः इसी आनन्द की प्रतिष्ठा हेतु दिनकर ने उर्वशी की रचना की है। आनन्द की प्रतिष्ठा का उद्देश्य के कारण मुक्तिबोध को इसमें कुण्ठित और स्वार्थी किस्म का काम भाव दिखाई देता है जिसमें केवल बेडरूम के दृश्य हैं। उनके अनुसार “सच तो यह है कि लेखक को, सिर्फ एक बात छोड़कर, और कोई खास बात कहनी नहीं है। उसके पास कहने के लिए ज्यादा कुछ है ही नहीं। और जो कहना है वह यही कि कामात्मक अनुभवों के माध्यम से आध्यात्मिक प्रतीति सिद्ध

हो सकती है। किन्तु यह कहने के लिए उसने व्यापक आयोजन किया है, वह उसे पूरे समारोह के साथ अपना समय लेते हुए कहना चाहता है।”¹⁶

उर्वशी का समापन के सूत्र भी उनकी नर-नारी कहानी में दिख जाते हैं जब वे निष्कर्ष देते हैं कि मैं पुरुष हूँ तुम नारी हो; हमारी समस्या का समाधान मिलन नहीं, बिछोह है।¹⁷ ‘माया की रचना’ कहानी भी कमोबेश इस और ही इशारा करती है। ‘अर्धनारीश्वर’ कहानी में पुरुष स्त्री को बस एक काम करने की अनुमति देता है कि वह मर्दों की गर्मी और थकान को अधिक-से-अधिक उतार सके। दिनकर के अनुसार ब्रह्मा भी अर्धनारीश्वर का रूप नहीं गढ़ सकते।

इस संग्रह में ‘कवि’, ‘कलाकार’, कला और आचार’ तथा नूतन काव्य-शास्त्र आदि कुछ ऐसी कहानियाँ हैं, जिनमें लेखक के कविकर्म और कविता के प्रतिमानों को समझ सकते हैं। हम जानते हैं कि जिस समय दिनकर ये कहानियाँ लिख रहे थे वह समय प्रयोगवाद, प्रपद्यवाद और नई कविता का है। इस समय परंपरागत काव्य-प्रतिमानों के प्रति उपेक्षा का भाव था। हर कवि कुछ नया प्रयोग करना चाह रहा था। कविता को छन्द से मुक्त किया जा रहा था। दिनकर इस तथ्य को स्वीकार करते हुए लिखते हैं कि “तू नए युग का कवि है। यह कैसे सम्भव है कि तेरा काव्य-शास्त्र वह हो जिसकी रचना के समय तेरा युग समय के गर्भ में भी नहीं आया था?... जिसकी अज्ञात संकेतों पर तू पुराने नियमों को तोड़ रहा है और जिसके अज्ञात संकेतों पर तू चाक पर नए रूपों का निर्माण कर रहा है।”¹⁸ दिनकर नई कविता का जिस उत्साह के साथ स्वागत करते हैं वहीं उनकी चिन्ता भी गहरी होती जाती है। अकस्मात् ही प्रश्न कर बैठते हैं, “और तुझे ऐसा भी लगता है कि चलते-चलते तेरे मन का रथ अकस्मात् कहीं रुक गया हो?... और कभी ऐसा भी अनुभव होता है कि तेरी नाव जिस धारा में चल रही है उसका प्रवाह सीधा नहीं, बाधित और वक्र है?”¹⁹ दिनकर का मानना है कि युग की चुनौतियों का सामना कविता को अवश्य करना चाहिए, किन्तु कविता जिस विषय पर भी हो, उसे सबसे पहले कविता होना चाहिए।²⁰ दिनकर के लिए कविता छन्द है। वे लिखते हैं कि “जब मैं अपने युग में खड़ा होकर देखता हूँ, तब छन्द मुझे अनिवार्य-से लगते हैं। किन्तु, जब मैं तेरे पास होता हूँ, तब मुझे भी यह भाषित होने लगता है की छन्द, सचमुच ही, शायद, वह भूमि है, जिस पर कल्पना नृत्य का पहला पाठ सिखाती है।”²¹ यही कारण है कि दिनकर की एक लड़ाई गीत और छन्द बचाने की लड़ाई है। उनका यह प्रश्न भी जायज है कि “क्यों नहीं? लड़नेवाले लोग तो किसी के बचाव के लिए ही लड़ते हैं। तो क्या गीत वह चीज नहीं है, जिसकी रक्षा के लिए लड़ाई की जाए?”²²

लेखक जिस छन्द को बचाने के लिए लड़ रहा हो वह जब अपने भावों को छन्दों में बाँध नहीं पाता तो उसे कविता क्यों कहे? वह उसे गद्य-काव्य कहता है। लेकिन आज का कवि अपने हर गद्य लेखन को तोड़ मरोड़कर प्रस्तुत कर देता है और उसे कविता कहने से नहीं हिचकता। हम सब जानते हैं कि काव्य-वीणा के तार ही यदि टूटे हों, तो संगीत खण्डित होगा और खण्डित संगीत को बाँधने के लिए खण्डित छन्द ही मिलेंगे। ऐसे में वह संगीत मनभावन न होकर पीड़ादायक होगा। कविता इस पीड़ा से मुक्त रहे इसलिए दिनकर गीत की रक्षा हेतु लड़ाई करते हैं। किन्तु वह जानते हैं कि मनुष्य इतना अधीर हो गया है कि अपने अन्दर के उस प्रकाश-कुंज को देख ही नहीं पाता। वह अपने देवत्व को प्राप्त नहीं कर पाता। इस गद्य काव्य में दिनकर एक विचारक और उपदेशक के रूप में सामने आते हैं। वे जीवन और सृजन के सम्बन्ध में आध्यात्मिक रूप से सोचते हैं। उन तमाम प्रश्नों एवं सन्दर्भों पर काल्पनिक कथा रचकर विचार करते हैं, जिससे जीवन और सृजन को सुन्दर बनाया जा सके।

संदर्भ :

1. डॉ. अमरनाथ, हिन्दी आलोचना की पारिभाषिक शब्दवाली, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2012, पृ. 202

2. दिनकर रचनावली : खण्ड-11, नन्दकिशोर नवल एवं तरुण कुमार (सं.), लोकभारती पेपरबैक, प्रयागराज, 2021, पृ. 05, (भूमिका)
3. सारंग (आकाशवाणी के कार्यक्रम की पाक्षिक पत्रिका, वर्ष-20, अंक-10), मई, 1955, पृ. 04 (लेख- आगे क्या लिखना चाहता हूँ : रामधारी सिंह दिनकर)
4. दिनकर रचनावली : खण्ड-11, पृ. 509 परिशिष्ट, (भूमिका, उजली आग)
5. दिनकर रचनावली : खण्ड-7, पृ. 159
6. दिनकर रचनावली : खण्ड-11, पृ. 60
7. वही, पृ. 64
8. वही, पृ. 64
9. वही, पृ. 64
10. दिनकर रचनावली : खण्ड-5, पृ. 196
11. दिनकर रचनावली : खण्ड-11, पृ. 65
12. वही, पृ. 82
13. वही, पृ. 82
14. वही, पृ. 76
15. वही, पृ. 74
16. मुक्तिबोध रचनावली : खण्ड-5, नेमिचन्द्र जैन (सं), राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, पेपरबैक संस्करण, 1985, पृ. 468
17. दिनकर रचनावली : खण्ड-11, पृ. 77
18. वही, पृ. 88
19. वही, पृ. 89
20. वही, पृ. 89
21. वही, पृ. 91
22. वही, पृ. 102



अज्ञेय के संस्मरणों का विधागत वैशिष्ट्य

○ मुनिल कुमार वर्मा

अज्ञेय की 'स्मृति-लेखा' स्मृतियों का ही लेखांकन है। रचनाकार ने स्मृति के माध्यम से अपने श्रद्धेय साहित्यकारों के व्यक्तित्व के साथ-साथ उनके कृतित्व को भी उद्घाटित किया है। संस्मरण में चूंकि व्यक्तित्व का प्रक्षेपण अधिक महत्वपूर्ण होता है लेकिन अज्ञेय ने अपनी इस कृति में स्मर्यमाण व्यक्ति के व्यक्तित्व और कृतित्व दोनों को एक साथ जोड़कर देखा है और यहीं संस्मरण के विधागत वैशिष्ट्य का प्रश्न उलझ जाता है। विद्यानिवास मिश्र ने इसकी भूमिका में लिखा है, "इन लेखाओं को संस्मरण नहीं कहा जा सकता क्योंकि संस्मरण बिखरा होता है और ये सभी लेखाएँ संगठित हैं। इन्हें आलोचना या समीक्षा भी नहीं कह सकते क्योंकि भाई ने व्यक्ति और कृतिकार को जोड़कर इन्हें लिखा है।" वहीं दूसरी तरफ अज्ञेय ने लिखा है, "स्मृतिलेखा जैसे ग्रंथ के लिए किसी लेखकीय भूमिका की कोई आवश्यकता नहीं है। ...वह भी संयोगवश ही हो गया था : स्फुट रूप में छपे इन संस्मरणात्मक लेखों को पढ़कर विद्यानिवास मिश्र जी ने कुछ टिप्पणी की थी और उसी की प्रतिक्रिया मेरे मन में यही हुई थी कि क्यों न वह अपनी बात लिख डालें- मेरे लिए वह पुस्तक की एक उपयुक्त भूमिका हो जाएगी।" "स्मृति-लेखा' संस्मरण है या आलोचना, संस्मरणात्मक लेख है या कोई अन्य साहित्यिक विधा- यह एक विचारणीय प्रश्न है। यह विचारणीय इसलिए भी है क्योंकि भूमिकाकार ने इसे संस्मरण और आलोचना की परिसीमा से ऊपर उठाकर एक नये धरातल पर प्रतिष्ठित किया है लेकिन उन्होंने इसका नाम नहीं सुझाया है।

यह ध्यान देने योग्य तथ्य है कि एक तरफ स्मृतिलेखा के भूमिकाकार ने इसे न तो संस्मरण माना है और न ही आलोचना तो दूसरी ओर अज्ञेय ने इसके द्वितीय संस्करण की भूमिका में इसे संस्मरणात्मक लेख माना है। लेख में लेखक अपनी रुचि, प्रवृत्ति के आधार पर लिखित रूप में अपने विचार प्रकट करता है लेकिन स्मृति-लेखा में अज्ञेय जहाँ एक ओर स्मरणीय व्यक्तियों के साथ अपने आत्मीय लगाव, भावुकता का परिचय देते हुए उनके व्यक्तित्व की विशिष्टताओं को रेखांकित करते हैं वहीं दूसरी ओर उनके साहित्यिक अवदान को भी आलोचनात्मक दृष्टिकोण से उद्घाटित करते हैं। विद्यानिवास मिश्र की दृष्टि में अगर यह संस्मरण नहीं है तो इसलिए कि संस्मरण बिखरा होता है। संस्मरण के बिखरे होने का आशय यह है कि संस्मरण का कोई ओर-छोर नहीं होता। संस्मरण जिस व्यक्ति से संबंध होता है उससे जुड़े कई विचार, कई मुद्दे लेखक के सामने उपस्थित होते हैं। लेखक इन सभी मुद्दों और विचारों में से किसे केंद्रीय स्थान देता है और किसे हाशिए पर रखता है, यह स्वयं संस्मरणकार पर निर्भर करता है। संस्मरण में रचनाकार के रचनात्मक पहलू तो लेखक के समक्ष उपस्थित होते हैं लेकिन उन पहलुओं पर वह अपनी आलोचनात्मक टिप्पणी देने से कतराता है। इस प्रकार से संस्मरण में लेखन से इतर जो लेखक के वैयक्तिक, निजी या जीवन के परोक्ष सरोकार होते हैं, संस्मरणकार

की दृष्टि उन्हीं पर केंद्रित होती है। संस्मरण में प्रायः भावुकता का समावेश होता है लेकिन स्मृति-लेखा में अज्ञेय ने अपने समानधर्मा रचनाकारों के साथ सिर्फ भावात्मक संबंध का ही उल्लेख नहीं किया है बल्कि उन रचनाकारों पर आलोचनात्मक विवेक के साथ उसके रचनात्मक कर्म को भी उद्घाटित किया है। विद्यानिवास मिश्र ने उन सभी लेखों को संगठित इस अर्थ में कहा है कि लेखक ने जिन लोगों को संस्मरण का विषय बनाया है, उनसे संबंधित घटनाक्रम में एकतानता है। ऐसा नहीं है कि एक प्रसंग अभी का है तो दूसरा प्रसंग बहुत बाद का। अगर घटनाक्रम में दूरी है भी तो रचनाकार वर्षों के अंतराल को एक सूत्र द्वारा उसे कम करने की कोशिश करता है। रचनाकार ने अपनी संवेदना को वाक्य-विन्यास, भाषा, घटनाक्रम, विषय-वस्तु के चयन द्वारा मूर्त रूप प्रदान किया है। इसलिए यह शिल्प की दृष्टि से भी बहुत संगठित विधा है। विद्यानिवास मिश्र के अनुसार चूंकि इसमें लेखक ने स्मरणीय व्यक्ति के व्यक्तित्व और कृतित्व को साथ जोड़कर देखा है, इसलिए इसे आलोचना नहीं कहा जा सकता; जबकि स्मृतिलेखा में अज्ञेय की आलोचनात्मक दृष्टि की छाप स्पष्ट रूप से मौजूद है। स्मृति-लेखा सैद्धांतिक आलोचना की तरह ही रचना के मूल्यांकन की नीति व दिशा निर्धारित करती है। अज्ञेय इसमें अपनी साहित्यिक मान्यताओं के आधार पर स्मरणीय व्यक्ति के कृतित्व को परखते हैं जिससे उनके कई साहित्यिक मानदंड पाठकों के सामने खुल कर आते हैं। उदाहरणार्थ, रेणु से संबंधित संस्मरण में वे लिखते हैं, “श्रेष्ठ साहित्य परिचित को नया और पहचाने को अजनबी कर देता है। श्रेष्ठ साहित्य का एक लक्षण यह भी है कि वह वस्तु को निर्मम आँखों से देखता हुआ एक निर्मम कारुण्य के रस से अभिषिक्त भी करता चलता है : वास्तव कितना भी कठोर हो, सूखा नहीं होने पाता।”³ प्रेमचंद से संबंधित संस्मरण में वे कहते हैं, “जो साहित्यकार विपरीत परिस्थितियों में पूरे समाज की जाग्रत आत्मा का काम करता है वह उससे अच्छा, बड़ा, और अधिक विकासशील है जो कि अपने को एक योद्धा के रूप में देखता है।”⁴ अपनी साहित्यिक मान्यताओं के आधार पर स्मरणीय व्यक्ति के रचनात्मक पक्ष को परखने के कारण ही यह पुस्तक सैद्धांतिक आलोचना के समीप मालूम पड़ती है। चूंकि अज्ञेय स्मरणीय व्यक्तियों के समस्त साहित्य के संबंध में स्वतंत्र रूप से गुण-दोष का विवेचन, मूल प्रवृत्तियों और प्रेरणाओं का अन्वेषण या उद्घाटन करते हैं, इसलिए स्मृति-लेखा व्यावहारिक आलोचना के समीप भी ठहरती है। इसलिए स्मृति-लेखा को आलोचना कहने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए। चूंकि स्मृति-लेखा में स्मरणीय व्यक्ति के व्यक्तित्व को स्मृति के आधार पर घटनाओं और प्रसंगों के सहारे उद्घाटित करने की कोशिश की गई है, इसलिए इसमें संस्मरण की छाप भी मौजूद है। अतः स्पष्ट है कि स्मृति-लेखा में संस्मरण और आलोचना दोनों का संस्पर्श विद्यमान है। स्मृति-लेखा को ‘संस्मरणात्मक लेख’ नाम देने से इसकी आंतरिक प्रवृत्ति-आलोचना-अलक्षित ही रह जाती है। ‘आलोचनात्मक संस्मरण’ कहने से ये दोनों प्रवृत्तियाँ सह-अस्तित्व बनाये हुए इस कृति में मौजूद है। अतः स्मृति-लेखा के विधागत स्वरूप को अगर ‘आलोचनात्मक संस्मरण’ कहा जाय तो यह कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी।

स्मृति-लेखा में अज्ञेय ने जिन बारह व्यक्तियों को अपने संस्मरण का आधार बनाया है, उनमें सरोजिनी नायडू को छोड़कर सभी हिंदी साहित्यिक जगत से संबद्ध है। व्यक्ति और रचनाकार के बीच जो एक अदृश्य सूत्र होता है, उसे पहचानने और व्याख्यायित करने का प्रयास इन संस्मरणों में दिखाई देता है। इस स्तर पर ये संस्मरण संबद्ध रचनाकारों की जिंदगी के उन हिस्सों को सामने लाते हैं जो उनके रचना-संसार को समझने की पृष्ठभूमि तैयार करते हैं। ये सभी संस्मरण लेखक के बौद्धिक मिजाज से अछूते नहीं हैं। इस आधार पर यह कहा जा सकता है कि अज्ञेय की रचना-प्रक्रिया में बौद्धिकता की महत्वपूर्ण भूमिका रही है। अज्ञेय के अनुसार इन संस्मरणों का मूल लक्ष्य उस मूल्यवान् स्मृति को सुरक्षित रखना है जो हर वर्तमान को एक दिशा, पहचान और संस्कार देती है। दूसरे संस्करण की भूमिका में स्मृति-लेखा की मूल प्रेरणा की चर्चा करते हुए वे लिखते हैं- “हमारे साहित्यिक संवेदन का निर्माण करने वाले, संस्कार देने वाले और हमारी अस्मिता से पहचान कराने वाले

श्रद्धेय रचनाकारों की स्मृति को सुरक्षित रखना ही इन संस्मरणों की मूल प्रेरणा है।”⁵ इन संस्मरणों की सार्थकता विद्यानिवास मिश्र के इस कथन से भी स्पष्ट होती है- “स्मृति-लेखा ऐतिहासिक दस्तावेज नहीं है, पर स्मृति का विशिष्ट सर्जनात्मक उपयोग है, समकालीन साहित्य के इतिहास को एक नया चौखटा इस लेख से मिलता है और इस दृष्टि से यह इतिहास रचना को एक नया आयाम देगा। यह इसकी एक गौण उपलब्धि है। इसकी मुख्य उपलब्धि तो यह है कि लेखक, लेखक को कैसे देखता है- बस इस देखने को आप देखते रहें, आपकी आँखें नम हो जायेंगी।”⁶ अज्ञेय के व्यक्तित्व को पूर्णता और समग्रता प्रदान करने में इन श्रद्धेय रचनाकारों का भी योगदान रहा है। इन संस्मरणों के माध्यम से अज्ञेय की रचना-दृष्टि, परंपरा-बोध और उनकी सांस्कृतिक चेतना को भी समझा जा सकता है।

स्मृति-लेखा का पहला संस्मरण भारत-कोकिला सरोजिनी नायडू से संबंधित है। सरोजिनी नायडू का विद्रोही तेवर और उनकी हाजिर जवाबी का चित्रण करते हुए अज्ञेय कवि के संबंध में उनकी धारणा को भी निरूपित करते हैं, “वह क्या तुम्हारे मरथिल्ले से और बाल बढ़ाये हुए लोग आ जाते हैं और कहते हैं कि मैं कवि हूँ! स्वस्थ और सुरूप नहीं होगा तो कहाँ का कवि!” उनकी रचनाओं पर बात करते हुए अज्ञेय इस तथ्य को भी रेखांकित करते हैं कि भारतीय काव्य-दृष्टि से वे पूरी तरह परिचित थीं और उनके आरंभिक काव्य-संग्रह में पश्चिमी संवेदनाएँ और उनके अनुरूप भाव और बिम्बों की प्रमुखता थी। एडमंड गॉस की प्रेरणा से उन्होंने प्राचीन भारतीय संस्कृति और परंपराओं को अपना काव्य विषय बनाया। यह कवयित्री का भारतीय संस्कार ही थी कि उन्होंने अपनी कविता का शीर्षक उमर खैय्याम से लिया और ग्रामीण जन-जीवन को अपने काव्य का विषय बनाया। मैथिलीशरण गुप्त से संबंधित संस्मरण में लेखक प्रसंगों के माध्यम से उनके व्यक्तित्व को उभारता है। उनकी देशभक्ति की कविताएँ, साहित्य-विवेक और स्नेहभाजन की रक्षा अज्ञेय के व्यक्तित्व को गहरे रूप में प्रभावित किया है। ‘शेखर: एक जीवनी’ के प्रकाशन से साहित्यिक जगत में जो हलचल मची थी, अश्लीलता का जो आरोप इस उपन्यास पर लगाया गया था, लेखक उसके विवरण द्वारा गुप्त जी के व्यक्तित्व को उद्घाटित करता है। उनके साहित्यिक अवदान की चर्चा करते हुए अज्ञेय कहते हैं- “परंपरा को तोड़े बिना कैसे आधुनिक हुआ जा सकता है, इसका उदाहरण हिंदू से लेकर यशोधरा तक की उनकी काव्य-यात्रा प्रत्यक्ष दिखाती है- बल्कि वह यह भी दिखाती है कि परंपरा को तोड़े बिना कैसे उसे आप्त करते हुए उससे मुक्त हुआ जा सकता है।”⁸ गुप्त जी ने परंपरागत कविता के संस्कारों में बुनियादी परिवर्तन करते हुए उसे युग की आकांक्षा से जोड़ा। भारतीयता, देशभक्ति एवं पौराणिक आख्यानों के ढाँचे को सुरक्षित रखते हुए उनमें अपने वर्तमान की चिंताओं के समावेश द्वारा हिंदी कविता की नयी संभावनाओं का द्वार खोला। अज्ञेय ने लिखा है- “कैसे बिना परंपरा से नाता तोड़े, नये चिंतन को भी आत्मसात करते हुए युवतर पीढ़ी के लिए एक चुनौती बने रह सके-यह नये लेखक के लिए समझने की बात है।”⁹ गुप्त जी ने अपने युग की समस्याओं को नये साँचे में ढाल कर अपनी काव्य-भूमि तैयार की थी। ‘जयद्रथ वध’, ‘भारत-भारती’, ‘साकेत’, ‘यशोधरा’ आदि उनकी ऐसी ही काव्य-कृतियाँ हैं जिसमें उन्होंने पौराणिकता को आधार बनाकर अपने युग की समस्याओं को वाणी प्रदान की। इस संस्मरण में अज्ञेय ने गुप्त जी के व्यक्तित्व के अनेक पहलुओं पर प्रकाश डाला है लेकिन उनके व्यक्तित्व की जो विशेषता उन्हें चकित करती है, वह है- ठेठ किसानी सहजता और संस्कार के साथ-साथ मशीनों के प्रति उनका गहन आकर्षण। राय कृष्णदास से संबंधित संस्मरण में अज्ञेय भारतीय संस्कृति तथा कला के क्षेत्र में उनके योगदान की चर्चा करते हुए उन्हें बहुमुखी प्रतिभा का धनी बताया है। लेखक की दृष्टि में राय कृष्णदास सिर्फ चित्रकला, संगीत-कला या काव्य-कला के ही साधक नहीं थे बल्कि उनकी साधना जीवन की कला की साधना थी। भारतीय चित्रकला और भारतीय मूर्तिकला के क्षेत्र में उनके योगदान को रेखांकित करते हुए अज्ञेय इस बात को जोर देकर कहते हैं कि कला-समीक्षा में अगर भारतीय चिंतन का कुछ विकास आगे होगा

तो उन्हीं दिशाओं में बढ़कर जिन्हें राय कृष्णदास ने आलोचित किया है। राय कृष्णदास के व्यक्तित्व को अज्ञेय ने सिर्फ एक सूत्र वाक्य के द्वारा उद्घाटित करने का प्रयास किया है- “व्यक्तित्व और स्मृति का अभिन्न संबंध होता है; व्यक्तित्व के खंडित होने के साथ स्मृतिभ्रंश होता है और स्मृतिभ्रंश होने से व्यक्तित्व पंगु हो जाता है।”¹⁰ कला के प्रति उनकी निष्ठा, गद्य गीतों के विकास में उनका योगदान तथा विविध विषयों पर उनकी समग्र जानकारी राय कृष्णदास से संबंधित संस्मरण की मुख्य विशेषताएँ हैं।

प्रेमचंद से संबंधित संस्मरण में लेखक ने हिंदी कथा-साहित्य के विकास में उनके योगदान तथा उनकी औपन्यासिक चेतना पर विस्तार से विचार किया है। अज्ञेय मानते हैं कि प्रेमचंद ने साहित्य और साहित्यकार की जवाबदेही तय की। उन्होंने प्रेमचंद की इस मान्यता का भी उल्लेख किया है कि ‘साहित्यकार के लिए साधना का बहुत महत्व होता है।’ वे प्रेमचंद को डिकेंस, कैथरे और गाल्सवर्दी की परंपरा में रखते हुए उनके ‘नैतिक यथार्थवाद’ को रेखांकित करते हैं तथा यह स्थापना रखते हैं कि “प्रेमचंद के लिए साहित्य का बुनियादी मूल्य संघर्ष नहीं, संवेदना था; या उसे और सही नाम दें तो महाकरुणा था।”¹¹ उनकी दृष्टि में प्रेमचंद का साहित्य लोकतंत्र का, राष्ट्रीयता का तथा अपनी परिणति में साम्राज्यवाद के विरोध का साहित्य है। प्रेमचंद ने हिंदी उपन्यास की जो कर्मभूमि बदली और उसका जो कायाकल्प किया, उसके आधार पर अज्ञेय यह मानते हैं कि “प्रेमचंद पूरी तरह ‘आधुनिक’ शायद नहीं थे; उनकी रचनाओं में प्रचलित अथवा पारंपरिक, सामाजिक-राजनीतिक आचार, नैतिक मूल्यों का तिरस्कार और सदैव नयी कसौटियों की खोज की तड़प नहीं है, यद्यपि सामाजिक अन्याय की गहरी चेतना, उस अन्याय के प्रति उत्कट विरोध के साथ-साथ स्पष्टतर होती गई है।”¹² अज्ञेय का उपर्युक्त कथन प्रेमचंद के संदर्भ में सही ही है क्योंकि उनके उपन्यासों और कहानियों में प्राचीन मूल्यों का विरोध और फिर नये मूल्य की स्थापना नहीं दिखाई पड़ती। वे नारियों की पश्चिमी वेशभूषा का विरोध करते हैं। शायद यही कारण है कि ‘गोदान’ की मालती उन्हें अच्छी नहीं लगती जितनी गोविंदी का चरित्र आकर्षित करता है। होरी के चित्रण में भी वे आदर्शवाद का परिचय देते हैं। सामाजिक-धार्मिक शोषण के बावजूद वह कहीं भी मुखर रूप से विरोध नहीं कर पाता। यह प्रेमचंद की कमी भी है और उनकी सीमा भी। बावजूद इसके उनमें मानवीय संवेदना का दायरा काफी व्यापक है और यही मानवीय संवेदना अज्ञेय की दृष्टि में उनका मुख्य साहित्यिक अवदान है- “वह संवेदना जो अपने समय में कार्यक्षम होती हुई न भी दिखी तो भी समाज को लगातार बदलते रहने की एक न चुकने वाली, पुरानी न पड़ने वाली प्रेरणा देती रही है।”¹³ निराला से संबंधित संस्मरण ‘वसंत का अग्रदूत’ में लेखक ने निराला के व्यक्ति रूप और कवि रूप दोनों पर गंभीरतापूर्वक विचार किया है। इस संस्मरण में लेखक ने निराला की आतिथ्य भावना, उनके स्वभाव में अनिश्चित आक्रामकता तथा अपेक्षा, अभाव एवं दुख की पीड़ा में उनकी मानसिक स्थिति का चित्रण किया है। निराला की कविता ‘तुलसीदास’ से अज्ञेय खासे प्रभावित दीखते हैं क्योंकि इसमें सांस्कृतिक चेतना सर्जनात्मक रूप से अवतरित हुई है। अवसाद निराला की कविता की केंद्रीय भूमि है। यह अवसाद उनकी कविता ‘राम की शक्तिपूजा’, ‘सरोज-स्मृति’ में बहुत सघन रूप में मौजूद है। ‘वसंत का अग्रदूत’ के माध्यम से रचनाकार यह बताना चाहता है कि कवि के रूप में नयी रचनाशीलता की प्रेरणा और पथ-प्रदर्शक स्वयं निराला है। ‘स्नेह निर्भर बह गया है’ कविता में प्रतिदान और उपेक्षा दोनों ही भावों का सम्मिश्रण दिखाई पड़ता है। एक लम्बे समय तक निराला ने साहित्य की सेवा कर जो साहित्य-रत्न बाँटे हैं, लेखक उसकी ओर इशारा करता है तो दूसरी ओर साहित्यिक जगत में महत्वपूर्ण योगदान देने के बावजूद उनका जो सार्थक मूल्यांकन नहीं हो पाया है, उसी के कारण निराला में अवसाद का भाव है। निराला के व्यक्तित्व के भीतर कारुण्य की एक धारा जो हमेशा विद्यमान रही है, अज्ञेय ने उसे उनकी कविताओं के माध्यम से पहचानने की कोशिश की है। पंत से संबंधित संस्मरण ‘स्वर-सिद्ध’ में अज्ञेय ने उनके व्यक्तित्व पर प्रकाश डालते हुए मूल रूप से उनकी काव्य-भाषा और प्रकृति प्रेम को अपने

संस्मरण का आधार बनाया है। 'जग के उर्वर आंगन में बरसो ज्योतिर्मय जीवन' के माध्यम से अज्ञेय ने प्रकृति के साथ पंत के गहरे संबंध को निरूपित किया है, साथ ही साथ उनकी सूक्ष्म पर्यवेक्षण दृष्टि की ओर भी संकेत किया है। पंत के संबंध में अज्ञेय की मान्यता है कि शब्द ध्वनियों के प्रति जो सजगता पंत में मिलती है वैसी सजगता अन्यत्र किसी कवि में नहीं मिलती। वे लिखते हैं- "काव्य में शब्द-संगीत का आधार व्यंजन ध्वनियाँ नहीं बल्कि स्वर-ध्वनियाँ हैं, इसकी अचूक पहचान पंत जी को थी और आधुनिक हिंदी को यह उनकी बहुत बड़ी देन है कि उन्होंने अपने समकालीन और परवर्ती कवियों को स्वर-सौंदर्य की पहचान करा दी।"¹⁴

पंत की काव्य-यात्रा पर अगर गौर किया जाय तो यह स्पष्ट है कि वे अपने रचनाकाल के प्रारंभिक दौर से ही संगीतात्मकता के प्रति जागरूक दिखाई देते हैं। 'वीणा' से 'गुंजन' तक कवि ने स्वर-मैत्री को गेयता का मुख्य आधार बनाया है जिसमें तुकांतता का विशिष्ट योगदान है। पंत की गेयता का मुख्य आधार 'इकार', 'आकार' की स्वर-मैत्री है। इसी आधार पर अज्ञेय ने पंत को सच्चे अर्थों में 'स्वर-सिद्ध' कहा है। 'पल्लव' की भूमिका में भी पंत ने शब्द-संगीत के आधार में स्वर-ध्वनियों की ओर संकेत करते हुए लिखा है- "काव्य-संगीत के मूल तंतु स्वर हैं, न कि व्यंजन; जिस प्रकार सितार में राग का रूप प्रकट करने के लिए केवल 'स्वर के तार' पर ही कर संचालन किया जाता है और शेष तार केवल स्वर-पूर्ति के लिए, मुख्य तार को सहायता भर देने के लिए झंकारित किये जाते, उसी प्रकार कविता में भी भावना को रूप स्वरों के सम्मिश्रण, उनकी यथोचित मैत्री पर ही निर्भर रहता है;...।"¹⁵

स्मृतिलेखा का छठा संस्मरण होमवती देवी से संबंधित है। संस्कारित व्यक्तित्व वाले अज्ञेय ने होमवती देवी को स्मृति-लेखा में संकलित बारह स्मरणीय व्यक्तियों में स्थान देकर अपनी चयनधर्मिता के साथ-साथ हिंदी साहित्य में उनके योगदान को भी महत्व दिया है। प्रस्तुत संस्मरण में अज्ञेय ने उनके रचनात्मक लेखन पर भी बात की है लेकिन यहाँ उनका मुख्य उद्देश्य उनके व्यक्तित्व का उद्घाटन करना ही रहा है। अज्ञेय को लेखिका का शील-स्वभाव, उनका स्वाभिमान और पुराकालीन भारतीय आतिथ्य की भावना 'अतिथि देवो भव' बेहद आकर्षित करता है। उनके रचनात्मक वैशिष्ट्य को उजागर करते हुए अज्ञेय मानते हैं कि उनके स्वभाव में जो गुण निजी व्यवहार में प्रकट होते थे वही उनकी कहानियों में भी दिखाई पड़ते हैं। उनके व्यक्तित्व का विश्लेषण करते हुए अज्ञेय मूलतः इस बात को स्थापित करना चाहते हैं कि होमवती देवी भारतीय स्त्री की प्रतिनिधि चरित्र हैं। माखनलाल चतुर्वेदी से संबंधित संस्मरण में अज्ञेय ने उनके भाषागत संस्कारों को उनकी कविता के मूल्यांकन का विषय बनाया है। लेखक को उनकी कविता में जहाँ एक ओर सहजता, ओज और प्रवाहमयता निरंतर आकृष्ट करती है, वहीं दूसरी ओर उनकी भाषा में अनगढ़पन लेखक को खटकती है। अज्ञेय ने उनके व्यक्तित्व को निरूपित करते हुए लिखा है- "आजाद आदमी वही होता है जिसका व्यक्तित्व अखंड होता है: विखंडित व्यक्तित्व का आदमी आजाद नहीं हो सकता।"¹⁶ इस अखंड व्यक्तित्व से उनका तात्पर्य यह है कि एक ओर तो वे राजनीतिक संघर्ष के प्रति समर्पित थे तो दूसरी ओर उसी समर्पण से साहित्य-साधना में भी लगे हुए थे। स्वाधीनता आंदोलन के सिपाही होने के नाते उनकी पूरी प्रतिबद्धता राजनीतिक स्वतंत्रता के प्रति हैं लेकिन साहित्यकार होने के नाते वे अपने कवि-कर्म के साथ अन्याय नहीं करते। फणीश्वरनाथ रेणु से संबंधित संस्मरण 'धरती का धनी' में अज्ञेय ने तीन अलग-अलग स्मृति-खंडों के माध्यम से रेणु के व्यक्तित्व को उजागर करने का प्रयास किया है। 'अब भला पूछिए, ऐसे में कोई अस्पताल की खाट पर पड़ा रह सकता?'- पंक्ति तीनों स्मृति-खंडों के अंत में टेक की तरह आती है। रेणु के साहित्य कर्म पर बात करते हुए अज्ञेय यह मानते हैं कि 'मैला-आँचल और परती परिकथा ने उपन्यास के विकास को एक नयी परंपरा में डाल दिया है।' रेणु के यहाँ पात्रों की जो 'टाईपोलॉजी' है, वह अन्यत्र लेखकों में नहीं मिलती। यहाँ तक कि 'उपन्यास-सम्राट' प्रेमचंद के साहित्य में भी नहीं। इन पात्रों में मिरदंगिया पचकौड़ी है, 'तीसरी कसम' का हीरामन, 'लाल पान की बेगम'

की बिरजू की माँ है। ये सभी पात्र रेणु की कहानियों में सजीव और व्यक्तित्व संपन्न होकर उभरते हैं। शायद यही कारण है कि इन पात्रों के वैविध्य को देखकर अज्ञेय में कभी-कभी ईर्ष्या या प्रतिस्पर्धा का भाव आ जाता है। अज्ञेय ने रेणु के संदर्भ में लिखा है, “उपन्यासकार की शक्ति की एक माप यह भी है, उसने कितने स्मरणीय चरित्र हमें दिये हैं।”¹³ इस लिहाज से अगर देखा जाय तो ‘मैला-आँचल’ का बावनदास, ‘तीसरी कसम’ का गाड़ीवान हीरामन, ‘संवदिया’ कहानी का नायक, ‘नैना जोगिन’ कहानी की नायिका आदि हिंदी पाठकों के मन में रच-बस गये हैं। रेणु के साहित्य के संदर्भ में अज्ञेय की यह मान्यता ध्यातव्य है, “श्रेष्ठ साहित्य परिचित को नया और पहचाने को अजनबी कर देता है। श्रेष्ठ साहित्य का लक्षण यह भी है कि वह वस्तु को निर्मम आँखों से देखता हुआ एक निर्मल कारुण्य के रस से अभिषिक्त भी करता चलता है; वास्तव कितना भी कठोर हो, सूखा नहीं होने पाता।”¹⁸ अज्ञेय की यह साहित्यिक मान्यता रेणु के पूरे कथा-साहित्य में व्याप्त है। सामाजिक बुराईयों, कुरीतियों का यथार्थवादी उद्घाटन करने के बावजूद ग्रामीण मनुष्य का भोलापन, उसकी सहजता और बेपनाह कारुण्य रेणु की कथा-सृष्टियों में दिखाई पड़ता है।

दिनकर से संबंधित संस्मरण में अज्ञेय ने मूलतः मैथिलीशरण गुप्त और दिनकर की काव्य-संवेदना की पड़ताल करते हुए दो विभिन्न युगों में दो भिन्न-भिन्न प्रकृति के कवियों को एक ही पद-‘राष्ट्रकवि’ दिये जाने के औचित्य पर विचार किया है। दिनकर के रचनात्मक पक्ष पर बात करते हुए लेखक यह मानता है कि उनकी कविताओं का अंग्रेजी अनुवाद बहुत ही दुष्कर कार्य है। उत्तर-छायावादी कवियों में दिनकर को प्रमुख कवि मानते हुए अज्ञेय यह मानते हैं कि उनकी कविताएँ पुराने और नये के बीच एक सेतुबंध था। दिनकर के संबंध में वे लिखते हैं- “उनकी राष्ट्रीय चेतना और व्यापक सांस्कृतिक दृष्टि (भले ही उस पर समकालीन राजनीतिक हित-चिंतन की छाप थी), उनकी वाणी का ओज और काव्य-भाषा के तत्वों पर बल, उनका सात्विक मूल्यों का आग्रह उन्हें पारंपरिक रीति से जोड़े रखता था; दूसरी ओर परिवर्तन के लिए उनका अधैर्य, बुराईयों के प्रति उनका आक्रोश और-हाँ, जीवन की नियामतों के प्रति उनका प्रबल आकर्षण-उन्हें नयी रीति से जोड़ता था।”¹⁹ हजारीप्रसाद द्विवेदी से संबंधित संस्मरण ‘बीसवीं सदी का बाणभट्ट’ में अज्ञेय द्विवेदी जी के व्यक्तित्व की पड़ताल करते हुए यह माना है कि उनके व्यक्तित्व में आचार्यत्व और सहजता का दूरलभ संयोग था। लेखक की दृष्टि में काशी विश्वविद्यालय की अपेक्षा शांति निकेतन द्विवेदी जी के लिए सांस्कृतिक रचनात्मक प्रेरणाभूमि रही है। इसी रचनात्मक प्रेरणा भूमि पर द्विवेदी जी ने ‘अशोक के फूल’, ‘बाणभट्ट की आत्मकथा’, ‘प्राचीन भारत के कला-विनोद’ की रचना की जिसमें भारत का सांस्कृतिक इतिहास समाया है। ललित निबंधों के संदर्भ में अज्ञेय ने द्विवेदी जी की इस मान्यता को स्पष्ट किया है- “मैं लोगों को जानकारी देना चाहता हूँ, अतीत के भंडार की तरह-तरह की जानकारी-और उसे रोचक रूप में प्रस्तुत करना चाहता हूँ।”²⁰ तभी तो द्विवेदी जी अपने निबंधों के द्वारा भारत के सांस्कृतिक इतिहास की पुनर्रचना करते हैं। उस काल की सामाजिक संरचना, संस्कृति और आचार-विचार को उद्घाटित करते हैं। उनके उपन्यासों के संदर्भ में भी यही बातें लागू होती हैं। वनस्पतियों के प्रति द्विवेदी जी की अगाध रुचि, उनका वैष्णव स्वभाव और उनकी रचनात्मकता को अज्ञेय ने इस संस्मरण का विषय बनाया है। बालकृष्ण शर्मा ‘नवीन’ से संबंधित संस्मरण में लेखक उनके व्यक्तित्व की विशिष्टताओं को उजागर करने के लिए सरोजिनी नायडू की कवि के प्रति मान्यता ‘ए पोएट मस्ट बी ए रेबेल’ का सहारा लेता है। कविता और जीवन के प्रति उनकी मान्यताओं का उल्लेख करते हुए अज्ञेय लिखते हैं - “कविता राजनीति का बाईप्रोडक्ट नहीं है, जीवन का है- असल चीज है जीवन। राजनीति भी तो उसी में से निकलती है।”²¹ ‘नवीन’ जी की काव्यभाषा पर बात करते हुए अज्ञेय की काव्यभाषा संबंधी मान्यताएँ इस संस्मरण में मुखरित हुई हैं। शब्दों के प्रति अज्ञेय की मान्यता है- “हर शब्द का अपना संस्कार होता है, कोई संज्ञा केवल अपना एक चालू अथवा कोशगत अर्थ लेकर नहीं आती, बल्कि अपने साथ एक पूरा इतिहास, एक

परिवेश, एक सांस्कृतिक अनुगूँज लेकर आती है।”²² संदर्भ :

उनकी कविताएँ भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन का काव्यमय इतिहास प्रस्तुत करती हैं। उदाहरणार्थ—उनकी कविता ‘पराजय-गान’ को लिया जा सकता है जिसमें उन्होंने चौरी-चौरी घटना के बाद गांधीजी द्वारा सत्याग्रह वापस लेने के बाद भारतीय जनता की निराशा को प्रतिबिंबित किया है। अज्ञेय ‘नवीन’ के व्यक्तित्व को धीरोदात्त नायक के रूप में पाते हैं जो ट्रेजिडी की संभावनाओं से भरा हुआ है। वे लिखते हैं— “परम वैष्णव, चरम साहसी, अत्यंत भावुक, वज्रादपि कठोर (और निश्चय ही कुसुमादपि मृदु); सदैव एक फक्कड़ हंसी लिए हुए, लेकिन ट्रेजिडी की संभावनाओं से भरा हुआ...कुछ चरित्र ऐसे होते हैं कि काव्य में उतारे जाने पर अतिरंजित जान पड़ें, लेकिन प्रत्यक्ष जीवन में न केवल अतिरंजित नहीं लगते, बल्कि मानवीय सहजता को इतने उज्ज्वल रूप में हमारे समक्ष रख जाते हैं कि मानवता में हमारा विश्वास फिर नया हो आता है...और उनका जीवनाग्रह मुनष्य को अपने निकेतन में प्रतिष्ठित करना और उसके लिए अमृत सुलभ कर देना ही रहा. ...।”²³

स्मृति-लेखा पर विचार करने के बाद यह ध्यातव्य है कि अज्ञेय जहाँ एक ओर अपने श्रद्धेय साहित्यकारों के साथ संबंधों के उद्घाटन में आत्मीयता, भावुकता और सहजता का सहारा लेते हैं वहीं दूसरी ओर उनके समस्त रचनात्मक कर्म पर टिप्पणी देते चलते हैं। इस तरह स्मृति-लेखा में जहाँ एक ओर संस्मरण की छाप मौजूद है वहीं दूसरी ओर इसमें आलोचना का संस्पर्श भी विद्यमान है। अगर अज्ञेय की साहित्यिक मान्यताएँ किसी कृति के मूल्यांकन का मानक तय करती है तो हम इसे आलोचना मानने से परहेज क्यों करें? और वह भी सिर्फ इसलिए कि लेखक ने वर्णित व्यक्तियों के व्यक्तित्व और उनके कृतित्व को एक साथ जोड़कर देखा है। संस्मरण और आलोचना इन दोनों के मेल से स्मृति-लेखा का विधागत स्वरूप निर्मित हुआ है। अज्ञेय की ‘स्मृति-लेखा’ इन साहित्यकारों को एक सच्ची श्रद्धांजलि देने का ही सार्थक प्रयास है।

1. स्मृति-लेखा, अज्ञेय, नेशनल पेपरबैक्स, नई दिल्ली, छठा संस्करण, भूमिका से उद्धृत, पृ. 07
2. वही, पृ. 05
3. वही, पृ. 110
4. वही, पृ. 52
5. वही।
6. वही, पृ. 12
7. वही, पृ. 05
8. वही, पृ. 21
9. वही, पृ. 33
10. वही, पृ. 33
11. वही, पृ. 35
12. वही, पृ. 53
13. वही, पृ. 56
14. वही, पृ. 58
15. वही, पृ. 78
16. पल्लव की भूमिका, पंत
17. स्मृति लेखा, अज्ञेय, पृ. 96
18. वही, पृ. 109
19. वही, पृ. 110
20. वही, पृ. 123
21. वही, पृ. 130
22. वही, पृ. 138
23. वही, पृ. 142



भारतीय कथा परंपरा का वैशिष्ट्य और प्रेमचंद का कथा साहित्य

○ मोहन कुमार

विश्व के प्रत्येक देश में वहाँ की क्षेत्रीय और स्थानीय विशेषताओं, भाषा, संस्कृति, इतिहास और रीति-रिवाज के अनुसार कथा की परंपरा रही है। कथा की इस परंपरा का संबंध उस स्थान और क्षेत्र विशेष में मानव जीवन के विकास और विस्तार तथा उसकी प्रगति से संबंधित रहा है। प्राचीन ग्रीक और रोमन कथाओं के विपुल उदाहरण इसके प्रमाण हैं। कथा परंपरा के दृष्टिकोण से भारतीय समाज बहुत ही समृद्ध और विशिष्ट रहा है। भारत में कथा की एक अति प्राचीन परंपरा उपस्थित रही है। जिज्ञासा और कुतूहल की वृत्तियों से कथा का जन्म होता है और उसमें मानव का आदिम अवचेतन मन और उनके पुरखों का इतिहास बोलता है। संस्कृत के अलंकार ग्रंथों में गद्य काव्य को सर्वप्रथम एक कहानी या उपन्यास के रूप में मानते हुए उसके लक्षण और दो भेद बताए गए हैं। एक 'कथा' और दूसरी 'आख्यायिका'। आगे कथा और आख्यायिका को परिभाषित करते हुए कहा गया है कि 'एक का वक्ता स्वयं नायक होगा और दूसरी का वक्ता नायक भी हो सकता है, और कोई और भी हो सकता है।' आगे दंडी ने कथा और आख्यायिका में भेद न मानते हुए दोनों को एक ही जाति की अलग-अलग नाम वाली चीज बताया। लेकिन कथा और आख्यायिका नाम से प्रसिद्ध ग्रंथों के आधार पर यह कहा जाता है कि "कथा की कहानी कल्पित हुआ करती थी और आख्यायिका की ऐतिहासिक।"² इस आधार पर कादंबरी को कथा और हर्षचरित को आख्यायिका कहा जाता है। भारत में कथा परंपरा के निर्माण और विकास में रामायण, महाभारत और बृहत्कथा की महत्वपूर्ण भूमिका दिखाई पड़ती है। "रामायण, महाभारत और बृहत्कथा ये तीन ग्रंथ समस्त संस्कृत काव्य, नाटक, कथा, आख्यायिका और चंपू के मूल उत्स हैं।"³

भारतीय समाज में जो कथा परंपरा हमको दिखाई पड़ती है उसकी अनिवार्य विशेषता यह है कि भारतीय कथा परंपरा का उत्स लोक रहा है। यानी भारतीय कथा परंपरा अपने उद्भव के समय से ही लोक से जुड़ी रही है। और इस लोक के सहारे ही वह आगे अपना विकास और विस्तार करते हुए अपने भविष्य को निर्मित करती है। लोक से जुड़े होने के कारण भारतीय कथा परंपरा में हितोपदेश और पंचतंत्र जैसी रचनाओं की उपस्थिति, कारण और महत्व को समझा जा सकता है। लोक मनुष्य के साथ-साथ पशु पक्षी पेड़ पौधे और समस्त जीव-जंतुओं को जीवन व्यवस्था के लिए आवश्यक मानते हुए उसके महत्व और संरक्षण की पक्षधरता करता है। लोक का संबंध अनिवार्यतः प्रकृति से है। प्रकृति और लोक एक दूसरे के साथ अंतःसंबंधित है। इन्हें अलग-अलग करके देखना दोनों को कमजोर करने के समान है। विक्रमादित्य और कालिदास की कहानियाँ भारतीय लोक जीवन का अविच्छेद्य अंग बन गई हैं। इसलिए प्राचीन भारतीय कथा परंपरा में प्रकृति की उपस्थिति भी हमें सहज ढंग से दिखाई पड़ती है। हमारी प्राचीन कथाओं का आरंभ जंगल, नदी, पहाड़, पर्वत, गुफा, पेड़, चिड़िया, मछली और विभिन्न तरह के जानवरों के जिक्र से शुरू होती है। भारतीय समाज में विभिन्न प्रकार के पर्व-त्योहारों और रीति-रिवाजों के अवसर पर विभिन्न प्रकार के कथाओं के कहने और सुनने की परंपरा आज तक चली आ रही है। सत्यनारायण व्रत कथा, नैना जोगिन की कथा, वट सावित्री कथा, मधुश्रावणी कथा आदि भारतीय लोक और समाज में आज भी कहे सुने जा रहे हैं, उनकी उपस्थिति आज भी कायम है।

यह भारतीय कथा परंपरा की समृद्धि और शक्ति ही कही जाएगी कि “किसी-किसी यूरोपीय पंडित की धारणा है कि सारे संसार में भारतवर्ष से ही कहानियां गई हैं।”⁴

भारत में विकसित कथा परंपरा की दूसरी विशेषता यह है कि भारतीय कथा परंपरा स्त्री प्रधान रही है। अर्थात् कथा की विषय वस्तु के आधार पर भी हमारी कथाएँ अधिकतर स्त्रियों से संबंधित रही हैं। हमारी प्राचीन कथाओं में आने वाली परियाँ स्त्रियाँ रही हैं। राजा के साथ रानी का जिक्र होना अनिवार्य-सा है। रूप बदलने और विभिन्न तरह के चमत्कारिक करतब और कलाबाजी दिखाने वाले पात्रों में भी स्त्रियों की प्रधानता दिखाई पड़ती है।

भारतीय कथाएँ आरंभ से ही सत्य और नैतिकता की पक्षधर रही हैं। भारत में कथा परंपरा के विकास के स्वभाव को भारतीय संस्कृति की मूल आध्यात्मिक प्रवृत्ति के साथ जोड़कर देखने पर हम भारत की कथा परंपरा में सत्य, नैतिकता और धर्म के विजय की प्रवृत्ति को सहज ढंग से समझ सकते हैं। रामायण और महाभारत जैसे महान ग्रंथों की विभिन्न कथाओं के भीतर भी हम इस तथ्य को लक्षित कर सकते हैं।

आगे चलकर भारतीय कथा परंपरा में वीरता, शौर्य और मातृभूमि के प्रति प्रेम और बलिदान की भावना का भी समावेश हुआ। ‘जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी’ से लेकर गोरा-बादल जैसे वीरों के कथाओं की एक परंपरा भारत के कथा परंपरा की अद्वितीय विशेषता है।

भारतीय कथा परंपरा का संबंध गीत और संगीत से भी रहा है। इनके माध्यम से त्याग और बलिदान करने वाले चरित्रों का कीर्तिगान सदियों से भारतीय समाज में होता आ रहा है। गोपीचंद आदि के गीत इसके उदाहरण हैं।

इसके अतिरिक्त भारतीय कथा परंपरा सामूहिकता और एकता की भावना, प्राणी मात्र की स्वाधीनता और कल्याण की कामना, शक्ति, साहस और संकल्प की प्रेरणा तथा मनुष्य को समाज और विश्व के कल्याण के लिए तत्पर और संघर्ष करने वाले नायक के रूप में देखने और प्रतिष्ठित करने का पक्षधर रहा है। भारतीय कथा परंपरा के इन विशेषताओं के आधार पर प्रेमचंद के कथा-साहित्य का अध्ययन करने पर ज्ञात होता है कि प्रेमचंद को भारतीय कथा परंपरा के मूल स्वभाव और प्रकृति का संपूर्ण ज्ञान था। यही कारण है कि अपने लगभग 300 कहानियों और गोदान, रंगभूमि, प्रेम आश्रम, गबन, कायाकल्प, कर्मभूमि जैसे महत्वपूर्ण उपन्यासों के माध्यम से प्रेमचंद ने हिंदी कथा परंपरा को प्रौढ़ता और उच्चता के शिखर पर स्थापित किया। अपनी कहानियों के कथा और शिल्प के माध्यम से भारत के बहुसंख्यक गरीब, मजदूर, लाचार और बेबस जनता के दुख-दर्द को स्वर देने वाले हिंदी के महान कथाकार कथा सम्राट मुंशी प्रेमचंद का जन्म 31 जुलाई 1880 ई. को बनारस के लमही में हुआ था। उनका मूल नाम धनपतराय था। उन्होंने नवाबराय और प्रेमचंद के नाम से रचनाएँ कीं। उनका जीवन काफी संघर्षपूर्ण और उतार-चढ़ाव से भरा था। लोक जीवन की बहुत ही गहरी समझ उनके पास थी। उनकी कहानियों में मौजूद मार्मिकता, आदर्श और दार्शनिक भाव का यह मूल कारण है। प्रेमचंद निस्संदेह हिन्दी कथा साहित्य के सर्वश्रेष्ठ लेखक हैं। भारतीय जनमानस के मन-मस्तिष्क में उनकी कहानियों का जादू आज भी पहले की तरह ही बरकरार है। हिन्दुस्तानी समाज की कितनी ही पीढ़ियाँ प्रेमचंद की कहानियों को पढ़ते हुए बड़ी हुई हैं और यह क्रम आज भी जारी है। एक तरफ जहाँ उनकी कहानियाँ मनुष्य में शिक्षा और संस्कार के भाव को जागृत करती हैं वहीं दूसरी तरफ उनकी कहानियाँ प्रतिकूल परिस्थिति में जीवन के प्रति अनंत विश्वास और सद्आचरण की प्रेरणा भी प्रदान करती हैं।

प्रेमचंद के साहित्य में सामाजिक सांस्कृतिक चिंतन के जो विभिन्न आयाम दिखाई पड़ते हैं उनमें प्रमुख हैं- भारत की समाजिक व्यवस्था की स्थिरता का मूल आधार संयुक्त परिवार के टूटने की चिंता, गांवों में हो रहे तेज परिवर्तन और गांव के खत्म होने की चिंता, नैतिक रूप से आदर्श युवा पीढ़ी के निर्माण की चिंता, स्त्रियों की शिक्षा और आर्थिक स्वनिर्भरता की पक्षधरता, स्वाधीनता प्राप्ति के लिए आजादी के आन्दोलन को

जारी रखने और देश की बहुसंख्यक जनता को उससे जोड़ने का प्रयास और सत्य, अहिंसा, न्याय और समता आधारित समाज और राष्ट्र के निर्माण का संकल्प आदि। प्रेमचंद की तीन सौ से अधिक कहानियाँ मानसरोवर के आठ खंडों में संकलित हैं। कहानी कला के दृष्टिकोण से उनकी सभी कहानियाँ बेजोड़ हैं। सत्य की पक्षधरता, शिक्षा और संस्कार के भाव, उच्च सामाजिक चिंतन, संयुक्त परिवार के टूटने की पीड़ा, स्वाधीनता प्राप्ति का भाव, नैतिकता से पूर्ण और सद् आचरण करने वाली युवा पीढ़ी के निर्माण का ध्येय, स्वाधीनता आन्दोलन से आम जनता को जोड़ने का प्रयास, परतंत्र ग्रामीण भारत के समस्याओं की चिंता आदि विशेषताएँ उनकी कहानियों में सहजता से लक्षित होती हैं। थोड़ी गंभीरता से विचार करने पर हम पाएँगे कि प्रेमचंद की कहानियों में पाई जाने वाली ये वही विशेषताएँ हैं जिनको केंद्र में रखकर भारत में कथा परंपरा का उद्भव और विकास हुआ।

प्रेमचंद के कथालोक का आधार है हिन्दुस्तानी समाज और यहाँ का जनमानस। वास्तव में हिन्दुस्तानी समाज और यहाँ के जनमानस की प्रवृत्तियों और मनोवृत्तियों की जितनी गहरी समझ और परख प्रेमचंद को थी वह हिन्दी क्या किसी भी अन्य भारतीय भाषा के कथाकारों के यहाँ दुर्लभ है। इसके साथ ही एक दूसरी विशेषता जो प्रेमचंद की कहानियों को खास बनाती है, वह है स्वयं प्रेमचंद का निजी जीवनानुभव। उनका स्वयं का जीवन यानी बालक धनपतराय से कथा सम्राट मुंशी प्रेमचंद तक का सफर अपने आप में ही किसी महागाथा से कम नहीं है। ऐसा लगता है कि उन्होंने अपनी कहानियों में अपने जीवन का सर्वस्व निचोड़ प्रस्तुत किया है। यही कारण है कि प्रगतिशील लेखक संघ के अध्यक्षीय वक्तव्य में उन्होंने साहित्य को 'जीवन की आलोचना' के रूप में अभिव्यक्त किया। दरअसल प्रेमचंद एक ऐसे रचनाकार थे जिनका उद्देश्य केवल कहानियाँ लिखना ही नहीं था। वे एक तरफ अपने समय और समाज की विसंगतियों और विद्रूपताओं को बयाँ कर रहे थे तो दूसरी तरफ भविष्य का समाज कैसा हो, इसकी चिंता करते हुए उसका मार्ग तलाश रहे थे।

मुंशी प्रेमचंद की कहानियों में हिन्दुस्तान की सामाजिक-सांस्कृतिक उन्नति की व्यापक चेतना के विविध आयाम निहित हैं। उनका स्पष्ट मानना था कि हमारे गांव-देहात में ही हिन्दुस्तान का प्राण बसता है। इसलिए न सिर्फ कहानियाँ बल्कि उनके उपन्यासों में भी गांवों के खत्म होने और शहर में बदल जाने से बचाने की चिंता व्याप्त है। गांव-देहात के साथ ही संयुक्त परिवार के टूटने की चिंता भी उनकी कहानियों में प्रमुखता से दर्ज है। गांव और संयुक्त परिवार को हिन्दुस्तानी समाज की मजबूती का आधार बताते हुए प्रेमचंद ने उसे बचाने और बनाये रखने की पुरजोर कोशिश अपनी कहानियों की है। मगर अफसोस कि वर्तमान समय में हिन्दुस्तानी समाज में इन दोनों की ही स्थिति बेहद खराब है। आजादी के बाद कट्टर राजनीतिक चेतना के उभार और आधुनिकता के अंधे दौड़ के कारण हिन्दुस्तानी समाज के दो मजबूत आधार स्तंभों गांव और संयुक्त परिवार की चिंता करने वाला, उसकी जरूरत और उपयोगिता बताने वाला प्रेमचंद के जैसा कोई दूसरा महत्वपूर्ण कथाकार कम ही देखने को मिले।

वर्तमान समय दुनियाभर के लिए संकट और चुनौतियों से भरा है। बढ़ती आबादी, प्रदूषण में हो रही बेतहाशा वृद्धि, महामारी के प्रकोप के कारण मानव जाति त्रस्त है। प्रेमचंद एक कालजयी रचनाकार हैं। उनकी कहानियाँ इस संकट के समय में पूरी दुनिया और मानव जाति को आगे बढ़ने का मार्ग बता सकती हैं। आज दुनिया को उन सद् गुणों से सम्पन्न व्यक्तियों की जरूरत है जिनकी जरूरत प्रेमचंद अपने पात्रों के माध्यम से भविष्य के लिए बताते रहे। 'परीक्षा' कहानी में रियासत के लिए पंडित जानकीनाथ सा दीवान मिलने पर सरदार सुजानसिंह का भरे दरबार में यह कथन कि, "आप लोगों को यह स्वीकार करने में कोई आपत्ति न होगी कि जो पुरुष स्वयं जख्मी होकर भी एक गरीब किसान की भरी हुई गाड़ी को दलदल से निकालकर नाले के ऊपर चढ़ा दे, उसके हृदय में साहस, आत्मबल और उदारता का वास है। ऐसा आदमी गरीबों को कभी न सतावेगा। उसका संकल्प दृढ़ है, जो चित्त को स्थिर रखेगा। वह चाहे धोखा खा जाए, परंतु दया और धर्म से कभी न हटेगा।"⁵

वास्तव में ये देश-दुनिया की अगुआई और रहनुमाई के लिए पंडित जानकीनाथ जैसे मनुष्यों की जरूरत पर बल देने वाले प्रेमचंद के ही विचार हैं, जो भारतीय कथा परंपरा की मूल अवधारणा, शर्त और उद्देश्यों से संबंधित प्रतीत होते हैं।

भारतीय कथा परंपरा बदला नहीं बदलाव में विश्वास करने वाली है। जिस आदर्श नैतिकता और न्याय का वर्णन प्रेमचंद के कथा-साहित्य में बार बार हुआ है, उसकी जड़ें भारतीय कथा परंपरा के उत्स की जमीन में धसी हैं। इसलिए प्रेमचंद की कहानियों में सामाजिक और सांस्कृतिक चिंतन की व्यापक चेतना निहित है। उनकी कहानियों के सामाजिक-सांस्कृतिक चिंतन के दायरे में राष्ट्र की स्वतंत्रता से लेकर वैयक्तिक आत्मनिर्भरता तक के तमाम अवयव शामिल हैं। ग्रामोद्योग की उन्नति की पक्षधरता और नैतिक रूप से मजबूत युवा पीढ़ी का निर्माण उनका ध्येय है। धर्म का अर्थ उनके यहाँ नैतिकता से से जुड़ा है। स्त्रियों की सशक्त और स्वालम्बन के प्रति उनका लेखन आज के रचनाकारों के लिए प्रेरणादायी है। प्रेमचंद का सामाजिक-सांस्कृतिक चिंतन सभी प्रकार के आडम्बरों, धार्मिक पाखंडों, छुआछूत, जात-पात के खिलाफ और समाज को आर्थिक मजबूती और सांस्कृतिक उन्नति के मार्ग पर ले जाने वाला है। प्रेमचंद अपनी कहानियों के माध्यम से भारत की जटिल और उलझी हुई सामाजिक संरचना को बदलने और उसके नवनिर्माण के लिए भरसक प्रयास करते हैं। इसलिए तमाम अत्याचार, शोषण, बदहाली और मजबूरी के बावजूद उनके पात्र हिंसक और अनैतिक नहीं होते हैं। प्रेमचंद का विश्वास था कि बदला नहीं बदलाव से ही समाज में व्याप्त रोगों को खत्म किया जा सकता है। अपनी कहानियों के पात्रों के विषय में वे कहते हैं- ‘हमारी कहानियों में आपको पदाधिकारी, महाजन, वकील और पुजारी गरीबों का खून चूसते हुए दिखेंगे और गरीब किसान, मजदूर, अछूत और दरिद्र उनके आघात सहकर भी अपने धर्म और मनुष्यता को हाथ से न जाने देंगे, क्योंकि हमने उन्हीं में सबसे ज्यादा सच्चाई और सेवा भाव पाया है।’

भारतीय कथा परंपरा का अपना स्वभाव और रंग है। उसकी पद्धति और ढंग भी पूर्णतः स्वदेशी है। उसमें पश्चात् अनुकरण और ओढ़े हुए बनावटीपन के लिए जगह नहीं है। प्रेमचंद के सामाजिक चिंतन में भी किसी किन्तु परन्तु का कोई स्थान न था। उन्होंने हर उस बात का विरोध करते हुए उसके प्रति अपनी असहमति दर्ज कराई जो मनुष्य मात्र के हक और हित में नहीं थी और न है। एक तरफ वर्णव्यवस्था, बाल-विवाह, शोषण और धार्मिक पाखंड पर उन्होंने करारा प्रहार किया तो दूसरी तरफ युवक-युवतियों के भीतर पनप रहे असंस्कारी और लापरवाही भरे आधुनिक जीवनचर्या के प्रति भी उन्होंने चिंता व्यक्त की। सन् 1933 ई. में काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में एक जलसे में भाग लेने आये प्रेमचंद विश्वविद्यालय में कई जगह युवक-युवतियों को आपस में अंग्रेजों की नकल में हंसी-ठट्टा करते देखकर अपनी पत्नी शिवरानी से कहते हैं, “यह गुलाम देश कब सुधरेगा समझ में नहीं आता। यहाँ नकल करने की आदत यहाँ तक है कि ये दूसरों की नकल करने में ही अपने को विद्वान् और बुद्धिमान समझते हैं। ...इन्हें तुम बच्चा समझती हो। आज के युग में उमर ही कितनी होती है। क्या इनको नहीं मालूम है कि बहुत लोग रोटियों के भी पैसे बचाकर इन्हें पढ़ाते हैं। इन सबों को देखकर ऐसा लगता है, मानो राजकुमार और राजकुमारियां टहलने निकले हैं।”⁶

प्रेमचंद की कहानियों में व्यक्त सामाजिक चिंतन भविष्योन्मुखी और कल्याणकारी समाज के निर्माण की वकालत करता है। एक ऐसा समाज जहाँ अन्याय न हो, शोषण न हो, अमीरों और गरीबों के बीच धन-दौलत की खाई न हो, मनुष्य के मन में हिंसा नहीं प्रेम का वास हो और समाज तथा राष्ट्र का भविष्य नैतिक चरित्रवान् और ईमानदार युवाओं के जिम्मे हो। हिन्दुस्तानी समाज की तत्कालीन दशा और भविष्य की दिशा को अपनी कहानियों के माध्यम से व्याख्यायित और आलोचित करने वाले महान् लेखक कथासम्राट प्रेमचंद के सामाजिक सांस्कृतिक चिंतन के विविध आयाम थे।

भारत के कथा परंपरा ‘अहिंसा परमो धर्मः’ और ‘सत्यमेव जयते’ के सिद्धांतों की पोषक रही है। भारतीय कथा परंपरा में केवल युद्ध नहीं अभी तो धर्म युद्ध और कर्तव्य को प्रोत्साहित किया गया है। सर्वजन हिताय

और सर्वजन सुखाय के ध्येय को हमारी कथा परंपरा ने पल्लवित किया है। इन विशेषताओं का प्रभाव हिंदी के सबसे बड़े कथाकार प्रेमचंद पर पड़ना स्वाभाविक ही था। इसलिए स्वाधीनता की चेतना प्रेमचंद के सामाजिक और सांस्कृतिक चिंतन के केंद्र में थी। स्वाधीनता आंदोलन का वह दौर जब चौरी-चौरा की घटना के बाद असहयोग आंदोलन वापस ले लिया गया तो पूरे देश में स्वाधीनता आंदोलन की रफ्तार को झटका लगा। बहुत से लोग गांधी के नीतियों की आलोचना करने लगे। अहिंसा के सिद्धांत को भारतीय स्वाधीनता आंदोलन के लक्ष्य की प्राप्ति के प्रतिकूल बता कर उसके विरोध का स्वर गूंजने लगा। इन परिस्थितियों में जब राजनीतिक तौर पर स्वाधीनता आंदोलन की प्रक्रियाएँ थम सी गई थी, उस दौर में रिक्त और मंद होते स्वाधीनता आंदोलन के स्वर को प्रेमचंद ने अपनी रचनाओं के माध्यम से जागृत बनाए रखने का महत्वपूर्ण काम किया। अपने उपन्यास रंगभूमि के प्रमुख पात्र सूरदास के माध्यम से प्रेमचंद ने गांधीवादी सिद्धांतों को देश की स्वाधीनता आंदोलन के लिए आवश्यक बताते हुए उनके प्रति अपनी आस्था व्यक्त की और जनता के बीच भी गांधीवादी सिद्धांतों के लिए विश्वास का वातावरण निर्मित करने का काम किया। 1920 ईस्वी से 1930 ईस्वी तक के भारतीय राजनीति के घटनाक्रमों का अवलोकन करने पर हम पाते हैं इस अवधि में भारतीय समाज के बहुसंख्यक मध्यमवर्गीय जनता के बीच स्वाधीनता आंदोलन और उससे जुड़े विभिन्न गतिविधियों के प्रति जागरूकता, रुचि और सहानुभूति उत्पन्न करने का महत्वपूर्ण काम प्रेमचंद का साहित्य करता है। इस प्रकार महात्मा गांधी ने भारतीय जनता को राजनीतिक रूप से स्वागत आंदोलन के लिए तैयार किया, उसी प्रकार प्रेमचंद ने भारतीय जनता और बुद्धिजीवियों को वैचारिक रूप से साधन आंदोलन के साथ मजबूती से जोड़ने और उनमें आवश्यक साहस और जुनून उत्पन्न करने का महत्वपूर्ण कार्य अपने साहित्य के माध्यम से किया। स्वाधीनता आंदोलन में भारतीय जनता को जोड़ने, उसके प्रति शिक्षित और जागृत करने की प्रक्रिया में महात्मा गांधी और प्रेमचंद के अवदान का तुलनात्मक अवलोकन करने पर यह कहा जा सकता है कि महात्मा गांधी राजनीति के प्रेमचंद है और प्रेमचंद साहित्य के गांधी। प्रेमचंद अपने साहित्य के माध्यम से भारतीय जनमानस को जो शिक्षा और प्रेरणा देना चाहते थे, उनके भीतर जिस आत्मबल, विश्वास, कर्मठता और लक्ष्य और उद्देश्य के प्रति दृढ़ता को उत्पन्न करना चाहते थे, उसकी अनुभूति रंगभूमि उपन्यास के दो पात्रों वृद्ध सूरदास और बालक मिटुआ के बीच के इस वार्तालाप से की जा सकती है :

“मिटुआ ने पूछा- दादा, अब हम रहेंगे कहां?

सूरदास- दूसरा घर बनायेंगे।

मिटुआ- और कोई फिर आग लगा दे ?

सूरदास- तो फिर बनायेंगे।

मिटुआ- और फिर लगा दे ?

सूरदास- तो हम भी फिर बनायेंगे

मिटुआ- और कोई हजार बार लगा दे ?

सूरदास- तो हम हजार बार बनायेंगे।

बालकों को संख्याओं में विशेष रुचि होती है। मिटुआ ने फिर पूछा- और जो कोई सौ लाख बार लगा दे? सूरदास ने उसी बालोचित सरलता से उतर दिया ख़ तो हम भी सौ लाख बार बनायेंगे।” यह व्यक्ति के साहस, संकल्प और सामर्थ्य पर भरोसा करने की वही विशेषता है जिसे हमारी कथा परंपरा में आराम से देखा जा सकता है।

प्रत्येक महान कथाकार अपने समय, समाज और कथा परम्परा से प्रभावित होता है और अपनी रचना के माध्यम से उनको प्रभावित भी करता है। जिस रचनाकार का जीवन अनुभव और सामाजिक अवलोकन जितना अधिक व्यापक और सूक्ष्म होता है, उनका साहित्य भी समाज के लिए उतना ही अधिक जरूरी और प्रासंगिक

होता है। इस तरह हर बड़ा कथाकार अपने समय और समाज के लोगों का मार्गदर्शन करता है। और चाहे-अनचाहे साहित्य सर्जक के साथ-साथ समाज और लोगों को शिक्षित और जागृत करने वाले सामाजिक शिक्षक के रूप में भी अपनी भूमिका का निर्वाह करता है। ध्यान देने वाली बात है कि भारतीय कथा परंपरा का प्रारंभिक विकास भी उपदेश और शिक्षा प्रदान करने की भूमिका में होता है। अपने साहित्य के माध्यम से भारतीय जनता को उत्तम चरित्र युक्त, नैतिक गुणों से समृपन्न और कर्तव्यनिष्ठ बनने की प्रेरणा और शिक्षा देने वाले प्रेमचंद भारतीय समाज के सामाजिक शिक्षक के रूप में भी दिखाई पड़ते हैं। उनकी रचनाओं में ऐसे अनेक वाक्य भरे पड़े हैं जिनसे विभिन्न विषयों से संबंधित शिक्षाएँ हमें प्राप्त होती हैं। जिस प्रकार एक सच्चा शिक्षक अपने विद्यार्थियों को सही मार्ग और सही ज्ञान के प्रति संकेत भर करता है और फिर उन्हें स्वतंत्र रूप से उनपर विचरण और मनन करने की छूट देता है उसी प्रकार प्रेमचंद अपनी रचनाओं में बीच-बीच में मनुष्य, जीवन, जगत, अर्थ, राजनीति, व्यवहार आदि से संबंधित विभिन्न प्रकार के सूत्र वाक्य छोड़ जाते हैं जो हमारे लिए बहुत महत्वपूर्ण हैं। एक शिक्षक के रूप में प्रेमचंद को किसी दायरे में सीमित करना बहुत मुश्किल है। अपनी समग्रता में प्रेमचंद मानवता के शिक्षक है, रचनाधर्मिता के शिक्षक हैं, जीवन और जगत की आलोचना के शिक्षक हैं:

“सच्चे खिलाड़ी कभी रोते नहीं, बाजी-पर-बाजी हारते हैं, चोट-पर-चोट खाते हैं, धक्के-पर-धक्के सहते हैं; पर मैदान में डटे रहते हैं, उनकी तयोरियों पर बल नहीं पड़ते। हिम्मत उनका साथ नहीं छोड़ती, दिल पर मालिन्य के छींटे भी नहीं आते, न किसी से जलते हैं, न चिढ़ते हैं। खेल में रोना कैसा ? खेल हंसने के लिए, दिल बहलाने की लिए है, रोने के लिए नहीं।”⁸

प्रेमचंद के साहित्य को सामाजिक-सांस्कृतिक चेतना के विविध आयामों में, व्यक्तित्व जागरण, समाज सुधार और राष्ट्र-निर्माण की प्रस्तावना के रूप में तथा विद्रूपताओं और विसंगतियों से भरे मानव जीवन की आलोचना के रूप में पढ़ने पर हम भारतीय कथा-परंपरा के साथ प्रेमचंद के कथा साहित्य के अंतर्संबंधों को ठीक ढंग से समझ सकेंगे और उसकी व्याख्या भी कर सकेंगे। प्रेमचंद ने चली आती हुई भारतीय कथा परंपरा की अविरल धारा से श्रेष्ठ उपादानों को चुन-चुनकर अपने कथा-साहित्य के साथ बहुत खूबसूरती से प्रस्तुत किया। और हिंदी कथा साहित्य को उच्च स्थान तक पहुंचाने का महत्वपूर्ण कार्य किया। भारतीय कथा परंपरा के अध्ययन से स्पष्ट होता है कि कथा और आख्यायिका से लेकर उपन्यास और फिर उसके आगे बोलती तस्वीरों तक के भारतीय कथा संसार के इतिहास की यात्रा बेहद दिलचस्प और आकर्षक है।

संदर्भ :

1. अज्ञेय (सं.), आधुनिक हिंदी साहित्य, सस्ता साहित्य मंडल प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण 2010, पृ. 62
2. वही, पृ. 63
3. वही, पृ. 11
4. वही, पृ. 77
5. प्रेमचंद, मानसरोवर, भाग-8, सुमित्र प्रकाशन, अशोकनगर प्रयागराज-1, संस्करण 2017, पृ. 191
6. शिवरानी देवी प्रेमचन्द, प्रेमचंद घर में, सरस्वती प्रेस, बनारस, प्रथम संस्करण, दिसंबर 1944, पृ. 223-224
7. प्रेमचंद, रंगभूमि, सुमित्र प्रकाशन, अशोकनगर प्रयागराज-1, संस्करण 2013, पृ. 107
8. वही, पृ. 107



भारतीय स्वतंत्रता आंदोलन में मंचीय हिंदी कविता की भूमिका

○ अनिल कुमार 'अनिवार्य'

कविता साहित्य की एक विधा है तथा साहित्य समकालीन समाज की प्रवृत्तियों एवं अनुभूतियों का विदग्धतापूर्ण भाषायिक प्रतिफलन होता है। प्रत्येक सहृदय मनुष्य के भीतर रागात्मकता छिपी रहती है जो परिस्थितियों के अधीन रहती है किन्तु अनुकूल अवसर की प्राप्ति के उपरान्त अभिव्यक्त होने का मार्ग ढूंढ़ती है, मंच मनुष्य की इन्हीं रागात्मक वृत्तियों और अनुभूतियों की सामूहिक परितृप्ति का एक लोकप्रिय साधन रहा है। सहज सम्प्रेषण, साधारणीकरण एवं जन संवाद की प्रत्यक्ष प्रक्रिया में मंच एक प्रमुख अभिकरण है। इस प्रकार कविता की विकास यात्रा में मंच की अपनी महत्वपूर्ण भूमिका रही है। “हिन्दी में कविता का विभाजन मंच की दृष्टि से भी किया जा सकता है अर्थात् मंच की कविता और मंचेतर कविता। गम्भीर साहित्य सर्जना अपने को मंच से नहीं जोड़ती किन्तु मंच की कविता की रचना प्रक्रिया में जाने अनजाने मंच हावी हो उठता है।”¹

मंचीय कविता सीधी सरल भाषा में रचित एक ऐसी रचना होती है जो सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक तथा भौगोलिक समस्याओं को मंच के माध्यम से आम जन के बीच सम्प्रेषित करने के उद्देश्य से प्रस्तुत की जाती है। इसे दृश्य श्रव्य कोटी को काव्य कहा जा सकता है। यूं तो “मंचीय कविता कविता का ही आधुनिक नव विकसित जनोन्मुख रूप है, अतः दोनों का उद्गम मूलतः एक ही है। कवि प्रतिभा के गर्भ में दोनों के निर्माण में प्रेरणा प्रक्रिया और सम्बल स्थूलतः समान है पर सूक्ष्मत निश्चित रूप से विभेद है।”² गीता गायक भगवान श्री कृष्ण के मुख से उद्भूत हिन्दी की यह रसवन्ती मंचीय काव्य धारा पुरातन काल से सम्प्रेषण की एक महत्वपूर्ण विधा रही है। “हमारे महादेश में काव्य वाचन की परम्परा बहुत पुरानी रही है और पिछले एक हजार वर्ष से हिन्द कविता की परम्परा प्रायः सुनी जाने की हो रही है पर आयोजित काव्य गोष्ठियों और कवि सम्मेलनों के रूप में मंचीयता का काव्योदभव भारतेन्दु युग से ही हुआ माना जा सकता है।”³

आधुनिक हिन्दी काव्य के प्रथम चरण को हिन्दी नवजागरण के अग्रदूत भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के नाम से भारतेन्दु युग के रूप में जाना जाता है। “ऐतिहासिक काल क्रम की दृष्टि से भारतेन्दु युग की समय सीमा सामान्यतः 1850 ई. से 1900 ई. तक मानी जाती है।”⁴ “हिन्दी की मंचीय कविता भारतेन्दु युग में अपनी भूणावस्था में थी।”⁵ इसलिए मंचीय कविता के उद्भवकालीन स्वरूप और स्वतंत्रता आंदोलन में उसकी भूमिका को समझने हेतु तत्कालीन सामाजिक राजनीतिक स्थिति को समझना अपरिहार्य है, क्योंकि “जनता की चित्तवृत्ति बहुत कुछ राजनीतिक, सामाजिक, सांप्रदायिक तथा धार्मिक परिस्थितियों के अनुसार होती है। अतः कारण स्वरूप इन परिस्थितियों का किंचित दिग्दर्शन भी साथ ही साथ आवश्यक होता है।”⁶

भारतेन्दु युग से पूर्व ही भारत ईस्ट इण्डिया कम्पनी के अधीन हो चुका था। ईस्ट इण्डिया कम्पनी के भारतीय सैनिकों द्वारा प्रतिक्रिया स्वरूप 1857 में एक विद्रोह हुआ। इस विद्रोह ने अंग्रेजों के खिलाफ अखिल

भारतीय स्वरूप ग्रहण कर लिया, जिसके कारण इस विद्रोह को भारतीय इतिहास में प्रथम स्वतंत्रता संग्राम के रूप में देखा जाता है। इस विद्रोह के कर्णधारों ने परवर्ती स्वाधीनता आन्दोलन के लिए एक व्यापक राष्ट्रीय पृष्ठभूमि निर्मित करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। इनके इस वीरोचित कार्य ने देश के राष्ट्रवादी युवा-युवतियों को गहराई तक अनुप्राणित कर स्वतंत्रता संघर्ष में सर्वोत्सर्ग करने की प्रेरणा दी। स्वतंत्रता के इन क्रान्तिकारी अग्रदूतों के संबंध में बेहद श्रद्धा के साथ, बुन्देलखण्ड, अवध आदि क्षेत्रों में ये लोकगीत गाए जाते थे कि, 'खूब लड़ी मरदानी, अरे झाँसी वाली रानी' तथा 'अवध में राना भयों मरदाना'।

1857 का विद्रोह तो असफल हुआ किन्तु अब भारत ईष्ट इण्डिया कम्पनी के हाथों से निकलकर ब्रिटिश शासन के अधीन हो गया। नवम्बर 1858 को महारानी विक्टोरिया द्वारा एक घोषणा पत्र जारी किया गया। घोषणा पत्र में व्यक्त सहृदयता, उदारता और धार्मिक सहिष्णुता से परिपूर्ण आश्वासनों का भारतीय लोगों ने प्रत्यक्षतः स्वागत किया। यद्यपि यह सच था कि इस बार शासन प्रणाली में कोई मौलिक परिवर्तन तो नहीं हुआ पर प्रशासनिक गतिशीलता और अंग्रेजों को नृशंस दमनात्मकता के आतंक से कानून और व्यवस्था की स्थिति पहले से बेहतर हो गयी। जिसका समाज स्पष्ट रूप से अनुभव कर रहा था। इसलिए तत्कालीन साहित्य में भी ब्रिटिश राज के प्रति भक्तिभाव का दिखना स्वभाविक था। “कवियों ने गद्गद कण्ठ से अंग्रेजी राज्य का गुणगान किया।”⁷

“पूरी अमा की कटोरिया सी, चिरजीवी रहो विक्टोरिया रानी”⁸

हालाकि यह गुणगान ज्यादा दिनों तक नहीं चल सका। ब्रिटिश सत्ता के लुभावने आश्वासनों से जल्द ही मोहभंग होने का भी बीजारोपण होने लगा था।

“स्वत्व निज भारत गहे, कर दुख बहै।”⁹

ए.ओ. ह्यूम ने अंग्रेजी शासन के प्रति संभावित असंतोष का शमन करने के उद्देश्य से शिक्षित आभिजात्य भारतीयों को संगठित कर ‘इण्डियन नेशनल कांग्रेस’ की स्थापना 1885 ई. में की। हालांकि शीघ्र ही यह संगठन अपने शोषित उद्देश्यों के विपरीत भारतीय राष्ट्रीय स्वाधीनता संघर्ष का एक व्यापक एवं शक्तिशाली मंच बन गया। इस मंच ने भारतीय स्वतंत्रता आंदोलन में देश को तिलक, गोखले, गाँधी, सुभाष, नेहरू, लोहिया, जयप्रकाश, जैसे कई महान राष्ट्रीय नेताओं को प्रदान किया जिनके नेतृत्व में कई भारतीय स्वतंत्रता आंदोलन हुए और अन्ततः अंग्रेजों को 1947 ई. में भारत छोड़ना ही पड़ा।

देश और समाज की संक्रमणशाली परिस्थितियों के सापेक्ष विकासमान समकालीन साहित्य प्राचीनता और नवीनता के द्वन्द्वजन्य परिवर्तनों की सहज अभिव्यक्ति के रूप में अभिव्यक्त होने लगा। पराधीनताजन्य व्यथा की अभिव्यक्ति यद्यपि मुखर रूप से इस युग के कवि नहीं कर पाए पर पृष्ठभूमि में पीड़ा के स्वरों की प्रतिध्वनि यत्र तत्र सुनाई देने लगी थी।

“पै धन विदेश चलिजात ईर्ह अति ख्वारी”¹⁰

“भारतेन्दु युग आधुनिकता का उषाकाल है।”¹¹ आधुनिकता बोध से सम्पृक्त भारतेन्दु युग की अभिनव काव्य संचेतना अपने आविर्भाव के प्रारम्भिक चरण में प्रचारात्मक थी। अस्तु तत्कालीन कविता में सहजता सरलता और सम्प्रेषणीयता स्वभाविक रूप से विद्यमान थी तथा सहज सम्प्रेषण मंचीय कविता का अत्यंत विशिष्ट गुण है। परिणामतः भारतेन्दु युग की कविताएँ मंचीय कविता के रूप में विकसित होकर स्वतंत्रता आंदोलन हेतु जनमानस में राष्ट्रीय भावना का संचार करने लगी।

“राष्ट्रीयता भारतेन्दु युग की सर्वथा आधुनिक दृष्टि थी।”¹² उस युग में हिन्दुत्व को भारतीयता तथा राष्ट्रीयता का पर्याय माना जाने लगा। समसामयिक राष्ट्रीय जीवन की अनेकानेक विकृतियों को लक्ष्य कर हिन्दी कविता में हास्य व्यंग्य का ही स्वतंत्र धारा के रूप में प्रवर्तन होने लगा। इस प्रकरण में भारतेन्दु जी की विख्यात मुकरिया

तथा बालमुकुन्द गुप्त की चर्चित कविताएँ स्मरणीय है।

भारतेन्दु ने अंग्रेजों द्वारा हिन्दी भाषा की अवहेलना से आहत होकर हिन्दी के उन्नयन हेतु देशवासियों को संबोधित करते हुए यह प्रेरक उद्बोधन किया कि,

“निज भाषा उन्नति अहे, सब उन्नति को मूल, बिन निज भाषा ज्ञान के मिटे न हिय को सूल।”¹³

भारतेन्दु जी के युगान्तकारी व्यक्तित्व की प्रेरणा से हिन्दी के उन्नयन हेतु साहित्य सेवियों का एक विशाल समुदाय निर्मित हुआ। हिन्दी जगत में इसे भारतेन्दु मण्डल के नाम से अविहित करते हैं। इन सभी कवियों का मंच से भी सीधा संबंध था ये काव्य गोष्ठियों में अपनी रचनाओं को सुनाया करते थे। काव्य गोष्ठियों में समस्यापूर्ति के माध्यम से पराधीनता पर कटाक्ष किया जाता था। समस्यापूर्ति काव्य ने भारतेन्दु युग में एक सुव्यवस्थित रूप ग्रहण कर भारतीय स्वतंत्रता आंदोलन के साथ ही मंचीय कविता के विकास में भी अपनी महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। “समस्या पूर्ति, आशु कविता पाठ जैसी काव्य परम्पराओं का भी जनमानस के मनोरंजन और मंचीय चमत्कारवर्द्धन में बड़ा हाथ रहा।”¹⁴

आधुनिक हिन्दी साहित्य के इतिहास में सन 1900 ई. से लेकर 1920 ई. तक के कालखण्ड को आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी जी के नाम से ‘द्विवेदी युग’ के रूप में जाना जाता है। इस युग में हिन्दी साहित्य का व्यापक रूप से परिष्कार हुआ। इसे जागरण सुधार काल भी कहा जाता है। भारतेन्दु जी द्वारा प्रवर्तित कवि गोष्ठी परम्परा विकसित होकर लघु कवि सम्मेलन का रूप धारण करने लगी। द्विवेदी युगीन राष्ट्रीय कविता की प्रवृत्तियाँ पूर्ववर्ती युग की अपेक्षा समकालीन संदर्भों तथा मंच से संयुक्त होकर व्यापक रूप ग्रहण करने लगी। राष्ट्रीय परिवेश में साहित्य की भूमिका के संदर्भों में द्विवेदी जी से अधिक सजग सम्पादक सम्भवतः हिन्दी साहित्य में दूसरा नहीं हुआ इसलिए द्विवेदी युगीन कविता भी प्रवृत्ति की दृष्टि से प्रधानतः देश, समाज, राष्ट्र और संस्कृति की उपयोगिता से परिपूर्ण रहा। इस युग के प्रमुख राष्ट्रीय चेतना से परिपूर्ण मंचीय कवि तथा उनकी रचनाओं का अंश यथास्थल उल्लेखनीय प्रतीत हो रहा है—

श्रीधर पाठक अपनी रचना ‘भारत गीत’ के माध्यम से राष्ट्रीय एकता पर बल देते हुए कहते हैं—

*“बन्धनीय वह देश जहाँ के देशी निज अभिमानी हो,
बान्धवता में बंधे परस्पर, परता के अज्ञानी हो।
निन्दनीय वह देश, जहाँ के देशी निज अज्ञानी हो,
सब प्रकार पर तंत्र, पराई प्रभुता के अभिमानी हो।”¹⁵*

सत्यनारायण कविरत्न जी मंचीय कविता की परंपरा के प्रमुख प्रसारक थे। इनकी रचनाओं में मुख्यतः राष्ट्रीय भावना और देश प्रेम की प्रधानता थी।

“सर्वोपरि जिसके जीवन का व्रत रहा है।

वह मातृभूमि मेरी वह पितृ भूमि मेरी।”¹⁶

राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त जी भी मंच पर काव्य पाठ किया करते थे। इनके काव्य में भारत के अतीत का गौरव गान अपने श्रेष्ठतम रूप में अभिव्यक्त हुआ है—

*“हम कौन थे, क्या हो गए हैं, और क्या होंगे अभी
आओ विचारे आज मिलकर, यह समस्याएँ सभी।”¹⁷*

गुप्त जी की रचना ‘भारत भारती’ के संदर्भ में आचार्य द्विवेदी जी ने लिखा था कि “यह काव्य वर्तमान हिन्दी साहित्य में युगान्तर उत्पन्न करने वाला है वर्तमान और भावी कवियों के लिए यह आदेश का काम देगा। यह सोते हुए को जगाने वाला है, भूले हुआ को ठीक राह पर लाने वाला यह स्वदेश प्रेम उत्पन्न कर सकता है।”¹⁸

गया प्रसाद शुक्ल ‘सनेही’ जी द्विवेदी युगीन कवियों में राष्ट्रीय चेतना के ओजस्वी गायकों में अग्रगण्य हैं। परवर्ती युग में मंचीय कविता को राष्ट्रीय स्तर पर प्रतिष्ठित करने तथा कवि सम्मेलन को लोकप्रिय बनाने का श्रेय सनेही जी को ही प्राप्त है। मंच पर राष्ट्रीय गौरव जगाने वाली देश व्यापी ख्याति प्राप्त कविता की कुछ पंक्तियाँ निम्न हैं-

“जिसको न निज गौरव तथा निज देश का अभिमान है।

वह पशु नहीं, नर पशु निरा है और मृतक समान है।”¹⁹

+ + +

“जो भरा नहीं है भावों से बहती जिसमें रसधार नहीं,

वह हृदय नहीं है पत्थर है जिसमें स्वदेश का प्यार नहीं।”²⁰

माखन लाल चतुर्वेदी स्वाधीनता संग्राम के दिनों में जेलों के भीतर से लेकर बाहर कवि सम्मेलनों तक अपनी राष्ट्रीय कविताओं के ओजस्वी पाठ से जनउद्बोधन किया करते थे। राष्ट्रीय चेतना से युक्त चतुर्वेदी जी की सबसे लोक प्रिय कविता ‘पुष्प की अभिलाषा’ में वो भारतीय स्वतंत्रता आंदोलन में भारतीयों को सर्वोत्सर्ग करने के लिए प्रेरित करते हुए कहते हैं-

“मुझे तोड़ लेना वनमाली, उस पथ पर देना तुम फेंक

मातृभूमि पर शीश चढ़ाने, जिस पथ पर जाय वीर अनेक”²¹

भारतीय स्वतंत्रता आंदोलन के इस युग में द्विवेदी युगीन मंचीय कविता की वस्तुगत प्रवृत्तियों में राष्ट्रीयता, परम्परागत काव्य मूल्य और शिथिल रूप में हास्य व्यंग्य की प्रधानता रही। इस प्रकार कविता की परम्परागत काव्य धारा मंचीय परिवेश में युग सापेक्ष अनुगमन करती रही और मंचीय कविता का क्रमिक विकास के साथ परिष्कार भी होता गया।

हिन्दी साहित्य में 1918 ई. से 1936 ई. तक के कालखण्ड को ‘छायावाद’ के नाम से जाना जाता है। “हिन्दी साहित्य में काल क्रम की दृष्टि से छायावादी काव्यधारा के समानान्तर एक दूसरी काव्यधारा प्रवाहित होती रही जो अपेक्षाकृत सहज सुबोध, सुसम्प्रेष्य एवं सुग्राह्य थी। इस धारा में राष्ट्रीय उन्मेष एवं लोकरंजन की प्रधानता थी भारतेन्दु युग में उद्भूत तथा द्विवेदी युग में विकसित इस काव्य कोटि अर्थात् मंचीय कविता का उत्कर्ष काल (पूर्वाद्ध) भी वही मानना चाहिए जो छायावाद का है अर्थात् 1920 से लेकर 1935 ई. तक।”²²

छायावादी युग स्वतंत्रता आंदोलन की दृष्टि से अत्यंत महत्वपूर्ण है। इस काल के आरंभ यानी 1919 ई. में आए ‘रोलेक्ट एक्ट से पूरा देश आंदोलित हो उठता है। स्वतंत्रता आंदोलन की धारा इस काल में ही सर्वाधिक तीव्र होती दिखती है।

छायावादी काव्य में राष्ट्रीयता का स्वर प्रतीकात्मक होने लगा था, जो शोषण से त्रस्त राष्ट्रप्रेमियों को अधिक समय के लिए ग्राह्य नहीं हुआ जिसके कारण छायावादी काव्यधारा के समानान्तर एक शक्तिशाली राष्ट्रीय चेतना की काव्यधारा भी प्रबल वेग से प्रवाहमान हो पड़ी, जिसका बीजारोपन भारतेन्दु जी ने किया था तथा जिसे सींचकर मैथिलीशरण गुप्त प्रस्फुटित कर रहे थे। इस युग के राष्ट्रवादी कवियों ने छायावाद की रेशमी आवरण को भेदकर राष्ट्रीय और सांस्कृतिक संघर्ष को स्पष्ट और उग्र स्वर में व्यक्त कर राष्ट्र की आत्मा को नवीन चेतना प्रदान की।

राष्ट्रीय काव्यधारा को इस काल में सुभद्रा कुमारी चौहान ने पुष्ट किया। राष्ट्रीय प्रेरणा और देशभक्ति से ओतप्रोत कर देने वाली रचनाओं को मंच से प्रस्तुत करने में बेहद कुशल सुभद्रा जी का स्थान मंचीय इतिहास में बहुत महत्वपूर्ण है। मंच और आम जनमानस में उनकी कविता ‘झाँसी की रानी’ जितनी अधिक लोकप्रिय हुई है उतनी शायद ही कोई आधुनिक राष्ट्रीय चेतना सम्पन्न युक्त कविता हुई होगी।

उत्तर छायावादी युग के प्रारम्भ यानी 1936 ई. से एक वर्ष पूर्व से जब भारत सरकार अधिनियम 1935 लागू हुआ था तभी से देश का स्वतंत्रता आंदोलन एक नए दौर में प्रवेश कर चुका था। इस दौर में बालकृष्ण शर्मा के काव्य में विद्रोह युक्त राष्ट्रीयता के प्रखर स्वर सुनाई देते हैं। उन्होंने विप्लव गायन की रचना कर राष्ट्रीयता के स्वरों को नवीन ऊँचाईयाँ प्रदान की राष्ट्रीय आंदोलन के इस दौर में मंच से कवियों को सीधे और स्पष्ट शब्दों में संबोधित करते हुए नवीन जी कहते हैं-

“कवि कुछ ऐसी तान सुनाओ, जिससे उथल-पुथल मच जाए
एक हिलोर इधर से आए, एक हिलोर उधर से आए
प्राणों के लाले पड़ जाएँ, त्राहि त्राहि स्वर नभ में छाए।
नाश और सत्यानाशों का धुआँधार जग में छा जाए।”²³

छायावादोत्तर काल में राष्ट्रकवि रामधारी सिंह दिनकर जी को जितनी लोकप्रियता प्राप्त हुई उतनी लोकप्रियता किसी अन्य राष्ट्रीय धारा के कवि को प्राप्त नहीं हो सकी। उनकी कविताओं में पराधीनता के विरुद्ध प्रबल विद्रोह अपनी भीषणता और भयंकरता के साथ गर्जना करता हुआ प्रतीत होता है। उनकी कविताओं में विद्रोह आक्रोश और क्रांति की पुकार है।

“रे रोक युधिष्ठिर को न यहाँ,
जाने दे उनको स्वर्ग धीर,
पर फिरा हमें गाँडीव गदा,
लौटा दे अर्जुन भीम वीर।”²⁴

8 अगस्त 1942 को जब गाँधी जी ने ब्रिटिश शासन को समाप्त करने का अह्वान किया और मुम्बई में अखिल भारतीय कांग्रेस की कमिटी के सत्र में भारत छोड़ो आंदोलन का प्रारंभ हुआ तब इस आंदोलन में सर्वोत्सर्ग के लिए प्रेरित करते हुए दिनकर जी ने देश का आह्वान करते हुए कहा था कि-

“दहक रही मिट्टी स्वदेश की,
खौल रहा गंगा का पानी,
प्राचीरों में गरज रही है,
जंजीरों में कसी जवानी।”²⁵

“उनके उद्गम काव्यपाठ एवं आकर्षक व्यक्तित्व से हिन्दी कवि सम्मेलनों के मंच 1930 से 1972 तक गौरवान्वित होते रहे। प्रखर राष्ट्रीयता बोध गहन सांस्कृतिक चेतना और तल स्पर्शी चिंतन का यह अनुपम कवि हिन्दी के राष्ट्रीय काव्य उद्गम का अनल वषी कोकिल है।”²⁶

निष्कर्षतः भारतीय स्वतंत्रता आंदोलन के उस दौर में चाहे नवजागरण हो या जागरण सुधार या अन्य रचनात्मक आंदोलन इन सबों के माध्यम से राष्ट्रभाषा तथा राष्ट्रीयता का प्रचार-प्रसार कर उसे जनमानस तक पहुँचाने का श्रेय मंचीय कविता को ही जाता है। क्योंकि मंचीय कविता कवि और आम जन के मध्य प्रत्यक्षतः जन संवाद की भूमिका निभा रही थी। इस प्रकार देश में चल रहे विपल्ववादी संघर्ष हो या गाँधीवादी, सारी जनगतिविधियों और काव्य गतिविधियों के वातावरण निर्माण एवं उनके राष्ट्रीय उद्देश्यों की पूर्ति में मंचीय कविता का महत्वपूर्ण योगदान रहा।

संदर्भ:

1. रामनरेश, हिन्दी की मंचीय कविता, विकास प्रकाशन, कानपुर, संस्करण : जून 1991, डॉ. नागेन्द्र साक्षातकार, पृ. 16

2. वही, पृ. 17
3. रामनरेश, हिंदी की मंचीय कविता, विकास प्रकाशन, कानपुर, संस्करण : जून 1991, सम्मति, रामेश्वर शुक्ल अंचल।
4. हिन्दी साहित्य का वृहत इतिहास, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, अष्टम भाग, पृ. 80
5. रामनरेश, हिन्दी की मंचीय कविता, विकास प्रकाशन, कानपुर, संस्करण : जून 1991, सम्मति, राजेश्वर शुक्ल अंचल, पृ. 31
6. आ. रामचंद्र शुक्ल, हिन्दी साहित्य का इतिहास, प्रभात प्रकाशन, संस्करण : 8 जनवरी 2021, पृ.1
7. उदय भानू सिंह, महावीर प्रसाद द्विवेदी और उनका युग, प्रकाशक : लखनऊ वि.वि., भूमिका।
8. राधाकृष्ण दास, भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र का जीवन चरित्र, हिन्दी समिति उत्तर प्रदेश शासन, संस्करण : 1 जुलाई 1975, पृ. 64
9. भारतेन्दु हरिश्चंद्र, भारतेन्दु ग्रंथावली, पृ. 182
10. वही, पृ. 172
11. हिन्दी साहित्य का वृहत इतिहास, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, अष्टम भाग, पृ. 395
12. वही, पृ. 88
13. भारतेन्दु ग्रंथावली, पृ. 512
14. रामनरेश, हिन्दी की मंचीय कविता, विकास प्रकाशन, कानपुर, संस्करण जून 1991, सम्मति, राजेश्वर शुक्ल अंचल।
15. श्रीधर पाठक, भारत गीत, पृ. 25
16. सत्यनारायण कविरत्न, द्विवेदी युगीन काव्य, पृ. 167
17. भारत भारती, आमुख पंक्तियाँ।
18. सरस्वती पत्रिका, महावीर प्रसाद द्विवेदी (सं.), अगस्त 1914, सम्पादकीय
19. स्नेही अभिनन्दन ग्रंथ, पृ. 42
20. वही, पृ. 168
21. युग चरण, माखन लाल चतुर्वेदी, पृ. 641
22. रामनरेश, हिन्दी की मंचीय कविता, विकास प्रकाशन, कानपुर, संस्करण : जून 1991, पृ. 78
23. बालकृष्ण शर्मा नवीन, हम विषपायी जन्म के, पृ. 429
24. रामधारी सिंह दिनकर, संचयिता (2015), भारतीय ज्ञानपीठ नई दिल्ली, पृ. 31
25. रामधारी सिंह दिनकर, सामधेनी, 'दिल्ली और मास्को' कविता कोश, kavitakosh.org
26. रामनरेश, हिन्दी की मंचीय कविता, पृ. 117



भारतीय स्वतंत्रता आंदोलन और हिंदी कविता

○ अनामिका शिल्पी

आधुनिककाल तक आते आते कविता के स्वरूप में अनेक परिवर्तन हुए। अर्थात् वह मनोरंजन के साधन से हटकर, जीवन के यथार्थ की ओर उन्मुख हुई जिसमें नए भावबोध, शिल्प-विधान एवं नए मूल्यों की अभिव्यक्ति हुई। साथ ही मानव जीवन की अनेक समस्याओं, संवेदनाओं, उसकी यथार्थ अभिव्यक्ति अत्यंत मार्मिक एवं सजीव हुई है। उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में अंग्रेजों की दुर्नीति और दमनकारी व्यवहार ने देश में एक नई जागृति उत्पन्न की और देश में पुनरुत्थान एवं राजनीतिक चेतना की लहर फैल गई। तत्कालीन साहित्यकारों ने देश की पराधीनता एवं करुण-दशा से प्रभावित और आहत होकर देशवासियों में अपनी रचनाओं के माध्यम से नवीन चेतना भरने का प्रयास किया तथा आम जनता को अंग्रेजी शासन की अच्छाई-बुराई के विषय में जागृत किया साथ ही जनतान्त्रिक मूल्यों का पोषण, सामाजिक रूढ़ियों पर प्रहार तथा राष्ट्रीय-चेतना के निर्माण में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई।

भारतीय इतिहास में स्वतंत्रता आंदोलन एक युगांतकारी घटना है। देशवासियों को अंग्रेजों से मुक्त कराने तथा भारत माँ को दासता की बेड़ियों से मुक्त कराने को, साथ ही अतीत के स्वर्णिम वैभव और सांस्कृतिक परंपरा से परिचित कराने के दायित्व का निर्वहन तत्कालीन हिन्दी कवियों ने अपनी कविताओं के माध्यम से किया और सामान्य जनता में अस्मिता एवं देश के प्रति कर्तव्यनिष्ठा की भावना जागृत की। कवियों ने अंग्रेजी शासन के दमनात्मक रवैये तथा देश की दुर्दशा पर क्षोभ प्रकट कर, उस शासन के विरुद्ध, संघर्ष के लिए जनमानस को प्रेरित किया एवं स्वतंत्रता-संग्राम की समुचित पृष्ठभूमि तैयार की। अंग्रेजी-शासनतंत्र की कूटनीति और साम्राज्यवाद का विरोध करते हुए देशवासियों के आत्मसम्मान को जागृत कर उनमें नई चेतना भरने का प्रयास किया।

भारतेन्दु युगीन कवियों की कविताओं में तत्कालीन समय की समस्याओं एवं स्वतंत्रता प्राप्ति की इच्छा, राष्ट्रीयता और स्वाभिमान की भावनाएँ अभिव्यक्त हुई हैं। हिन्दी साहित्य के नवयुग का उन्मेष भारतेन्दु हरिश्चंद्र से माना जाता है। ये एक ऐसे महाप्राण साहित्यकार हुए, जिन्होंने अपने बहुमुखी साहित्य सृजन द्वारा न केवल हिन्दी साहित्य के विपुल भंडार में अभिवृद्धि की, अपितु अपने स्निग्ध और मंजुल प्रकाश से उसे नई दिशा की ओर अभिप्रेरित किया। अंग्रेजों के क्रूर शासन तंत्र में राष्ट्रप्रेम की बात करना बड़े साहस का काम था और भारतेन्दु ने इसी साहस का परिचय देते हुए अंग्रेजों की खुलकर आलोचना की तथा देश, धर्म, समाज, संस्कृति, स्वाधीनता और मातृभाषा के प्रति प्रेम को अपनी कविताओं के माध्यम से अभिव्यक्ति प्रदान की, साथ ही समाज सुधार, स्त्री-शिक्षा, विधवा-विवाह का निर्भीकता के साथ प्रचार-प्रसार किया।

भारतेन्दु जी की विशिष्टता पर विचार व्यक्त करते हुए आचार्य केशरी कुमार ने लिखा है कि “हिन्दी साहित्य

का वह प्रथम प्रभाव था, जब भारतेन्दु ने सरस्वती की वीणा में जागरण का स्वर भरा था। 'नील गगन में संध्यातारा का, पावस में प्रथम फुहार का तथा माला में प्रथम मणि का जो रमणीय और महत्वपूर्ण स्थान है, वही स्थान हिन्दी साहित्य में नवयुग-प्रवर्तक भारतेन्दु हरिश्चंद्र का है'। संदेश में दैन्य की प्रचंड ज्वाला को धू-धू जलती देखकर भी रीतिकालीन कवि किसी अज्ञात नायिका को अभिसार का उपदेश दे रहे थे, जब कविता कल्याणी सभा की परी बन रही और जब राधा-कृष्ण की आड़ में कलुषित प्रेम की शत-सहस्र उदभावनाएँ की जा रही थी, उसी समय प्रगति की पताका और राष्ट्रीयता का शंख लिए तरुणार्ई के मस्त कवि भारतेन्दु ने साहित्य के प्रांगण में पदार्पण किया और हमें सर्वप्रथम यह राष्ट्र-ध्वनि सुनाई दी -

“रोबहु सब मिलिकै आवहु भारत भाई ।

हा, हा, भारत दुर्दशा न देखी जाई ॥”

शृंगारिकताके जिस प्रवाह को भूषण के कड़खे भी नहीं रोक सके थे, उसे भारतेन्दु के इस करुण उद्बोधन-गान ने न केवल अवरुद्ध ही कर दिया, वरन उसे प्रतिकूल दिशा में मोड़कर राष्ट्रीयता की ओर प्रवाहित भी कर दिया। फिर तो उनके पीछे चलनेवालों की कतार-सी बंध गई, जो अब तक अविकल और अविच्छिन्न है।” आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी भारतेन्दु का महत्व स्पष्ट करते हुए कहते हैं, ‘भारतेन्दु ने काव्य को दरबारीपन से निकालकर लोकजीवन के आमने-सामने खड़ा कर दिया।”

भारत और अंग्रेजों के मध्य शासक-शासित और शोषक-शोषित का संबंध हो गया स 1857 ईस्वी की क्रांति ने आम जनता में नई चेतना भर दी और उनमें शनैः शनैः राष्ट्रीयता एवं एकता के भाव जागृत हो रहे थे। यही कारण है कि भारतीय स्वाधीनता आंदोलन में पहली बार सम्पूर्ण देश एक साथ, एकजुट होकर खड़ा था तथा इस संघर्ष और लड़ाई में सभी ने अपनी महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। भारतेन्दु युगीन साहित्य में संगठित राष्ट्रीयता की भावना प्रथम आह्वान था और यहीं से देश में राष्ट्रीयता और एकता का का जयनाद प्रारंभ हुआ। भारतेन्दु तथा भारतेन्दु मण्डल के सभी साहित्यकारों की रचनाओं में देशप्रेम की भावना अभिव्यक्त हुई है। भारतेन्दु जी अंग्रेजी राज के विषय में जनता को आगाह करते हुए लिखते हैं,

“अंग्रेज राज सुख साज सजे सब भारी।

पै धन विदेस चलि जात यहै अति खवारी॥”

अंग्रेजी हुकूमत के अत्याचारों का वर्णन व्यंग के माध्यम से व्यक्त करते हुए भारतेन्दु लिखते हैं -

“भीतर भीतर सब रस चूसै, बाहर से तन-मन-धन मुसै ।

जाहिर बातन में अति तेज, क्यों सखि ! साजन ? नहिं अँगरेज ॥”²

परतंत्रता की बेड़ियों में जकड़े भारत की यथास्थिति का वर्णन करते हुए कहते हैं कि देश की क्या दशा हो गई है , सभी ओर से हमारा देश और देशवासी सभी इस शासन व्यवस्था से पीड़ित हैं और देश हित की चिंता से व्यग्र हैं ख

“हाय ! वहै भारत-भुवि भारी। सब ही विधि सौं भई दुखारी ॥

हाय चित्तौर ! निलज तू भारी। अजहुँ खरो भारतहि मँझारी ॥”³

यही नहीं भारतेन्दु भाषा की महत्ता की स्थापना करते हुए ये बतलाने का भी प्रयास करते हैं कि स्व भाषा की उन्नति ही मूल है, किसी भी राष्ट्र के निर्माण एवं उसकी पहचान उस राष्ट्र अपनी भाषा ही हो सकती है और हृदय की पीड़ा को भाषा के ज्ञान से ही दूर किया जा सकता है। भाषा की उन्नति के बिना न उस देश का विकास होगा न वहाँ की जनता का, इसलिए वे भाषा के महत्व को दर्शाते हुए लिखते हैं कि,

“निज भाषा उन्नति अहै, सब उन्नति को मूल।

*बिन निज भाषा ज्ञान के मिटत न हिय के शूल॥*⁴

उनका मानना है कि दूसरों की भाषा सीखकर या उसका ज्ञान प्राप्त कर हम भले ही सभी कार्यों में निपुण हो जाए, परंतु अगर हमें अपनी निज भाषा का ज्ञान नहीं होगा तो हमारा समुचित विकास असंभव है, कवि का मानना है कि हम उन्नति के पथ पर तभी बढ़ सकते हैं जब हमारे देश का, वहाँ की संस्कृति का, वहाँ की भाषा का विकास होगा तभी सही अर्थों में उस देश के नागरिक का समुचित विकास संभव है, अन्यथा हम हीन के हीन ही रह जाएंगे। इन भावनाओं को वो अपनी कविता *भाषा महत्व* में अभिव्यक्त करते हुए लिखते हैं कि,

“अंग्रेजी पढ़ि के जदपि, सब गुण होत प्रबीन।

पै निज भाषा ज्ञान बिन, रहत हीन के हीन॥”

जनमानस में अपने देश की उन्नति एवं विकास की भावना को जागृत करने के लिए तथा उन्हें अपने कर्तव्य का बोध कराने तथा देश की उन्नति में उनका क्या योगदान एवं महत्व है, साथ ही उनकी भी पूर्ण उन्नति तभी होगी जब देश की उन्नति होगी, का भाव जगाने के लिए, वे लिखते हैं –

“उन्नति पूरी तबहि, जब घर उन्नति होय।

*निज शरीर उन्नति किए, रहत मूढ़ सब लोग॥”*⁵

भारतेन्दु जी ने जहाँ एक ओर देशवासियों में अपने देश के प्रति भक्ति, समाजसुधार की भावना, राष्ट्रीय पुनर्जागरण तथा आत्मगौरवबोध का भाव उत्पन्न किया तो, वहीं दूसरी ओर मातृभाषोद्धार, कविता के क्षेत्र में यथार्थ चित्रण, राष्ट्रीयता की भावना का व्यापक चित्रण कर साहित्य में एक नई क्रांति को जागृत किया, इनके प्रभाव से उनके अल्प जीवनकाल में ही साहित्यकारों का एक खास मण्डल तैयार हो गया, जिनमें पं. प्रतापनारायण मिश्र, उपाध्याय बदरीनारायण चौधरी ‘प्रेमघन’, ठाकुर जगमोहन सिंह, पं. बालकृष्ण भट्ट, अंबिकादत्त व्यास, राधाकृष्णदास आदि।⁶ इन सभी साहित्यकारों की रचनाओं में तत्कालीन राजनीतिक वैषम्य, सामाजिक अव्यवस्था, विदेशी शासन के प्रति आक्रोश, तत्कालीन समाज के प्रति विक्षोभ एवं नवभारत की कल्पना की अभिव्यक्ति हुई है। भारतेन्दु की भांति ही पं. प्रतापनारायण मिश्र जी भी कविताओं में हिन्दीभाषा की महत्ता तथा देशवासियों का कल्याण तभी संभव है जब सबकी एक भाषा हो और सभी देशवासी उस एक भाषा के माध्यम से एक-दूसरे के साथ एक सूत्र में बंधे रहे। अपनी भावनाओं को अभिव्यक्त करते हुए अपनी पत्रिका ब्राह्मण में वे लिखते हैं,

“चह हूँ साँचहु निज कल्याण, तौ सब मिलि भारत संतान ।

*जपो निरंतर एक जबान, हिन्दी, हिन्दू, हिन्दुस्तान ॥”*⁷

इस प्रकार हम देखते हैं कि भारतेन्दु काल में राष्ट्रप्रेम की भावना एवं सामाजिक दुर्दशा का चित्रण, देश की समस्या पूर्ति आदि की अभिव्यक्ति हुई है।

भारतेन्दु युग में जिन काव्य प्रवृत्तियों का सूत्रपात हुआ उन्हीं प्रवृत्तियों को द्विवेदी युग में विकसित और पल्लवित कर नवजागरण का संदेश इस युग के कवियों ने अपनी रचनाओं के माध्यम से दिया स आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी ने नैतिकता, मर्यादा, भाषा, संस्कृति, समाज सुधार आदि पर विशेष बल दिया। यही कारण है कि राष्ट्रीयता, देशप्रेम, स्वदेशाभिमान, समाज सुधार, आदर्शवाद, नैतिकता, नवजागरण का स्वर द्विवेदीयुगीन कविता में अधिक मुखर रूप में अभिव्यक्त हुई स महावीर प्रसाद द्विवेदी जी की सबसे बड़ी उपलब्धि है। खड़ी बोली हिन्दी को काव्यभाषा के पद पर प्रतिष्ठित करना। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने लिखा है, “हम पं. महावीर प्रसाद द्विवेदी को पद्य रचना की एक प्रणाली के प्रवर्तक के रूप में पाते हैं।”⁸ द्विवेदी युग के प्रमुख साहित्यकारों में

मैथिलीशरण गुप्त, गोपालशरण सिंह, गया प्रसाद 'सनेही', लोचन प्रसाद पाण्डेय, अयोध्या सिंह उपाध्याय 'हरिऔध', नाथुरामशर्मा 'शंकर', श्रीधर पाठक, राय देवीप्रसाद पूर्ण, रामनरेश त्रिपाठी, रामचरित उपाध्याय आदि।

द्विवेदी युग के सर्वश्रेष्ठ कवि मैथिलीशरण गुप्त जी 1912 ई. में भारत-भारती लिखकर तत्कालीन समय में जन-जागरण का शंखनाद किया, राष्ट्रीयता की ऐसी भावना जन-मानस में भरी, जहाँ हिन्दू और मुसलमानों का भेदभाव नहीं है, राजा और रंक का पार्थक्य नहीं है, सम्पूर्ण भारत की एक ही समस्या है और एक ही लक्ष्य है- भारत की स्वाधीनता। भारत की अखंडता और विशालता का गुणगान करते हुए गुप्त जी 'भारत-भारती' में लिखते हैं कि-

“भू-लोक का गौरव प्रकृति का पुण्य लीला स्थल कहाँ ?

फैला मनोहर गिरी हिमालय और गंगाजल जहाँ।

सम्पूर्ण देशों से अधिक किस देश का उत्कर्ष है?

उसका कि जो ऋषिभूमि है, वह कौन ? भारतवर्ष है।”⁹

भारतेन्दु जी के समय में स्वदेशप्रेम की भावना जिस रूप में चली आ रही थी, उसका विकास भारत-भारती में मिलता है। सत्याग्रह, अहिंसा, मनुष्यत्ववाद, विश्वप्रेम, किसानों और श्रमजीवियों के प्रति प्रेम और सम्मान, सबकी झलक हम पाते हैं। भारतीयों का आह्वान करते हुए कहते हैं कि,

“क्षत्रिय! सुनो अब तो कुयश की कालिमा को मेट दो।

निज देश को जीवन सहित तन मन तथा धन भेंट दो।

वैश्यों ! सुनो व्यापार सारा मिट चुका है देश का

सब धन विदेशी हर रहे हैं, पार है क्या क्लेश का ?”¹⁰

भारत की समस्या, परतंत्रता की बेड़ियों में जकड़े भारतमाता एवं भारतवासियों की दुर्दशा को देखते हुए भारत के समृद्ध, स्वर्णिम तथा गौरवशाली अतीत की छवि का आह्वान करते हुए, कहते हैं कि -

“हम कौन थे, क्या हो गए और क्या होंगे अभी।

आओ विचारें मिलकर यह समस्याएँ सभी।”¹¹

इसी प्रकार कवि नाथुराम शर्मा शंकर जी ने देश प्रेम, स्वदेशी प्रयोग, समाज ख सुधार हिन्दी ख प्रेम को अपनी रचनाओं का प्रतिपाद्य बनाया एवं सामाजिक कुरीतियों, आडंबरों, अंधविश्वासों पर तीखे व्यंग किए।¹² देशवासियों का आह्वान किया, भारत माता के सपूतों का आह्वान किया कि- अब समय आ गया है अपने देश की रक्षा के लिए बलिदान होने की, मातृभूमि को गुलामी की जंजीरों से मुक्त करने की-

“देश-भक्त वीरों, मरने से नेक नहीं डरना होगा।

प्राणों का बलिदान देश की वेदी पर करना होगा।”

कवि रामनरेश त्रिपाठी जी ने भी देशप्रेम को सर्वोपरि माना है तथा पराधीनता किस प्रकार मनुष्य को पशु के समान बना देता है-

“पराधीन रहकर अपना सुख शोक न कह सकता है।

वह अपमान जगत में केवल पशु ही सह सकता है।”¹³

वस्तुतः द्विवेदी युग के कवियों ने राष्ट्रीयता, सामाजिक समता, एकता पर विशेष बल दिया है। वे जड़ता और निष्क्रियता को समाप्त कर आत्मगौरव की भावना जागृत करने पर विशेष बल देते थे।

द्विवेदी युग की प्रतिक्रिया स्वरूप आए छायावादी काव्य में भी तत्कालीन पराधीनता ने राष्ट्रीयता, आत्मगौरव,

मानवतावाद जैसे मूल्य विद्यमान हैं एवं तत्कालीन राजनीतिक, सामाजिक और सांस्कृतिक परिस्थितियाँ अभिव्यक्त हुई हैं। छायावाद के प्रमुख चार स्तंभों में जयशंकर प्रसाद, सुमित्रानंदन पंत, सूर्यकांत त्रिपाठी निराला और महादेवी वर्मा। भारतीय जनमानस में आशा, उत्साह एवं आत्मविश्वास का संचार करने के लिए इन कवियों ने भारत के अतीत गौरव का गान किया सजयशंकर प्रसादजी भारत के अतीत गौरव, राष्ट्रीयता एवं सांस्कृतिक जागरण के उद्घोषक रहें हैं। प्रसाद जी के गीत- “हिमाद्रि तुंग शृंग से प्रबुद्ध शुद्ध भारती। स्वयंप्रभा समुज्ज्वला स्वतंत्रता पुकारती।” में उन्होंने भारत की महिमा का विशद वर्णन किया है। प्रसाद जी ने अपनी कविताओं के माध्यम से राष्ट्रीयता एवं स्वदेशानुराग की भावना को अभिव्यक्त किया है, भारत भूमि की श्रेष्ठता का प्रतिपादन करते हुए वे कहते हैं-

“अरुण यह मधुमय देश हमारा।

जहाँ पहुँच अनजान क्षितिज को मिलता एक सहारा॥”

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी जी ने ‘पुराणमित्येव न साधु सर्वं, न चापि काव्यं नवमित्यवद्यम्’ के निकष पर प्रसाद जी के विषय में लिखा है- “प्रसाद जी ने विषय अधिकांश प्राचीन साहित्य के लिए हैं, पर सबको नवीन भारत के बीजारोपण में विनियुक्त किया है। वह दिन सचमुच हिन्दी कविता की मुक्ति का दिन था, जब कवि ने परिपाटी विहित रसज्ञता और रूढ़ि समर्थित काव्य-कला को साथ ही चुनौती दी।”¹⁴

अपने ‘लहर’ नामक काव्य-संकलन में ‘शेरसिंह का आत्म समर्पण’ एवं ‘पेशोला की प्रतिध्वनि’ में दोनों ही कविताएँ स्वातंत्र्य चेतना से युक्त हैं। पेशोला की प्रतिध्वनि कविता में देश के प्रति उत्तरदायित्व और राष्ट्रीयता की भावना अभिव्यक्त हुई है एवं प्रश्न भी की इस परिस्थिति में कौन विचलित नहीं होगा, देश के लिए प्रतिबद्धता भी-

कौन लेगा भार यह ?

कौन विचलेगा नहीं ?”¹⁵

सूर्यकांत त्रिपाठी निराला जी की कविता जागो फिर एक बार में भी जनमानस को जगाने की भावना की अभिव्यक्ति हुई है। राम की शक्ति पूजा में भी ‘शक्ति की करो मौलिक कल्पना’ का भाव अभिव्यक्त हुआ है। निराला जी ने राष्ट्रीय प्रगीत भी लिखे हैं, उनके भारतीयजय विजयकरेगीत में उदात्तता, राष्ट्रीय आदर्शों और मानवता के गुणों की अभिव्यंजना हुई है। कुकुरमुत्ता जैसी व्यंग-प्रधान कविता का सृजन कर उन्होंने पूँजीपतियों के विरुद्ध अपने विद्रोही तेवर को प्रतीक-योजना के माध्यम से अभिव्यक्ति दी है, जिससे समाज की समस्त विद्रूपताओं का नग्न चित्र साकार हो उठा है- “अबे सुन बे, गुलाब,

भूल मत जो पाई खुशबू, रंगोआब,

खून चूसा खाद का तूने अशिष्ट,

डाल पर इतराता है केपीटलिस्ट !”¹⁶

एक भारतीय आत्मा के नाम से प्रसिद्ध माखनलाल चतुर्वेदी जी की कविता पुष्प की अभिलाषा में भी राष्ट्रीय भावना की अभिव्यक्ति हुई है, एक पुष्प के माध्यम से कवि ने राष्ट्र के प्रति समर्पण के भाव को व्यक्त किया है। अगर एक पुष्प अपने देश के लिए जा रहे वीर जवानों के मार्ग में बिछ कर उनके पैरों से कुचले जाने में ही अपने जीवन की सार्थकता मानते हैं, तो हम भारतवासी अपने देश के प्रति अपने कर्तव्य को कैसे भूल सकते हैं-

“मुझे तोड़ लेना वनमाली, उस पथ पर देना तू फेंक ।

मातृभूमि पर शीश चढ़ाने, जिस पथ जावें वीर अनेक ॥”¹⁷

राष्ट्रकवि रामधारी सिंह दिनकर प्रेम, राष्ट्रीयता और क्रांति के कवि हैं। इनकी रचनाओं में नवजागरण के उद्घोष, भारत के महिमाशाली अतीत का चित्रण और राष्ट्रीयता की भावना की चिंतनमुक्त ओजस्वी अभिव्यक्ति हुई है। इनकी कविताओं में पराधीन भारत की टीस, हमारी सांस्कृतिक विरासत और क्रांति की ललकार का स्वर एक साथ ही सुनाई देता है। इन्होंने अपनी अनेक रचनाओं के माध्यम से देशभक्ति की भावना को तथा देशवासियों में अपने देश के प्रति कर्तव्यनिष्ठा का भाव जगाने का प्रयास किया है स कुरुक्षेत्र, रश्मीरथी, हुंकार आदि रचनाओं में यह भावअभिव्यक्त हुआ है। हिमालय कवितामें वे कहते भारतमाता को अभि अपने वीर सपूतों की आवश्यकता है -

“रे! रोक युधिष्ठिर को न यहाँ,
जाने दे उनको स्वर्गधीर !
पर फिरा हमें गाँडीव, गदा,
लौटा दे अर्जुन, भीम वीर।”¹⁸

इसी प्रकार अन्य कवियों ने भी अपनी-अपनी कविताओं के माध्यम से जनमानस में राष्ट्रीयता का भाव जगाने का प्रयास किया है। कवयित्री सुभद्रा कुमारी चौहान की कविता झांसी की रानी, में जहाँ एक ओर रानी लक्ष्मी बाई की वीरता, निडरता एवं साहस को दर्शाया है तो वहीं दूसरी ओर समस्त नारी जाति का आह्वान किया है तथा नारी-शक्ति को जागृत करने का प्रयास किया है -

लक्ष्मी थी या दुर्गा थी वह स्वयं वीरता की अवतार,
देख मराठे पुलकित होते, उसकी तलवारों के वार ,

.....

चित्रा ने अर्जुन को पाया, शिव को मिली भवानी थी,
बुंदेले हर बोलों के मुहँ हमने सुनी कहानी थी,
खूब लड़ी मर्दानी वह तो झांसी वाली रानी थी।¹⁹

कविवर गोपाल सिंह ‘नेपाली’ जी ने भी अपनी कविताओं, यथा- ‘स्वतंत्रता की ओर’, ‘भाई-बहन’, विशाल भारत, मैं गायक हूँ स्वच्छंद हिमांचल का, एक देश, एक राष्ट्र, एक राष्ट्रभाषा आदि के माध्यम से भारतवासियों स्वाधीनता एवं स्वतंत्रता का भाव जगाने का प्रयास किया है। इनकी कविताओं की मूल संवेदना राष्ट्रभक्ति, राष्ट्रप्रेम एवं राष्ट्रीयता है। उमंग, पंछी, रागिनी, हिमालय ने पुकार है आदि सभी काव्य-संग्रहों राष्ट्रीय भावना विद्यमान है।

निष्कर्षतः हम कह सकते हैं कि भारतीय स्वाधीनता आंदोलन में यहाँ के साहित्यकारों ने अपनी कविताओं के माध्यम से भारतीय जनमानस में राष्ट्र के प्रति प्रेम, समर्पण, त्याग की भावना को जागृत करने का प्रयास तो किया ही साथ ही स्वयं भी भारत को स्वतंत्र कराने में अपनायोगदान दिया एवं स्वाधीनता आन्दोलनों में बढ़चढ़ कर भाग लिया।

संदर्भ :

1. सुखदा पांडेय, साहित्य और इतिहास, भारती भवन, प्रथम संस्करण, पृ. 92
2. वही, पृ. 85
3. आ. रामचंद्र शुक्ल, हिन्दी साहित्य का इतिहास, अशोक प्रकाशन, प्रथम संस्करण, 2010, पृ. 349
4. सुखदा पांडेय, साहित्य और इतिहास, पृ. 87
5. <http://kavitakosh.org>, दिनांक 21/03/2023, समय संध्या 06:00

6. आ. रामचंद्र शुक्ल, हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ. 267
7. ब्राह्मण पत्रिका, सं. प्रतापनारायण मिश्र, वर्ष 1883
8. आचार्य रामचंद्र शुक्ल, हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ. 360
9. मैथिलीशरण गुप्त, भारत भारती, अतीत खंड, भारत वर्ष की श्रेष्ठता -15
10. आचार्य रामचंद्र शुक्ल, हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ. 364
11. मैथिलीशरण गुप्त, भारत-भारती, अतीत खंड, उपक्रमणिका -14
12. किरण बाला, हिन्दी भाषा और साहित्य, बी.के. पब्लिशिंग हाउस 20, यू.पी., पृ. 192
13. hindisahityavimarsh.blogspot.com, दिनांक 24/03/2023, को 12:00 अपराह्न देखा गया।
14. सुखदा पांडेय, साहित्य और इतिहास, पृ. 114
15. जयशंकर प्रसाद, लहर, लोकभारती प्रथम संस्करण, 2019, पृ. 66
16. सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला', राग-विराग, सं. रामविलास शर्मा, लोकभारती प्र.सं. 2012, पृ. 144
17. <https://www.hindwi.org>, दिनांक 25/03/2023 को 10:00 पूर्वाह्न देखा गया।
18. www.kavitakosh.org/dinkar, दिनांक 25/03/2023 को 12:00 अपराह्न देखा गया।
19. www.hindwi.org, दिनांक 27 /03/2023 को 09:00 पूर्वाह्न देखा गया।



अंतरानुशासनात्मक अध्ययन की दृष्टि और उपयोगिता

○ शंभुनाथ मिश्र

मुक्तिबोध ने साहित्य के अध्ययन की प्रणाली पर विचार करते हुए कहा है कि साहित्य का अध्ययन एक प्रकार से मानव सत्ता का अध्ययन है। अतएव जो लोग केवल ऊपरी तौर पर साहित्य का विहंगावलोकन अथवा समाजशास्त्रीय निरीक्षण कर चुकने में अपनी इतिकर्तव्यता समझते हैं, वे एकपक्षीय अतिरेक का शिकार हैं। ऐसे व्यक्ति साहित्य के ऐतिहासिक अथवा समाजशास्त्रीय परिवेश की बात कर चुप हो जाते हैं। आवश्यकता तो इस बात की है कि आलोचना में ऐतिहासिक, समाजशास्त्रीय तथा मनोवैज्ञानिक-सौंदर्यात्मक विवेचना की संपूर्ण एकात्मता रहे।¹ मुक्तिबोध का उपर्युक्त कथन वास्तव में साहित्य के अध्ययन की उपयुक्त पद्धति की आवश्यकता को रेखांकित करता है। किसी भी समय का साहित्य उस समय का रचनात्मक पाठ भर न होकर सांस्कृतिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक पाठ भी होता है। इसलिए साहित्य के अध्ययन, विश्लेषण और आलोचना के चिह्नांकित दायरे में उसके समग्र पाठ का अवबोधन कर पाना अत्यंत कठिन है। हमारी आलोचना के औजार भी इस तरह के होने चाहिए जो इस संश्लिष्ट पाठ को भेदकर उसके समूचे संदर्भों के साथ हमारे सामने रख सकें।

आलोचना और साहित्य सृजन का अन्योन्याश्रित संबंध है। आलोचना की भूमिका पर विचार किए बिना साहित्य के समग्र परिदृश्य बात करना अप्रासंगिक और अधूरा है। पश्चिमी साहित्य जगत में इस पर लंबी बहस हो चुकी है कि आलोचना की वास्तविक भूमिका और महत्व क्या है? एफ.आर.लेविस अपनी महत्वपूर्ण पुस्तक 'एन एक्सपरिमेंट इन क्रिटिसिज्म' में दो प्रश्नों से टकराने की कोशिश की है— एक, क्या यह आरोप सही है कि आलोचक एक नितांत परोपजीवी (Parasite) होता है, और उसके आलोचना कर्म का प्राथमिक महत्व नहीं हो सकता। और दूसरा प्रश्न, कि क्या आलोचना की भी कोई प्रविधि हो सकती है। इन दोनों प्रश्नों से टकराने के बाद लीविस इस निर्णय पर पहुँचे कि न तो आलोचना को द्वितीयक महत्व का कार्य कहा जा सकता है और न ही यह 'प्रविधिहीन' होती है। वास्तव में आलोचना तब गैर रचनात्मक होती है जब यह केवल साहित्य की आलोचना करती है, साहित्य में निहित कला की नहीं। वास्तव में किसी "आलोचना की सार्थकता इस बात में निहित है कि वह किसी रचना की बनावट (Structure) और बुनावट (Texture) को यथा संभव निस्संगता के साथ इस तरह निरूपित कर दे कि रचना का बहिरंग और अंतरंग दोनों इस प्रकार उद्भाषित हो उठें कि उनका सामंजस्य, उसके कला मर्म की स्वतः ही समझ देने लगे। इस लक्ष्य की सिद्धि के लिए जिस निस्संगता और विवेक की आवश्यकता होती है, उसकी संभाव्यता प्रविधि के अंतर्गत ही हो सकती है।"² वास्तव में किसी प्रविधि या पद्धति की अनुपस्थिति में आलोचना 'कोलाज शैली' की चित्रकला के समान होगी। साहित्य के अध्ययन की विभिन्न पद्धतियाँ अब प्रकाश में आ चुकी हैं। साहित्य के अध्ययन की पद्धतियों में अन्तर-अनुशासनात्मक अध्ययन, अंतर्पाठीयता, ऐतिहासिक और सांस्कृतिक अध्ययन जैसी पद्धतियाँ विशेष रूप से

संभावनाशील मानी जा रही हैं। इनके जरिये साहित्य को एक साहित्यिक या कलात्मक पाठ से आगे जाकर एक समाजशास्त्रीय, ऐतिहासिक, राजनीतिक या मनोवैज्ञानिक विश्लेषण के लिए समर्थ पाठ के रूप में देखा जा सकता है। अन्तर-अनुशासनात्मक अध्ययन इनमें सर्वप्रमुख है और एक तरह से इन नई पद्धतियों का उत्प्रेरण बिन्दु भी।

अन्तर-अनुशासनात्मकता का अर्थ है दो या दो से अधिक अनुशासनों के बीच संवाद या आवाजाही। विगत कुछ वर्षों में अनुशासन और अन्तर-अनुशासनात्मकता के बीच की सीमा रेखा काफी धुंधली हुई है। दोनों के बीच एक मुक्त आवाजाही की संभावना लगातार निर्मित हुई है। अन्तर-अनुशासनात्मक दो शब्दों से मिलकर बना है- अन्तर और अनुशासनात्मक। अन्तर का अर्थ है 'के बीच', 'के मध्य' या 'बीच में' और अनुशासनात्मक का अर्थ है ज्ञान की एक विशिष्ट शाखा से या उससे संबंधित। प्रत्येक अनुशासन का अपना बौद्धिक इतिहास, सहमतियाँ-असहमतियाँ और ज्ञान को समझने के अपने विशिष्ट औजार होते हैं। पारंपरिक तौर पर ज्ञानानुशासनों को तीन मोटे भागों में विभाजित किया जा सकता है- 1. प्राकृतिक विज्ञान, 2. समाज विज्ञान, 3. मानविकी। प्राकृतिक विज्ञानों का उद्देश्य है विश्व के बनने और उसके संचालित होने की जटिल प्रक्रिया का अध्ययन। समाज विज्ञान 'मानव विश्व' की संरचना और उसकी बेहतरी के साधनों का अध्ययन करते हैं, जबकि मानविकी मूलतः मानव व्यवहारों, प्रक्रियाओं और उसके अनुभवों के अध्ययन पर आधारित है। अन्तर-अनुशासनात्मक पद्धति इस बात पर जोर देती है कि इन सभी अनुशासनों को अलग-अलग न देखकर एक दूसरे के आश्रय से एक संपूर्ण पाठ (Whole Text) के रूप में संकल्पित किया जाय और उसी रूप में व्याख्या भी की जाय। वस्तुतः ज्ञान के सारे ही अनुशासन मनुष्य और उसके विकास की प्रक्रिया के फलस्वरूप पैदा हुये हैं, तब यह कैसे हो सकता है कि अन्य अनुशासनों के जरिये अपनी बौद्धिक और भौतिक उन्नति को प्राप्त करने वाला, अपने अनुभवों के प्रकटीकरण के माध्यम साहित्य में आकर बिल्कुल निरपेक्ष सोच रखे। अन्तर-अनुशासनात्मकता में साहित्य को किसी अलग विचार क्षेत्र का विषय न मानकर संपूर्ण ज्ञान सत्ता के साथ उसके विकासक्रम के अध्ययन पर जोर दिया जाता है। अन्तर-अनुशासनात्मकता इसी मूल सिद्धांत पर काम करती है।

आलोचना और अनुसंधान के क्षेत्र में इसने कई पारंपरिक दीवारों को तोड़ा है या इन दीवारों के आर-पार झाँकने की कोशिश की है। अन्तर अनुशासनात्मकता में प्रयुक्त पद 'अन्तर' केवल दो या अधिक के 'बीच में' को ही इंगित नहीं करता बल्कि, इसका अर्थ अत्यंत व्यापक है। अन्तर अनुशासनात्मकता के पक्षधर इस बात पर जोर देते हैं कि हमारे अध्ययन का क्षेत्र कोई एक अनुशासन या उसकी समस्या नहीं है। वे तो अनुशासन की बात ही नहीं करते। उनका मत है कि ज्ञान के क्षेत्र में इस तरह की किसी भी अनुशासनिक बाध्यता का होना बिल्कुल भी आवश्यक नहीं है। वे अनुशासन की बजाय अपने को किसी समस्या, मुद्दे या बौद्धिक प्रश्न पर केंद्रित करते हैं और इसके उपयुक्त समाधान के लिए विभिन्न अनुशासनों के बीच बेरोकटोक आवाजाही को समर्थित करते हैं। ज्ञान के क्षेत्र में अन्तर-अनुशासनात्मकता के प्रबल समर्थक क्लीन एवं न्युएल (Klein & Newell) ने इसको परिभाषित करते हुये लिखा, "(interdisciplinary studies is) a process of answering a question, solving a problem or addressing a topic that is too broad complete to be dealt with adequately by a simple discipline or profession... draws on disciplinary perspectives and integrates their insights through construction of a more comprehensive perspective."⁴ इनके अनुसार जब कोई समस्या या प्रश्न इतने वृहद परिप्रेक्ष्य में हमारे सामने हो कि किसी एक अनुशासन की सीमा में उसे हल करना संभव न हो तब अन्तर-अनुशासनात्मकता हमारी सहायता करती है। डॉ. इंद्रनाथ चौधुरी के अनुसार अन्तर-अनुशासनिक आलोचना तुलनात्मक आलोचना का ही नया स्वर है।⁵ विभिन्न अनुशासनों के बौद्धिक आविष्कार के आश्रय से इसकी नींव रखी गई है। विशेष तौर से समाज विज्ञानों के क्षेत्र

में पिछले वर्षों में हुई प्रगति के फलस्वरूप जो दृष्टियाँ हमने प्राप्त की हैं, उनसे इस आलोचना का प्रसार हुआ है। सामान्य रूप से कहीं तो अन्तर-अनुशासनात्मक आलोचना दृष्टि इस विश्वास के साथ आगे बढ़ती है कि किसी भी कृति की व्याख्या या विश्लेषण और मूल्यांकन विभिन्न अनुशासनों के आश्रय से भली प्रकार किया जा सकता है। किसी एक साहित्यिक रचना को विशुद्ध कलाकृति के रूप में भी पढ़ा जा सकता है, कला सिद्धांतों के सहारे उसका विश्लेषण भी किया जा सकता है। उसी रचना को यदि मानव विज्ञान, इतिहास, दर्शन, राजनीतिशास्त्र या समाज-वैज्ञानिक अनुशासनों से प्राप्त अन्य दृष्टियों के आलोक में विश्लेषित किया जाय तो, निश्चय ही अधिक लाभ की संभावना रहती है। इंद्रनाथ चौधुरी अन्तर-अनुशासनात्मक अध्ययन को तुलनात्मक साहित्य या आलोचना का एक रूप मानते हैं और इसके लिए 'अन्तर-विद्यावर्ती' शब्द का प्रयोग करते हैं जो अन्तर-अनुशासनिक का समानार्थी कहा जा सकता है। डॉ. नगेंद्र ने भी इसे तुलनात्मक साहित्य का ही एक पक्ष स्वीकार किया है। उनके अनुसार, "तुलनात्मक साहित्य एक प्रकार का अन्तः साहित्यिक अध्ययन है तथा साहित्य के साथ-साथ ज्ञान के दूसरे क्षेत्रों का भी तुलनात्मक अध्ययन है, जो अनेक भाषाओं को आधार मानकर चलता है।"⁶ इंद्रनाथ चौधुरी इस परिभाषा को थोड़ा विस्तार देते हुये कहते हैं- "तुलनात्मक साहित्य विभिन्न साहित्यों का अध्ययन है और तथा साहित्य के साथ ज्ञान के दूसरे क्षेत्रों का भी तुलनात्मक अध्ययन है।"⁷ अन्तर-अनुशासनिक और तुलनात्मक अध्ययन एक दूसरे के समानार्थी न होते हुये भी पारस्परिक रूप से निकटस्थ पद्धतियाँ हैं। वस्तुतः तुलनात्मक अध्ययन अपनी मूल संरचना में ही एक से अधिक अनुशासनों की समझ की माँग करता है। रचना या साहित्य को निरपेक्ष स्थितियों में रखने की परंपरा का निषेध इसके मूल में है। इंग्लैंड में बीसवीं सदी के प्रारंभ से एकेडमिक आलोचना का विकास प्रारंभ हुआ जिसका विकास करने वालों में सेंटबरी, डाउडन, ब्रेडले आदि का नाम लिया जाता है, लेकिन इनकी आलोचना के अधिक शास्त्रीय झुकाव के चलते जल्द ही इसके उलट विद्वानों का रुझान अंतर्विद्यावर्ती आलोचना की ओर हुआ। फ्रांस में ऐतिहासिक आलोचना के प्रसार से भी इस दृष्टि को बल मिला। भारत में 1920 के आस-पास इस तरह की आलोचना का थोड़ा-बहुत प्रसार हुआ⁸ लेकिन उसमें भी सार-संग्रहवादिता अधिक रही। सार-संग्रहवादिता को 'मेटा कृटिसिज़्म' कहा जाता है जिसके जरिये साहित्य को आधार में रखकर साहित्येतर उद्देश्यों की पूर्ति की जाती है, जैसे किसी कृति के माध्यम से लेखक के जीवन, व्यक्तित्व, समाज आदि के बारे में जानकारी प्राप्त करना। 'मेटा-कृटिसिज़्म' जब बहुत अधिक साहित्येतर तथ्यों पर निर्भर रहने लगा, तब उसकी प्रतिक्रिया स्वरूप सार्त्र, पूले आदि ने फिर से दर्शन का आश्रय लेकर आलोचना शुरू की। आगे चलकर जॉर्ज लुकाच की सामाजिक दृष्टि, लेवी स्ट्रास की मानव-वैज्ञानिक और भाषा-शास्त्रीय दृष्टि तथा नव्य-फ्रायडवादियों की दृष्टियों से सहायता लेकर साहित्य के अध्ययन की जो नई पद्धति उभरी उसे अन्तर-अनुशासनिक पद्धति का प्रारंभ कहा जा सकता है। इसके जरिये रचना के सामाजिक, भाषाशास्त्रीय और सांस्कृतिक अध्ययन को विस्तार दिया जाने लगा। अन्तर-अनुशासनिक पद्धति के अंतर्गत अध्ययन के विभिन्न क्षेत्रों, आंदोलनों, विचारों के इतिहास, बौद्धिक इतिहास आदि को भी स्थान दिया गया। लोक साहित्य के अध्ययन की तो यह सर्वाधिक सफल पद्धति के रूप में उभरी है। देवेंद्र इस्सर इसको शास्त्रों या अनुशासनों की सीमा रेखा टूटने के फलस्वरूप निर्मित हुआ अनुशासन मानते हैं। उनके अनुसार, "इसमें कोई संदेह नहीं कि विभिन्न शास्त्र अपनी सीमाओं को पार करके एक दूसरे के प्रदेश में प्रवेश करते रहते हैं, और इस प्रकार एक दूसरे को प्रभावित करते रहते हैं जिसके कारण दो या दो से अधिक शास्त्र मिलकर एक नए शास्त्र को जन्म देते हैं। अतः नए-नए शास्त्र सामने आ रहे हैं। आज मनुष्य जीवन एवं सृष्टि की समस्याएँ इतनी जटिल तथा विस्तृत हो गई हैं कि किसी एक शास्त्र अथवा दृष्टिकोण से उसका अध्ययन अपर्याप्त ही नहीं बल्कि विकृतिपूर्ण भी है।"⁹ उत्तर-संरचनावाद या 'थियरी ऑफ रीडिंग' और लगातार हो रहे 'सांस्कृतिक अध्ययनों' के कारण अन्तर-अनुशासनात्मक पद्धति की आवश्यकता किसी

भी साहित्य के अध्ययन में अनिवार्य होती जा रही है ।

तुलनात्मक अध्ययन को साहित्य के विश्लेषण की सर्वाधिक उपयुक्त पद्धति मानने वाले पाश्चात्य विद्वानों के तीनों 'स्कूल' में भी अन्तर-अनुशासनात्मक पद्धति को अध्ययन का महत्वपूर्ण अंग स्वीकार किया गया है। अमेरिकी स्कूल के विद्वान तुलनात्मक साहित्य के अंतर्गत 'ज्ञान के विविध क्षेत्रों के बीच साहित्य के संबंध'¹⁰ को स्वीकार करते हैं। रेने वेलेक, हेरी लेविन और डेविड मेलोन जैसे अमेरिकी स्कूल के विद्वानों ने इसपर विशेष जोर दिया। रूसी स्कूल के विद्वान झुरमनस्की के अनुसार समाज साहित्य का आवश्यक अद्यः स्तर है तो साहित्य संयोग से उसकी अधिरचना है। कला और साहित्य का विकास सामाजिक-ऐतिहासिक विकास के समानांतर होता है, इसलिए साहित्य के अध्ययन में केवल साहित्य तक सीमित नहीं रहा जा सकता।¹¹ रेने वेलेक और ऑस्टिन वारेन ने अपनी प्रसिद्ध किताब 'Theory of Literature' में साहित्य के अध्ययन में अन्य अनुशासनों के महत्व पर विचार किया है। वे कहते हैं की अगर हम "कला और उसमें भी विशेषतः साहित्यिक कला का बौद्धिक विवेचन करना चाहें, तो यह किस प्रकार संभव होगा ? इसका एक उत्तर यह दिया जा रहा है कि यह प्राकृतिक विज्ञानों द्वारा स्थापित पद्धतियों से किया जा सकता है। आवश्यकता केवल इस बात की है कि साहित्य के अध्ययन में इन पद्धतियों का व्यवहार किया जाय।¹² इस प्रकार हम देखते हैं कि साहित्यिक आलोचना के अनेक विद्वानों ने अन्तर-अनुशासनात्मक पद्धति को साहित्य के अध्ययन की एक महत्वपूर्ण पद्धति माना है।

सदियों से इतना कुछ लिखे जाने के बावजूद भी यह प्रश्न अब तक उठाया जा रहा है की साहित्य वास्तव में क्या है और इसके बारे में हमारी समझ कितनी है ? बुनियादी समस्या यह भी है की कोई लेखन साहित्य कैसे बनता है और क्या विशुद्ध साहित्य जैसी कोई चीज है? साथ ही यह प्रश्न भी कि क्या साहित्य मात्र सौंदर्य शास्त्र का मुद्दा है या भाषा शास्त्र, समाज शास्त्र या अन्य समाज विज्ञानों से उसका कुछ लेना-देना भी है। वर्तमान दौर में, विशेषतः उत्तर-संरचनवादी चिंतन और सांस्कृतिक अध्ययनों के चलते इन प्रश्नों के उत्तर और भी जटिल हो गए हैं। विगत 20-25 वर्षों में ऐसी चिंतन पद्धतियों का विकास हुआ है, जिन्होंने साहित्य को साहित्य रहने देने की चिंता के बजाय उसे अन्य लेखन की तरह एक स्वतंत्र स्थान दिये जाने की वकालत की है। सांस्कृतिक अध्ययन, अंतरानुशासनात्मकता का सबसे बड़ा पक्षधर है। सांस्कृतिक अध्ययनों के अनुसार किसी साहित्यिक कृति को उसके ऐतिहासिक तथा सांस्कृतिक संदर्भ में ही समझा जा सकता है। साहित्य में जो शामिल है, उसे बाह्य जगत से अलग नहीं किया जा सकता, क्योंकि साहित्य की मूल सम्पदा सांस्कृतिक प्रक्रियाओं और रीति-रिवाजों से निर्मित होती है। अन्तर-अनुशासनात्मक और सांस्कृतिक अध्ययन के पक्षधरों का मानना है कि वस्तुतः "साहित्य भी अन्य डिस्कॉर्सों की तरह एक डिस्कॉर्स है, जिसकी कोई पृथक हैसियत नहीं होती। यह वास्तव में अंतरविषयक है। तमाम विषय एक दूसरे से प्रभावित होते हैं और एक दूसरे में विलीन होते हैं।"¹³ निर्मल वर्मा ने भी अपने निबंध 'कलाकृति और आलोचना की मर्यादा' में कहा है कि, "एक कलाकृति का मूल्यांकन व्यापक संदर्भ में एक पूरी संस्कृति का मूल्यांकन हो जाता है।"¹⁴ यदि साहित्य एक कलात्मक माध्यम है तो उसका अध्ययन-मूल्यांकन भी एक गहरी सांस्कृतिक चेतना और पद्धति के साथ किया जाना आवश्यक है। इन संदर्भों में देखें तो अन्तर-अनुशासनिक पद्धति, तुलनात्मक साहित्य और सांस्कृतिक अध्ययन एक दूसरे के अनुषंगी और आश्रयी हैं। इन सब का समग्रता में अभिग्रहण ही साहित्य के अध्ययन को पूर्णता प्रदान करने में समर्थ होगा।

निष्कर्ष रूप में कहें तो तुलनात्मक अध्ययन की कोख से जन्मे अन्तर-अनुशासनात्मक अध्ययन ने साहित्यिक आलोचना के क्षेत्र में महत्वपूर्ण हस्तक्षेप किया है। अन्तर-अनुशासनात्मक पद्धति साहित्य के मूल उद्देश्यों के अनुरूप उसके विश्लेषण-मूल्यांकन के प्रयासों का प्रस्ताव करती है। साहित्य और कलाओं की अपनी कोई निरपेक्ष सत्ता नहीं होती, और यदि होती भी है तो अन्तर-अनुशासनात्मकता उसको खारिज करती है । किसी

भी रचना या कलाकृति को यह उसके समूचे विस्तार में जाकर अध्ययन-मूल्यांकन किए जाने की पक्षधर है। इसलिए देवेंद्र इस्सर 'थियरी ऑफ रीडिंग' के पक्षधरों के हवाले से किसी भी साहित्यिक कृति को 'अन्य डिस्कोर्स' की तरह एक डिस्कोर्स' मानते हैं। वस्तुतः ज्ञान असीम है, इसे अनुशासनों की सीमा में सुविधानुसार बाँटने के बावजूद आवश्यकतानुसार अन्य अनुशासनों से संवाद बनाए रखना चाहिए। बीसवीं सदी में यूरोप में प्रचलित 'मेटा-क्रिटिसिज्म' के प्रतिउत्तर में अन्तर-अनुशासनात्मक पद्धति ने साहित्य और कलाओं के लिए प्रचलित ज्ञानानुशासनों के बीच एक नए मार्ग का संधान किया। तुलनात्मक अध्ययन के विभिन्न स्कूलों ने इसको लेकर पर्याप्त उत्साह दिखाया और इसे साहित्य के अध्ययन की एक संपूर्ण पद्धति मानने पर पर्याप्त बल दिया। वास्तव में साहित्य के अध्ययन में अन्तर-अनुशासनात्मक पद्धति की बहुत ही महत्वपूर्ण भूमिका है। इसने साहित्य को समझने की दृष्टियों में विस्तार किया। साहित्य का विश्लेषण करने की पारंपरिक पद्धति में प्रचलित सौंदर्यशास्त्रीय दृष्टि, थोड़ा बहुत ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य और सामाजिक भूमिका वगैरह बताकर आगे बढ़ने के नजरिये को इस पद्धति ने विस्तार दिया। एकेडमिक आलोचना के रूप में प्रचलित अध्ययन पद्धतियों में इसने विभिन्न अनुशासनों के बीच की बंदिशों को तोड़कर एक मुक्त आवगमन का रास्ता खोला, क्योंकि अनुशासनों की यह सीमाएँ न केवल कृत्रिम बल्कि भ्रामक भी हैं। ये वृहत्तर समाज के विभिन्न तत्वों के बीच सामंजस्य और भिन्नता की प्रक्रिया का सही चित्रण नहीं करती हैं। इसलिए अन्तर-अनुशासनात्मकता के प्रकाश में सांस्कृतिक, ऐतिहासिक, अंतर्पाठीय, सबाल्टर्न और उत्तर-औपनिवेशिक अध्ययन दृष्टियों ने विकास करना प्रारंभ कर दिया। सांस्कृतिक अध्ययन आलोचक को विभिन्न अनुशासनों का ऐसा परिपूर्ण सम्मिश्रण उपलब्ध कराते हैं जिससे साहित्य की व्यापक और एक हद तक संपूर्ण व्याख्या की जा सके, जोकि महज साहित्यिक मूल्यों के दायरे में संभव नहीं है। सांस्कृतिक अध्ययन विभिन्न अनुशासनों की संकुचित सीमा और विशिष्टता को समाप्त करने पर बल देते हैं क्योंकि ये सीमाएँ एकीकृत 'संश्लिष्ट' अनुशासन की विकास प्रक्रिया को अवरुद्ध करती हैं। साथ ही साथ सांस्कृतिक अध्ययन समाज में मौजूद विभाजन और विभेदों को उजागर करने के लिए 'सबाल्टर्न' अध्ययनों की आवश्यकता को भी रेखांकित करते हैं। राबर्ट शोलज के कथनानुसार एक पाठ के दूसरे पाठ में प्रवेश करने से एक नए पाठ का आविर्भाव होता है, और यह नया पाठ सांस्कृतिक पाठ है। इस पाठ को उन तमाम रिश्तों के अंतर्पाठीय पैटर्न का हिस्सा समझना चाहिए जो एक पाठ को दूसरे से संयुक्त करता है।¹⁵ इस तरह विस्तार में जाकर देखें तो अन्तर-अनुशासनात्मक पद्धति एक ओर साहित्य के तुलनात्मक, सांस्कृतिक, ऐतिहासिक पाठ पर जोर देती है तो दूसरी ओर अपेक्षाकृत अधिक प्रचलित साहित्य के समाजशास्त्र से अपना निकटस्थ संबंध भी स्थापित करती है। भारत सहित तीसरी दुनिया के तमाम देशों के लिए साहित्य के अध्ययन की यह पद्धति सर्वाधिक अनुकूल और प्रासंगिक भी है। भारत में साहित्य के समाजशास्त्रीय और अन्तर-अनुशासनात्मक अध्ययन के प्रारम्भिक प्रयासों में डी.डी.कोसम्बी ने (द कल्चर एंड सिविलाइजेशन ऑफ एन्सिएंट इंडिया, एन इंट्रोडक्सन टु द स्टडी ऑफ इंडियन हिस्ट्री, मिथ एंड रियलिटी) के माध्यम से भारतीय साहित्य को एक सांस्कृतिक इतिहास के रूप में देखने का प्रयास किया। आगे चलकर इस परिप्रेक्ष्य में मुक्तिबोध (कामायनी : एक पुनर्विचार), डी.पी.मुखर्जी (डाइवर्सिटीज, भारतीय साहित्य का समाजशास्त्र), पी.सी.जोशी, श्यामाचरण दुबे (परंपरा, इतिहासबोध और संस्कृति), शाहिद अमीन/ज्ञानेंद्र पांडेय (निम्नवर्गीय प्रसंग) आदि अनेक विद्वानों का उल्लेख किया जा सकता है। वास्तव में अन्तर-अनुशासनात्मकता साहित्य के अध्ययन की एक ऐसी पद्धति है जिसने सभी परम्परागत बंदिशों को तोड़कर साहित्य के पाठ, उद्देश्य और ज्ञानक्षेत्र में एक नया सीनैरियो निर्मित किया है। निश्चित रूप से समकालीन एकेडमिक, गैर-एकेडमिक और रचनात्मक आलोचना को इसका स्वागत करना चाहिए और इसके जरिये साहित्य के अध्ययन को प्रोत्साहित करना चाहिए। लगातार जटिल होते जा रहे समय और साहित्य-कला रूपों की व्याख्या के लिए पर्याप्त सैद्धांतिक और वैचारिक

तैयारी अत्यंत आवश्यक है। इस परिप्रेक्ष्य में अन्तर-अनुशासनात्मकता को एक आवश्यक दृष्टि, पद्धति, विचार या दर्शन की तरह लिया जा सकता है, जो कि साहित्य की आलोचना के लिए अपरिहार्य है। इस प्रस्ताव को अधिक दृढ़ता के साथ स्थापित करने वाली निर्मल वर्मा की पंक्तियों के साथ बात समाप्त करें तो यह कि, “हर महत्वपूर्ण आलोचक के पास अपनी दृष्टि या दर्शन होना चाहिए- सिर्फ कला के सम्बन्ध में नहीं, बल्कि समूची संस्कृति के बारे में- उसे आप उसकी आइडिओलोजी कहें, तो भी इस प्रसंग में कोई अन्तर नहीं पड़ता। कोई आलोचक खाली हाथ किसी कलाकृति के पास नहीं जाता; जो आलोचक खाली हाथ जाते हैं, मुझे डर है वे खाली हाथ लौट भी आते हैं।”¹⁶

संदर्भ :

1. कामायनी : एक अध्ययन, द्वितीय स्रोत साहित्य के समाजशास्त्र की भूमिका, मैनेजर पांडेय से उद्धृत, हरियाणा साहित्य अकादमी पंचकूला, संस्करण : 2006, पृ. 63
2. डॉ. जयप्रकाश, तुलनात्मक अध्ययन : स्वरूप और समस्याएँ, संपादक : भ.ह.राजूरकर और राजमल बोरा, पृ. 74
3. हिन्दी शब्दकोश, हरदेव बाहरी, राजपाल एंड संस, दिल्ली, पृ. 4
4. Allen F. Repko, Interdisciplinary Research : Process and Theory, Sage publication, page. 14
5. इंद्रनाथ चौधुरी, तुलनात्मक साहित्य : भारतीय परिप्रेक्ष्य, पृ. 70
6. तुलनात्मक अध्ययन : स्वरूप और समस्याएँ, पृ. 34
7. वही, पृ. 34
8. इंद्रनाथ चौधुरी, तुलनात्मक साहित्य : भारतीय परिप्रेक्ष्य, पृ. 70
9. देवेन्द्र इस्सर, उत्तर आधुनिकता : साहित्य और संस्कृति की नई सोच, पृ.90
10. तुलनात्मक अध्ययन : स्वरूप और समस्याएँ, पृ. 35
11. वही, पृ. 37
12. रेने वेलेक और ऑस्टिन वारेन, साहित्य सिद्धांत, पृ. 18
13. देवेन्द्र इस्सर, उत्तर आधुनिकता : साहित्य और संस्कृति की नई सोच, पृ. 88-89
14. निर्मल वर्मा, लेखक की आस्था, पृ. 63
15. देवेन्द्र इस्सर, उत्तर आधुनिकता : साहित्य और संस्कृति की नई सोच, पृ. 89
16. निर्मल वर्मा, लेखक की आस्था, पृ. 69



प्रोक्ति के पक्ष

○ धनजी प्रसाद

1. भूमिका (Introduction):

भाषा यादृच्छिक ध्वनि प्रतीकों की वह व्यवस्था है, जिसके माध्यम से हम विचार करते हैं तथा विचारों का आपस में आदान-प्रदान करते हैं। इसमें विचारों के आदान-प्रदान की आधारभूत इकाई 'वाक्य' है, किंतु संप्रेषण की पूर्णता की दृष्टि से एक इससे भी बड़ी इकाई 'प्रोक्ति' की बात की जाती है। वाक्य या प्रोक्ति का निर्माण करने वाली भाषा एक बहुस्तरीय व्यवस्था है, जिसमें सबसे छोटा स्तर या सबसे छोटी इकाई 'स्वनिम' (ध्वनि प्रतीक) है तथा सबसे बड़ी इकाई 'प्रोक्ति' है। 'संप्रेषण' भाषा का लक्ष्य है और इस दृष्टि से सबसे छोटी इकाई 'वाक्य' तथा बड़ी इकाई 'प्रोक्ति' है। इसी प्रकार व्याकरण की दृष्टि से सबसे छोटी इकाई 'स्वनिम' या ध्वनि प्रतीक और बड़ी इकाई 'वाक्य' है। व्याकरण और संरचनात्मक भाषाविज्ञान मूलतः 'वाक्य' को ही केंद्र में रखकर चलता है, क्योंकि संरचनागत नियमों को प्राप्त करने या विश्लेषित करने की दृष्टि से वाक्य सबसे बड़ी इकाई है। भाषा व्यवस्था के स्तरों का हम इस प्रकार से विश्लेषण करते हैं-

स्वनिम - रूपिम - शब्द / पद - पदबंध - उपवाक्य - वाक्य - प्रोक्ति

भाषा के ये स्तर क्रमशः बढ़ते हुए क्रम में लिखे गए हैं तथा इनमें से प्रत्येक बड़ी संरचना का निर्माण उससे छोटी इकाइयों के योग से होती है, जिसके कुछ निश्चित नियम होते हैं। व्याकरण या भाषाविज्ञान उन नियमों की खोज करते हैं। इस दृष्टि से संरचना के स्तर पर सबसे बड़ी इकाई 'वाक्य' ही प्राप्त होती है, जिसके स्पष्ट नियम दिए जा सकते हैं। जब हम 'प्रोक्ति' की बात करते हैं तो वहाँ पर संरचना संबंधी नियम नहीं प्राप्त होते। इसी कारण अभी तक 'प्रोक्तिविज्ञान' के बजाय 'प्रोक्ति विश्लेषण' की बात की जाती है। इसे परिभाषित करते हुए स्टब्स ने कहा है- "the linguistic analysis of naturally occurring connected spoken or written discourse", (Stubbs 1983: 1)

वास्तव में भाषा का पूरा प्रयोग प्रोक्ति आधारित है। इसी कारण प्रोक्ति विश्लेषण से संबंधित भाषावैज्ञानिकों द्वारा चॉम्स्की (1965) की भाषा क्षमता (Linguistic Competence) की तर्ज पर 'प्रोक्ति क्षमता' (Discourse Competence) की भी बात की जाती है। डेल हाइम्स (1995) द्वारा प्रतिपादित 'संप्रेषण क्षमता' (Communicative Competence) की अवधारणा इसी से संबंधित है। इसके अनुसार केवल वाक्य तक जानकर हम किसी भाषा के व्यवहार में दक्ष होने का दावा नहीं कर सकते, भाषा व्यवहार संबंधी सामाजिक संदर्भों का ज्ञान भी महत्वपूर्ण स्थान रखता है।

2. प्रोक्ति के पक्ष (Aspects of Discourse)

सरल शब्दों में कहा जाए तो किसी वस्तु, इकाई, घटना, कार्य, कल्पना आदि के संदर्भ में व्यक्त सतत

वाक्यों का वह संरचित समूह प्रोक्ति है, जिससे उसके बारे संपूर्ण अथवा एक समझ बनाने भर की सूचना प्राप्त हो सके। कोई भी वास्तविक अथवा काल्पनिक वस्तु, इकाई, घटना, कार्य आदि प्रोक्ति हो सकती है। सामान्य रूप से किसी प्रोक्ति के तीन पक्षों की बात की जाती है- पाठ, संदर्भ तथा प्रयोजन या प्रकार्य। इन्हें संक्षेप में इस प्रकार से समझ सकते हैं-

(अ) पाठ (Text) : प्रोक्ति में प्रयुक्त भाषा 'पाठ' है। प्रोक्ति के संदर्भ में पाठ सतत वाक्यों का क्रमिक समूह है, जो वाचिक, लिखित अथवा दोनों रूपों में हो सकता है।

(आ) संदर्भ (Context) : 'संदर्भ' वह तत्व है, जो पाठ को प्रोक्ति बनाता है। किसी बात को कहने के लिए अभिव्यक्त वाक्यों का समूह तभी प्रोक्ति के रूप में हमारी समझ में आता है जब हम उसके संदर्भ से जुड़ जाते हैं। एक बार संदर्भ से जुड़ने के बाद हम वह भी समझ लेते हैं जो नहीं कहा गया है। फिल्मों में प्रायः देखा जाता है कि एक घटना के बाद दूसरी बहुत दूर की घटना दिखाई जाती है फिर भी हम संदर्भ से जुड़े होने के कारण दोनों का आपस में सामंजस्य स्थापित कर लेते हैं। यही चीज उस संपूर्ण फिल्म को एक प्रोक्ति के रूप में बांधती है।

(इ) प्रयोजन/प्रकार्य (Function) : प्रत्येक प्रोक्ति का एक प्रकार्य होता है। किसी प्रोक्ति का बोधन होने के पश्चात श्रोता या पाठक पर पड़ने वाला प्रभाव उस प्रोक्ति का प्रकार्य होता है।

प्रोक्ति के स्वरूप को उद्घाटित करने के लिए उपर्युक्त के अलावा तीन और पक्षों की बात की जा सकती है, जिन्हें संक्षेप में इस प्रकार से समझ सकते हैं-

(क) विषयवस्तु (Theme) : प्रोक्ति एक अभिव्यक्ति है। अतः उसकी कोई-न-कोई विषयवस्तु होती है, जिसके बारे में वह अभिव्यक्ति की जाती है। यह विषयवस्तु दो प्रकार की हो सकती है- वास्तविक और काल्पनिक। ज्ञान-विज्ञान और वास्तविक घटनाओं की वाचिक अथवा लिखित भाषा में प्रस्तुति का संबंध वास्तविक प्रोक्ति से है, जबकि सभी प्रकार की सर्जनात्मक कृतियाँ काल्पनिक प्रोक्तियाँ होती हैं। इसमें एक बीच की स्थिति भी देखी जा सकती है, जब वास्तविक घटनाओं या व्यक्तियों को केंद्र में रखकर कोई कृति (प्रोक्ति) रची जाती है।

कोई भी वक्ता या लेखक प्रोक्ति की विषयवस्तु के संदर्भ में अपने ज्ञान के आधार पर कुछ जानकारी प्रस्तुत करता है। इसका सबसे सरल उदाहरण विभिन्न विषयों पर लिखे जाने वाले निबंध हैं- उदाहरण के लिए बचपन में हम 'गाय' पर निबंध लिखते रहे हैं। इस प्रकार का प्रत्येक निबंध एक प्रोक्ति है, जिसकी विषयवस्तु 'गाय' (बाह्य संसार की वास्तविक वस्तु) है। इसी प्रकार व्याख्यान शोधपत्र, आलेख, पुस्तकें और रचनाएँ सभी किसी विषयवस्तु की भाषिक अभिव्यक्ति होते हैं।

(ख) संरचना (Structure) : 'प्रोक्ति' की संरचना के संदर्भ में विचार करते हुए हम स्पष्ट रूप से कह सकते हैं कि भले ही हमें प्रोक्ति की संरचना संबंधी वस्तुनिष्ठ नियम प्राप्त न हुए हों, किंतु प्रोक्ति की संरचना होती है। इस बात से इनकार नहीं किया जा सकता। कुछ आधुनिक भाषा चिंतकों द्वारा भाषा को परिभाषित करते हुए कहा गया है कि 'भाषा मूलतः प्रोक्तियों की अभिव्यक्ति की व्यवस्था है'। वास्तव में हम जो भी विचारों की अभिव्यक्ति करते हैं उनमें से कोई भी विचार केवल एक वाक्य नहीं होता, बल्कि एक से अधिक वाक्यों का समूह होता है और वह समूह तब तक पूरा नहीं हो पाता, जब तक कि उससे कोई एक स्पष्ट संदेश निकल कर ना आ जाए। अर्थात् वाक्यों के उस समूह में जब एक पूर्णता का भाव आ जाता है तो इस प्रकार बनने वाली रचना को हम 'प्रोक्ति' कहते हैं जिसमें 'संदर्भ' भी महत्वपूर्ण होता है। अतः उपरोक्त के संदर्भ में कुछ बातें इस प्रकार से कही जा सकती हैं-

- ◆ प्रोक्ति एक से अधिक वाक्यों का एक निश्चित समूह है, जिसमें किसी एक प्रकरण या एक संदेश की पूर्णता होती है। (अपवाद स्वरूप कभी कोई प्रोक्ति 'एक वाक्य या एक शब्द' की भी हो सकती है, किंतु सामान्यतः ऐसा नहीं होता)
- ◆ प्रोक्ति का निर्माण मूलतः दो घटकों से होता है- 'पाठ' तथा 'संदर्भ'। पाठ किसी प्रोक्ति में आए वाक्यों का समूह है, तथा संदर्भ उसे संसार से जोड़ता है।
- ◆ किसी भी प्रोक्ति को उसके समस्त संदर्भों के साथ ही समझा जा सकता है।

चूँकि प्रोक्ति एक से अधिक वाक्यों का व्यवस्थित समूह है, इसलिए उसकी संरचना होती है। इसे समझने के लिए हमें किसी पाठ या प्रोक्ति पर नजर डालनी होगी। हम जानते हैं कि कोई भी कविता, कहानी, उपन्यास, नाटक, फिल्म, कथा, समाचार आदि प्रोक्ति है। अब उदाहरण के लिए यदि कोई कहानी ले ली जाए। उस कहानी में यदि एक से अधिक वाक्य या एक से अधिक पैराग्राफ हैं तो वहाँ हम न तो किसी वाक्य को मिटा सकते हैं और न ही किसी पैराग्राफ को। यदि बीच में से एक भी वाक्य कम हो जाए, तो पढ़ते-पढ़ते पाठक वहाँ पर रुक जाता है और उसे लगता है कि यहाँ पर कुछ छूटा हुआ है। इसी प्रकार कोई 200 पन्नों का उपन्यास भी पढ़ रहे हों, तो बीच में यदि कोई पन्ना निकल गया हो, तो पाठक वहाँ पर रुक जाता है, उसे पता चल जाता है कि यहाँ पर कुछ छूटा हुआ है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि प्रोक्ति की संरचना होती है। यदि संरचना नहीं होती तो बीच में से कुछ छूट जाने पर भी हमें पता नहीं चलता। प्रोक्ति की संरचना को समझने का एक दूसरा पक्ष यह भी है कि हम उसके वाक्यों को आगे-पीछे नहीं कर सकते। यदि किसी प्रोक्ति के एक वाक्य या पैराग्राफ आदि को उसके स्थान से हटाकर किसी दूसरे स्थान पर रख दिया जाए, तब भी प्रोक्ति बिगड़ जाती है और पठनीय नहीं रहती। यह बात भी इस ओर संकेत करती है कि प्रोक्ति की संरचना होती है।

(ग) प्रस्तुति (Presentation) : किसी एक ही विषयवस्तु पर अलग-अलग प्रकार की प्रोक्तियाँ रचित कर उन्हें अलग-अलग तरीकों से प्रस्तुत किया जा सकता है। उदाहरण के लिए किसी एक ही व्यक्ति, वस्तु अथवा घटना के बारे में कविता, कहानी, उपन्यास, नाटक, फिल्म आदि किसी भी माध्यम से प्रोक्ति का सृजन करते हुए अपनी बात कही जा सकती है। इन सभी में विषयवस्तु तो एक ही होती है, किंतु उनकी प्रस्तुति का तरीका भिन्न-भिन्न होता है। बहुत से उपन्यासों, कहानियों आदि पर फिल्मों का निर्माण किया गया है। ऐसी स्थिति में वे फिल्मों बिल्कुल वैसे ही नहीं होतीं, जैसे उनकी मूल कृति (कहानी या उपन्यास आदि) होती है, बल्कि प्रस्तुति माध्यम के अनुसार उसमें परिवर्तन कर लिया जाता है। अतः प्रोक्ति में विषयवस्तु और संरचना के साथ-साथ प्रस्तुति भी महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है। प्रस्तुति के आधार पर ही सर्जनात्मक कृतियों के विभिन्न प्रकार, यथा- कविता, कहानी, नाटक, निबंध, उपन्यास, फिल्म आदि किए जाते हैं।

3. प्रोक्ति गठन की आवश्यकताएँ (Requirements of Discourse Construction)

भारतीय आचार्यों द्वारा वाक्य की तीन आवश्यकताओं की बात की गई है- आकांक्षा, योग्यता और सन्निधि। इन तीनों आवश्यकताओं की पूर्ति करने वाले शब्द/पद समूह वाक्य कहलाते हैं। इसी प्रकार हम प्रोक्ति के गठन की तीन आवश्यकताओं की बात कर सकते हैं, जिनके पूरे होने पर ही कोई प्रोक्ति निर्मित होती है-

(क) संप्रेषण की संपूर्णता : प्रोक्ति के गठन की सबसे आधारभूत आवश्यकता है- संप्रेषण की संपूर्णता। इसका तात्पर्य है- 'जिस वस्तु या विषय के संदर्भ में चर्चा की जा रही है, उससे संबंधित पूरी बात का आ जाना'। जब तक बात अधूरी रहती है, तब तक पूर्णतः प्रोक्ति सृजित नहीं होती है। इसी कारण किसी टी.वी. धारावाहिक के 100-200 अंक भी पूरे हो जाने के बावजूद वे आगे भी चलते रहते हैं, और श्रोता उन्हें देखते

हैं, जबकि कोई फिल्म 03 घंटों के अंदर पूरी हो जाती है।

(ख) क्रमबद्धता : प्रोक्ति में वाक्यों या पैराग्राफों की कोई निश्चित सीमा नहीं है। वे तब तक लिखे जाते हैं जब तक पूरा संदेश या पूरा प्रकरण आ नहीं जाता। यदि प्रोक्ति बहुत बड़ी हो जाती है, तो उसे छोटी-छोटी उपप्रोक्तियों में भी बाँटा जाता है, जिसे हम उसका अध्याय या पाठ या भाग या खंड कहते हैं। उदाहरण के लिए ‘रामचरितमानस’ एक प्रोक्ति है, जो सात खंडों में विभाजित है— बालकाण्ड, अयोध्याकाण्ड, अरण्यकाण्ड, किष्किन्धाकाण्ड, सुन्दरकाण्ड, लंकाकाण्ड (युद्धकाण्ड) और उत्तरकाण्ड। इन्हें हम अलग-अलग कांड कहते हैं। इनका भी एक निश्चित क्रम है, जिसे बदला नहीं जा सकता, क्योंकि ऐसा करने पर संरचना बदल जाएगी। किसी प्रोक्ति की विषयवस्तु की प्रस्तुति में निर्धारित क्रम की यही विशिष्टता क्रमबद्धता कहलाती है।

(ग) अखंडता : किसी भी प्रोक्ति को समझने का तात्पर्य होता है, उसे संपूर्णता में समझना। जब कोई प्रोक्ति देखते या सुनते तो हम पाठ या प्रस्तुति (दृश्य/श्रव्य) के माध्यम से प्रोक्ति से गुजरते हैं। दूसरे शब्दों में हम उस प्रोक्ति के साथ हो लेते हैं। उदाहरण के लिए जब कोई कविता, कहानी, उपन्यास आदि पढ़ते हैं, या कोई फिल्म देखते हैं तो वास्तव में उस कृति के पाठ या फिल्म की प्रस्तुति के माध्यम से हम उस प्रोक्ति से जुड़ जाते हैं। ऐसी स्थिति में हम प्रोक्ति को एक अखंड इकाई के रूप में समझते हैं, भले ही उसकी प्रस्तुति खंडित इकाइयों में हो, किंतु प्रोक्ति सदैव अखंड होती है। प्रस्तुति में यदि प्रोक्ति का कोई हिस्सा छूट जाता है तो हम उसे अपने सामान्य ज्ञान से पूरा कर लेते हैं। उदाहरण के लिए कोई फिल्म देखते समय एक दृश्य में किसी का एक्सीडेंट होते हुए दिखाता है, फिर अगले दृश्य में वह व्यक्ति अस्पताल के आई.सी.यू. में होता है। वास्तव में यह खंडित प्रस्तुति है। तर्क से देखा जाए तो एक्सीडेंट के एक सेकेंड बाद सीधे कोई अस्पताल में कैसे हो सकता है? कोई आएगा, देखेगा, फिर किसी गाड़ी आदि का प्रबंध करके अस्पताल तक पहुँचाएगा। वहाँ औपचारिक प्रक्रियाओं के बाद घायल व्यक्ति को आई.सी.यू. तक ले जाया जाता है। अतः एक्सीडेंट के अगले ही सेकेंड में आई.सी.यू. में दिखाना खंडित प्रस्तुति है, किंतु चूँकि प्रोक्ति अखंड होती है, इसलिए हम अपने सामान्य ज्ञान से बीच के हिस्से की पूर्ति कर लेते हैं। यदि प्रोक्ति खंडित हो तथा सामान्य ज्ञान से भी उसके खंडित हिस्से की पूर्ति न होती हो तो श्रोता या दर्शक ऐसी प्रस्तुति को नकार देते हैं।

4. प्रोक्ति योग (Connecting Discourses)

प्रोक्ति एक घटना या विषयवस्तु के संदर्भ में संप्रेषण की संपूर्णता में ज्ञान की प्रस्तुति है। कोई प्रोक्ति जिस विषयवस्तु पर केंद्रित होती है, उसके बारे में एक समझ बनाने भर का ज्ञान देती है, किंतु एक प्रोक्ति केवल अपनी ही विषयवस्तु पर केंद्रित रहे, ऐसा बहुत कम होता है। वह अपनी विषयवस्तु से संबद्ध अन्य इकाइयों तक भी जाने-अनजाने में या आवश्यकतानुसार विस्तृत हो जाती है। उदाहरण के लिए ‘गाय’ पर निबंध लिखते हुए ‘गाय का दूध बहुत लाभदायक होता है’ इस निबंध का विस्तार ‘दूध’ तक करना है, जो आवश्यक नहीं है।

इसी प्रकार किसी एक प्रोक्ति की प्रस्तुति में दूसरी प्रोक्तियों के संदर्भ भी जुड़ जाते हैं। सर्जनात्मक रचनाओं में जानबूझकर ऐसा किया जाता है। उदाहरण के लिए फिल्मों आदि में हम देखते हैं कि वर्तमान में चल रही कहानी किसी दूसरे संदर्भ से जुड़कर पिछले जन्म या किसी पिछली पीढ़ी आदि में पहुँच जाती है। इसी प्रकार कहीं दो अलग-अलग घरों या देशों या घटनाओं को क्रमिक रूप से प्रस्तुत किया जाता है, जो वास्तव में दो प्रोक्तियों का एक है, जिसे एक ही प्रस्तुति में सम्मिलित कर लिया जाता है। प्रोक्ति प्रस्तुति की यह स्वाभाविक प्रक्रिया है। इससे प्रोक्ति भंग नहीं होती, क्योंकि वह ठीक स्थान पर ठीक तरीके से संबद्ध की जाती है। अतः एक प्रोक्ति की प्रस्तुति में दूसरी प्रोक्ति या उसकी किसी घटना आदि का योग किया जा सकता है, किंतु उनका ठीक स्थान पर और ठीक प्रकार से जुड़ा होना आवश्यक होता है।

5. उपसंहार (Conclusion)

प्रोक्ति के संदर्भ में एक बात स्पष्ट है कि 'प्रोक्ति संप्रेषण की वास्तविक इकाई है।' हम कोई भी बात प्रोक्ति के संदर्भ में या प्रोक्ति के माध्यम से ही अभिव्यक्त करते हैं और श्रोता उसे एक प्रोक्ति के रूप में या प्रोक्ति के घटक के रूप में समझता है। हमारे समझने-समझाने की प्रक्रिया इसी प्रकार से नित्य चलती रहती है। इसलिए प्रोक्ति और इसके विविध पक्षों पर अभी और गहन विचार एवं विश्लेषण किए जाने की आवश्यकता है। प्रस्तुत शोधपत्र इसी प्रकार के कुछ आवश्यक बिंदुओं की ओर संकेत करता है। 'पाठ' किसी प्रोक्ति का शरीर है, तो 'विषयवस्तु' उसकी आत्मा है। 'संदर्भ' वह परिवेश या स्थान है, जहाँ किसी प्रोक्ति का अस्तित्व होता है। बिना इस परिवेश या स्थान के प्रोक्ति के अस्तित्व की कल्पना नहीं की जा सकती। 'संरचना' से कोई प्रोक्ति आकार लेती है, तो किसी प्रोक्ति की जैसी 'प्रस्तुति' होती है, वैसी हमें वह प्रोक्ति दिखाई पड़ती है। 'प्रकार्य' वह है, जिसके लिए कोई प्रोक्ति बनी होती है। इन सब बातों के साथ ऊपर वर्णित 'संप्रेषण की संपूर्णता, क्रमबद्धता और अखंडता' जैसी आवश्यकताओं की पूर्ति के बाद ही कोई प्रोक्ति आकार ले पाती है। बहुत कम ही ऐसा होता है, जब कोई प्रोक्ति अकेले आती है, प्रायः एक प्रोक्ति में दूसरी प्रोक्ति की घटनाओं या इकाइयों का संदर्भ आ ही जाता है, जो तकनीकी रूप से 'प्रोक्ति योग' है। प्रस्तुत शोधपत्र इन सभी बातों की ओर सोदाहरण संकेत करता है।

संदर्भ :

- शीतांशु, इंदु कुमारी. (1989). प्रोक्ति : स्वरूप, संरचना एवं शैली. होशियारपुर : प्रतिभा प्रकाशन।
- श्रीवास्तव, रवींद्रनाथ. (1979). संरचनात्मक शैलीविज्ञान. आलेख प्रकाशन : दिल्ली।
- Austin, J.L. (1962). How to do Things with Words. Oxford University Press.
- Birner, Betty J. (2013). Introduction to Pragmatics. Wiley Blackwell.
- Chomsky, Noam. (1965). Aspects of the Theory of Syntax. Cambridge, MA: MIT Press.
- Hymes, D. (1992). The concept of communicative competence revisited. Thirty years of linguistic evolution. Studies in honour of René Dirven on the occasion of his sixtieth birthday, pp. 40-41.
- Kaplana, Robert B.& Grabe, William. (August 2002). A modern history of written discourse analysis. Journal of Second Language Writing. Volume 11, Issue 3. (Pages 191-223).
- Stubbs, Michael (1983). Discourse Analysis: The Sociolinguistic Analysis of Natural Language (Language in Society, 4). Chicago: University of Chicago Press.
- Taylor, Stephanie. (2013). What is Discourse Analysis?. Bloomsbury Publishing.
- https://en.wikipedia.org/wiki/Discourse_analysis
- <https://www.linguisticsociety.org/resource/discourse-analysis-what-speakers-do-conversation>
- https://www.blackwellpublishing.com/content/bpl_images/content_store/WWW_Content/9780631205951/007.pdf



नारी जागृति और वृंदावनलाल वर्मा के उपन्यास

○ शशिकला

भारतीय साहित्यधारा का उद्गम स्रोत वेदों से माना जाता है और यही वेदों की परम्परा रामायण, महाभारत युग में आकर विस्तृत होकर स्मृतियों, पुराणों और बौद्ध ग्रन्थों तक विविध रूपों में आकार ग्रहण करती गई। वैदिक काल में नारी को दैवी गुणों से युक्त माना गया, तो आधुनिक काल में नारी को उदार, त्याग, बलिदान और वात्सल्य की मूर्ति। इस बदलते परिदृश्य में साहित्य के क्षेत्र में भी स्त्रियों के योगदान को चित्रित किया गया। जहाँ सिद्ध, नाथ पंथियों द्वारा नारी को माया कहकर मातृत्व की गरिमा को कलुषित किया वहीं चारण कवियों ने साहित्य में नारी के प्रति अपनी कोमल भावनाओं को सम्प्रेषित किया।

वृंदावनलाल वर्मा के युग में भारतीय समाज का बहुत बड़ा तबका अशिक्षित था। उसे अपने परिवेश तक का यथार्थ ज्ञान नहीं था। स्त्रियाँ दूसरों की सेवा करना अपना धर्म समझती थी। भारत में शिक्षा, कुछ सम्पन्न मुट्ठी भर हाथों में बँधी थी। बिना शिक्षा के कोई समाज विकास, आधुनिक विकास का साझीदार नहीं बन सकता। यह अनुभव किया उन्नीसवीं सदी के समाज सुधारकों एवं राजनीतिज्ञों ने। सबसे पहले उनकी दृष्टि भारतीय नारी की दयनीय दशा और उसकी अशिक्षा पर पड़ी। एक ओर सावित्री बाई फूले, राजा राममोहन राय, स्वामी दयानन्द सरस्वती, विवेकानन्द, श्रीमती एनी बेसेन्ट जैसे समाज सुधारक थे जिन्होंने नारी जागरण एवं उसके अधिकारों के लिए सक्रिय आन्दोलन किया तो दूसरी ओर महात्मा गाँधी जैसे महान राजनीतिज्ञ जिनके सुधारवादी संस्थाओं द्वारा नारी हित की कामना की गई। इनके सम्मिलित प्रयत्न से ही नारी शिक्षा का प्रसार हुआ और वे अपने अधिकारों के प्रति सचेत हो गई। यह स्थिति भारत ही नहीं पूरे विश्व की थी, जिसे रेखांकित करते हुए कुसुम त्रिपाठी कहती हैं- “सन् 1850 से पूरे विश्व में अपने हकों के लिए महिलाएँ सड़कों पर उतर आयी थीं। यह काल महिला जागृति का काल कहा जाता है।”¹ इस दौरान नारी जागृति तो आयी, किंतु सीमित रूप में। 1857 के स्वतंत्रता आंदोलन में महारानी लक्ष्मीबाई जैसे चरित्र अपने अस्तित्व और राज्य की रक्षा के लिए खड्गहस्त होते हैं।

हिन्दी साहित्य के आधुनिक काल में भारतीय स्त्रियों के संदर्भ में सोच पारंपरिक ही बनी रही। महादेवी वर्मा लिखती हैं, “युगों से अनवरत प्रवाह में बड़े-बड़े साम्राज्य बह गये, संस्कृतियाँ लुप्त हो गई, जातियाँ मिट गई, संसार में अनेक असम्भव परिवर्तन सम्भव हो गये। परन्तु भारतीय स्त्रियों के ललाट में विधि की वज्रलेखनी से अंकित अदृष्ट लिपि नहीं धुल सकी।”² मैथिलीशरण गुप्त ने तो नारी के लिए ‘अबला’ शब्द का प्रयोग किया और ‘प्रसाद’ ने उससे अलग ‘नारी तुम केवल श्रद्धा हो’ कहकर नारी को देवी का दर्जा प्रदान किया। किन्तु आधुनिक-युग के प्रारम्भिक दौर में नारी श्रद्धेय या देवी नहीं रह पायी सामाजिक विरूपताओं को झेलती हुई वह अपने परिवार तथा पुरुष के हाथों का खिलौना मात्र रह गयी, इसे आधुनिक हिन्दी के निर्माताओं ने अनुभव

किया। देखा। और भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, महावीर प्रसाद द्विवेदी तथा उनके मण्डल के रचनाकारों ने युगीन सन्दर्भ में (विषेककर स्वातंत्र्य आन्दोलन के सन्दर्भ में) नारी के महत्त्व को अनुभव कर उसकी व्यथा-कथा के यथार्थ चित्रांकन द्वारा उसकी स्थिति में सुधार का प्रयास किया। उसे पुरुष के साथ कंधे-से-कंधा मिलाकर हर संघर्ष में साथ खड़ा किया। कालांतर में 'प्रेमचन्द' और 'प्रसाद' जैसे रचनाकार सामने आते हैं जहाँ स्त्री अपने अधिकारों के लिए लड़ती-जूझती नजर आती है। 'तितली' (प्रसाद) में एक साथ नारी के दो रूप आते हैं जहाँ (1) प्रेम और विलास में पगी नारी- 'शैला' है, वहीं (2) सामाजिक विद्रूपताओं से जूझती 'तितली' है जिसमें संघर्ष की अटूट क्षमता है। विकास की अनेक संभावनाओं के साथ है प्रेम की पवित्रता और उसका अलौकिक स्वरूप। 'प्रसाद' के विपरित 'प्रेमचन्द' के नारी चरित्र कहीं संघर्षरत, कहीं पराजित और कहीं अपने पद से स्खलित नजर आते हैं। किन्तु यहाँ है- नारी रूप की विविधता। 'प्रतिज्ञा' की 'सुमित्रा' 'कमला प्रसाद' को चुनौती देती हुई कहती है- "मैं अदालत से लड़कर पाँच सौ रुपया महीना ले लूँगी लाला इस फेर में न पड़ना। पैरों की जूती नहीं हूँ कि नई थी तो पहना पुरानी हो गई तो निकाल फेंका।"³ 'सुमित्रा' का यह कथन नारी जागरूकता का प्रमाण है।

वस्तुतः हिन्दी कथा-साहित्य में वृन्दावनलाल वर्मा के अवतरण तक भारतीय नारी के अनेक स्वरूप, उनकी कमजोरियाँ आदि रेखांकित हो चुकी थीं। वर्मा जी के समक्ष एक सशक्त चुनौती थी- अविस्मरणीय नारी चरित्रों के निर्मिति की; उन्हें ऐसी चेतना से समन्वित करने की जो न प्रेमचन्द्र, प्रसाद ने रेखांकित की थी न जैनेन्द्र ने। यह चेतना अतीत के पन्नों से ही मिल सकती थी, जो युगीन सन्दर्भ में अत्यधिक प्रासंगिक हो उठी थी। निराला आदि ने भी तो वर्तमान की समस्याओं के समाधान के लिए अतीत में झाँका। वर्मा जी ने अतीत के जीवन्त पात्रों को चुनकर यदि ऐतिहासिक उपन्यासों की आधारशिला रखी तो आगे बढ़कर ऐसे स्वच्छन्द नारी चरित्रों की खोज की जो आज भी अपनी प्रासंगिकता रखते हैं। यही कारण है कि उनके उपन्यासों में भारतीय नारी चेतना के विभिन्न रूप दिखाई देते हैं। महिलाएँ अपने स्वप्नों के साथ आग की भेंट चढ़ रही हैं, जबरन मृत्यु को गले लगा रही हैं। वर्मा जी ने इस असाधारण रोग का निदान 'लगन' एवं 'आहत' उपन्यास में किया। 'लगन' में दहेज के लिए ससुर द्वारा त्यागी गई बहू पति के प्रयत्नों से स्वीकार्य बनती है। और 'आहत' में लगन मण्डप में त्यागी गई कन्या 'छाया' का स्व-प्रयत्न सुखद भविष्य की निर्मिति में सहायक बनता है। वैसे इन दोनों स्थितियों में यथार्थ के स्थान पर आदर्श का अनुपालन हुआ है।

सामंती समाज में नारी का एक स्वरूप 'दासी' का भी था। रानी के साथ दहेज रूप में कुमारी बालिकाएँ रानी तथा उसके पति की सेवा के लिए भेजी जाती थीं। वे आजीवन अभिशप्त जिंदगी बिताने के लिए विवश होती थीं। सामंती समाज की यह दासी प्रथा सामान्य वर्ग में भी दूसरे रूप में प्रचलित थी, जहाँ पति अपनी पत्नी को ही दासी रूप में रखता था। वर्मा जी के नारी चरित्र इस प्रथा के विरोधी हैं- 'कचनार' (कचनार) इस प्रथा का विरोध करती हुए दलीप सिंह से कहती है- "दासी तो हूँ, आपकी और दीदी की। अन्य सब सेवा करूँगी, परन्तु मैं ऐसा अंगरखा नहीं बन सकती जो जब चाहा उतार कर फेंक दिया।"⁴ 'कचनार' की यह जागरूकता आधुनिक नारी समाज को इस बन्धन से मुक्ति का रास्ता दिखाती है।

तद्युगीन समाज की एक विकृति थी- अनमेल विवाह प्रथा। इसका भी संबंध दहेज प्रथा से ही था। आर्थिक विषमताओं से जूझता घर का मुखिया अपनी बालिकाओं को धन के लोभ में दुगुने-तिगुने उम्र तथा अपाहिज से विवाह करने के लिए विवश होता था। प्रेमचन्द के 'निर्मला' में भी यह समस्या आयी है जहाँ निर्मला निरंतर घुटती रहती है। वर्मा जी के 'सोना' उपन्यास में 'सोना' का विवाह बूढ़े और लंगड़े राजा से हो जाता है। इसीलिए वे नारी के लिए आर्थिक सबलता और स्वातंत्र्य को सबसे बड़ा साधन मानते हुए कहते हैं- "पहले स्त्री को आर्थिक स्वतंत्रता मिले तब वह संसार में अपना व्यक्तित्व या निजत्व पा सकती है।"⁵ वर्मा-युगीन तथा आज

का पुरुष वर्ग, स्त्री के स्वतंत्रता और समानता का पक्षधर दिखाई देता है। किंतु यह दिखावा बाह्य है। दूसरों के लिए है, अपने लिए नहीं। इस यथार्थ का उद्घाटन वे ‘अचल मेरा कोई’ में सुधाकर के माध्यम से करते हैं- “मैं स्त्रियों की स्वाधीनता का कट्टर पक्षपाती हूँ परन्तु रंगमंच पर अपनी पत्नी या होने वाली पत्नी के नृत्य, हाव-भाव, घुँघरू की छमाछम इत्यादि का पक्षपाती तो नहीं।”⁶

वर्मा कालीन समाज की सबसे बड़ी समस्या थी ऊँच-नीच, जाति-पाँति का भेदभाव। ‘गढ़कुण्डार’ में ऊँच-नीच, जाति-पाँति एवं मान-अपमान स्त्री को पग-पग पर ठोकर देता है और अन्त में ‘तारा’ इन विसंगतियों को ठुकराकर ‘दिवाकर’ के साथ जिन्दगी के अनजान डगर पर चल देती है। किंतु ‘अटल’ और ‘लाखी’ (मृगनयनी) का अन्तर्जातीय विवाह होने के बाद भी लाखी के मन में जाति भेद की भावना बनी रहती है और मृत्यु के समय अटल से कहती है- “ब्याह कर लेना अपनी जाँत-पाँत में।”⁷ सच यह है कि आज भी हमारा समाज अन्तर्जातीय विवाह, प्रेम विवाह की समस्या से जूझ रहा है। समाज उसे स्वीकृति दे नहीं पाया।

भारत पर कई बार विदेशियों के हमले हुए और उन्होंने हम पर अपनी सभ्यता और संस्कृति की छाप छोड़ी। इसमें सबसे बड़ा आक्रमण था मुसलमानों का जिनमें जातिगत कोई भेदभाव नहीं था, न ही ऊँच-नीच की कोई भावना थी। छूआछूत का कोई प्रश्न ही नहीं उठता। किन्तु हिन्दू समाज में सुजात-कुजात, वर्ण-अवर्ण छूत-अछूत की भावना बहुत गहरे पैठी थी। यही हमारी पराधीनता का कारण बनती थी। वर्मा जी ने मानसिंह के समक्ष इस विवाद को विजय द्वारा प्रस्तुत किया- “हम सब जब कन्धे-से-कन्धा मिलाकर लड़ रहे थे, सब एकाकार तब इन लोगों के छूत-छात को मानते जो एक-एक करके गिन-गिन मर जाते।”⁸ मानसिंह ने विवादी और विजय के इस वाक् युद्ध को बैठे ठाले और व्यर्थ की बकवाद बताया। वस्तुतः वर्मा जी मानसिंह के माध्यम से कर्म आधृत जाति को प्रमुखता देते हैं, जन्म आधृत नहीं है। “कर्म मुख्य है। जो इससे बचना चाहते हैं, वे ही दायें-बायें की पगडण्डियाँ ढूँढ़ते हैं।”⁹

तत्कालीन समाज में स्त्री का रूप पत्नी, प्रेमिका, माँ एवं दासी का था। पुरुष से अलग उसका कोई अस्तित्व नहीं था। पति को परमेश्वर मानकर वह उस पर सब कुछ न्योछावर कर देने के लिए तत्पर रहती थी। ‘मुसाहिब जू’ की स्वाभिमानी पत्नी ‘चरखारी वाली पति के प्रेम एवं सम्मान की रक्षा तथा राष्ट्रहित के लिए गहनों का त्याग कर देती है। तो इधर ‘प्रेमचन्द’ की स्वाभिमानी ‘जालपा’ (गबन) कहती है- “मुझे तुम्हारे साथ जीना और मरना है। अगर मुझे सारी उम्र बेगहनों के रहना पड़े तो भी मैं कुछ लेने के लिए नहीं कहूँगी। औरतें गहनों की इनती भूखी नहीं होतीं।”¹⁰ किन्तु इसमें वर्मा जी की चरखारी वाली अधिक श्रेष्ठ एवं त्यागमयी स्त्री है जो पति एवं राष्ट्र दोनों के लिए अपने गहनों का त्याग करती है। ‘मृगनयनी’ (मृगनयनी) पूरे राज्य का त्याग कर देती है और अपने पुत्रों को राज्य न दिलवाकर मानसिंह के दूसरे पुत्र विक्रमादित्य को राज्य दिलवाती है। मृगनयनी स्त्री का गौरव, सौन्दर्य, महत्त्व स्थिरता में खोजती है। ऐसी स्थिरता जो दूर से स्थिर दिखे किन्तु पास से प्रगतिशालिनी। मृगनयनी संकल्प को कर्तव्य और भावना को कला मानती है। उसकी दृष्टि में दोनों का समान समन्वय नारी ही बना सकती है कर्तव्य के सन्दर्भ में उसकी स्पष्ट धारणा है कि राजा और रानी का कर्तव्य है प्रजा को सुखी रखना और देश को स्वाधीन बनाये रखना। यही है-भारतीय नारी की मूल चेतना जो ‘मृगनयनी’ उपन्यास में वर्मा जी के शब्दों में मुखरित हुई है।

वर्मा जी की स्वच्छन्द नारी अपनी स्वतंत्रता का हनन नहीं होने देती। उसकी स्वच्छन्दता आज भी प्रासंगिक है। वह “अपनी गुलाम मानसिकता वाली छवि सती-साध्वी या पति-परमेश्वरी को तोड़कर अपना स्वतंत्र वजूद बनाना चाहती है।”¹¹ दहेज के मण्डप में ठुकराई जाने वाली ‘छाया’ (आहत) चुपचाप आँसू नहीं बहाती बल्कि वर एवं उसके पिता की चप्पलों से पिटाई करती है और भरे लग्न मण्डप में चुनौती देती है- “है कोई यहाँ ऐसा साहसी जो मेरे साथ ब्याह करने को तैयार हो। है कोई ऐसा।”¹² छाया का यह कथन आज के जागरूक

नारी का प्रमाण है। वर्मा जी की स्त्रियाँ वीर हैं, वह अपने आत्मसम्मान की रक्षा करना बखूबी जानती हैं। वह कभी भी लक्ष्मण रेखा का उल्लंघन नहीं करती अपितु अपने स्वाभिमान की रक्षा के लिए अपने ही हाथों मौत का वरण करती हैं किन्तु अपनी स्वतंत्रता पर आँच नहीं आने देती। वह विषम परिस्थितियों में भी आँसू बहाना नहीं जानतीं, अपितु अपनी शक्ति एवं सामर्थ्य को प्रदर्शित करती हैं। प्रेमचन्द की 'मालती' (गोदान) स्वच्छन्द एवं स्वतंत्र प्रवृत्ति की महिला थी। लेकिन 'मेहता' के सम्पर्क में आने के बाद वह परिस्थितियों से समझौता कर लेती है; किन्तु वर्मा जी की स्वाभिमानी नारी 'कुन्ती' (अचल मेरा कोई) अपने समाज सुधारक पति द्वारा लांछित होने तथा स्वतंत्रता बाधित होने पर परिस्थितियों से समझौता न कर आत्महत्या का वरण करती है। यह आत्महत्या पति रूपी पुरुष सुधाकर के अहंकार पर तमाचा है।

वर्मा जी की नारियाँ पत्नी, प्रेयसी एवं ममतामयी माँ होने के साथ-साथ शक्ति एवं शौर्य से सम्पन्न वीरांगनाएँ भी हैं। मृगनयनी 'जिय बिनु देह नदी बिनु वारि, तैसीय नाथ पुरुष बिनु नारी' की धारणा को नकार करके पति के साथ चिता पर जलने के लिए तैयार नहीं है। अन्य रानियों के जौहर प्रस्ताव पर मृगनयनी यह कहकर सती प्रथा का विरोध करती है- "रानियों को ऐसे समय में वही याद आया, क्योंकि उनकी बाहों ने तीर कमान और तलवार को कभी अपनी सखी नहीं बनाया। पहले सतियों ने आग और चिता को जितना प्यार किया उसके बराबर तीर और तलवार के साथ भी करना चाहिए था।"¹³ रानी लक्ष्मीबाई (झाँसी की रानी लक्ष्मीबाई) भी पति की मृत्यु के पश्चात् सती नहीं होती अपितु राष्ट्रहित के लिए अंग्रेजों से लड़ती है और सैनिकों को देशभक्ति का सन्देश देती हैं- "यह आवश्यक नहीं कि स्वराज्य की स्थापना हम अपने जीवन काल में ही देखते, सीढ़ी के डण्डे पर पैर रखते ही, हम छत पर नहीं पहुँच जाते। एक ही त्याग, एक ही मरण, एक ही जनम से स्वराज्य नहीं मिलता।"¹⁴ और फिर अंग्रेजों से लड़ते हुए अपने प्राणों की बलि देती हैं। नारी का यह स्वरूप तत्कालीन अनेक उपन्यासों में उभरा है- जहाँ अपने स्वार्थ की बलि देकर बड़े उद्देश्य की सिद्धि के लिए त्याग और बलिदान का रास्ता अपनाती हैं- भारतीय स्त्रियाँ। यथा- आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी की 'निपुणिका' (बाणभट्ट की आत्मकथा) राष्ट्र की प्रतीक भट्टिनी को बचाने में अपने प्राणों को न्योछावर कर देती है। वर्मा जी के अन्य नारी पात्र अहिल्याबाई, दुर्गावती इत्यादि ने भी राष्ट्रहित के लिए अपने प्राणों की बलि दी।

वृन्दावनलाल वर्मा के नारी चरित्र विरोध एवं प्रतिरोध के स्वर में पूर्ण स्वतंत्रता का बोध कराते हुए भी परिवार एवं समाज में अपनी सशक्त भूमिका निभाते हैं। भारत की निरक्षर नारी भी भारतीय संस्कृति की सूत्रधारिणी रही है, और यह गरिमा नारी ने अपने कर्तव्यपरायणता, अदम्य साहस, सेवा भाव और असीम प्रेम से प्राप्त की है। वर्मा जी की स्त्री-चेतना पराधीनता, शोषण, रूढ़ियों एवं कुरीतियों के विरोध का चिंतन और विमर्श है। नारी जागृति के पीछे वर्मा जी ने अपनी भावनाओं को इस प्रकार प्रकट किया है- "क्यों न करता जिस नारी के लिए मनुस्मृति में कहा गया है कि जहाँ स्त्रियों की पूजा होती है वहाँ देवता निवास करते हैं उसकी दुर्दशा देखकर और ऐसी स्त्रियों के जीवन का अनुभव रखते हुए कि जिन्होंने परिवार, समाज और देश को कठिन परिस्थितियों से बचाया है क्यों न अधिक स्थान देता ?"¹⁵ इससे स्पष्ट है कि इनकी नारियाँ जागरूक एवं अपने अधिकारों के लिए सक्रिय हैं। वह समाज में अबला नहीं बल्कि स्वच्छन्द एवं स्वतंत्र नारी पात्र हैं।

सन्दर्भ :

1. कुसुम त्रिपाठी, जब स्त्रियों ने इतिहास रचा, नवजागरण प्रकाशन, नागपुर, पृ. 17
2. महादेवी वर्मा, शृंखला की कड़ियाँ, भारती भण्डार प्रेस, प्रयाग पृ. 21
3. प्रेमचंद, 'प्रतिज्ञा', डायमण्ड पाकेट बुक्स, नई दिल्ली, पृ. 96
4. सं. डॉ. विश्वनाथ प्रसाद, वृन्दावन लाल वर्मा समग्र, भाग-3, 'कचनार', हिन्दी प्रचारक पब्लिकेशन्स प्रा.लि.,

पिशाचमोचन, वाराणसी, पृ. 25

5. सं. डॉ. विश्वनाथ प्रसाद, वृन्दावनलाल वर्मा समग्र, भाग-2, 'अचल' मेरा कोई', हिन्दी प्रचारक पब्लिकेशन्स प्रा. लि., पिशाचमोचन, वाराणसी, पृ. 457
6. वही, पृ. 371
7. सं. विश्वनाथ प्रसाद, वृन्दावनलाल वर्मा समग्र, भाग-3, 'मृगनयनी', हिन्दी प्रचारक पब्लिकेशन्स प्रा. लि., पिशाचमोचन, वाराणसी, पृ. 795
8. वही, पृ. 578
9. वही, पृ. 579
10. प्रेमचंद, 'गबन', राजपाल एंड संस, दिल्ली, पृ. 49
11. सं. डॉ. रामकमल राय एवं यतीन्द तिवारी, हिन्दी अनुशीलन, भारतीय हिन्दी परिषद् इलाहाबाद, जून 2004, पृ. 82
12. सं. डॉ. विश्वनाथ तिवारी, वृन्दावनलाल वर्मा समग्र भाग-5, 'आहत', हिन्दी प्रचारक पब्लिकेशन्स प्रा. लि., पिशाचमोचन, वाराणसी, सं. पृ. 424
13. सं. विश्वनाथ प्रसाद, वृन्दावनलाल वर्मा समग्र, भाग-3, 'मृगनयनी', हिन्दी प्रचारक पब्लिकेशन्स प्रा. लि., पिशाचमोचन, वाराणसी, पृ. 734
14. सं. विश्वनाथ प्रसाद, वृन्दावनलाल वर्मा समग्र, भाग-2, 'झाँसी की रानी लक्ष्मीबाई', हिन्दी प्रचारक पब्लिकेशन्स प्रा.लि., पिशाचमोचन, वाराणसी, पृ. 395
15. सं. विश्वनाथ प्रसाद, वृन्दावनलाल वर्मा समग्र, भाग-7, अपनी कहानी (आत्मकथा), हिन्दी प्रचारक पब्लिकेशन्स प्रा.लि., पिशाचमोचन, वाराणसी, पृ. 845



फणीश्वरनाथ रेणु के उपन्यासों की संरचना और यथार्थवाद

○ रंजना सिंह

रेणु ने औपन्यासिक शिल्प को एक नया रंग, एक नया स्पर्श और एक नया आयाम दिया। उनकी शिल्प-दृष्टि अन्तर्वस्तु का अनुसरण भी करती है और उसे मांजती चलती है। औपन्यासिक शिल्प एक कला है और उसमें प्रयोगधर्मिता का स्थान अत्यन्त महत्वपूर्ण है। एक सृजनशील लेखक जो कला के रूपों की संलिष्टता को रचनात्मक स्तर पर अनुभव करता है और निर्मित कृति को उसकी सम्पूर्णता में देखता है, वह शिल्प-संयोजन को एक नया आधार देने की ओर निरन्तर अग्रसर रहता है। रेणु के औपन्यासिक शिल्प को हम इसी सन्दर्भ में देख सकते हैं। प्रश्न यह है कि शिल्प-संयोजन क्या है और शिल्प-संयोजन में यदि कोई रचनाकार परिवर्तन करता है तो उसके पीछे उसका मन्तव्य क्या होता है! जवाहर सिंह ने लिखा है: “वस्तुतः उपन्यासकार जिस उद्देश्य से अपनी रचना में प्रवृत्त होता है, यदि वह उसके प्रति अत्यन्त सजग है तो वह वर्ण्य-विषय की उपेक्षा कर के शिल्प-विधि के प्रति न तो आग्रहवान हो सकता, न उसे ऐसा करने का अवकाश ही मिल सकता है। उपन्यास के लेखक के लिए अपने प्रत्येक वैसे शिल्प के प्रति श्रद्धा, तल्लीनता और आग्रह का भाव होना चाहिए, जो उसे अपनी विषय-वस्तु के अन्वेषण और मूल्यांकन में सहयोग दे। केवल इतना ही नहीं, बल्कि उसे शिल्प के द्वारा अपनी विषय-वस्तु में निहित समग्र अर्थों के विस्तार का अन्वेषण भी करे।” कोई भी कृति किसी विधि से ही अभिव्यक्त होती है और जो विधि जितनी सशक्त, सार्थक और प्रभावोत्पादक होती है, उसमें विन्यस्त अन्तर्वस्तु भी उतना ही प्रभावकारी होती है। इसीलिए अनेक आलोचकों ने शिल्प की महत्ता को स्वीकार किया है और यह माना है कि शिल्प-संयोजन के अभाव में औपन्यासिक कृति अपने मन्तव्य को सही ढंग से प्रक्षेपित कर पाने में असमर्थ रह सकती है। प्रत्येक कृति, जो अपने नाम को सार्थक करने की अधिकारी है, अपना पृथक् नियम रखती है और अपनी अलग प्रकृति का विकास करती है। शिल्प-विधि विषय-वस्तु के प्रति अपनाये गये दृष्टिकोण के सामंजस्य से अभिव्यक्त के विविध मार्गों की तलाश की एक पद्धति है-ऐसा कुछ आलोचकों का मानना है, किन्तु यह एक दृष्टिकोण भर हो सकता है। उपन्यास-रचना तथा उसके पाठ की एक निश्चित प्रकृति होती है, एक निश्चित दृष्टिकोण होता है। उपन्यासकार अपने दृष्टिकोण के अनुसार अपनी कृति के शिल्प को तय करता है। उपन्यास की शिल्प-विधि को परिभाषित करने की समस्या दोहरी है।

रेणु के उपन्यासों के शिल्प-संयोजन के संदर्भ में यह ध्यान रखना आवश्यक है कि शिल्प-विधि के लिए अंग्रेजी में ‘टेक्नीक’ शब्द का प्रयोग किया जाता है। यह प्रयोग रेणु के उपन्यासों को सही ढंग से विवक्षित नहीं करता। शिल्प-विधि से अभिप्राय कृति के निर्माण की उन सारी प्रक्रियाओं तथा रचना-पद्धतियों से है, जिनके माध्यम से अधिकाधिक संवेद्य, प्रभावी और सौन्दर्यबोधक बनाता है। जवाहर सिंह ने लिखा है कि “वस्तुतः किसी भाव को एक निश्चित रूप देने के लिए जो विधान प्रस्तुत किये जाते हैं, वही उस कला की

शिल्प-विधि है, लेकिन इसके साथ यह भी याद रखना आवश्यक है कि यह एक वस्तु-सापेक्ष और परिवर्तनीय प्रक्रिया भी है। इसकी वस्तु-सापेक्ष प्रकृति के फलस्वरूप ही महल, देवालय, स्तूप, मस्जिद आदि अलग-अलग रूपों में पड़ता है। शिल्प के ही माध्यम से हम प्रबन्धकाव्य, महाकाव्य, खण्डकाव्य, मुक्तक, गीत, आख्यान, नाटक, एकांकी, कहानी और उपन्यास के अन्तर को समझ पाते हैं।¹² इस तरह साहित्य के विविध प्रकारों का नियमन, संयोजन और निर्धारण शिल्प के माध्यम से ही होता है और शिल्प के माध्यम से ही पाठक उसके भीतर पैठ कर उसकी अर्थवत्ता को ग्रहण करता है। शिल्प-विधि की परिवर्तनीयता के फलस्वरूप ही एक युग का साहित्य दूसरे युग के साहित्य के लिए भिन्न दिखाई देता है। उदाहरण के लिए हम देख सकते हैं कि वाल्मीकि ने रामकथा को जिस रूप में प्रस्तुत किया, भवभूति ने उसी रूप में रामकथा के स्वरूपको प्रस्तुत नहीं किया और तुलसीदास ने तो उसकी पूरी संरचना ही बदल दी। इसी तरह ग्रामभित्तिक उपन्यासों की संरचना के क्षेत्र में प्रेमचन्द का अलग स्थान है तो नागार्जुन और रेणु की अलग।

इस प्रसंग में एक बात ध्यान देने की यह है कि क्या शैली और शिल्प दोनों एक ही हैं या दोनों में कोई तात्त्विक भेद है। बहुत से विद्वान शैली को ही शिल्प मान लेते हैं, जबकि पश्चिम में शैली के लिए पैटर्न, क्राफ्ट और रिझ जैसे शब्द भी प्रयोग में लाये जाते हैं। कभी-कभी शैली को शिल्प-विधि मान लेने से कई भ्रान्तियाँ उत्पन्न हो जाती हैं। इसलिए यह स्पष्ट कर लेना आवश्यक है कि दोनों में पार्थक्य है अथवा नहीं! शिल्प-विधि एक व्यापक शब्द है, इसका सम्बन्ध अभिव्यक्ति और रूपाकारों की समस्त प्रक्रियाओं से है, जबकि शैली का क्षेत्र सीमित है और वह अभिव्यक्ति के एक प्रकार विशेष के रूप में मान्य है। शिल्प-विधि की प्रकृति वस्तु-सापेक्षता से जुड़ी है, जबकि शैली की प्रकृति आत्मपराकता से सम्बद्ध है। शैली का सम्बन्ध शील से भी है, जिसमें रचनाकार का व्यक्तित्व झलकता है। डॉ. नामवर सिंह ने लिखा है: “दरअसल, जब कोई किसी कहानी की भाषा-शैली की प्रशंसा करता है, तो उसके आनन्द का कारण अन्तर्निहित विचार या अनुभूति की कोई विशेषता होती है, परन्तु चूँकि अनुभूतिगत विशेषताओं के नाम देना कठिन है, इसलिए बहुत से लोग भ्रम वश यह समझने लगते हैं कि रसानुभूति का कारण भाषा-शैली है।”¹³ इसमें इतना जोड़ना आवश्यक है कि भाषा-शैली भी रसानुभूति में सहायक होती है। शैली को शिल्प-विधि की व्यापक परिधि के अन्तर्गत ही समझा जाना चाहिए-विशेषकर उसके एक तत्त्व के रूप में किसी कृति की उस विशिष्टता को शैली प्रदर्शित करती है, जिसके चलते वह अपने ही समान की अन्य कृतियों से भिन्न दिखाई देती है। शिल्प-विधि को और अधिक स्पष्ट करने के लिए हम उसके बाहरी और भीतरी प्रक्रियाओं को देख सकते हैं। रेणु के उपन्यासों में ये दोनों प्रक्रियाएँ एक सूत्रित होकर व्यंजित होती हैं। आन्तरिक प्रक्रिया का सम्बन्ध रचनारत कलाकार के भीतर वैचारिक स्तर पर उसके अवलोकन-बिन्दु से उत्प्रेरित सम्पूर्ण कृति के आकल्पन या रूपाकार से है।

औपन्यासिक शिल्प के विवेचन के सन्दर्भ में यह भी याद रखना चाहिए कि एक उपन्यासकार अपनी विधायक कल्पना के द्वारा जीवन को नये रूप में प्रस्तुत करता है और ऐसा करते हुए भी वह वास्तव को छोड़ता नहीं है। जो रचनाकार वास्तव को छोड़कर काल्पनिक या भावजगत में विचरण करता है, वह यथार्थवादी दृष्टिकोण अपना ही नहीं सकता और न ही उसकी रचना में यथार्थवादी परिदृश्य की अभिव्यक्ति ही हो सकती है। उपन्यासकार अपनी कला द्वारा सृजित उस जीवन का प्रतिनिधित्व करता है, जो जीवन इस संसार में यथार्थतः भोगा और जिया जाता है। यह जीवन भाषा में व्यक्त होता है। डॉ. आशुतोष राय ने लिखा है: “कोई भी रचना शब्दों के संयोजन द्वारा ही अपना संसार रचती है। इसलिए उपयुक्त भाषा-माध्यम के अभाव में वह अपने महत्व का एहसास पैदा करना तो दूर, अपने अस्तित्व की सार्थकता तक को प्रमाणित नहीं कर पाती। अपने मनोभावों को दूसरों तक पहुँचाने के लिए रचनाकार के पास भाषा ही एकमात्र साधन है। भाषा मानव जीवन के भावों और विचारों की अभिव्यक्ति है। अतएव मानव जीवन में होने वाले परिवर्तनों के साथ-साथ भाषा का रूप भी बदलता

जाता है। साहित्यिक भाषा के स्वरूप-निर्माण में रचनाकार का अपना व्यक्तित्व भी महत्वपूर्ण होता है।¹⁴ सम्भवतः यही कारण है कि एक विशेष कालखण्ड के साहित्यकारों की भाषा में विविधता दृष्टिगोचर होती है। रेणु की औपन्यासिक भाषा के विवेचन के सन्दर्भ में यह ध्यातव्य है कि उनकी भाषा काल की अपेक्षा स्थान पर अधिक आधारित है। यह वह बिन्दु है, जो उन्हें अन्य आंचलिक उपन्यासकारों से ही नहीं, यथार्थवादी उपन्यासकारों से भी अलग करता है। उन्होंने जिस तरह के कथ्य का चुनाव अपने उपन्यासों में किया है, ठीक उसके अनुरूप ही भाषा की सर्जनात्मकता को भी महत्व दिया है। उनके उपन्यासों की भाषा पर विचार करते हुए यह लक्षित हो जाता है कि वे सजग रचनाकार हैं।

रेणु के उपन्यासों के शिल्प-संयोजन के विवेचन के क्रम में उनके द्वारा प्रयुक्त सार्थक शब्दों के संयोजन को भी ध्यान में रखना आवश्यक है। उनकी भाषा में अनुभूति और संवेदना का, विचार और कल्पना का अद्भुत संयोजन प्राप्त होता है। वे शहरी संवेदना के रचनाकार नहीं हैं, किन्तु उनको पढ़ते हुए शहरी जीवन की अनुभूतियाँ भी खुलती चली जाती हैं। वे अपने क्षेत्र से सम्बद्ध साधारण लोगों की भाषा का प्रयोग करते हैं, किन्तु वे यह भी देखते हैं कि समाज बदल रहा है, नयी शिक्षा के प्रभाव में नये युवक शहरों की ओर आकर्षित हो रहे हैं और पुरानी रूढ़ियाँ धीरे-धीरे टूट रही हैं। कला मेहता ने लिखा है: “भाषा का मूल प्रयोजन सम्प्रेषण है। साहित्य की विधाओं में भी सम्प्रेषण का महत्व है। भाषा की यही प्रयोजनवती भूमिका साहित्य की निधि है।”¹⁵ रेणु के उपन्यासों की कथावस्तु का सम्बन्ध बिहार के एक खास अंचल से है। उनके जो उपन्यास आंचलिकता की सीमा के बाहर खड़े होते हैं, उनमें भी वह अंचल किसी न किसी रूप में जीवन्त हो ही उठता है। जैसे लगता है कि उनकी स्थानीयता, उनकी अन्तर्वस्तु में अन्तर्भुक्त हो गयी हो। इसलिए स्वाभाविक है कि उन क्षेत्रों में बोली जाने वाली लोकभाषाओं के शब्दों का प्रयोग उनके उपन्यासों में हुआ है, किन्तु यह नहीं कहा जा सकता कि उन्होंने सायास या चमत्कार पैदा करने के लिए इस तरह का प्रयोग किया है। उनके पात्र अपने परिवेश के अनुरूप जगह-जगह कथ्य को शब्दों में मूर्त्त करते हैं। ‘मैला आचल’, ‘परती: परिकथा’, ‘जुलूस’, ‘दीर्घतपा’, ‘कलंक-मुक्ति’, ‘पल्टू बाबू रोड’, ‘कितने चौराहे’ आदि उपन्यासों में भाषायी परिवेश लगभग मिलता-जुलता है, किन्तु उनमें एकरूपता ढूढ़ने वालों को निराशा ही हाथ लगेगी।

फणीश्वरनाथ रेणु जिस समय के उपन्यासकार हैं, वह समयकई दृष्टियों से अपने पहले के समय से काफी भिन्न था। उसके ठीक पहले भारत स्वतंत्र हुआ था। जनता के मन में अनेक आकांक्षाएँ पल रही थीं, सपने फल-फूल रहे थे। उन्हें व्यक्त करने के लिए जिस भाषा की जरूरत थी, वह भाषा रेणु इसलिए इस्तेमाल नहीं करते क्योंकि वे सपने पूरे नहीं हुए। डॉ. आशुतोष राय ने लिखा है कि “स्वातन्त्र्योत्तर उपन्यास की महत्तम उपलब्धि के रूप में इसके भाषिक प्रयोग को परिभाषित किया जा सकता है। आजादी के बाद उपन्यासकारों में जीवन की आत्मीयता से देखने के साथ भाषा की जड़ता और परायेपन को तोड़ने का प्रयास मिलता है।”¹⁶ रेणु ने संघर्ष की भाषा का इस्तेमाल किया, किन्तु उसमें सरसता को लुप्त नहीं होने दिया। उनके रचनाकाल में एक ऐसा समय आया, जब भाषा जीवन से कट गई और नये प्रयोगधर्मी रचनाकारों ने अस्तित्ववाद के प्रभाव में मानव-मनोग्रन्थियों में आप को उलझाने लगे। ऐसी परिस्थितियों में रेणु ने भाषा के अपने निजी ठाट को और जनजीवन से उनके सम्बन्ध को टूटने नहीं दिया। उन्होंने अपनी भाषा के साथ अपने आपको हमेशा जोड़े रखा। वे न तो भाषा के डिटेक्टर हैं और न तो इतने सहिष्णु हैं कि अनावश्यक शब्दों को उसमें स्थान देते चले जायें। स्वाभाविकता उनके उपन्यासों की सबसे बड़ी विशेषता है।

दरअसल, रेणु के भाषा-कौशल पर विचार करते हुए यह हमेशा ध्यान रखना होगा कि वे दार्शनिक न थे। वे एक्टिविस्ट रचनाकार थे और एक्टिविस्ट रचना अपने समय और समाज की जीवन्त भाषा से अनिवार्यतः जुड़ा होता है। अपनी कृति द्वारा वह जिस प्रभाव की सृष्टि करना चाहता है, उसमें उसके द्वारा प्रयुक्त भाषा की

महत्वपूर्ण भूमिका होती है। उपन्यास-कला में विषय, पतिपाद्य और देश-काल और समाज का चित्रण होता है। 'मैला आंचल' के एक दृष्य के माध्यम से हम इसे और बेहतर ढंग से समझ सकते हैं: "माँ के मरने के बाद बलदेव बहुत दिन तक अजोधी भगत की भैंस चराता था। अजोधी भगत की याद आते ही बलदेवके देह लिए सिहर उठती है। कैसा पिशाच था बूढ़ा! बूढ़ी तो और भी खटास थी, खेकसियारी की तरह हरदम खे-खे करती रहती। दिन भर भैंस चराकर आने के बाद बलदेव की उंगलियां भगत की देह टीपते-टीपते दर्द करने लगती थी।" यह प्रसंग एक दृश्यांकन मात्र नहीं है, बल्कि जीवन की एक बड़े और व्यापक परिदृश्य की ओर संकेत करने वाला है। भाषा का यह कौशल बेजोड़ है, इसमें उसका व्यक्तित्व और भी निखर उठता है। बलदेव का चरित्रांकन भी इससे स्पष्ट होता है, कथा के विन्यास में भी यह भाषा अपनी भूमिका निभाती है। यही यथार्थ भाषा है। ब्रेख्त ने कहा था कि यथार्थ अन्तर्वस्तु के चित्रण के लिए यथार्थ भाषा की जरूरत होती है- रेणु ने इस प्रसंग के माध्यम से इस कथन का अक्षरशः पालन किया है। रेणु के उपन्यासों की भाषा कथ्य के अनुरूप बदल जाती है।

रेणु ने सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक परिदृश्य की रचना करते हुए भाषा के अनेक रूपों का प्रयोग किया है। उपन्यास की सामाजिक यथार्थवादी शाखा के विभिन्न स्कूलों में मनोवैज्ञानिक, राजनीतिक, दार्शनिक और सांस्कृतिक कृतियों में भाषा की भिन्नता स्पष्टतः परिलक्षित है। रेणु के व्यक्तित्व का भी प्रभाव उनके उपन्यासों की भाषा-संरचना पर पड़ा है। जिस सामाजिक परिवेश और वातावरण की प्रस्तुति उपन्यास के द्वारा हो रही है, उसी के अनुरूप भाषा की संरचना उपन्यास की सफलता है। रेणु इस दृष्टि से बिल्कुल ही सफल उपन्यासकारों की श्रेणी में गिने जाने योग्य है। उन्होंने लिखा है कि "सचमुच प्यारू डाक्टर का पुराना नौकर है। टेबुल-कुर्सी ठीक से लगा दिया है। तीन पैर वाली लोहे की सीढ़ी पर पानी का ठेला रख दिया है, सीढ़ी में ही लगी हुई गोल कड़ी में ललमुनिया का कठौत बिठा दिया है। ढोल में कल लगा हुआ है। कल टीपने से पानी गिरने लगता है। बक्से से गमछा निकालकर वहीं लटका दिया है। रस्सी-बकरी की अंतर्डी का भीतरी हिस्सा जैसा रोयेदार होता है, वैसा ही गमछा है। साबुन? साबुन नहीं है? अरे, कपड़ा धोने वाला साबुन नहीं, गमकउवा साबुन चाहिए, भगत की दुकान में गमकउवा साबुन कहां से आयेगा! कटिहार में मिलता है।" यह यथार्थवादी भाषा का अद्भुत उदाहरण है, जिसमें कथा-विन्यास की अनेक सम्भावनाएँ और संकेत अन्तर्निहित हैं। इससे पता चलता है कि डाक्टर की रुचि क्या है। उसके नौकर की स्थिति क्या है! किस तरह के रहन-सहन के बीच डाक्टर गांव के लोगों से मिलने-जुलने की प्रक्रिया अपनाता है। तहसीलदार साहब की बेटी कमली गमकउवा साबुन लगाती है और प्यारू उसी के माध्यम से गमकउवा साबुन के बारे में जानने लगा है। तहसीलदार साहब कहते हैं, भुरुकुआ उगने के पहले ही बैलगाड़ियों की रवाना कर दिया। साथ में गया है, अलगू चौकीदार। सारा गांव महक रहा है। मेले में ठीक ऐसी ही महक रहती है। तहसीलदार साहब के गुहाल में हलवाई लोग सुबह से ही पूड़ी-जलेबी बना रहे हैं। पूड़ी बनाकर ढेर लगा दिया है। गांव के बच्चे सुबह से जमा हैं। राजपूत और कायस्थों के बच्चे दूसरे टोले के बच्चों को उधर नहीं जाने देते हैं। यह भाषा अपने आप में इतनी समर्थ है कि इस पर अलग से कुछ कहने की जरूरत महसूस नहीं होती।

लोकभाषा की अभिव्यक्ति जितनी समर्थता के साथ रेणु करते हैं, उतनी समर्थता के साथ किसी दूसरे यथार्थवादी उपन्यासकार ने किया हो, इसका उदाहरण कम मिलता है। उनकी गहरी सम्बद्धता और उसे कथा बांधने की लालसा ने उन्हें सबसे पहले वह भाषायी यात्रा शुरू करने की प्रेरणा दी थी। इसीलिए उन्हें ही लोकभाषा के उस अक्षय भण्डार की चाभी सर्वप्रथम मिली। जवाहर सिंह ने लिखा है: "रेणु के प्रथम दो उपन्यासों की इतना विस्तृत चर्चा की आवश्यकता इसलिए पड़ी कि हिन्दी में आंचलिक उपन्यास विधा के प्रारम्भिक चरण में लिखे गये ये उपन्यास आंचलिक भाषा-शिल्प की दृष्टि से इतने सफल और श्रेष्ठ प्रमाणित

हुए कि बाद में लिखे जाने वाले आंचलिक उपन्यासों के लिए ये प्रेरणास्रोत ही नहीं, एक तरह से आदर्शन भी बन गये। कई उपन्यासों में तो सीधा ही इनका अनुकरण हुआ और अनुकरण न करने वाले अन्य अनेक उपन्यासों पर भी इनका प्रत्यक्ष या परोक्ष प्रभाव पड़े बिना नहीं रहा।⁹ बात यह है कि 'मैला आंचल' और 'परती: परिकथा' ने किसी न किसी रूप में हिन्दी की सम्पूर्ण आंचलिक उपन्यास-विधा को प्रभावित किया है तथा सही दिशा निर्धारित करने में प्रकाश स्तम्भ की भूमिका निभायी है। फणीश्वरनाथ रेणु के 'मैला आंच' और 'परती: परिकथा' ने सम्पूर्ण भाषायी शिल्पको एक नया आधार दिया और नये कीर्तिमानों को स्थापित किया। पात्रों द्वारा प्रयुक्त भाषा के शब्दों और मुहावरों को वे उसी सांकेतिकता के साथ व्यक्त करते हैं, जो उनकी मौलिक विशेषता है। 'परती: परिकथा' के एक दृश्य से इसको समझा जा सकता है: 'सेमल का बाग आज भी है। हर पांच-सात साल के बाद नयी पौधा। सात साल पहले तक दियासलाई कम्पनी का ठेकेदार आया और सेमल-जिसके फल को गिलहरी भी न खाये, जिसकी लकड़ी से कोई मुर्दा भी न जलाये, शीशम के दर बिकने लगा, लेकिन इसी को कहते हैं तकदीर का खेला। सेमलबनी के जमींदार के अधपगले पुत्र जितन बाबू ने साफ जवाब दे दिया-एक भी पेड़ नहीं बेचूंगा। साठ हजार रुपये की आखिरी डाक देकर कम्पनी का ठेकेदार चला गया।'¹⁰ रेणु ने भाषा का कितना खूबसूरत उपयोग किया है, जिसमें कथा के संकेत गुंथे हुए हैं। इस उपन्यास के नायक जितन बाबू हैं, जिन्हें अधपगला कहा गया है क्योंकि उन्होंने धन पर लात मार दिया था और अपने देश और समाज के बारे में वे सोचने लगे थे। जितन बाबू का परिवार पुराना है। परानपुर गांव के एक खंडहर जैसे मकान की एक कोठरी में बैठकर जितन बाबू यानी श्री जितेन्द्रनाथ मिश्र जी एकटक खिड़की से देख रहे हैं-पोखरे में सुपारी, नारियल, साबूदाना तथा यूकिलिप्टस के वृक्षों की परछाइयों को हल्की चाँदनी की चदरी धीरे-धीरे बिला रही है। कमरे में हरिकेन का प्रकाश है। दीवार पर देगा की एक तस्वीर कापी फ्रेम में लटकी है। इस तरह की भाषा का संयोजन रेणु जगह-जगह करते हैं।

'जुलूस' की भाषा में आंचलिकता का निर्वाह उस तरह नहीं हुआ है, जिस तरह 'मैला आंचल' और 'परती: परिकथा' में हुआ है। इसमें रेणु ने लोकोक्तियों का उपयोग खूबसूरत अंदाज में करते हुए भाषा को नयी रवानी प्रदान की है। 'काला अक्षर भैंस बराबर' तथा 'चढ़िके पेड़ सुजान' जैसी उक्तियों को एकसाथ व्यक्त करने की कला में उन्हें महारत हासिल है। 'लाला, औरत न हुई धनहर जमीन हुई'। 'रजिस्ट्री करके दखल दहानी', 'टाइटिल सूट-बेदखली', जैसे पदों का प्रयोग करके रेणु ने भाषा को कलाकत्मकता प्रदान करने में अद्भुत सफलता प्राप्त की है। इस प्रसंग में ध्यातव्य है कि आंचलिक भाषा को क्लिष्ट कहना सही नहीं है क्योंकि जिस किसी शब्द से भी हमारा परिचय नहीं होता, वह शब्द चाहे आंचलिक हो, चाहे अनांचलिक, हमारे लिए दुरूह होता है। इस उपन्यास में हिन्दी, बंगला तथा मैथिलि के शब्द अपनी-अपनी जगह भावाभिव्यक्ति में सफल सिद्ध होते हैं। छाया-बाजा केश, तीन बंगाल देश, साठे पर पाठा, धन धरावे तीन नाम, धन्नू धन्नवा धनेसर नाम, जैसे पद इस उपन्यास की भाषा के सौन्दर्य में वृद्धि ही करते हैं। इसी तरह डूब कर पानी पीयो, एक अनार सौ बीमार, गंगा स्नान और सुगठी का व्यापार जैसे मुहावरे, वाक्य और पद के प्रयोग से रेणु ने इस उपन्यास की भाषा को व्यंजक बनाने का प्रयत्न किया है।

'दीर्घतपा' की भाषा पर यदि गौर करें तो यह तथ्य उभरकर आता है कि इसमें रेणु ने भाषा के प्रति कोई खास सजगता नहीं दिखाई है और न अलग से कोई प्रयोग ही किया है। भाषाकी दृष्टि सं आंचलिक उपन्यासों की अपनी विशेषता होती है और अनांचलिक उपन्यासों की अपनी अलग विशेषता होती है, किन्तु रेणु के उपन्यासों से गुजरते हुए कभी-कभी यह भेद मिट जाता है और लगता है, जैसे रेणु ने अपनी एक विशिष्ट भाषा का अपने लिए आविष्कार कर लिया हो। 'दीर्घतपा' में रेणु ने आंचलिक और मानक हिन्दी भाषा के शब्दों का अवसरानुकूल प्रयोग किया हो। कुन्ती देवी इस उपन्यास की एक पात्र है, जो ग्रामीण अंचल में रहने वाली है।

वह कहती है, 'क्या तंग करती हूँ।' यह बिल्कुल सामान्य भाषा है, किन्तु शारदा कुमारी अपनी भाषा में हर बात के लिए 'अथि' का प्रयोग करती है, जिससे उसकी बोली हास्यास्पद लगने लगती है। बेला और सरफराज खांके बीच होने वाले संघर्ष को रेणु ने अधिक जीवन्त रूप में प्रस्तुत किया है। स्पष्ट है कि रेणु के उपन्यासों में भाषा उनके कथ्य का अनुसरण करती है और उनकी शैली उन्हें विशिष्ट पहचान दिलाती है।

किसी भी उपन्यास में कुछ घटनाएं किसी न किसी स्थान पर घटती हैं और कुछ लोगों के द्वारा घटित होती हैं। जिन व्यक्तियों के द्वारा वे घटनाएं घटित होती हैं, वे व्यक्ति ही औपन्यासिक भाषा में पात्र या चरित्र कहलाते हैं। ये पात्र या चरित्र उपन्यासकार की कल्प-सृष्टि भी होते हैं और वास्तविक दुनिया के अंग भी होते हैं, पर हर अवस्था में वे उपन्यासकार के दृष्टिकोण के अनुसार ही मूर्त होते हैं। इस बिन्दु पर उपन्यासकार को पूरी सावधानी बरतनी पड़ती है। ई.एम. फास्टर ने लिखा है कि "बाध्य किये जाने पर पात्र आ तो जाते हैं, पर बगावत की शक्ति लेकर आते हैं। उनमें भी यथार्थ की तरह बहुत सारे गुण-दुर्गुण तथा विविध प्रवृत्तियां होती हैं और वे अपना स्वतंत्र जीवन जीने की कोशिश करते हैं।"¹¹ अभिप्राय यह कि पात्र यदि उपन्यास की मुख्य कथा की योजना के अंग बनाकर नहीं, बल्कि उपन्यासकार के निजी मंतव्य के अंग बनकर आते हैं तो वे पूरी योजना या संरचना का क्षति भी पहुंचा सकते हैं। इसलिए एक यथार्थवादी उपन्यासकार अपने पात्रों के साथ बहुत छेड़छाड़ करना पसन्द नहीं करता, किन्तु कभी-कभी ऐसी परिस्थितियां उत्पन्न हो जाती हैं कि जब उपन्यासकार को अपने हिसाब से पात्रों का ले चलना अनिवार्य हो जाता है। फास्टर कहते हैं कि पात्र एक सृष्टि के भीतर की सृष्टि होते हैं और जब उपन्यासकार के साथ उनकी ठीक-ठीक संगति नहीं बैठती तो वे या तो भाग जाते हैं या फिर सारी संरचना को ही अव्यवस्थित कर देते हैं। समस्या यह है कि यदि उन्हें पूरी स्वतंत्रता दे दी जाय तो वे रचनाकार के नियंत्रण से बाहर चले जाते हैं और यदि उन पर अंकुश रखा जाय तो वे रचना की अंतःप्रकृति को धीरे-धीरे क्षति कर देते हैं। इसलिए उपन्यासकार को पात्रों या चरित्रों के चयन अथवा सृजन में अतिरिक्त सावधानी बरतनी पड़ती है।

रेणु के पहले दोनों उपन्यासों में पात्रों की संख्या अपेक्षाकृत अधिक है। इसका कारण यह है कि वे अपने अंचल को जीवंत करने का प्रक्रिया में टाइप और विशिष्ट दोनों प्रकार के चरित्रों का चयन और सृजन करते हैं। 'मैला आंचल' में गांव का शायद ही कोई चरित्र किसी न किसी रूप में मूर्त होने से छूट गया हो। इस उपन्यास में अंधे महन्थ और अबोध बालिका लक्ष्मी की कहानी दर्दनाक है। बालदेव भी शोषण का ही शिकार है और बाद में उसके चरित्र में परिवर्तन आने का संकेत दिखाई देता है। इस उपन्यास में डॉ. प्रशान्त विशिष्ट पात्र है, जो साधारण जीवन में भी कभी-कभी प्राप्त हो जाते हैं। वह आदर्शवादी राजनीति का प्रतीक है। रेणु ने डॉ. प्रशान्त के चरित्र को जिस तरह विन्यस्त किया है, वह हिन्दी उपन्यास साहित्य में विलक्षण है। इस उपन्यास में एक चरित्र है बलदेव जी, जो मेरीगंज की कांग्रेस पार्टी के सर्वेसर्वा हैं, किन्तु वे जनता को जागरूक कर पाने में असमर्थ हैं। खालसीजी, ज्योतिषीजी जैसे पात्र भी हैं, जो जादू-टोना में गहरा विश्वास करते हैं। रेणु ने मेरीगंज में व्याप्त अंधविश्वासों को चित्रित करने के लिए ऐसे पात्रों का चयन किया है। हिन्दुओं की धार्मिक आस्था का लाभ उठाकर महन्थ लक्ष्मी का शोषण करता है। लक्ष्मी का बाप सेवादास उसके जाल में फंस जाता है। रेणु ने लक्ष्मी के माध्यम से मेरीगंज में व्याप्त अनैतिकता और व्यभिचार का घृणित पक्ष उजागर किया है। उन्होंने यह भी दिखलाया है कि सेवादास की मृत्यु पर आचार्य गुरु का संदेश लेकर आने वाला साधु भी लक्ष्मी के कारण ही महन्थ बनना चाहता है।

रेणु ने 'मैला आंचल' में सहदेव मिश्र और फुलिया के रास-रंग को प्रस्तुत कर यह दिखाने का प्रयत्न किया है कैसे बड़ी जाति के लोग छोटी जाति की स्त्रियों का उपयोग करते हैं। मंगला देवी के अनुभव के माध्यम से भी रेणु ने स्त्री जीवन की अवस्थितियों को खूबसूरती के साथ प्रस्तुत किया है। डॉ. इन्द्रप्रकाश पाण्डेय ने

लिखा है: “प्रश्न यह उठता है कि क्या यह इतना आसान है, जितना यहाँ वर्णित हुआ है! बाबू-बबुआन छोटी जाति के मोहल्लों में जाकर यौन-सम्बन्ध स्थापित कर सकते हैं। अपवादस्वरूप ऐसी घटनाएँ होती जरूर हैं, जिन पर बड़ी ही सख्त टीका-टिप्पणियाँ होती हैं और पंचायत द्वारा सजाएँ दी जाती हैं, जिसका वर्णन यहाँ भी हुआ है। छोटी जातियों में नारी सम्मान का सवाल अधिक महत्वपूर्ण है क्योंकि इसी के सहारे वे अपने को इज्जतदार कह सकते हैं—आखिर धन-सम्पत्ति का तो कोई भरोसा नहीं और जब छोटी जातियाँ अपने पद को ऊँचा उठाने की कोशिश कर रही हैं और सवर्णों की तरह जनेऊ पहनने लगी हैं तो ऐसे अपमानजनक सम्बन्धों को कदापि नहीं होने देंगी। उन्हें भी अपनी बदनामी और अपवाद का भय है और जब जाति के साथ चलना है तो नक्कू बनकर जीना पसंद नहीं करेंगे।¹² इस कथन में सरलीकरण और सामान्यीकरण स्पष्ट है। रेणु जिस काल की कथा कह रहे हैं, उस काल में छोटी जातियों में आत्मसम्मान की भावना जग तो रही थी, किन्तु इतनी नहीं कि पूँजीभूत होकर बड़ी जातियों की ज्यादातियों का मुकाबला कर सकें। मंगला देवी विधवाश्रम में रह चुकी हैं और वे स्पष्ट कहती हैं कि औरत होना चाहिए, रूप और उम्र की कोई कैद नहीं। बावनदास का बलिदान निष्फल जाता है क्योंकि उनकी चारित्रिक दृढ़ता किसी तरह का परिवर्तन उपस्थित नहीं कर पाती। तहसीलदार विश्वनाथ प्रसाद मंजा हुआ खिलाड़ी है और वह अवसर को पहचानने में माहिर है। विधवा पार्वती की माँ के प्रति गांववालों का विश्वास है कि वह डायन है। कायस्थ टोली और राजपूत टोली दोनों को सलटा लेने में विश्वनाथ प्रसाद का कोई जवाब नहीं है। खेलावन सिंह बलदेव जी के साथ हैं, किन्तु गांव वाले उनके अनशन का मजाक उड़ाते हैं। इस तरह ‘मैला आंचल’ में रेणु ने पात्रों का अपने कथ्य के संदर्भ में सार्थक उपयोग किया है।

‘परती: परिकथा’ में भी पात्रों की संख्या अपेक्षाकृत अधिक है क्योंकि उन्होंने जनजीवन के विभिन्न स्तरों के प्रतिनिधियों को समाहित करने का प्रयत्न किया है। अंचल का जीवन विशाल होता है और उस जीवन-पटल से इनका चयन करते हुए रेणु ने रैखिक पद्धति नहीं अपनायी है, बल्कि वृत्ताकार पद्धति अपनायी है। ग्राम्यांचल के किसान, मजदूर, उपेक्षित, शोषित, पिछड़े लोगों के साथ ही जमींदार, महन्थ, शिक्षित युवा वर्ग, नारी-समुदाय सभी का चित्रण इस उपन्यास में मिलता है। इस आधार पर कह सकते हैं कि यह उपन्यास अपने अंचल के समष्टि का प्रतिनिधित्व करता है। रेणु के व्यक्तिवादी और आइप दोनों प्रकार के चरित्रों का चयन और सृजन किया है। डॉ. कला मेहता ने लिखा है कि “टाइप पात्रों में जो विशेषताएँ मिलती हैं, वह समूह का प्रतिनिधित्व करती हैं। सामाजिक यथार्थवादी चित्रण में पात्र टाइप होता है। आंचलिक उपन्यास में लेखक का ध्यान अंचल के जन-समूह, सामाजिक जन-समूह, सामाजिक जन-जीवन की ओर रहता है। इस कारण इनमें टाइप पात्र अधिक होते हैं। ये इकाई नहीं समूह हैं और अनेक खण्ड चित्रों की तरह अंचल का पूर्ण चित्र उपस्थित करते हैं।”¹³ डॉ. रामविलास शर्मा ने ‘परती: परिकथा’ के पात्रों और चरित्रों के विवेचन में प्रायः नकारात्मकता का समावेश ही देखा है। गांव के लोग यदि अशिक्षित हैं, तो एक रचनाकार उन्हें अशिक्षित ही दिखायेगा। उपन्यास का हीरो है जितन। जमींदारी खत्म हो गयी है, फिर भी सेमल वन पर उसका कब्जा है। वह अपनी माँ के आंचल में बंधा हुआ है। वह विचारशील नौजवानों के मन में प्रेरणा भरता है। एक अनुभूति की सृष्टि करता है कि समाज को बदला जा सकता है। राजनीतिक स्तर पर अनेक विसंगतियाँ हैं। किसान आपस में झगड़ा करते हैं। कुबेर सिंह ने प्यार से पुचकार कर ‘लव’ का सिगनल दिखाया था। नुकीली दाढ़ी वाले मकबूल और लुतो की स्थिति जितन से अलग है। लुतो जटिल पात्र है, जिसके माध्यम से पूरे उपन्यास को समझा जा सकता है। रेणु समाजवादी कार्यकर्ता के रूप में सक्रिय थे, स्वाभाविक है कि उनकी दृष्टि सामाजिक चरित्रों पर अधिक गहराई से पड़ी है।

‘परती: परिकथा’ में नारी पात्रों की संख्या कम है, किन्तु जितनी है, वह ज्यादा सार्थक और महत्वपूर्ण है।

तजमनियां अत्यन्त खूबसूरत हैं। मलारी अलग कोटि की महिला है, सारे परानपुर के गांव के लोग मानते हैं कि ताजमनी अद्वितीय सुन्दर है। मलारी अपनी अस्मिता के प्रति सजग रहती है और एक तरह से वह कभी-कभी चुनौती भी पेश करती है। जित्तन पर लोग ढेले फेंकते हैं, लेकिन बहुत जल्दी अपनी गलती महसूस कर लेते हैं। जित्तन नाटक की तैयारी से ही मन की परती को छू लेता है। हरिजन कन्या मलारी के वर्ण-विरोध के कारण लोग नाराज थे। रेणु ऐसे चरित्रों को प्रस्तुत करते हैं, जो अपनी विशिष्ट पहचान छोड़ जाते हैं। उन्होंने लिखा है कि “सुधना अपनी किताब ले आया और लालटेन के पास पढ़ने बैठा। ताजमनी उठी और घर के अन्दर जाकर मां काली की तस्वीर के सामने हाथ जोड़कर खड़ी हो गयी-‘श्याम! मां! उसका एक रोम भी न कलपे। जिद्द का अमंगल न हो। मुझे जितना भी दुःख देना है दे, उसके बदले।’ सुधना फूफेरा भाई है, ताजमनी के अनाथ भाई को ले आयी है लहेरियासराय से। सुधना को स्वर्ग मिला है। जन्म लेने के बाद इतना प्यार उसे कभी न मिला।”¹⁴ ताजमनी या मलारी जैसे चरित्रों की सृष्टि के माध्यम से रेणु ने एक नये किस्म के चरित्र पाठक की सृष्टि हैं, लेखक की नहीं। उपन्यासकार को महज यही करना है कि वह उन्हें सबल रेखा दे दे। पाठक उनसे सहयोग करेगा, ताकि उसे निश्चय हो जाये कि वह वास्तविक व्यक्तियों के साथ है। रेणु के उपन्यासों में इस तथ्य की सार्थकता दिखायी देती है। ‘मैला आंचल’ और ‘परती: परिकथा’ की चरित्र-सृष्टि की सर्वप्रमुख विशेषता भी यही है कि सभी पात्रों का अंकन सबल रेखाओं से हुआ है। लेखक ने चरित्रों के शारीरिक वर्णन की ओर भी ध्यान दिया है, पर मुख्यतया उसने उनकी आत्मा को गढ़ने का प्रयास किया है। कुछ पात्र गांव में व्याप्त अन्धविश्वास, जादू-मंत्र, भूत-प्रेत की भावना के परिचायक हैं। बालदेव, कालीचरण, लुत्तो, रामनिहोरा, मकबूल, तारा बाबू आदि पात्र हैं, जो विभिन्न राजनीतिक दलों की स्थिति को व्यक्त करते हैं। इसी तरह फुलिया, सहदेव मिसिर, रमजुदास की स्त्री, खलासी, गेंदाबाई, बिजलीबाई, चुनमुनबाई, सामबती जैसे पात्र गांव के झगड़ों और विकृतियों को दर्शाते हैं तो डाक्टर प्रशान्त और जित्तन गांव के प्रति सन्नद्ध नजर आते हैं।

‘जुलूस’ में रेणु ने पात्रों के चयन और सृजन की प्रक्रिया को आंचलिक उपन्यासों के पात्रों के चयन और सृजन की प्रक्रिया से अलग स्तर पर विन्यस्त किया है। इसका कारण यह है कि इस उपन्यास का कथ्य बदला हुआ है। इसमें पात्र योजना भी अलग है। आंचलिक उपन्यासों में पात्र-योजना का वैशिष्ट्य होता है, उसमें ग्राम्य जीवन का चित्रण करना अनिवार्यतः निहित होता है, किन्तु अनांचलिक उपन्यासों में ऐसी कोई विवशता नहीं होती है। इस उपन्यास की नायिका है पवित्रा। रेणु ने पूरे उपन्यास में पवित्रा। रेणु ने पूरे उपन्यास में पवित्रा के चरित्र को जिस तरह विश्लेषित किया है, उसके आधार पर यह निष्कर्ष निकलता है कि वह कमजोर, कायर और डरपोक नहीं है। लोग उसे जीने नहीं देंगे, इस भय से वह विवाह करने से इन्कार नहीं करती, बल्कि वह स्वतंत्र रहकर समाज-सेवा करना चाहती है। पुरुष पात्रों में पण्डित राय चौधरी, गोडियर गांव के दूहने वाले हैं, उनकी सारी सम्पत्ति तालेवर गोढ़ी के यहां गिरवी पड़ी है। परिवार की सम्पत्ति स्वाहा करने वाला उसका बड़ा बेटा तेल-नून की दुकान करता है। मछली घर से लापता है। पण्डित चौधरी अपने ज्येष्ठ पुत्र को कोसते हैं। तालेवर गोढ़ी का स्थान भी पात्रों में प्रमुख है। वह बहुत अन्धविश्वासी है। जयराम सिंह तालेवर की कॉलोनी में रहता है। कीर्तन सुनने के बहाने जाता है और मौका पाकर पवित्रा पर मिट्टी फेंक देता है। धानु टोली का मोहन वफादार सरकारी आदमी है। कासिम दुष्ट चरित्र एवं कामी पुरुष है। गोपाल पाइन बहुत कम बोलने वाला और पढ़ा-लिखा आदमी है और गांव की स्थिति को लेकर चिन्तित रहता है।

‘दीर्घतपा’ में भी रेणु ने पात्रों के चरित्र-विन्यास में सर्वथा नयी पद्धति का उपयोग किया है। यह नारी प्रधान उपन्यास है, जिसकी नायिका है बेला गुप्ता, जो कहती है कि भारत में सबसे पहले नारी की ही आरती उतारी जायेगी। वह भी अनेक विसंगतियों का शिकार होती है। राजनीतिक क्रांतिकारी पार्टी से जुड़ती है। देश और समाज के विकास के बारे में सोचती है, किन्तु अक्सर ठगी जाती है। इस उपन्यास की एक और महत्वपूर्ण नारी पात्र

है, रमला बनर्जी। रमला बनर्जी के बारे में स्वास्थ्य मंत्री ने अपने भाषण में कहा था कि बांकीपुर के बैरिस्टर श्री नागेन्द्र बनर्जी की पत्नी को मैं उस समय से जानता हूँ, जब वह भागलपुर कालेज में पढ़ती थी। खेलकूद से लेकर समाजसेवा और सार्वजनिक कार्यक्रमों में धूम मचाने वाली मिस रमला बनर्जी को लोग भूल गये हैं। इनकी प्रशंसा राजेन्द्र बाबू ने भी की थी। रमला दीदी के माध्यम से रेणु ने अप्रत्यक्ष रूप से विभिन्न समस्याओं का समाधान प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है। इस उपन्यास में एक और स्त्री पात्र है, पायलट कुमारी वीणा, जिसने कहा था कि रमला मौसी नहीं होतीं तो मैं किसी साहू जा के आध दर्जन बच्चों की बीमार मां होती और रमला मौसी के किसी मेटरनिटी सेन्टर में दवा के लिए रिरियाती फिरती। एक और महत्वपूर्ण चरित्र इस उपन्यास में है, जिसके आसपास उपन्यास घूमता है। उस चरित्र का नाम है, ज्योति आनन्द। ऐसा प्रतीत होता है कि रमला और बेला के चरित्र को निखारने के लिए ही रेणु ने ज्योति आनन्द जैसे चरित्र की सृष्टि की है।

बहुत से आलोक संवाद-योजना को भाषा-शैली के अन्तर्गत रखने का प्रयत्न करते हैं, किन्तु ध्यान से देखने पर स्पष्ट हो जाता है कि औपन्यासिक कृति में संवाद-योजना का अलग महत्व है। जहाँ रचनाकार घटनाओं के माध्यम से, विवरणों के माध्यम से, सूचनाओं के माध्यम से, चरित्र-निरूपण के माध्यम से अपनी बात को स्पष्ट नहीं कर पाता, वहाँ वह संवाद-योजना का सहारा लेता है। इसीलिए डॉ. कला मेहता का कहना है: “कथोपकथन का उद्देश्य कथानक को गति प्रदान करना है। पात्रों का व्यक्तित्व कथोपकथन से उद्घाटित होता है। चरित्र को विश्लेषित करने में कथोपकथन सहायक सिद्ध होता है। लेखक के विचार तथा जीवन-विषयक दृष्टिकोण और उद्देश्य का प्रकटीकरण इसी उपकरण से होता है।”¹⁵ औपन्यासिक क्रिया-व्यापार, जो लेखक का मानस-संसार ही है, वे पाठक को विश्वसनीय प्रतीत हो, इस कारण कथोपकथन का उपयोग वह करता है। अपने उद्देश्यों की पूर्ति के लिए कथोपकथन में पात्रानुकूल, भावात्मकता, विचारात्मकता, संक्षिप्तता, तीव्रता, नाटकीयता आदि गुणों का समावेश कर रचनाकार संवाद-योजना सार्थक और उद्देश्यपरक बनाता है। इसी विशिष्टता के कारण कथोपकथन उपन्यास को प्रभावोत्पादक बनाने में सहायक होता है। सच तो यह कि औपन्यासिक शिल्प के सभी तत्वों को संवाद-योजना जोड़ने में सहायक की भूमिका निभाती है। धीरेन्द्र वर्मा तो संवाद को उपन्यास के लिए के अत्यन्त महत्वपूर्ण मानते हैं। उपन्यासकार कभी-कभी पात्रों के भीतर चल रहे घात-प्रतिघातों को व्यक्त करने के लिए भी संवादों का सृजन करता है, जिसे स्वगत वार्तालाप या स्वगत कथन कहा जाता है। इस संदर्भ में यह ध्यान रखना चाहिए कि यदि देश, काल और संस्कृति का कोई प्राणी किसी से किसी भी प्रकार की बातचीत करता है तो वह अपनी स्वाभाविक भाषा में ही अपने को प्रस्तुत करता है।

दूसरी ओर कुछ विचारक ऐसे भी हैं, जो यह मानते हैं कि संवाद औपन्यासिक तत्वों के अन्तःसंघटन के बीच रखना चाहिए। औपन्यासिक शिल्प के विधायक तत्वों का विश्लेषण करते समय बहुत से विद्वानों ने संवाद-योजना को एक अलग तत्वों का विश्लेषण करते समय बहुत से विद्वानों ने संवाद-योजना को एक अलग तत्व के रूप में मान लिया है। जवाहर सिंह का विचार है कि “संवाद या कथोपकथन उपन्यास का वैसा अपरिहार्य तत्व नहीं है, जैसा कथा, चरित्र या देश-काल आदि। कथोपकथन या संवाद नाटक का अपरिहार्य तत्व है, पर उपन्यास में उसकी स्थिति वैकल्पिक ही हो सकती है। बहुत से ऐसे इतिवृत्तात्मक, वर्णनात्मक या आत्मकथात्मक उपन्यास हैं, जिनमें संवाद की स्थिति ही नहीं आयी है या आयी भी है तो इतनी अल्प मात्रा में कि उसके आधार पर उसे स्वतंत्र तत्व नहीं माना जा सकता। वैसे कोई पात्र अपने आपसे ही कोई बात कर रहा है या सोचने-विचारने और आत्मचिंतन के क्रम में स्वयं से तर्क-वितर्क कर रहा है, इसको भी अगर संवाद मान लेने की व्यापक उदारता दिखलायी जाये तो बात दूसरी है, लेकिन संवाद से सामान्यतः दो व्यक्तियों या पात्रों का पारस्परिक वार्तालाप समझा जाता है।”¹⁶ इस कथन पर यदि गौर करें तो इसमें निहित अन्तर्विरोध उपन्यास में संवाद-योजना के महत्व को रेखांकित करने के लिए काफी है। संवाद दो व्यक्तियों के बीच ही

नहीं होता है, संवाद अपने आपसे भी होता है, प्रकृति से भी होता है और विचार-प्रक्रिया में भी संवाद के तत्व पाये जाते हैं। उपन्यास में जब भाषा-शैली का विश्लेषण किया जाता है तो यह स्पष्ट होता है कि उसके दो रूप होते हैं। एक रूप उपन्यासकार द्वारा कथा कहने, वर्णन करने, पात्रों के परिचय देने या देश काल का चित्र खींचने-उभारने में दिखायी देता है और दूसरा रूप विभिन्न पात्रों के पारस्परिक संवाद प्रकट होता है। उपन्यासकार के वर्णन और चित्रण की भाषा-शैली में भी परिवर्तन होता है, पर यह लगभग सम्पूर्ण उपन्यास में एक जैसा नहीं होता। अलग-अलग उपन्यासों में वार्तालाप की स्थिति अलग-अलग होती है। इसलिए औपन्यासिक संरचना के अन्तर्गत संवाद-योजना को न रखकर उस पर सही ढंग से विचार नहीं किया जा सकता।

रेणु ने कथ्य के अनुकूल और दृश्यों के अनुकूल संवादों का संयोजन किया है। जब डाक्टर और कमली बातचीत करते हैं तो संवाद का लहजा बदल जाता है, किन्तु जब कालीचरन मंगला से मिलता है, तब संवाद का लहजा दूसरा हो जाता है। कालीचरन को एक पुराने रेलवे क्वार्टर के अन्दर वाले कमरे में बिठा कर मंगला लोटा-गिलास लेकर पानी के नल पर चली जाती है। कालीचरन देखता है- चरखा है, धुनकी भी है, खाट पर कम्बल के ऊपर सफेद की चाद है। कालीचरन हाथ में गिलास लेकर मंगला की ओर टकटकी लगा कर देखता है। इसी बीच वह देखता है कि दरोगा पिस्तौल ताने खड़ा है। दरोगा मंगला से पहले से परिचित था। वह कहता है कि इस साले की दाढ़ी नोच लो। मंगला झट से दरवाजा बन्द कर देती है। ऊपर से बन्दूक के कुन्दे जड़ रहे हैं काली के कन्धे पर! वह शरबत का डकार लेते हुए पुलिस-लारी पर जा बैठते हैं। कातिक महीने के कागजी नीबू में कितनी सुगंध होती है! सिर से झर-झर खून गिर रहा है, लेकिन, उसका सारा शरीर संतुष्ट है, शून्य है। 'परती: परिकथा' में रेणु ने अधिकतर वर्णनों और विवरणों से काम लिया है। जरूरत पड़ने पर अपनी ओर से भी उन्होंने बहुत सी ऐसी बातें कही हैं, जिनसे कथा का सूत्र आगे बढ़ता है, किन्तु जहाँ वे देखते हैं कि वर्णन, विवरण, सूचना और कथावाचक के माध्यम से चीजें स्पष्ट नहीं हो पा रही हैं, वहाँ वे संवादों का सहारा लेने पर बाध्य होते हैं।

'जुलूस' में रेणु ने संवाद-योजना का अलग टाट प्रस्तुत किया है। इसमें संवाद का महत्व निर्विवाद रूपसे अत्यन्त सुन्दर बन पड़ा है, जिनसे कथा का सूत्र आगे बढ़ता है, किन्तु जहाँ वे देखते हैं कि वर्णन, विवरण, सूचना और कथावाचक के माध्यम से चीजें स्पष्ट नहीं हो पा रही हैं, वहाँ वे संवादों का सहारा लेने पर बाध्य होते हैं।

'जुलूस' में रेणु ने संवाद-योजना का अलग टाट प्रस्तुत किया है। इसमें संवाद का महत्व निर्विवाद रूप से अत्यन्त सुन्दर बन पड़ा है। एक पात्र दूसरे पात्र से अपनी भावनाओं की अभिव्यक्ति संवादों के माध्यम से ही करता है। सम्भवतः रेणु का यह अकेला उपन्यास है, जिसमें संवादों का सर्वाधिक उपयोग हुआ है। इसके संवाद आकर्षक, चुटीले और स्थानीय रंगत लिये हुए हैं, जिसमें राजनीतिक, सामाजिक और सांस्कृतिक परिवेश मूर्त होता चलता है। एक उदाहरण यहां द्रष्टव्य है।

“अपना देश फिर अपना देश! ... पर भूमि कैसी भी हो आखिर पर, भूमि ही है।

सरकारी कर्मचारी पवित्रा से कहता है: “यह आप लोग अपना देश, अपना देश क्यों बोलते हैं। देश का मतलब? क्या माने?”

“हरिधन गोदल कहता है- देश का माने देश।”

“देश का माने तो देश तो क्या हिन्दुस्तान अपना देश नहीं है? आप लोगों का देश नहीं है?”

“कालाचांद घोष की मां कहती हैं.... हम लोगों के गांव का नाम है नवीनगर और यहाँ के लोग कहते हैं पाकिस्तानी टोला।”¹⁷

हर उपन्यास में कोई न कोई स्थान होता है, कोई न कोई अचल होता है और कोई न कोई देश होता है।

हर उपन्यास की घटना किसी न किसी कारण में घटित होती है और वे घटनाएं कुछ पात्रों के सहारे आकार लेती हैं। युगबोध रेणु के उपन्यासों की मूल विशेषता है, किन्तु यह युगबोध सीमित अर्थ में नहीं है और न ही इसका उन्होंने आदर्शीकरण करने का प्रयत्न किया है। स्पष्ट है कि स्वतंत्र भारत में देश के लिए शहीद होने वाले सेनानियों की विधवाएँ बहुत दिनों तक भुलायी जाती रही हैं। अनेक शहीद ऐसे हैं, जिनका परिवार दाने-दाने के लिए मोहताज है और वे लोग जो स्वाधीनता संघर्ष में एक तरफ अंग्रेजी का साथ दे रहे थे और दूसरी तरफ कांग्रेस के बड़े नेताओं से सम्पर्क साधकर आगामी भविष्य की ओर झाँक रहे थे, चांदी काटने लगे हैं। रेणु जैसा संवेदनशील और सामाजिक रूप से प्रतिबद्ध रचनाकार इस कथ्य को कैसे भुला सकता था! यही कारण है कि उन्होंने समाज की विकृतियों के साथ सम्भावनाओं का भी निदर्शन किया।

सन्दर्भ :

1. जवाहर सिंह, हिन्दी के आंचलिक उपन्यासों की शिल्प-विधि, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, पृ. 7
2. वही, पृ. 3
3. डॉ. नामवर सिंह, कहानी नयी कहानी, लोक भारती प्रकाशन, इलाहाबाद, पृ. 26
4. डॉ. आशुतोष राय, नागार्जुन का गद्य-साहित्य, लोक भारती प्रकाशन, इलाहाबाद, पृ. 125
5. वही, पृ. 127
6. फणीश्वरनाथ रेणु, मैला आंचल, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ. 34
7. वही, पृ. 39
8. जवाहर सिंह, हिन्दी के आंचलिक उपन्यासों की शिल्प विधि, पृ. 221
9. फणीश्वरनाथ रेणु, परती परिकथा, पृ. 17
10. इन्दु प्रकाश पाण्डेय, हिन्दी के आंचलिक उपन्यासों में जीवन-सत्य, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, पृ. 155
11. फणीश्वरनाथ रेणु, परती परिकथा, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ. 68-69
12. जवाहर सिंह, हिन्दी के आंचलिक उपन्यासों की शिल्प-विधि, पृ. 27
13. फणीश्वरनाथ रेणु, जुलूस, भारती ज्ञानपीठ प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ. 3



सुशीला टाकभौरे के उपन्यास 'नीला आकाश' में अभिव्यक्त स्त्री चेतना

○ रेखा यादव (शोधार्थी)

○ तेज नारायण ओझा (शोध पर्यवेक्षक)

प्राचीनकाल से ही स्त्रियों को अपमान, दुत्कार और घृणा का पात्र समझा गया है। समाज में स्त्रियों की क्या पहचान है? समाज का वह चाहें कोई भी क्षेत्र हो उसमें स्त्रियों का क्या महत्व है? क्या योगदान है? उनका क्या भविष्य है? ये सभी प्रश्न ज्यों के त्यों ही बने हुए हैं। वर्तमान समय में सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक विकास में पुरुष के साथ स्त्री का भी उतना ही अहम योगदान है जितना कि पुरुषों का। स्त्री अपने दृढ़ आत्मविश्वास और स्वाभिमान के साथ अपनी अस्मिता की पहचान के लिए निरंतर प्रयास करती है। सदियों से उत्पीड़ित स्त्री स्वयं के लिए मानवीय दृष्टिकोण से समाज को मानवीय बनाने का प्रयास कर रही हैं। संघर्ष की निरंतर यात्रा में स्त्री अपने मन, लगाव तथा अलगाव के दश को सहती भविष्य गढ़ने की दृष्टि को बनाये रखना चाहती है। स्त्री अपने दृष्टिकोण से रचनात्मकता का सृजन करना चाहती है। सृजनात्मकता की रूपरेखा बनाए रखने में महिलाएँ समाज में अपनी भागीदारी चाहती हैं। देह से परे, बुद्धि और मन की निर्भरता से, निजता व सम्मान का हक मांगती हैं। हमारे समाज की महिलाओं को शोषण, दमन एवं पुरुषवादी सोच से मुक्ति चाहिए, मुक्ति ऐसी, जो गरिमामय उड़ान के लिए नया आकाश प्रदान करे।

भारतीय समाज में महिलाओं को पुरुषों ने हमेशा अपने से कम और नीच माना है, चाहे वह पुरुष कोई भी जाति या धर्म का क्यों न हो। महिलाओं ने अपने ऊपर हो रहे पितृसत्तात्मक समाज के द्वारा शोषण एवं अत्याचारों का घोर विरोध किया। स्त्रियों के आत्मसम्मान एवं स्वाभिमान की लड़ाई प्राचीन काल से लेकर आज तक ज्यों की त्यों ही है। दलित समाज की स्त्रियों की स्थिति तो और भी विकराल है। दलित स्त्रियाँ समाज में विभिन्न कारणों के द्वारा शोषण का शिकार हुई हैं; जैसे- स्त्री होने के कारण, विधवा होने के कारण, अधिक सुंदर होने के कारण, कुरूप होने के कारण, गरीब होने के कारण और दलित होने आदि के कारण स्त्री शोषण का शिकार होती रही है। महिलाएँ अपने ऊपर हो रहे शोषण, अन्याय और अत्याचार का प्राचीनकाल से ही विरोध कर रही हैं। भारतीय समाज में दलित महिलाओं का दोहरा शोषण होता है। वह एक स्त्री है इस आधार पर और दूसरा वह दलित जाति की स्त्री है इस आधार पर उसका शोषण होता है।

आज भारतीय महिला आंदोलन की उच्चवर्गीय व उच्चवर्णीय अगुवा महिला नेता, दलित महिला आंदोलन के नेता व उनके सुभचिंतकों को सम्पूर्ण नारीवादी आंदोलन का प्रेरणास्रोत मानने को तैयार नहीं है। दलित महिला आंदोलन की खासियत है कि वह अपनी मुक्ति के प्रश्न को सामाजिक और आर्थिक प्रश्न से जोड़कर देखती है। दलित महिला आंदोलन के लिए घरेलू हिंसा के साथ-साथ सामाजिक हिंसा भी उतनी ही महत्वपूर्ण है, क्योंकि दलित महिलाएँ रोज-रोज गांवों-शहरों, फैक्ट्रियों-खेतों में दलित स्त्री होने के कारण अपमान, शोषण और अत्याचार का शिकार होती हैं।¹ दुःख की बात तो यह है कि इस सामाजिक हिंसा के सवाल को महिला आंदोलन

उस प्रतिबद्धता के साथ नहीं उठाता जितना कि घरेलू हिंसा को। आज दलित स्त्रियाँ उच्चपद पर होने के बावजूद भी चाहे वह राजनैतिक हो, शैक्षिक हो या फिर अन्य कोई पद पर हो, उन्हें जिस तरह से समाजिक हिंसा का शिकार होना पड़ रहा है। वह एक शर्मनाक स्थिति है। देवदासियों के नाम पर दलित महिलाओं के शोषण का यह सिलसिला प्राचीन काल से चल रहा है। भारतीय महिला आंदोलन के लिए दलित महिलाओं के मुद्दे जैसे मन्दिर जाने की समस्या हो, पानी-पीने की समस्या हो, यौन शोषण की समस्या हो, या फिर अस्पृश्यता की समस्या आदि कोई अहमियत नहीं रखते। दलित महिला आंदोलन अस्पृश्यता, लिंगभेद, असमानता के खिलाफ चलाया गया आंदोलन हैं। यह आंदोलन दलित महिलाओं को स्कूल, कालेज, हॉस्टल खोलने के साथ-साथ पत्र-पत्रिकाओं में लिखने की प्रेरणा भी देता हैं। दलित महिला आंदोलन दलित आंदोलन का ही एक भाग हैं। जिसकी झलक हमें दलित साहित्य में दिखाई पड़ती हैं।² दलित साहित्यकारों ने अपनी लेखनी के माध्यम से समाज में व्याप्त शोषण और अत्यचार के विरुद्ध अपनी आवाज बुलंद की है। इसका यही विशेष रूप हिंदी दलित उपन्यासों में देखा जा सकता है।

हिंदी दलित साहित्य में दलित उपन्यास लेखन की शुरुआत सर्वप्रथम देवी दयाल सेन का बहुचर्चित उपन्यास “मानव की परख” से होती है। इसके बाद तो उपन्यासों का दौर-सा चल पड़ता है। आज हिंदी दलित साहित्य में अनेक उपन्यास आ चुके हैं। सभी उपन्यास रोंगटे खड़े कर देने वाले हिन्दू समाज की त्रासदियों से भरे पड़े हैं, इन सभी उपन्यासों के पात्र जाति-व्यवस्था से पीड़ित हैं। वे छुआछूत, अत्याचार, शोषण, भेदभाव जैसी कुरीतियों के शिकार हुए हैं, लेकिन वे अपने आत्मसम्मान और स्वाभिमान की रक्षा के लिए मानवीय-अधिकार के साथ संघर्षरत हैं।

सुशीला टाकभौरे जी का उपन्यास ‘नीला आकाश’ भी दलित जीवन के कठोर यथार्थ का जीवंत दस्तावेज है, जो अतीत, वर्तमान और भविष्य की आशाओं आकांक्षाओं को व्यक्त करता है। बल्कि उनकी शिक्षा जागृति सशक्तीकरण उत्थान तथा मुक्ति का प्रबल इतिहास है। इस उपन्यास के शीर्षक की उपयोगिता को दर्शाते हुए, सुशीला टाकभौरे कहती है कि, “नीला आकाश’ मेरे मन का आकाश है- जहाँ मेरे विचार मेरी भावनाएँ और मेरी अपेक्षाएँ मुखरित हैं।”³ ‘नीला आकाश’ उपन्यास की कथावस्तु दलित जीवन पर आधारित है। इस उपन्यास में सवर्ण के षडयंत्र, दलितों के शोषण, उत्पीड़न और उनके अभावपूर्ण जीवन का वर्णन दिखाई पड़ता है। हमारे भारतीय समाज में आज भी दलितों को शिक्षा से वंचित रखे जाने के षडयंत्र किए जाते रहे हैं। लेखिका के शब्दों में- “भारतीय समाज रचना में वर्ण भेद और जाति भेद की भावना है। यह पहले बहुत विकराल रूप में थी। धीरे-धीरे परिवर्तन हुआ है, मगर यह भावना अभी भी है। इसे पूरी तरह खत्म करके, सवर्ण और अछूत का भेद मिटाया जा सकेगा। इसके लिए सबसे अधिक जरूरत है, दलितों के बीच एकता, संगठन और भाईचारे की।”⁴ इस उपन्यास में यही संदेश देखने को मिलता है। इस उपन्यास में दो जातियों बहुत ही महत्वपूर्ण हैं मातंग और वाल्मीकि इनकी एकता को इसमें बखूबी दिखाया गया है।

उपन्यास की लेखिका समाज को संदेश देना चाहती हैं कि “दलित जातियों के बीच अंतरजातीय विवाह होने चाहिए, इससे दलित एकता मजबूत होगी। दलितों के परिवार छोटे हों, ताकि अनावश्यक अधिक खर्च से बचकर, अपने बच्चों की परवरिश अच्छी तरह कर सकें। बच्चों को शिक्षा पाने के पूरे अवसर मिलें। व्यक्तिगत जीवन के साथ सामाजिक उत्थान के कार्यों को भी महत्व दिया जाए। ‘नीला आकाश’ में इन सभी मुद्दों की ओर संकेत किया है। महिलाओं के पूर्ण व्यक्तित्व विकास को भी महत्वपूर्ण माना है। पुरुषप्रधान समाज व्यवस्था में स्त्री सबलता जरूरी है, तभी स्त्री-पुरुष समानता की भावना आ सकेगी।”⁵ भीकू और चंदरी जैसे पात्र केवल स्वयं तक सीमित नहीं है। वह अपने दलित शोषित समाज की मुक्ति और उत्थान के लिए प्रयासरत हैं। नीलिमा और आकाश जैसे वर्तमान और भविष्य की पीढ़ियाँ ही दलितों, शोषितों, पीड़ितों के जीवन में नया परिवर्तन लेकर

आएगी।

यह उपन्यास सिर्फ दलितों की व्यथा-कथा पर आधारित ही नहीं है बल्कि बेबसी, मोहभंग, आशावादिता की कथा पर भी आधारित है। लेखिका ने विशेषकर समाज व्यवस्था की आंतरिकता, समर्पण-शीलता, आत्मीयता, दृढ़ता, संकल्पशक्ति आदि गुणों को अपनी लेखनी के माध्यम से अनन्य बना दिया है। यह कहना अति उपयुक्त होगा कि 'नीला आकाश' जीवन के अबूझ, जटिल उज्ज्वल भविष्य की आशा रखने वाले सहृदय पाठकों के लिए यह एक सुंदर उपहार है। इस उपन्यास में एक स्त्री का शोषण, उत्पीड़न एवं उसकी पीड़ा को और उसकी कम उमर में ही शादी कर देना आदि को इस उपन्यास में दिखाया गया है। बिलारी के साथ भी ऐसा ही होता है उसकी शादी 10 वर्ष की आयु में ही कर दी गई। क्योंकि कुछ गंदी मानसिकता वाले पुरुष उसका शारीरिक शोषण करना चाहते थे। इसी डर से सुगिया ने अपनी बेटी दुलारी की शादी कर दी। सुगिया के शब्दों में—“पिछले कुछ दिनों में सुगिया ने गौर किया, कि कुछ गांव के मनचले जवान और बूढ़े भी उसकी बेटी को घूर-घूर कर देखते हैं। वे सुगिया की नजर बचाकर दुलारी को मिठाई और चटपटी चीजें खाने के लिए देते हैं, उसे बातों में लगाकर इधर-उधर ले जाने की कोशिश करते हैं। यह देखकर सुगिया चौकन्नी हो गई। . उसने सवर्ण बस्ती के उन मनचलों को अपनी बाल्मीकि बस्ती के चक्कर लगाते हुए देखा। तब उसने दुलारी को घर के अंदर ही रहने की बात समझाई। सुगिया हिंदू महाजनों से झगड़े की बात से डरती थी। यह बात उसने कालीचरण और चंदू को नहीं बताई। बस जल्दी से जल्दी दुलारी के ब्याह की फिक्र करने लगी। गांव के गुंडे बदमाशों का सामना करना आसान नहीं है। पति के बाद बड़ा बेटा और बहू घर परिवार की जिम्मेदारी संभाल रहे हैं। कालीचरण बेटा और बुधिया बहू की नगर परिषद में सफाई कर्मचारी की नौकरी है।”⁶ कुछ सवर्ण पुरुषों की धिनौनी मानसिकता की चर्चा करते हुए प्रसिद्ध दलित साहित्यकार मोहनदास नैमिशराय कहते हैं कि—“दलितों के साथ सवर्णों द्वारा बलात्कार का एक कारण यह भी रहा है कि सवर्ण सामंत अपनी जातीय श्रेष्ठता उच्चता के दंभ में चूर होते हैं और दलितों के साथ उनके बलात्कार का उद्देश्य केवल उनकी कामोत्तेजना की पूर्ति ही नहीं अपितु उनके स्वाभिमान को तोड़ने के लिए किया जाता है।”⁷

हमारे भारतीय समाज में महिलाओं का इतना शोषण होता है, कि उस शोषण को किस रूप में व्यक्त करे समझ में नहीं आता। महिलाओं का शोषण किन-किन आधारों पर होता है। इनका शोषण जैसे-माँ के रूप में, बेटी के रूप में, बहू के रूप में, सास के रूप में, अछूत जाति के रूप में, विधवा के रूप में, सुंदरता के रूप में, स्त्री के रूप में आदि के आधार पर महिला का शोषण होता ही रहता है। इस उपन्यास का एक पात्र सीताराम जोकि अपनी पत्नी को मारता-पीटता है। भीकूजी इस झगड़े से परेशान होकर चंदरी से कहते हैं कि— “जरा इनके घर जाकर गंगाराम और कलिया को समझाना। रोज-रोज का यह तमासा बहू को इस तरह मारना, पीटना अच्छा नहीं लगता। इंसानियत भी कोई चीज होती है।”⁸ सीताराम अपनी पत्नी को मारने-पीटने में अपनी मर्दानगी समझता है। “गंगाराम का बेटा सीताराम जब तक अपनी पत्नी रमाबाई को दो-चार लात नहीं लगाता, तब तक उसे लगता ही नहीं कि वह दमदार मर्द है। ऐसे समय में सीताराम की माँ कलिया, जी भरके नमक मिर्च झोंक देती है। पूरे घर का वातावरण खराब हो जाता है। गंगाराम अपने बेटा और पत्नी को थोड़ी गाली गलौज सुनाकर चुप हो जाते हैं। कलिया पति की गालियों को अनसुनी करके बेटे की मर्दानगी पर मुस्कराती हुई, पान सुपारी खाने में तल्लीन हो जाती है.... सीताराम की पत्नी रमाबाई, सातवे महा के गर्भ से है, साल भर की बेटी को गोद में लिए, वह घर के काम, रोते सिसकते करती रहती है। ऐसे समय में सीताराम घर से बाहर निकला, तो समझ लो, कलाली से देशी ठर्रा पीकर देर रात में आएगा और फिर, रातभर बेचारी बहू रामबाई के साथ झगड़ा करेगा”⁹

स्त्री मुक्ति के संदर्भ में चर्चा करते हुए रमणिका गुप्ता कहती हैं कि “स्त्री के संदर्भ में नैतिकता की यह

कसौटी और भी कठोर हो जाती है। पुरुष के लिए जो स्खंडता मर्दानगी का प्रतीक मानी जाती है, वही स्त्री को कुलटा या छिनाल की श्रेणी में ला खड़ा करती है। यौन विषय पर चर्चा करना भी इस मानसिकता के कारण इतना अनुचित माना जाता था कि कई सदियों तक साहित्यकार भी यौन चर्चा से कतराते रहे। हर धर्म में प्रेम को वर्जित करार कर दिया जाने लगा, किसी में कम, किसी में ज्यादा, खासकर अभिजातीय व मध्यम वर्गों में, प्रेम पर चर्चा राजदरबारों या तवायफों के कोठे की चीज बन गई। जिस समाज में प्रेम या यौन संबंध मुक्त होता या छिपाया नहीं जाता अथवा जहाँ बंदी से इतनी कड़ी नहीं होती, उन्हें सभ्यता से बाहर, नैतिकता से परे, और संस्कार हीन माना जाता रहा, मानव संस्कारित होने का अर्थ ही यौन व प्रेम पर काबू पाना है। सभ्यता के विकास के साथ-साथ मनुष्य की इन स्वाभाविक प्रवृत्तियों को पशुता माना जाने लगा। हालाँकि विश्व की कई सभ्यताओं में; यहाँ तक की भारत के भी आदिवासी समाज में नैतिकता स्वाभाविक प्रवृत्तियों पर लगाम नहीं कसती। वहाँ कबीलागत समाज की वर्जनाएं जरूर होती हैं, पर वे अधिकतर स्त्री-पुरुष दोनों पर समान रूप से लागू होती हैं- जैसे गोत्र के बाहर विवाह का वर्जित होना।¹⁰ “पुरुष वर्ग बड़ी सहजता के साथ स्वयं को न्यायप्रिय मानता है। वह स्त्री के साथ कितना अन्याय करता है- इस बात को कभी कबूल ही नहीं करता। उसकी महानता के ऐसे अनेक आयाम हैं, अनेक चरण हैं। किसी भी बात का दोषारोपण वह स्त्री पर बड़ी आसानी से कर देता है। चरित्र के नाम पर शुचिता की सम्पूर्ण जिम्मेदारी स्त्री पर ही लादी गई है। पुरुष स्वतंत्र है, मुक्त है। वह जन्मजात श्रेष्ठ है। इस दृष्टि से दलित पुरुष भी स्वयं को पुरुष होने के कारण जन्मजात श्रेष्ठ मानते हैं।”¹¹ हमारे भारतीय समाज में स्त्री को मारना और पीटना तो एक आम बात सी बन गई है। इनके शोषण का अंत यही पर खत्म नहीं होता। उन्हें शिक्षा से भी वंचित रखा जाता है क्योंकि वह महिला हैं, और छोटी जाति की हैं।

प्राचीनकाल से ही शिक्षा के द्वार दलितों के लिए बंद रहे हैं। वर्तमान समय में भी दलितों की स्थिति में कोई ज्यादा परिवर्तन नहीं हो पाया है। दलित साहित्य इसका एक जीता जागता उदाहरण है जिसमें दलितों की मार्मिक गाथा वर्णित है। इस उपन्यास में दलितों की शैक्षिक स्थिति का वर्णन मिलता है। उपन्यासकार सुशीला टाकभौर कहती हैं कि, “भीकू और चंदरी अनपढ़-अंगूठा छाप है। उनके काम और व्यवसाय भी ऐसे हैं, जिसमें अक्षर ज्ञान की कोई जरूरत नहीं। यदि उनके यही व्यवसाय पीढ़ी-दर-पीढ़ी चलाए जाएं, तो आगे भी कभी शिक्षा की जरूरत न पड़े। शायद इसीलिए हिंदू धर्म शास्त्रों में ऐसे विधान बनाए गए हैं कि ‘शूद्र, अछूत को अपने पैतृक रोजगार ही अपनाना चाहिए और इन शूद्र, अछूतों को शिक्षा से दूर रखा जाना चाहिए।”¹²

भीकू के परिवार में कई पीढ़ियों से बाजा बजाने और सूपा-डालिया बनाने का काम होता है। जातिगत-भेदभाव और छुआछूत के कारण उन्हें शिक्षा से वंचित रखा गया। जिसके कारण उन्हें अपने पुश्तैनी रोजगार ही अपनाने के लिए मजबूर होना पड़ा। भीकू के मन में बचपन से ही पढ़ने की बहुत लगन थी, परंतु वह छुआछूत के कारण स्कूल में पढ़ने नहीं जा सकें। भीकू और चंदरी में सामाजिक चेतना जागृत होती और उन्हें आभास होता है कि बाजार में रोजगार से ज्यादा उनकी जाति देखी जाती है। उपन्यास का पात्र भीकू कहता है कि “रोजगार के साथ जाति का संबंध जुड़ा है, मानो रोजगार ही हमारी पहचान है। लोग हमसे नफरत करते हैं। हमारी जाति को छोटा मानते हैं। जाति कभी जाती नहीं। लोग किसी का परिचय पाने के लिए पहले उसकी जाति पूछते हैं। गांव में आए अनजान लोग और दूसरे गांव में जाने पर वहां मिले अनजान लोग किसी न किसी तरह पता लगा ही लेते हैं कि हमारी जाति क्या है? भीकूजी हताश भाव से निराशा के साथ यह कहते हैं ‘कितनी भी कलाकारी करो, कितनी भी प्रगति करो आखिर जात तो वही रहती है। जात-पात, भेदभाव की बात, लोग भूलते क्यों नहीं?”¹³ भीकू ऐसे जातिवादी लोगों का बहुत विरोध करते हैं। कभी उनके पीठ पीछे और कभी सामने भी, ऐसे लोगों को बेधड़क खरी-खोटी सुना देते हैं। “जाति के बिना क्या इंसान दिखाई नहीं देते तुम्हें?

अरे इंसान को इंसान समझो, तभी तुम इंसान कहलाओगे।”¹⁴

दलित शिक्षा प्राप्त न कर सकें इसलिए जातिवादी मानसिकता से ग्रस्त तथाकथित उच्च जाति के अध्यापक उनके साथ गाली-गलौच और मार-पीट करते हैं। ताकि वे भय और डर के कारण स्कूल छोड़ दे और उनकी शिक्षा प्राप्त करने कि अभिलाषा कभी पूरी न हो सकें। इसी तरह कि एक घटना इस उपन्यास में देखने को मिलती है। जब उच्च जाति का अध्यापक चंदरी कि बेटी को मारता है और स्कूल छोड़ने के लिए कहता है। लेकिन उपन्यास कि स्त्री पात्र चंदरी इसका घोर विरोध करती है। लड़कियों की ऐसी स्थिति देखकर एक दिन बेटियों को लेकर चंदरी उनके स्कूल जा पहुंची। उसने बाहर से ही जोर से आवाज लगाई- “कौन सा गुरुजी है, जो मेरी बेटियों को मारता है? बताओ, मेरी बेटियां कौन सी गलती करती हैं?”¹⁵ वह हेडमास्टर के ऑफिस आई। उसका गुस्सा देखकर, हेडमास्टर ने उसे समझा-बुझाकर शांत किया और मास्टर से पूछने का आसवासन दिया। क्योंकि उस समय कक्षा में छात्र पढ़ाई कर रहे थे। चंदरी की बेटियों के साथ मास्टर द्वारा किए गए दुर्व्यवहार के लिए बहुत क्रोधित हैं और मन ही मन बड़बड़ाती है कि “मेरी बेटियों को पढ़ने नहीं दिया, मास्टरों ने मेरी बेटियों को पढ़ने नहीं दिया। मेरी बेटियों को दो-दो क्लास से आगे नहीं बढ़ने दिया। याद करते हुए बताती है कि मेरी शेर जैसी बेटी राधा ने एक बार मेरे सामने ही मास्टर से कहा था कि- मास्साब पीछे बैठने से हमको ब्लैकबोर्ड पर लिखा हुआ दिखाई नहीं देता। तो पता है मास्टर ने क्या कहा? उस पंडित मास्टर ने कहा- अरे तुमको पढ़ लिखकर क्या देश की प्रधानमंत्री बनना है? चुपचाप पीछे बैठो, क्लास में जो भी समझ में नहीं आएगा, वह मैं तुम्हें समझा दूंगा। मार-मार कर समझाता था मास्टर। तभी तो मेरी बेटियां स्कूल जाने से डरने लगी थीं। हिंदू महाजन के बच्चे हर साल पास होते गए और हमारी ऐसी में मेहनती, समझदार, ऊंची तंदुरुस्त बेटियों को हर साल फेल करते गए। देखो तो इनकी कितनी बेईमानी है? एक को भी आगे नहीं पढ़ने दिया बेईमानों ने।”¹⁶

हमारे भारतीय समाज में पुरुषवादी घृणित मानसिकता वाले पुरुष महिलाओं का शारीरिक एवं मानसिक शोषण करते हैं। चाहे वह पुरुष उच्च वर्ग का हो या निम्न वर्ग का हो। परंतु उच्च जाति वाले पुरुषवादी मानसिकता से घृणित पुरुष दलित महिलाओं को अपनी हवस का शिकार इसलिए बनाते हैं। क्योंकि वे जातिवादी मानसिकता से ग्रस्त हैं। हिन्दू धर्मशास्त्र जैसे मनुस्मृति भी दलित स्त्रियों के शोषण का समर्थन करती हैं। ये कैसे धार्मिक ग्रंथ हैं जो मानवीय संवेदना और स्त्री अस्मिता को चीर-चीर करते हैं। अगर यही धर्म हैं तो अधर्म क्या हैं। धर्म के इस नंगे नाच कि आड़ में दलितों पर घोर अत्याचार किए जा रहे हैं। जोकि मानव सभ्यता और एक सभ्य समाज पर धब्बा हैं। इस उपन्यास की स्त्री पात्र चंदरी उच्च जाति वाले पुरुषों के छल-फरेब जानती है। सदियों से अछूतों की बहू-बेटियां उनकी हवस का शिकार बनती रही हैं। खेत खलिहान में काम करने वाली मजदूर औरतों के साथ मनमानी करते हैं। यह याद करके चंद्रिका का क्रोध भड़क उठा। अपनी बेटियों के प्रति बदमाश मास्टरों की खराब नियत देखकर, वह उन्हें गालियां देती हुई स्कूल पहुंच गई। डर के कारण मक्खन मास्टर उसके सामने नहीं आया। उस दिन चंदरी को महसूस हुआ, कि उसने यह विजय पाई है। फिर तो वह स्कूल के पास से जब भी गुजरती मक्खन लाल को गाली देती हुई निकलती। “अरे पापी, अपनी बहन बेटियों को भी पाप की नजर से देखते हो? तुम्हारे धर्म ग्रंथों में यही सब लिखा है क्या? अपनी कथा कहानियों में यही सब बताते हो? पाखंडियों अब तो शर्म करो।”¹⁷ चंदरी अफसोस के साथ कहती है कि “पार्वती, लक्ष्मी, राधा और सीता जब अपने कारपोरेशन स्कूल की यूनिफार्म सफेद शर्ट और नीला स्कर्ट पहनकर स्कूल जाती थी, तब कितनी सुंदर लगती थी। मन उन्हें देखकर गदगद हो जाता था। मगर यह सुख और सपने हमसे छीन लिए गये।”¹⁸ चंदरी जातिवाद की मानसिकता से ग्रस्त दुष्ट प्रवर्ती के अध्यापकों को कौसते हुए कहती हैं कि, “इनका कुनुवा डूब जाये, इनके मुंह में खाक पड़ जाये।”¹⁹

हमारे भारतीय समाज में दहेज प्रथा एक अभिशाप की तरह है, जो दिन-प्रतिदिन बढ़ती ही जा रही है, जबकि दहेज ही हमारे समाज की महिलाओं के शोषण का आधार बन गया है। उपन्यास की लेखिका कहती है कि, “दलित जाति में दहेज प्रथा नहीं है। यहाँ बेटी परिवार के लिए बोझ नहीं होती। मगर कुछ दलित लोग सवर्णों की नकल करते हुए अपनी झूठी शान दिखाने के लिए कर्ज लेकर अपनी बेटी को दहेज के साथ ससुराल भेजते हैं। यह देखकर दूसरे लालची लोग ‘दहेज नहीं दुल्हन चाहिए’ कि बात छोड़कर, ‘पहले दहेज, और बाद में दुल्हन’ का व्यवहार करने लगते हैं। ऐसे लोग अपनी मूलनिवासी संस्कृति को भूलकर स्त्री शक्ति का अपमान करते हैं। ऐसे लोगों पर भीकूजी, चंदरी और रामकिशन को बहुत गुस्सा आता है— “स्त्रियाँ ही समाज और संस्कृति का आधार होती हैं। प्यार स्नेह और सम्मान के साथ बचपन से उन्हें सबल बनाकर अपने समाज और संस्कृति को सबल बनाना चाहिए।” भीकूजी और चंदरी लोगों को यह बात समझाते हैं।”²⁰

उपन्यास की पात्र चंदरी जिसके अंदर चेतना जागृत होती है। उसको सही और गलत का अहसास होता है। वह अपने मन ही मन में यह सोचती है कि मेरी बेटियों को सही घर-परिवार एवं वर नहीं मिल सका। वह सोचती है कि, “रंग, रूप, कद-काठी, उमर, स्वास्थ्य, नौकरी, पैसा, परिवार की इज्जत, मान सम्मान, हैसियत में फर्क या इन बातों में कम-ज्यादा होता है। गरीब पिछड़े वर्ग के जाति समाज में इस तरह के अनमेल विवाह होते ही रहते हैं। कभी बेचारे गरीब मां-बाप की मजबूती रहती है, कभी अशिक्षा और अज्ञानता के कारण नासमझी। मगर यह बेटियों के साथ अन्याय है। कभी-कभी लोग लावारिस यतीम, ठिगने, नाटे वर से भी अपनी अच्छी भली लड़की का विवाह कर देते हैं। दुबारा विवाह करने वाले अधिक उम्र के दुजवर से भी अपनी पंद्रह-सोलह साल की लड़की का विवाह कर देते हैं। यह कहकर संतोष कर लेते हैं कि, ‘लड़का अच्छा है। लड़के तो हमेशा अच्छे ही होते हैं, क्योंकि वे लड़के होते हैं। उनके सौ दुर्गुण माफ होते हैं। लड़की सर्वगुण संपन्न रहकर भी बस लड़की रहती है।”²¹ तथागत गौतम बुद्ध और बाबा साहेब डॉ. भीमराव अम्बेडकर की तरह चंदरी भी भगवान के अस्तित्व पर प्रश्नचिह्न लगाती हुई कहती है कि, “मैंने जैसे अपनी बेटियों के नाम राधा, सीता, पार्वती और लक्ष्मी रखे हैं, किन्तु उन्हें उचित नाम वाले वर न मिल सके।”²² यह सोच कर चंदरी मन ही मन बहुत हंसी। उसे इस बात पर हंसी आई कि, “मैंने तो सीता की शादी लक्ष्मण से कर दी थी। अब चाहे दुनिया कुछ भी कहे। राधा की शादी मोहन से तो कभी हुई ही नहीं थी। वे तो बस ऐसे ही प्रेमलीला करते हुए, रास-रचाते थे। शिव-पार्वती की तो कथा ही न्यारी है। एक पुत्र पाने के लिए पार्वती को वर्षों तपस्या करनी पड़ी थी। यह भी कोई जीवन है? अरे पति-पत्नी तो वह होते हैं, जो हमेशा हंसी-खुशी साथ-साथ रहते हैं। लक्ष्मी जी भी बस नारायण के पैर दबाती ही दिखती हैं। राम ने भी सीता को कौन सा सुख दिया? यह तो सारी दुनिया जानती है। फिर हम क्यों ऐसे नाम के पीछे भागे? अच्छा हुआ मैंने पुरानी परंपराएँ ही तोड़ दी। ऐसी जोड़ियाँ बनना था। सो बन गई। अगर किसी भगवान को ऐतराज होता, तो वे ऐसा नहीं होने देते। अब तो यही सच है शायद भगवान कहीं है ही नहीं और बदलना चाहे तो सब कुछ बदला जा सकता है।”²³ इस प्रकार चंदरी अच्छी तरह से धर्म का यह गोरख धंधा समझ गयी थी कि पंडित और पुजारी किस तरह धर्म-कर्म की आड़ में भोली-भाली जनता को मूर्ख बना रहे हैं। यह चंदरी की तार्किक बुद्धि और चेतना को दर्शाता है।

कुछ दलित जातियाँ अपना पेट भरने के लिए भिक्षा का सहारा लेती हैं। प्रारम्भ में तो ये मजबूरी बस ऐसा करती थी क्योंकि उस समय इनकी आजीविका का कोई और साधन नहीं था। लेकिन लंबे समय तक इस कुप्रथाओं और रीतिरिवाजों को इन्होंने अपने जीवन का अंग मान लिया, जोकि एक विचारणीय विषय है कि किस प्रकार से दलित जातियाँ अपने शोषण को ही अपना भाग्य मानने लगी। इस उपन्यास में इसी तरह की एक घृणित परंपरा का वर्णन मिलता है। जिसमें दलित समुदाय के लोग चन्द्र-ग्रहण वाले दिन दान के नाम पर सवर्णों के घर भिक्षा मांगने के लिए जाते थे। जिसका विरोध कई बार भीकू जी कर चुके थे। वे कहते थे कि,

“यह ग्रहण का दान हमें नहीं चाहिए हमें सिर्फ अपनी मेहनत की रोटी ही चाहिए... दान लेने के नाम पर भीख मांगना हमारे स्वाभिमान के विरुद्ध है।”²⁴ लेकिन जब चंदरी के अंतरमन में सामाजिक चेतना का उदय हुआ। तो वह समझ गयी कि यह एक कुप्रथा है, जिसका अंत होना ही चाहिए। वह कहती हैं कि, “दान मांगने की यह परंपरा ही खत्म होनी ही चाहिए। इस बार चंदरी ने दृढ़ निश्चय कर लिया। अब मैं ग्रहण का दान मांगने कभी नहीं जाऊंगी। चंदरी के इस निर्णय से भीकूजी और रामकिशन को बहुत खुशी हुई। रामकिशन बोला, “जब हम सुधरेंगे तभी अपने समाज को भी जरूर सुधार सकेंगे।”²⁵

शिक्षा में जो भेदभाव पहले था वह आज भी हैं। परंतु उसका थोड़ा स्वरूप बदल गया है, छुआछूत आज भी करते हैं। भीकू और चंदरी की पोती नीलिमा जिस स्कूल में पढ़ती है वहाँ पर पहले हमारी बेटियाँ पढ़ती थीं। “नीलिमा नगर परिषद् के उसी स्कूल में पढ़ती है, जहाँ सीता, राधा और लक्ष्मी, पार्वती पढ़ने जाती थी। पहले के शिक्षक छुआछूत ज्यादा मानते थे। अब वे शिक्षक बदल गए हैं। उनकी जगह नई उम्र के नए शिक्षक पढ़ाने आ गए हैं। फिर भी अछूत जातियों के बच्चों के साथ अभी भी स्कूल में छुआछूत का भेदभाव किया जाता है।”²⁶ दलित समाज में चेतना जागृत करने के लिए शिक्षा की उपयोगिता को समझाते हुए डॉ. एल. बी. राम ‘अनंत’ कहते हैं कि, “जातिवाद का मूल अशिक्षा एवं धर्मों में निहित है। अतः इसके उन्मूलन में शिक्षा एवं धर्मों का योगदान अत्यंत महत्वपूर्ण एवं प्रभावी हो सकता है। वस्तुतः अशिक्षा के कारण ही जातिवाद में विश्वास करने वाली साधारण जनता इस बुराई को वैज्ञानिक दृष्टि से न देख पाती है और न ही धर्म द्वारा मिले इस समर्थन के विरुद्ध सोचने का आचरण करने का साहस बटोर पाती है। तथाकथित शिक्षित व्यक्ति भी, जो व्यक्तिगत और वर्ग के स्वार्थ के कारण ही इसकी बुराई को देखते हुए भी अशिक्षा के कारण ही इसे बनाए रखने का प्रयत्न करते रहते हैं।”²⁷

नीलिमा की दादी चंदरी गाँव की महिलाओं का प्रसव कराती है जोकि एक मानवीय कार्य है, लेकिन जब नीलिमा की एक सहपाठी उसकी कक्षा में यह बताते हुए उसका अपमान करने की कोशिश करती है तो उसे बहुत बुरा लगता है और वह सोचती है कि यह कार्य अस्पताल में डॉक्टर और नर्स भी तो करते हैं लेकिन उन्हें तो कोई भी गंदा नहीं कहता और न ही उन्हें कोई अपमानित करता है। यह कैसी दोहरी सामाजिक मानसिकता है। स्कूल में चपरासी भी नीलिमा को पानी पिलाने से परहेज करता है। क्योंकि वह एक अछूत है। नीलिमा इस जातिगत भेदभाव से क्रोधित होकर सोचती है कि, “मैं भी खूब पढ़ूँगी और बड़ी होकर टीचर बनूँगी। फिर कोई मेरा अपमान नहीं कर सकेगा।”²⁸ यह बात नीलिमा तीसरी कक्षा में पढ़ते समय से ही सोचने लगी थी। कक्षा में अपनी स्लेट पाटी पर लिखते हुए वह कल्पना करती है, मन ही मन सोचती है- ‘वह कक्षा अध्यापिका है, और उसे लगता है कि वह कक्षा में नीचे टाटपट्टी पर नहीं बल्कि क्लास टीचर की कुर्सी पर बैठकर पूरी कक्षा को पढ़ा रही है। चपरासी उसे कक्षा में पानी लाकर दे रहा है। वह कक्षा में गिलास से पानी पी रही है। उसने जूठा गिलास चपरासी को दिया है। चपरासी उसका जूठा गिलास धो रहा है।

हमारे भारतीय समाज में स्त्रियों को कोई भी सुविधा नहीं मिल पाती। दस-ग्यारह वर्ष की आयु में ही उनके ऊपर घर के सारे काम का बोझ लाद दिया जाता है। कुछ और नहीं तो अपने छोटे भाई-बहन को संभालने का ही बोझ उनके सिर पर डाल दिया जाता है। उम्र बढ़ने के साथ ही साथ उनकी इज्जत लूटने का डर बढ़ जाता है। यही डर उनको घर के अंदर कैद कर देता है, और कैसा भी वर मिलने पर तुरंत शादी कर देने की बात शुरू हो जाती है। यही घटना नीलिमा के साथ कक्षा पांच पास करते ही शुरू हो गई। आस-पड़ोस के लोगों ने एवं रिश्तेदारों ने नीलिमा के लिए कहा था कि, “बहुत पढ़ ली। अब घर के काम सिखाओ, ताकि ससुराल जाकर मायके वालों की नाक न कटाए। ज्यादा पढ़ेगी तो उसके बराबर पढ़ा लिखा लड़का अपनी जाति में नहीं मिलेगा-तब क्या करोगे।”²⁹

बाबा साहेब डॉ. भीमराव अम्बेडकर की जयंती के समारोह की तैयारी करते हुए नीलिमा सोचती है कि अब गाँव के पुरुषों के साथ-साथ महिलाएँ भी सहयोग देंगी। क्योंकि यही बाबासाहेब का सपना था कि भारत की प्रत्येक स्त्री को समाज में सम्मान और अधिकार मिले। नीलिमा ने सभी पुरुषों को समझाते हुए कहा कि, “महिलाएँ समाज का आधा हिस्सा हैं। वे पुरुषों के पीछे नहीं रहेंगी, बल्कि हर कदम पर पुरुषों के साथ चलकर, हर सामाजिक कार्यों में पुरुषों के साथ भाग लेगी। यह उनका अधिकार भी और कर्तव्य भी।”³⁰ बुधिया ने स्त्री चेतना जागृत होने पर उसे पहली सामाजिक कार्यक्रम में सबके सामने मुँह ढक कर बैठने में उसे शर्म महसूस हुई। उसने धीरे-धीरे अपना घूँघट पीछे खींच लिया। अब वह कार्यक्रम में आए सभी लोगों को और भाषण देने वालों को ध्यान से देखने लगी वह उनकी बातें ध्यान से सुनने और समझने लगी। वह पहली बार यह बात भी समझी कि घूँघट में रहने से औरतें कितनी बातें देखने सुनने और समझने से वंचित रह जाती हैं। बुधिया को घूँघट हटाते देखकर वहाँ सभी को खुशी हुई नीलिमा को सबसे अधिक खुशी हुई।³¹

चंदरी गाँव की महिलाओं में जागृति और चेतना का प्रसार करते हुए कहती है, कि- “अरे बहन बेटियों अपने घरों से निकलो समाज से जुड़ो और समाज को जोड़ो।”³² बुधिया आगे कहती है कि- “सिंगार पटार में बहुत समय गवा दिया तुमने अपने मर्दों की लाड-प्यार की बातें भी खूब सुन ली। बाल-बच्चों को भी पाल-पोस कर बड़ा कर दिया। अब आईना देखने के बदले समाज के काम से निकलो। खुदको आईने में देखने के बदले अपने आपको बदलो।”³³ इस प्रकार चेतना आने पर गाँव की सभी महिलाओं ने दारूबंदी और नशाबंदी का मोर्चा भी संभाला। मजाल है कोई पुरुष शराब पीके या घूम सके। वे तुरंत उसे पुलिस थाने में गिरफ्तार करवाने की धमकी देती। कोई पति यदि अपनी पत्नी को मारने के लिए हाथ उठाए तो सबल निडर पत्नी कड़कर कहती है कि- “खबरदार जो मेरे ऊपर हाथ उठाया अब मैं ऐसी कमजोर नहीं जो तुम्हारी मार खाकर चुप रह जाऊँ। तुम एक मारोगे तो मैं दो लगाऊँगी।”³⁴ पति शर्म और संकोच से पीछे हट जाता वह ऐसे में महिलाओं का आत्मविश्वास और बढ़ जाता।

नीलिमा की माता उर्मिला जो सेवानगर की अपनी जाति की और वाल्मीकि जाति की बूढ़ी, प्रौढ़, वयस्क महिलाओं को प्रेम और आदर के साथ अक्षर ज्ञान कराती हुई पढ़ाने लगी। कोई बूढ़ी महिला पढ़ने में आलस करती है या आनाकानी करती तब उर्मिला समझाते हुए कहती है कि- “सासुजी आप पढ़ोगी तो आपकी अगली पीढ़ियाँ भी पढ़ लिखकर होशियार बन जाएंगी। पढ़ी-लिखी माँ और दादी नानी अपने बच्चों को अच्छे से पढ़ा सकती हैं”³⁵ बहू की ऐसी बातें सुनकर वे शर्मिन्दा होने से बचने के लिए खूब अभ्यास करती। बच्चे भी अपने माता-पिता और दादा-दादी को पढ़ाते। घर में हंसी-खुशी और शिक्षा-ज्ञान का वातावरण बना रहता है।³⁶ सेवानगर की अविवाहित युवती लड़कियों का मनोबल बढ़ाने और उन्हें शिक्षित करने का काम भी नीलिमा अपनी जिम्मेदारी मानकर करने लगी। शिक्षा और ज्ञान के आभाव में उनका वर्तमान और भविष्य निराधार रहता है।

अंत में कहा जा सकता है कि सुशीला टाकभौरे द्वारा लिखित ‘नीला आकाश’ उपन्यास दलित स्त्री चेतना पर केन्द्रित है। इस उपन्यास के माध्यम से लेखिका दलित समाज एवं स्त्री मुक्ति के लिए शिक्षा को अनिवार्य बताती है। लेखिका बाबासाहेब डॉ. भीमराव अम्बेडकर की विचारधारा से अत्यधिक प्रभावित है। क्योंकि इन्होंने ही ‘हिन्दू कोड बिल’ लाकर महिलाओं को सदियों पुरानी धार्मिक और सामाजिक गुलामी से मुक्ति दिलाई और उनको सम्मान और स्वाभिमान से जीना सिखाया। इस उपन्यास की स्त्री पात्र चंदरी, उर्मिला और नीलिमा महिलाओं में सामाजिक एवं स्त्री चेतना का प्रसार करती हैं। दूसरी तरफ इस उपन्यास के प्रमुख पुरुष पात्र भीकू, रामकिशन और आकाश भी महिला मुक्ति के पक्षधर हैं। इस उपन्यास में दिखाया गया है कि सवर्ण अध्यापक किस प्रकार से दलित छात्र-छात्राओं के साथ मार-पीट करते हैं। ताकि वे शिक्षा ग्रहण करके उनकी बराबरी न कर सकें। जोकि उनकी जातिगत मानसिकता की सूचक हैं। लेकिन चंदरी की सामाजिक सूझ-बुझ उनके

इन षडयंत्रों को कामयाब होनी से रोकती है और उनका जमकर विरोध करती हैं। अंत में हम कह सकते हैं कि दलितों, पिछड़ों एवं स्त्रियों की मुक्ति का मार्ग शिक्षा से होकर जाता है, तो यह अतिशयोक्ति नहीं होगी। बाबासाहेब का मत था कि शिक्षा शेरनी का दूध है जो पीयेगा, वो दहाड़ेगा।

संदर्भ :

1. अनीता भारती (2016), “दलित स्त्री आंदोलन; चिंतन और संघर्ष की चुनौतियाँ”, sabrangindia.in@article/दलित-स्त्री-आंदोलन-चिंतन-और-संघर्ष-की-चुनौतियाँ
2. वही।
3. सुशीला, टाकभौरे (2013), नीला आकाश, विश्वभारती प्रकाशन, नागपुर, पृ. सं. 7
4. वही।
5. वही।
6. वही, पृ. 14-15
7. मोहनदास नैमिशराय, (2009), दलित उत्पीड़न की परंपरा और वर्तमान, गौतम बुक सेंटर, दिल्ली, पृ. 43
8. सुशीला, टाकभौरे (2013), नीला आकाश, विश्वभारती प्रकाशन, नागपुर पृ.सं.18
9. पूर्वोक्त
10. रमणिका गुप्ता (2014), स्त्री मुक्ति संघर्ष और इतिहास, सामयिक प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ. 21-22
11. सुशीला टाकभौरे, (2014), “स्त्री विरोधी पुरुषों की विकृत मानसिकता का खण्डन”, रमणिका गुप्ता एवं विमल थोरात (सं.), स्त्री नैतिकता का तालिबानीकरण, नवचेतन प्रकाशन, दिल्ली, पृ. 40
12. सुशीला टाकभौरे (2013), नीला आकाश, विश्वभारती प्रकाशन, नागपुर पृ. 21
13. वही, पृ. 21-22
14. वही, पृ. 22
15. वही, पृ. 25
16. वही, पृ. 25-26
17. वही, पृ. 37
18. वही, पृ. 37
19. वही, पृ. 37
20. वही, पृ. 53
21. वही, पृ. 54-55
22. वही, पृ. 55
23. वही, पृ. 55
24. वही, पृ. 57
25. वही पृ. 58
26. वही, पृ. 62
27. डॉ. एल. बी. राम ‘अनंत’ (2013), “जातिवादी प्रवृत्तियों के उन्मूलन में शिक्षा एवं धर्मों का योगदान”, डॉ. जयप्रकाश कर्दम (अनुवाद एवं संपाद), जाति एक विमर्श, सम्यक प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ. 61
28. सुशीला, टाकभौरे(2013), नीला आकाश, विश्वभारती प्रकाशन, नागपुर पृ. 65
29. वही, पृ. 73
30. वही, पृ. 81
31. वही, पृ. 91
32. वही, पृ. 98
33. वही, पृ. 98
34. वही, पृ. 98
35. वही, पृ. 100
36. वही, पृ. 100



चित्रा मुद्गल के कथा साहित्य में वृद्ध विमर्श

○ प्रीति सिंह

विमर्श शब्द का शाब्दिक अर्थ है विचार या विवेचन करना। अर्थात् जब हम किसी मुद्दे पर अपना विचार रखते हैं या उस पर गम्भीर विवेचना करते हैं, वह विमर्श कहलाता है। साहित्य में अगर हम विमर्श की बात करें तो विमर्श से तात्पर्य उस विशेष समूह या वर्ग पर विचार करना है जो समाज में किसी भी तरह से अवांछित जीवन जी रहे हैं या हाशिये पर खड़े हैं। साहित्य में विमर्श की शुरुआत स्त्री विमर्श से हुई। स्त्रियों पर हो रहे लगातार शोषण से यह विषय चर्चा के केंद्र में आया। स्त्रियों को उनके अधिकारों से रूबरू कराने के लिए स्त्री विमर्श पर तमाम पुस्तकें लिखी गईं। इसी तरह समाज के हाशिये पर खड़े विभिन्न वर्गों पर विमर्श सम्बन्धी किताबें लिखी गईं; यथा, दलित विमर्श, आदिवासी विमर्श, किन्नर विमर्श और अब साहित्य में वृद्ध विमर्श जोरों से शोर मचा रहा है।

वृद्ध विमर्श अर्थात् जीवन के प्रौढ़ावस्था में, शारीरिक, मानसिक और आर्थिक रूप से कमजोर व्यक्तियों का दिन-प्रतिदिन पारिवारिक हाशिये पर चले जाना है, अर्थात् परिवार और समाज में उसका मूल्यहीन होना है। ऐसा लग रहा है कि वर्तमान समय में युवा पीढ़ी को वृद्ध व्यक्तियों की कोई जरूरत ही नहीं रही। यही कारण है कि जीवनभर परिश्रमरत रहने के बावजूद ये अनुभवसंपन्न व्यक्ति जीवन की अंतिम अवस्था में आज वृद्धाश्रम जाने को विवश हैं। परिवार में अब इनका कोई अस्तित्व ही नहीं रह गया है और अब परिवार में ये गैरजरूरी जीव बनकर रह गये हैं। वास्तव में आज वृद्ध जीवन और उनका अस्तित्व खतरे में है।

वृद्ध का अर्थ है- पका हुआ या परिपक्व अर्थात् एक वृद्ध व्यक्ति के पास सम्पूर्ण जीवन का निचोड़ होता है, वह अनुभवों की खान होता है। उनके अनुभवों को सराहने, सम्मान देने और उसका सदुपयोग करने के बजाय हम उनकी अवहेलना करते हैं, अनादर करते हैं, अपमान करते हैं। एक समय था जब भारतीय परिवार की एक आदर्श रूप-रेखा थी। तब परिवार का बुजुर्ग घर का मुखिया होता था। मुखिया अर्थात् परिवार का संरक्षक, सचेतक और संवाहक। परिवार के सभी सदस्य उनका सम्मान करते थे। उनकी सेवा-टहल की जाती थी। वे पूजनीय होते थे। परिवार उनकी मर्जी से चलता था। उनकी बात पत्थर की लकीर होती थी और आज हम इन मूल्यों को नजरंदाज करते हैं, उन्हें व्यर्थ मानते हैं। बदलते जीवन मूल्यों ने हमें संवेदनहीन बना दिया है। एकल परिवार की नई रीति ने बुजुर्गों को परिवार में उपेक्षित कर दिया है। ऐसे में उनकी मनोदशा को समझने एवं जीवन के अंतिम दौर में उन्हें ससम्मान जीवनयापन करने का विमर्श वृद्ध विमर्श के अंतर्गत आता है।

वृद्ध जीवन की विसंगतियों पर अब तक अनेक उपन्यास लिखे गये हैं; यथा, 'विषय-पुरुष' (मस्तराम कपूर), 'उस चिड़िया का नाम' (पंकज बिष्ट), 'रेहन पर रघू' (काशीनाथ सिंह), 'अंतिम अरण्य' (निर्मल वर्मा), 'चार दरवेश' (हृदयेश), 'अपने-अपने अजनबी' (अज्ञेय), 'समय-सरगम' (कृष्णा सोबती), 'दौड़'

(ममता कालिया), 'पत्थर ऊपर पानी' (रवीन्द्र वर्मा), 'रिशों की आँच', 'वसीयत', 'नियति चक्र' (डॉ. सूरज सिंह नेगी), 'शाम की झिलमिल' (गोविन्द मिश्र) आदि।

वैसे तो इन उपन्यासों में वृद्ध जीवन की समस्याओं पर बारीकी से विचार किया गया है किन्तु उनकी मनःस्थिति को उसी संवेदना के साथ हुबहू रख देने का जो कौशल चित्रा जी के कथा साहित्य में मिलता है, वह अन्यत्र दुर्लभ है। उनका उपन्यास 'गिलिगडु' साहित्यजगत में वृद्ध विमर्श सम्बन्धी रचनाओं में महत्वपूर्ण है। उपन्यास में दो मुख्य पात्रों के माध्यम से तेरह दिन की कथा के उतार-चढ़ाव में वृद्ध जीवन की संवेदनाओं का रेशा-रेशा उधेड़ा गया है। 'गिलिगडु' न सिर्फ वृद्ध मानस की चिंताओं को, समस्याओं को उसकी गहन संवेदना के साथ प्रस्तुत करता है, बल्कि उनसे उबरने की हिदायतों की ओर भी पाठकों का ध्यान आकर्षित करता है। यह उपन्यास संवेदनाओं के क्षरण की महागाथा है। भाव और कला दोनों ही दृष्टि से यह एक परिपूर्ण उपन्यास है। इसकी अपनी एक विशिष्ट शैली है जो निरंतर पाठकों को बांधती है।

लेखिका ने इस उपन्यास में यथार्थ और कल्पना का जीवंत वर्णन किया है। कथा के आरम्भ में हम एक वृद्ध व्यक्ति को देखते हैं जो अपने मित्र की गैर-मौजूदगी में व्याकुल नजर आता है। रिटायर्ड सिविल इंजीनियर जसवंत सिंह कानपुर के रहने वाले हैं और पत्नी के गुजर जाने की स्थिति में वे नितान्त अकेले पड़ गये थे। डॉक्टर के सुझाव पर कि उन्हें अकेला नहीं रहना चाहिए, वे अपनी जड़ से कटकर बेटे-बहू के साथ दिल्ली रहने आते हैं। प्रत्येक वृद्ध व्यक्ति की भांति उन्होंने भी अपने पोतों के साथ अपना बचपन पुनः जीने की उम्मीद रखी थी, पर दिल्ली आकर उनकी उम्मीदों पर पानी फिर जाता है। वे और भी अकेले होते जाते हैं। किसी के पास उनसे बात करने का समय नहीं है। वे घर में रहने वाले एक निरीह प्राणी हैं, जिसकी घर में कोई उपादेयता नहीं है। उपादेयता नहीं है तो महत्त्व नहीं है। वर्तमान उपभोक्तावादी संस्कृति में जो उपयोगी है, वही ग्राह्य है, अन्यथा त्याज्य है। बच्चे आज के ऑनलाइन खेलों में डूबे हुए हैं। उन्हें अभी से अकेले रहने की शिक्षा दी जा रही है, ताकि उन्हें कभी किसी की जरूरत ही महसूस न हो। आज के बच्चे तकनीकी चीजों को ज्यादा बेहतर समझते हैं। तकनीकी मामले में जसवंत सिंह, जोकि पुरानी पीढ़ी से हैं, कच्चे हैं। जसवंत सिंह कंप्यूटर नहीं जानते इसलिए बच्चों को उनकी कोई जरूरत महसूस नहीं होती। वे बच्चों का जन्मदिन उनके साथ मनाना चाहते हैं। पर बच्चों ने पहले से अपने दोस्तों के साथ मैकडोनाल्ड में अपना जन्मदिन मनाने की योजना तय कर रखी है, जहाँ बड़ों को शामिल होने की अनुमति नहीं है। जसवंत सिंह की अपने पोतों को लेकर सारी इच्छाएँ अधूरी रह जाती है। वे सोचते हैं, "...अब तो फुरसत ही फुरसत है कि वह नरेंद्र के छुटपन को हाथों-हाथ भर खेल सके, हुलरा सकें। मगर वह उनके हाथ ही नहीं आता। कारण टटोलते रहते हैं- क्यूँ हाथ नहीं आ रहा? इन दिनों लग रहा कि वह कंप्यूटर के होम चढ़ गया है। कंप्यूटर जो देता है- वह देने में अक्षम हैं। उनके अनुभव अप्रासंगिक हो उठे हैं। ज्ञान सीमित। तार छुटपने से जुड़े तो कैसे?"¹ इतना ही नहीं बहू सुनयना का कभी टी. वी. देखने पर अंकुश लगाना, तो कभी लिफ्ट खुले रह जाने पर फटकार लगाना, तो कभी पाइल्स की वजह से उनके कपड़े में खून के धब्बे लगे होने पर बोलना, ताना देना या अपमानित करना उनकी नियति बन जाती है। ये सारी प्रक्रियाएँ जसवंत सिंह के लिए खून का घूँट पीकर रह जाने जैसा प्रतीत होता है। हृद तो तब हो जाती है जब एक पोती की उम्र की लड़की के सामने जान-बूझकर पाजामा उतारने के प्रसंग में, जबकि ऐसा कुछ भी न था, उनके किरदार पर उँगलियाँ उठाई जाती हैं, उनके मन पर गहरा आघात पहुँचता है। उनका आत्मविश्वास डगमगा उठता है।

वृद्धावस्था एक तरह से बाल्यावस्था ही है जहाँ व्यक्ति को खाने पीने से लेकर हर चीज में बेहद एहतियात की जरूरत होती है। पर इस घर में उनके खाने-पीने का कोई समय निर्धारित नहीं होता। उन्हें बचा हुआ भोजन दिया जाता है, जिससे उनका स्वास्थ्य बिगड़ जाता है, सीले हुए बिस्किट दिए जाते हैं, जिसकी कोई उपयोगिता

नहीं है। उनसे अधिक ख्याल तो घर के कुत्ते टॉमी का रखा जाता है, “उनका मानना है कि इस घर में एक नहीं दो कुत्ते हैं- एक टॉमी, दूसरा अवकाश-प्राप्त सिविल इंजीनियर जसवंत सिंह! टॉमी की स्थिति निस्संदेह उनकी बनिबस्त मजबूत है। उसकी इच्छा-अनिच्छा की प्रवाह में बिछा रहता है पूरा घर। उनके लिए किसी को बिछे रहना जरूरी नहीं लगता। टॉमी अच्छी नस्ल का कुत्ता है। सोसाइटी में उनके घर का रूतबा बढ़ाता है। उनके चलते उनका रूतबा कलंकित हुआ है। कलंकित होकर अक्षत-चंदन क्यों चढ़ाएं ?”² उपन्यास की एक-एक पंक्तियाँ एक वृद्ध मानस की पीड़ा को बड़ी शिद्दत से बयां करती हैं, जो पाठकों को सोचने पर मजबूर करता है।

कथानक का दूसरा पहलू काबिले गौर है। बेटा और बेटी मिलकर जसवंत सिंह की बची-खुची पूँजी भी हड़प लेना चाहते हैं और उन्हें वृद्धाश्रम भेजने की योजना बनाते हैं। आज व्यक्तिवादिता ने हमारे संस्कारों को जड़ से उखाड़ फेंका है। जीवनभर तपस्या करके जिस मेहनतकश व्यक्ति ने अपना मकान खड़ा किया, बच्चों को पढ़ाया-लिखाया, अपने पैरों पर खड़ा किया, आज वही व्यक्ति अपने ही घर से बेघर होने के लिए विवश किया जा रहा है; सिर्फ इसलिए कि अब वह मानसिक, शारीरिक और आर्थिक रूप से पहले की तरह सामर्थ्यवान नहीं रहा। अब वह अपने बच्चों को कुछ दे नहीं सकता, इसलिए घर में उसकी कोई जरूरत नहीं। वर्तमान समाज की यह कैसी विडंबना है ?

ऐसे में रिटायर्ड कर्नल स्वामी, जिनसे उनकी मुलाकात घर के कुत्ते को फारिग हेतु ले जाते वक्त मॉर्निंग वाक में होती है, का साथ इन्हें जाड़े में उगे सूरज की धूप सी मीठी नजर आती है। उनकी दोस्ती, उनका साथ रहना, ख्याल रखना, दिल्ली घुमाना आदि जसवंत सिंह को नई ऊर्जा प्रदान करता है। वे सोचते हैं, “...कोई तो है जो उन्हें सर्दी से ही नहीं बचाना चाह रहा, उन्हें चुस्त-दुरुस्त भी देखना चाह रहा है। जिस रूप में वे सदैव स्वयं को देखने के आकांक्षी रहे हैं। आग पर पानी कब पड़ गया, उन्हें नहीं पता। पानी पड़ा भी या नहीं या उन्होंने स्वयं उम्र के तेवरों से भिड़ने की बजाए जीने के उल्लास को अपने भीतर ही चुन दिया...जी लिए।”³

पिछले कई दिनों से जसवंत सिंह की कर्नल स्वामी से मुलाकात नहीं हुई है। उनकी गैर मौजूदगी में जसवंत सिंह का मन अत्यंत व्याकुल है। इसी गैर मौजूदगी में पूरे उपन्यास का ताना-बाना बुना गया है। उपन्यास की कथा वर्तमान और पलेश बैंक के मिश्रित रूप में चलती है। उपन्यास में वर्णित गैर-मौजूदगी कर्नल स्वामी की गैर मौजूदगी है। चार अवसरों की गैर मौजूदगी में पूरे कथा की पृष्ठभूमि खींची गई है। यहाँ वृद्ध जीवन की विवशता है, उसकी उपेक्षा है, उपेक्षा से उपजा अंतर्द्वंद्व और अप्रत्यक्ष विरोध भी है, क्षुब्ध संवेदनाएँ हैं, जीवन के प्रति निराशा है तो जीने की आकांक्षाएँ भी हैं। अंतिम यानी तेरहवीं गैर मौजूदगी उपन्यास का क्लाइमेक्स है, जहाँ लेखिका ने कर्नल स्वामी के जीवन के माध्यम से वर्तमान समय में वृद्ध जीवन में घटित हो रहे वीभत्स घटनाओं का काला सच बाहर लाने का प्रयत्न किया है। कर्नल स्वामी एक ऐसे वृद्ध व्यक्ति के परिचायक हैं जो जीवन के कटु दृश्यों से होकर गुजरते हुए भी जीवन के प्रति ऊर्जावान हैं। वे अपने बेटों के गलत निर्णय को स्वीकार करने की जगह उम्र के अंतिम सफर में भी पूरे साहस और हिम्मत के साथ अकेले चलने को तैयार हैं। जसवंत सिंह के समक्ष गढ़े गये काल्पनिक परिवार की छवि कर्नल स्वामी के हृदय में परिवार के साथ जीने की तीव्र ललक को दर्शाती है। इस पूरे काल्पनिक दृश्य के माध्यम से लेखिका ने एक आदर्श भारतीय परिवार की छवि अंकित की है। जहाँ माता-पिता पूजनीय हैं। उनकी आज्ञा सर्वोपरि है। परिवार में प्रेम और भाईचारा है। घर में बहुओं को सम्मान और उनके इच्छानुकूल जिंदगी जीने का अधिकार प्राप्त है। यह सिर्फ कर्नल स्वामी के इच्छाओं का काल्पनिक परिवार नहीं बल्कि प्रत्येक वृद्ध मानस की कल्पनाओं का परिवार है, जिसे वह अपनी वृद्धावस्था में जीना चाहता है। लेखिका ने इंगित किया है कि आज एक वृद्ध व्यक्ति की इच्छा क्या है? आखिर उम्र के इस पड़ाव में वह अपने जीवन से क्या चाहता है? निःसंदेह वह एक परिवार चाहता है,

परिवार में अपनी प्रौढ़ता का सम्मान और कद्र चाहता है, अपने पोते-पोती, नाती-नातिन के साथ खेलना चाहता है। इन परिस्थितियों के न होने पर भी कर्नल स्वामी अपने एकाकी जीवन में हार नहीं मानते। खुश रहने के लिए वे झोपड़-पट्टी के बच्चों को पढ़ाते हैं। अपनी पेंशन राशि को उनकी जरूरतों पर खर्च करते हैं। उनके साथ समय व्यतीत करके अपने जीवन का निर्वाह करते हैं। उनकी खुशी में अपनी खुशी ढूँढने का प्रयत्न करते हैं। तभी उनकी मृत्यु पर यही बच्चे उनके निष्प्राण देह पर लोट-लोटकर रोते हैं।

कर्नल स्वामी का जीवन न सिर्फ जसवंत सिंह के लिए बल्कि पूरे वृद्ध समाज के लिए प्रेरणा का स्रोत है। उनका यह कथन कि 'लिव लाइक ए शेर' वृद्ध समाज को कठिन से कठिन परिस्थिति में जीवन जीने की प्रेरणा देता है। कर्नल स्वामी की आकस्मिक मृत्यु जसवंत सिंह को गहरा आघात तो देती है, साथ ही उन्हें जीवन जीने की एक नई दिशा भी प्रदान करती है। इसके बाद जसवंत सिंह के मानस और जीवन में बहुत बड़ा परिवर्तन होता है। शायद यह परिवर्तन लेखिका प्रत्येक वृद्ध व्यक्ति के जीवन में देखना चाहती है। इस अप्रत्याशित घटना के बाद वे अपने जीवन और अस्मिता के प्रति अधिक दृढ़ होते हैं और यह फैसला करते हैं कि अब वे सुनगुनिया (घर की नौकरानी) के साथ अपने ही घर में रहेंगे, चाहे जमाना जो कहे और अपनी अर्जित संपत्ति का कानूनन अधिकारी सुनगुनिया के बच्चों को बनायेंगे। इतना ही नहीं अपनी मृत्यु के पश्चात मुख्वाग्नि और क्रिया-कर्म करने का अधिकार भी वे सुनगुनिया के पुत्र अभिषेक आसरे को देंगे। इस सो कॉलड सभ्य समाज में इतना बड़ा फैसला लेना एक वृद्ध व्यक्ति के लिए आसान नहीं। यह सामाजिक नैतिकता के विरुद्ध जान पड़ता है। हो सकता है इसके पश्चात बेटा-बेटी और समाज के नजर में वह वृद्ध व्यक्ति बुरा बन जाए किन्तु क्या यह सोचने वाली बात नहीं कि आखिर वृद्ध व्यक्ति उम्र के इस पड़ाव में किसका अवलंब लेकर जीये? पिता द्वारा अर्जित की गई संपत्ति में पुत्र-पुत्री का ही अधिकार क्यों हो? संपत्ति पर तो उनका अधिकार होना चाहिए जो उन वृद्धजन की देखभाल करें, उनकी सेवा-सुश्रुषा करें। लेखिका का यह उपन्यास वृद्ध अस्मिता की रक्षा के लिए सामाजिक विद्रोह को तैयार है।

वृद्ध विमर्श पर लिखी गई अन्यत्र रचनाओं में गिलिगडु का स्थान इसलिए भी सर्वोपरि हो उठता है कि इसमें वृद्ध जीवन को अपनी अस्मिता बचाए रखने के लिए कुछ प्रश्न, कुछ सुझाव दिए गये हैं। अणिमा दास का प्रसंग इस राह में सर्वथा नवीन प्रस्ताव है। कर्नल स्वामी की पंक्ति कि "मैं जिंदगी के आखिरी प्रेम में हूँ", सामाजिक नैतिकता की दृष्टि से अटपटा जरूर है किन्तु यह अत्यंत विचारणीय प्रश्न है। माता-पिता सम्पूर्ण जीवन बच्चों के सुख और समृद्धि के लिए अपनी खुशियों को नजरंदाज करते हैं, जीवन के अंतिम पड़ाव में वही व्यक्ति बच्चों द्वारा उपेक्षित किये जाते हैं। ऐसे में पति-पत्नी ही एक-दूसरे के सुख-दुःख के साथी होते हैं। यदि इनमें से एक न रहे तो दूसरे का जीवन सूनेपन में बीतता है। इस उपन्यास में लेखिका ने यह प्रस्ताव रखा है कि जीवन के इस पड़ाव में एक जीवनसाथी का होना आवश्यक है, जो एक-दूसरे के सुख-दुःख का साथी हो।

चित्रा जी के उपन्यास की ही तरह उनकी कहानियों में भी वृद्ध जीवन के विभिन्न पहलुओं को विभिन्न आयामों में दर्शाया गया है। 'दशरथ का वनवास' कहानी में लेखिका ने पिता और पुत्र के सम्बन्ध-विच्छेद की प्रक्रिया को, नयी पीढ़ी और पुरानी पीढ़ी के मतभेद को, नयी पीढ़ी का पुरानी पीढ़ी को गलत समझने की प्रक्रिया आदि प्रसंगों को गंभीरता से दर्शाया है। एक पिता हमेशा अपने बच्चों का भला चाहता है। इस कहानी का पिता भी अपने पुत्र रमानाथ के भविष्य को बेहतर बनाने के लिए अपने पुत्र से सख्ती से पेश आता है। उसके विद्यालय की शिक्षा के दौरान उसे साइकिल नहीं देता, ताकि पुत्र अपने मार्ग से विचलित न हो। पिता के इन रवैयों को पुत्र अपनी उपेक्षा समझ बैठता है और जीवन पर्यन्त पिता से नहीं मिलता। यहाँ तक कि अपने बच्चों को भी उसके दादाजी के बारे में कभी कुछ नहीं बताता। उसने जीते जी तो पिता को त्याग दिया, उनकी मृत्यु के पश्चात भी वह काम-क्रिया में शामिल नहीं होता। ईश्वर अंकल द्वारा बुलाये जाने पर वह कहता है,

“मरे हुए संबंधों को वह मात्र लोकलाज के लिए नहीं जी सकता, इसीलिए इन ढकोसलों में भी खुद को शरीक नहीं कर पा रहा।”⁴ लेकिन कहानी के अंत में लेखिका ने उसके मन के पश्चाताप को दिखाया है। पिता ने मृत्यु से पहले उसके लिए एक साइकिल खरीदी थी जो मृत्यु के पश्चात उसे प्राप्त होती है। उसके साथ एक चिट्ठी भी है, जिसमें लिखा है, “चि. बबुन! सोचा था, तुम दफ्तर जाने लगोगे तब तुम्हें यह साइकिल भेंट करूंगा। तुम दफ्तर जाने लगे, मगर तुमसे भेंट नहीं हो पाई। तुम्हारी अमानत अब नहीं संभाल पा रहा, तुम्हारे पास भिजवा रहा हूँ.”⁵ ये पंक्तियाँ रमानाथ के मन को भीतर से झकझोर कर रख देती हैं। परिणामस्वरूप प्रतिशोध की ज्वाला स्वतः ठंडी हो जाती है और उसका मन ग्लानि से भर जाता है। वर्तमान समय में पुरानी पीढ़ी और नई पीढ़ी के मतभेद को, उनके मध्य उपजी गलतफहमी को और उसके फलस्वरूप परिवार के विघटन की प्रक्रिया को लेखिका ने बड़ी ही संजीदगी से पेश किया है।

कहानी ‘गेंद’ और उपन्यास ‘गिलिगडु’ का संदर्भ भी कुछ एक जैसा ही है। इस कहानी में सचदेवा जी एक वृद्धाश्रम में गुजर बसर कर रहे हैं। उनका पुत्र अपने परिवारसहित विदेश में वास करता है। पत्नी की मृत्यु के पश्चात वे वृद्धाश्रम में रहने के लिए विवश हैं। पत्नी जब तक थी उनकी सेवा टहल करती रही मगर अब वे नितान्त अकेले हैं। इस कहानी में दो बिंदुएँ ऐसी हैं जो मन को आहत करती हैं। पहला, सचदेवाजी की श्रवण-शक्ति में दोष है और मशीन खरीदने हेतु पैसों के लिए उन्होंने अपने पुत्र को निरंतर चिट्ठी लिखी है। काफी टाल-मटोल के बाद पुत्र विनय अपने मित्र के माध्यम से पैसे पहुँचाने की बात तो करता है, किन्तु मित्र का कहना है कि विनय ने कोई पैसे नहीं भिजवाए। यह वाक्या सचदेवाजी को भीतर तक क्षुब्ध करता है तथा पाठकों के मन में प्रश्न उत्पन्न करता है कि जिस पिता ने अपने पुत्र को इस काबिल बनाया कि आज वह विदेश में नौकरी कर रहा है, आज उसी पिता के आवश्यक खर्चों को पूरा करने के लिए पुत्र के पास न तो समय है और न ही पैसे ? दूसरा प्रसंग जो इस कहानी का केंद्र बिंदु है— वृद्ध जीवन की जिजीविषा उनके पौत्र से जुड़ी होती है। उसके बहाने वे अपने बचपन को दुबारा जीने का प्रयत्न करते हैं। सचदेवा जी विदेश में रह रहे अपने पौत्र से बात करने के लिए निरंतर व्याकुल और लालायित रहते हैं, पर उनकी बात नहीं हो पाती। वे अंततः दुःखी होते हैं। एक दिन शाम में टहलते हुए उनकी मुलाकात बिल्लू से होती है। बिल्लू की गेंद नीचे रास्ते पर गिर जाती है और वह आवाज देकर सचदेवा जी को बुलाता है। बिल्लू से बातचीत के दौरान सचदेवा जी उसके सामने शर्त रखते हैं कि अगर वह उन्हें दादाजी कहकर बुलाएगा तभी वे गेंद ढूँढकर देंगे। बच्चे के दादाजी पुकारने पर उनका मन द्रवित हो जाता है। यहाँ लेखिका ने उस वृद्ध व्यक्ति के वर्षों की अतृप्त अभिलाषा का चित्रण किया है जो अपने पोते के साथ खेल-कूदकर, समय बीताकर एक शेष जीवन जी लेना चाहता है। उन्हें लगता है मैं अब तक उससे क्यों नहीं मिला था। लेखिका के शब्दों में, “बिल्लू इसी सेक्टर में रहता है। हारी-बीमारी छोड़ लगभग रोज ही वे इस ओर घूमने आते हैं, पर अब तक कभी उससे भेंट का सुयोग नहीं हुआ। करिश्मा किया गेंद ने। खूब उछली। ठीक उनके पाले में आ गिरी। पहले क्यों नहीं गिरी, इस बात का मलाल हो रहा था।”⁶ वे उसके मुँह से दादाजी सुनने के लिए और उसका साथ पाने के लिए कुछ भी कर सकते हैं। वे बिल्लू को अगले दिन बैट-बॉल देने का वादा करते हैं। वे बैट-बॉल खरीदने के लिए बाजार जाते ही कि तभी खबर मिलती है कि आश्रम में किन्हीं की मृत्यु हो गई है और सबलोग श्मशान जायेंगे। बच्चे का बैट-बॉल लेने के लिए वे श्मशान की ओर जा रही गाड़ी से उतर जाते हैं। दरअसल वे जल्द से जल्द बिल्लू से मिलना चाहते हैं। उनकी यह ललक दर्शाती है कि एक वृद्ध व्यक्ति के लिए उनके पोते-पोतियों का अर्थात् एक बच्चे का साथ किस प्रकार उनके लिए जीवनदायिनी संजीवनी बूटी की तरह कार्य करता है। इस कहानी में भी लेखिका ने एक प्रश्न खड़ा किया है, जोकि उपन्यास ‘गिलिगडु’ से मिलता-जुलता है। “..वृद्धाश्रम में रहकर भी बुजुर्ग अपनी बची-खुची संपत्ति अंत में अपनी उन्हीं ‘लायक’ औलादों के नाम लिख जाते हैं,

जिन्होंने उन्हें तिरस्कृत कर घर से बाहर कर दिया।”

दूसरी तरफ गिलिगडु में जसवंत सिंह कहते हैं. “..उन्हें समझ में नहीं आता कि लोग अपनी वसीयत बदलने का जोखिम क्यों नहीं उठाना चाहते। उन्हें क्यों नहीं समझ में आता कि वसीयत बदले बिना उनके जीवन में गति संभव नहीं।”⁸

यह विचार वृद्ध जीवन में होने वाले महत्वपूर्ण परिवर्तन का मूल मंत्र है।

कहानी ‘तर्पण’ में लेखिका ने यह उजागर किया है कि जब बच्चे बड़े हो जाते हैं और पिता के प्रति उनके कर्तव्यनिष्ठा की बात आती है तब वे किस प्रकार पिता पर छोटी-छोटी बातों को लेकर बार-बार दोषारोपण करते हैं और उन्हें अपमानित करते हैं। वह पिता जो दिन-रात मेहनत करके अपने बच्चों को बड़ा करते हैं, उन्हीं बच्चों पर जब पिता की जिम्मेवारी आती है तब वे पिता की छोटी-छोटी जरूरतों पर सवाल खड़ा करते हैं। फोन का बिल हो या अपने मन-पसंद सीडी सुनने की या उनके द्वारा भरी गई पानी की बोतल से पानी पीने की या किसी जरूरतमंद स्त्री की मदद करने की या कमरे में पिता द्वारा बिजली जलाये जाने की, हर बात पर पिता ही दोषी होते हैं। एक तरफ तो वो पिता को बात-बात पर दुत्कारते हैं, वहीं दूसरी तरफ उनकी बची-खुची सम्पत्ति को जल्द से जल्द हासिल करने के लिए तमाम दलीलें देते हैं। घर की रजिस्ट्री कराने के लिए तमाम साजिशें करते हैं। ये कृत्य मानवीय संवेदनाओं के हास की ओर इशारा करती है। आज की युवा पीढ़ी को वृद्धों की सम्पत्ति तो महत्वपूर्ण लगती है किन्तु उनका ज्ञान और अनुभव बेकार प्रतीत होता है।

वस्तुतः वृद्ध जीवन की समस्याओं की हम बात करें तो वर्तमान समय में व्यक्ति जैसे-जैसे वृद्धावस्था की ओर बढ़ता जाता है वैसे-वैसे अकेलापन, भय और असुरक्षा की भावना से ग्रसित होता जाता है। शारीरिक, मानसिक और आर्थिक पराभव उन्हें पराधीन होने के लिए विवश करते हैं। परिवार में उचित सम्मान न प्राप्त होने के कारण व्यक्ति दिन पर दिन निराशा के गर्त में गोते लगाता रहता है। जीवन अंधकारमय प्रतीत होने लगता है। जीने की इच्छा समाप्त होने लगती है। हम एक पशु पालते हैं तो उसे भी घर का सदस्य मानते हैं, उनकी देख-रेख की व्यवस्था करते हैं, मगर वर्तमान समय की विडम्बना देखिये, एक वृद्ध परिजन जो कि जीता-जागता मनुष्य है, की अवहेलना करते हैं। इसके विपरीत यदि हम उन्हें अपना थोड़ा सा समय, आदर और सम्मान दें तो वे पुनः जीवंत हो उठेंगे।

व्यक्ति पहले बच्चा होता है, फिर जवान और फिर वृद्ध, यानी यही बच्चा जब वृद्ध हो जाता है तब उसे समस्याओं का सामना करना पड़ता है। क्या कभी हमने सोचा है, वर्तमान समय में वृद्ध व्यक्तियों की दुर्दशा की ओर अग्रसर समाज का जिम्मेवार कौन है? पूँजीवादी व्यवस्था के परिणामस्वरूप उपभोक्तावादी संस्कृति का विकास हुआ। फलस्वरूप उपभोक्तावादी प्रवृत्ति का विकास हुआ। उपभोक्तावादी संस्कृति अर्थात् अधिक से अधिक भोग करना या अधिक से अधिक मुनाफा हासिल करने की प्रवृत्ति। पहले तो यह मूल्य वस्तु तक सीमित था। धीरे-धीरे इसने वैयक्तिक मानसिकता को अपनी परिधि में ले लिया। परिणामस्वरूप मानवीय मूल्यों में परिवर्तन हुआ। अधिक से अधिक सुविधाभोगी मानसिकता ने व्यक्ति को आर्थिक रूप से आत्म-निर्भर होने की चुनौती दी। परिणामस्वरूप प्रतियोगिताएँ बढ़ीं। जरूरतें बढ़ीं। एकल परिवार का चलन हुआ, जहाँ पति और पत्नी दोनों ही श्रम करते हैं। जीविकोपार्जन के लिए दोनों को अलग-अलग स्थान में रहना पड़ता है। बच्चों को वे समय नहीं दे पाते हैं। बच्चों का पूर्ण मानसिक विकास नहीं हो पाता है। ऐसे परिवेश में घर के बुजुर्गों की क्या स्थिति होगी, सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है। वर्तमान समय में बुजुर्गों की देख-रेख भी अपने मतलब तक ही सीमित है। घर के बुजुर्ग अगर दम्पति के बच्चों को संभाल दे रहें या घर का कामकाज देख रहे हैं, तभी घर में उनका कोई अस्तित्व है, वरन उनकी वास्तविक स्थिति उस वस्तु के समान है जो ‘यूज एंड थ्रो’ है। उपभोक्तावादी संस्कृति सम्पूर्ण मानव जाति को संवेदनहीन करने की दिशा में तेजी से अग्रसर है। प्रश्न यह

है कि आखिर इस पूरी व्यवस्था के पीछे जिम्मेवार कौन है, व्यक्ति, परिवार, समाज या राष्ट्र?

वस्तुतः चित्रा जी के कथासाहित्य से गुजरते हुए हम विभिन्न विमर्शों का साक्षात्कार करते हैं। इनमें वृद्ध विमर्श इसलिए भी मायने रखता है कि संयुक्त परिवार के बंधन टूटते ही समाज और परिवार में वृद्ध प्रजाति ही वह जीव है जो सर्वाधिक उपेक्षित है। यह विमर्श तब गंभीर शक्ल अख्तियार करती है जब हम इसे अपने खुद के ऊपर रखकर मूल्यांकन करते हैं। कोई भी मनुष्य स्वयं की उपेक्षा सहन नहीं कर पाता, न ही उसे इसकी कल्पना भी होती है। वास्तव में, यह 'गिव एंड टेक' जैसी स्थिति है। यदि हम परिवार में अपने बड़े-बुजुर्गों को सम्मान देते हैं तो हमारी संतान में ये गुण और संस्कार स्वतः ट्रांसपेरेंट होता है। यह जरूरी भी है कि हम जिन बच्चों की परवरिश में दधीचि त्याग करते हैं, वे बच्चे हमारी वृद्धावस्था में हमें उचित स्थान और सम्मान दें, न कि हमारी हड्डियों का सूरमा बनाये। आज यह घर-घर की कहानी है। कल्पना कीजिये यदि हमारे घरों में बुजुर्गों का मान-सम्मान होगा तो परिवार और समाज 'स्वर्गादपि गरीयसि' होगा और एक दिन जब हम वृद्ध होंगे, यह हमें सूद समेत वापस मिलेगा। मानव जीवन अपने विभिन्न पाड़ाव पर सुख, समृद्धि, शांति और विश्रान्ति का अवलंबन हासिल कर 'प्रशांत जीवन दर्शनम' का परचम लहरायेगा।

संदर्भ :

1. चित्रा मुद्गल, गिलिगडु, सामयिक प्रकाशन, 2017, पृ. 47
2. वही, पृ. 96
3. वही, पृ. 27
4. चित्रा मुद्गल, आदि अनादि, भाग-1, सामयिक प्रकाशन, 2018, पृ. 26
5. वही, पृ. 27
6. चित्रा मुद्गल, आदि अनादि, भाग-3, सामयिक प्रकाशन, 2018, पृ. 219
7. वही, पृ. 220
8. चित्रा मुद्गल, गिलिगडु, सामयिक प्रकाशन, 2017, पृ. 143



ग्रामीण स्त्रियों का बदलता रूप और शिवमूर्ति की कहानियाँ

○ सोनी साव

ग्रामीण जीवन को आधार बनाकर लिखने वाले लेखकों में शिवमूर्ति का महत्वपूर्ण स्थान है। उनकी कहानियों में ग्रामीण जीवन के सूक्ष्मतरंग झोंकियों को देखा जा सकता है। वहाँ की संस्कृति, रीति-रिवाज, रहन-सहन, लोगों के संवाद का ढंग, ग्रामीण विशेष से संबंधित शब्दावली, वहाँ के लोगों का श्रम, गाँव की मिठास तथा कड़वाहट दोनों ही उनके कहानियों के प्राणतत्व हैं। गाँव की जटिल समस्याएँ तथा उन समस्याओं से उत्पन्न पत्रों के जीवन में उथल-पुथल का जीवंत रूप देखा जा सकता है। शिवमूर्ति का व्यक्तित्व ग्रामीण परिवेश में सृजित हुआ है जिसके कारण वह जटिलताओं को भली-भाँति समझते हैं। अपनी पैनी दृष्टि ग्रामीण क्षेत्रों के उन प्रसंगों पर रखते हैं जो वर्तमान समय में गंभीर विषय बना हुआ है। उनके अनुभव का दायरा व्यापक है। प्रारंभ से ही गरीबी की पीड़ा का अनुभव करते हैं। यही कारण है कि वे समाज के उपेक्षित वर्गों की व्यथा से व्यथित हो उठते हैं। उनके साथ हो रहे अन्याय तथा शोषण का विरोध वे अपनी कहानियों के पात्रों के माध्यम से करते हैं। 'ओम प्रकाश बाल्मीकि' कहते हैं "शिवमूर्ति की कहानियों में ग्रामीण जीवन की विषमताएँ और अंतर्विरोध अपने नग्न यथार्थ के रूप में अभिव्यक्ति पाते हैं। जहाँ जाति-व्यवस्था की गहरी जड़ें मानवीय संवेदनाओं को छिन्न-भिन्न करती दिखाई देती हैं। जहाँ स्त्री, दलित को गहन यातनाओं और विवशताओं में लगातार जीना पड़ता है।" कसाईबाड़ा, अकालदंड, तिरिया चरित्तर, कुच्ची का कानून आदि में समाज का विद्रूप रूप स्पष्ट होता है। इसके साथ ही ग्रामीण क्षेत्रों में आए बदलाव को भी देखा जा सकता है।

शिवमूर्ति ग्रामीण स्त्रियों की स्थिति पर बड़े ही तन्मयता से लिखते हैं। उनकी वेदना की तीव्रता के प्रति संवेदना रखते हैं। 'मदन मोहन' कहते हैं कि "यह एक स्थापित सत्य है कि दुनिया में सर्वाधिक शोषित उत्पीड़ित यदि कोई समुदाय है तो वह स्त्री समुदाय है। स्त्री पर दोहरे शोषण की मार है। घर और बाहर उसके श्रम का शोषण तो होता ही है, देह की शोषण के लिए भी वह अभिशप्त है। विज्ञान और टेक्नोलॉजी में दुनिया कितनी भी आगे बढ़ती जा रही हो, पर स्त्री के देह शोषण में उसका कोई दखल नहीं और नहीं तो, टेक्नोलॉजी ने भी स्त्री को दुनिया की सर्वाधिक वांछित उपभोग की वस्तु में तब्दील कर रख दिया है।" स्त्रियाँ बाहरी लोगों के साथ-साथ परिवार के सदस्यों द्वारा शोषण की मार झेलने को विवश हैं। उनके साथ हो रहे अन्याय को लेखक ने भावनात्मक रूप में व्यक्त किया है। शोषित, उत्पीड़ित स्त्रियों की आवाज बनकर उनकी कहानियाँ उभरती हैं। शिवमूर्ति स्त्रियों को केवल शोषित होते हुए नहीं देखना चाहते हैं वरन उनमें साहस की ज्योति प्रज्वलित कर उनमें आत्मविश्वास स्थापित करना चाहते हैं। उनकी कहानियों की पात्र विमली, सुरजी, सनिचरी, कुच्ची आदि अपने अधिकारों के प्रति पूर्ण सजगता के साथ सामने आती हैं।

शिवमूर्ति ने जिन समस्याओं को उठाया है उनमें आजादी के इतने वर्षों के बाद भी बदलाव नहीं आया है।

कहीं-कहीं स्थितियों में बदलाव अवश्य आया है, किंतु पूर्णता समाप्त नहीं हो पाया है। जातिगत शोषण, स्त्रियों पर अत्याचार, अंधविश्वास, कुरीतियों ने स्त्रियों के जीवन पर प्रभाव डाला है। उनके संघर्ष के सीमित दायरे को असीमित कर दिया है। पहले जहाँ स्त्रियों का शोषण बाहरी पुरुषों द्वारा होता था, वहीं आज यह उत्पीड़न तथा दुष्कर्म जैसे मामले घरों में घटित होने लगे हैं। ऐसे में स्त्रियों की सुरक्षा के ऊपर एक गंभीर प्रश्न चिह्न लग गया है। इन समस्याओं को शिवमूर्ति कहानियों के माध्यम से जनमानस तक पहुँचाने का कार्य करते हैं जिससे उनके साथ हो रहे अमानवीय व्यवहार को मानवीय व्यवहार में बदला जा सके। उनकी सभी कहानियों की विषय-वस्तु अलग है, किंतु सभी के केंद्र में स्त्री व्यथा ही है। यह व्यथा सिर्फ एक स्त्री की नहीं, संपूर्ण स्त्री जाति की है जो किसी न किसी रूप में उनसे घिरी है। लेकिन समय परिवर्तन के साथ-साथ स्त्रियाँ अन्याय के विरुद्ध आवाज उठाना सीख रही है।

‘कसाईबाड़ा’ कहानी में गाँव का प्रधान तथा लीडर दोनों अपने स्वार्थ पूर्ति के लिए सनिचरी का शोषण करते हैं। ग्राम प्रधान सनिचरी की बेटी रूपमती को सामूहिक विवाह के बहाने बेच देता है। जिसका फायदा प्रधान का प्रतिद्वन्द्वी लीडर उठाता है। वह सनिचरी को अनशन के लिए उकसाता है। सनिचरी अपनी बेटी को वापस लाने के लिए हर संभव प्रयास करती है। वह दिन-रात प्रधान की चौखट पर बैठी रहती है। भूख के कारण दिन ब दिन उसकी हालत खराब होती जाती है। यह देखकर लीडर भी धोखे से उसके अंगूठे का निशान उसके दो बीघा खेत के कागजात पर लगवा लेता है। प्रधान तथा लीडर के साथ-साथ न्याय व्यवस्था का प्रतिनिधित्व करने वाला दरोगा भी सनिचरी के चरित्र पर ऊँगली उठाता है। किसी प्रकार की भी सहायता उसे समाज के तथाकथित सभ्य लोगों द्वारा नहीं मिलती है। अधरंगी जिसे गाँव वालों ने अधपगला घोषित कर दिया है। केवल वही उनके षड्यंत्र को समझ पाता है। अधरंगी को लेखक ने पागल की श्रेणी में रखकर भी उसमें संवेदनशीलता को दिखाते हैं। एक पागल सनिचरी की व्यथा को समझ सकता है। वहीं लीडर, प्रधान, दारोगा जैसे सभ्य कहे जाने वाले शिक्षित लोगों की संवेदनहीनता को दिखाते हैं। शिवमूर्ति का उद्देश्य समाज के यथार्थ को कहानी में प्रस्तुत करने का रहा है। लेखक ने रूपमती के माध्यम से गंभीर समस्या को उठाया है। जहाँ गरबी स्त्रियों को बेचने एवं खरीदने का आसानी से व्यापार हो रहा जिसने स्त्रियों के प्रगति की राह को जर्जर कर दिया। सनिचरी अपनी पुत्री को वापस लाने में असमर्थ होकर अंत में मृत्यु को प्राप्त होती। सनिचरी के असमर्थता में भी समर्थता निहित है। वह अपने आत्मविश्वास और दृढ़ संकल्प से अन्य स्त्रियों में प्रतिरोध की चिंगारी जला देती है। प्रधान की पत्नी प्रधान द्वारा किए गए अनैतिक कार्य का विरोध करती है। वह कहती हैं कि “ई गांव लंका है। इहाँ लंका दहन होवेगा। रावण तू ही हो। लीडर बना है भिभीखन। तोहरे द्वनों के चलते गाँव का सत्यानाश होई रहा है। बहिन बिटिया बेचो। हमहूँ का बेचि लेव। रुपया बटोरो। साथ लै जायेब, लेकिन अब हम एहि घरे मा ना रहब। आपन बेटवा लाइके भीखकौरा माँगब, मूला....।”³ वहीं लीडर की पत्नी भी लीडर द्वारा किए गए छल का विरोध करती है। वह कसाई के रूप में अपने पति तथा प्रधान को देखती है। वह कहती है “तुम कसाई हो। सारा गाँव कसाईबाड़ा है। मैं नहीं रहूँगी इस गाँव में।”⁴ सनिचरी के साथ-साथ लीडर तथा प्रधान की पत्नी भी कसाई रूपी पुरुषों का विरोध करती है। यहाँ लेखक ग्रामीण स्त्रियों में बदलती चेतना को दिखाते हैं। जहाँ स्त्रियाँ सही तथा गलत कार्यों के प्रति अपने समझ बूझ के साथ सहमति तथा असहमति प्रकट करने लगी है।

शिवमूर्ति का कथा साहित्य बदलते ग्रामीण जीवन का प्रतिबिंब है। ग्रामीण जीवन की समस्याओं को दो रूपों में देखा जा सकता है। प्रथम आर्थिक दृष्टि तथा दूसरा सामाजिक दृष्टि से। आर्थिक दृष्टि में ग्रामीण जीवन की विपन्नता तथा गरीबी की समस्या हमारे सामने आती है। सामाजिक दृष्टि से देखें तो जातिवाद की समस्या, अंध-विश्वास जैसी समस्याएँ सामने आती है। शिवमूर्ति की कहानी अकालदंड में सुरजी, गरीबी तथा भूख के

आगे अपने आत्मसम्मान को त्यागती नहीं है। गाँव में अकाल की स्थिति से उत्पन्न समस्याओं में एक समस्या यह है कि वह अपने देह की रक्षा कैसे करें। सेक्रेटरी जैसे तमाम लोग समाज में भरे पड़े हैं, जो अवसरवादी हैं। सेक्रेटरी सुरजी को प्राप्त करने के लिए मन में लालसा लिये उसका रास्ता रोकता है। अपने कोमल बातों तथा पैसे का लोभ दिखाता है। सुरजी, उसके प्रलोभन के आगे झुकना स्वीकार्य नहीं करती है। सेक्रेटरी बहाने से सुरजी के घर घुसकर उसके साथ दुष्कर्म करने का प्रयास करता है। लेकिन सुरजी उसके प्रयास को असफल कर देती है। वह सेक्रेटरी से कहती है “भलमानसी चाहौ तो अब चुपै भाग जाव। नाही त अबही गोहर लगा देब त चोहार भदरा (भद्रता) उतरि जाए।”⁵ सुरजी के पलटवार से सेक्रेटरी परास्त हो जाता है और वहाँ से चला जाता है। सेक्रेटरी अपनी असफलता को स्वीकार नहीं करना चाहता है। उसका अहंकार भाव सुरजी को बर्बाद कर देना चाहता है। वह रंगीबाबू के माध्यम से सुरजी को अपने स्थान पर बुलवाता है। रंगीबाबू इस स्थिति को समझते हुए भी सुरजी का साथ देने के बजाय सेक्रेटरी की आज्ञा को पूर्ण करता है लेकिन सुरजी का क्रांतिकारी रूप उसके आत्मसम्मान पर आँच आने नहीं देता है। वह खुद की रक्षा करना जानती है। पुरुषों द्वारा निर्मित चक्रव्यूह से निकलने का रास्ता खुद खोजती है। सुरजी अपने स्वाभिमान से समझौता नहीं करती है। सुरजी का जो रूप सामने आता है वह क्रांतिकारी रूप है। अपने ऊपर हुए अन्याय का बदला वह सेक्रेटरी का नाजुक अंग काट कर लेती है। लेखक के शब्दों में “अंदर का दृश्य बड़ा भयानक है। सेक्रेटरी बाबू पलंग पर नंग-धड़ंग पड़े छटपटा रहे हैं। सुरजी ने हँसिए से उनकी देह का नाजुक हिस्सा अलग कर दिया है और पिछवाड़े के रास्ते भाग कर अंधरे में गुम हो गई है।”⁶ सुरजी द्वारा किया गया यह कार्य दर्शाता है कि स्त्रियाँ अब इस प्रकार के शोषण को बर्दाश्त नहीं करेंगी।

‘तिरिया चरित्र’ की विमली भी अपने स्वाभिमान से समझौता नहीं करना चाहती है। विसराम संबंध में पिता तुल्य ससुर है। विसराम विमली के देह का भोग करने के उद्देश्य से पुत्र के गैरहाजिरी में विमली का गौना कराकर ले आता है। अनेक बार प्रयास करता है कि विमली उसके वश में हो जाए, किंतु वह अपने चरित्र पर दाग लगाने नहीं देती है। प्रारंभ में तो ससुर के मोह में फँसती नहीं है। लेकिन ससुर धर्म का सहारा लेकर अपने धिनौने कार्य को अंजाम देता है। विमली बेसुध हो जाती है। जब उसे चेतना आती है तब वह सोचती है “धोखा। छल। कहाँ-कहाँ से किन-किन खतरों से बचाती आई थी वह परायी अमानत। कितने बीहड़ ? कितने जंगल ? कितने जानवर ? कितने शिकारी ! और मुकाम तक सुरक्षित पहुँचकर भी लूट गई वह। मंड ही खेत खा गई छल से ! ऐसी बेहोश कर देने वाली नींद आई कैसे ? उसकी खुद समझ में नहीं आ रहा है।” वह धोखे से छली गयी। छल करने वाला कोई परायी व्यक्ति नहीं बल्कि उसका ससुर है। यह छल उसे असहनीय पीड़ा देने वाला है, लेकिन विमली अपने ऊपर हुए शोषण का जवाब देना चाहती है। वह झोपड़ी के कोने में खूँटी पर टँगी मिट्टी की तेल की बोतल उतार कर विसराम की खाट की तरफ लपकती है। किंतु विसराम पहले से ही वहाँ से भागकर मंदिर की सीढ़ियों पर जाकर सो जाता है। विसराम खुद को सही और विमली को चरित्रहीन साबित करने की पुरजोर कोशिश करता है। वह पंचायत का सहारा लेता है जहाँ एक स्त्री के चरित्र को कलंकित करने वाला विसराम जीत जाता है और विमली कलछल से दागी जाती है। उसकी चीख स्त्री जीवन की उस व्यथा को दर्शाती है जहाँ स्त्री को अपने अस्तित्व तथा आत्मसम्मान को बचाने के लिए संघर्ष करना पड़ता है। जीवन में आने वाली तमाम कठिनाइयों का सामना वह डँटकर करती है। फिर भी उसे वह सम्मान नहीं मिल पाता है। विमली के कहने पर भी उसकी बातों पर कोई विश्वास नहीं करता है। चरित्र विसराम का खराब है और तिरिया चरित्र विमली को कहा जाता है। शिवमूर्ति ने इस कहानी के माध्यम से उन तमाम स्त्रियों की दशा को प्रस्तुत किया है, जो उत्पीड़ित होती हैं, शोषित होती हैं, लेकिन कुछ कर नहीं पाती और यदि कोई भी इसके विरुद्ध आवाज उठाती है तो वह विमली की तरह ‘दागी’ जाती है। विमली का प्रतिकारी

रूप उसकी जागृत चेतना को दर्शाता है। वह हार कर भी समाज के समक्ष अपने सशक्त रूप को दर्शाती है।

‘कुच्ची का कानून’ ग्रामीण अंचल की स्त्रियों की परिवर्तित विचारों को प्रस्तुत करता है। कुच्ची का व्यक्तित्व आधुनिकता की परिभाषा प्रस्तुत करने वाला है। वह अपने अधिकारों को प्राप्त करने के लिए हर संभव प्रयास करती है। कुच्ची का अधिकार उसके गर्भ से जुड़ा है। यहाँ ‘उमेश कुमार चौहान’ का कथन दृष्टव्य है “स्त्री का उसकी अपनी कोख पर कितना और किस तरह का अधिकार हो, शिवमूर्ति की ‘कुच्ची का कानून’ कहानी इस ज्वलंत मुद्दे पर केंद्रित है। शिवमूर्ति इस मुद्दे पर समाज में व्याप्त उत्तर आधुनिक विमर्श को कहानी में एक कदम और आगे ले जाते हैं। यहाँ परिवर्तन की मशाल थामकर एक ऐसी स्त्री सामने खड़ी होती है, जिसका कोई सहारा नहीं है।”⁸ शिवमूर्ति ने इस कहानी में ऐसे पात्र को सामने रखा है जो स्त्रियों की अस्मिता के लिए पितृसत्तात्मक समाज से अकेले लड़ती है। अपनी कोख के अधिकार को लेकर उठ रहे प्रश्नों का उत्तर तार्किक ढंग से देती है। यह कुच्ची का साहस ही है, जो भरी पंचायत में पंचों को निरुत्तर कर देती है। अपने अदम्य साहस और जागृत नई चेतना के माध्यम से पुरुष प्रधान समाज को चुनौती देती है। ग्रामीण स्त्रियों के संबंध में मान्यता है कि वह अशिक्षा के अभाव में अपना विकास तथा अधिकारों को महत्व नहीं देती है। कुच्ची इस मान्यता का खंडन करती है। वह ग्रामीण स्त्रियों की धुँधली छवि को स्पष्ट करती है। उसका यह बदलाव नए चेतन समाज की ओर इंगित करता है। पति के पहचान के बिना वह मातृत्व सुख प्राप्त करना चाहती है। समाज के विरुद्ध जाकर अपने कोख पर सिर्फ और सिर्फ अपना अधिकार स्थापित करती है। वह कहती हैं “जब मेरे हाथ, पैर, आँख, कान पर मेरा हक है, इन पर मेरी मर्जी चलती है तो कोख पर किसका होगा, उस पर किसकी मरजी चलेगी, इसे जानने के लिए कौन-सा कानून पढ़ने की जरूरत है?”⁹ पुरुष स्त्री को अपनी संपत्ति के रूप में देखता है। उसके प्रत्येक कार्य रहन-सहन, उसके देह, यहाँ तक की उसके विचारों पर भी अपना वर्चस्व मानता है। कुच्ची इस मान्यता को नकारती है। वह जड़ पुरातन मान्यताओं से स्वयं को स्वतंत्र करना चाहती हैं। पंचायत में उसके द्वारा लिया गया यह निर्णय गलत ठहराया जाता है। पंचों का मानना है कि उसके गर्भ धारण करने के कारण पूरे गाँव की बेइज्जती हुई है। इस पर कुच्ची बड़े ही तार्किक ढंग से कहती हैं “मेरी गोद भरने से, मुझे सहारा मिलने से, गाँव की नाक कैसे कट जाएगी बाबा? क्या मेरे भूखे सोने से गाँव के पेट में कभी दर्द हुआ? जेठ की धमकी से डरकर जब हम तीनों परानी रात भर बारी-बारी घर के भीतर पहरेदारी करते हैं तो क्या गाँव की नींद टूटती है? जब यह बहाना बनाकर मुझे और मेरे ससुर को गरियाता धमकाता है तो क्या गाँव उसे रोकने आता है? जब मेरी भूख पूरे गाँव की भूख नहीं बनती, मेरा डर पूरे गाँव का डर नहीं बनता, मेरा दुःख-दर्द पूरे गाँव का दुःख-दर्द नहीं बनता, तो मेरे किए हुए किसी काम से पूरे गाँव की नाक कैसे कट जाएगी।”¹⁰ कुच्ची अबला विधवा बनकर शोषण की मार झेलना नहीं चाहती है। अपने हक के लिए संघर्ष करना चाहती है और करती भी है। कुच्ची का संघर्ष ग्रामीण स्त्रियों की नई छवि प्रस्तुत करता है जहाँ वह समाज के डर से अपनी इच्छाओं तथा अपने स्वाभिमान से समझौता नहीं करती है।

अतः हम कह सकते हैं कि शिवमूर्ति अपनी कहानियों में ग्रामीण जीवन के यथार्थ को अभिव्यक्ति देने का प्रयास करते हैं। यह यथार्थ वहाँ की स्त्रियों का यथार्थ है। अपनी कहानियों के माध्यम से भारत के ग्रामीण क्षेत्रों की स्त्रियों के जीवन में हुए परिवर्तन को दिखाते हैं। उनमें जो भी चेतना आई है, वह बदलते ग्रामीण परिवेश को दर्शाता है। सुरजी, विमली, सनिचरी, कुच्ची शोषण का शिकार अवश्य होती हैं लेकिन उस शोषण का विरोध भी करती है। साधारण और गरीब होने के बावजूद भी अदम्य साहस से परिपूर्ण है। उनकी कहानियाँ समाज में स्त्रियों को नई दिशा प्रदान करती है।

संदर्भ :

1. ऋत्तिक राय, लमही, अक्टूबर-दिसम्बर, 2012, पृ. 42
2. मयंक खरे, मंच, जनवरी-मार्च, 2011, पृ. 108
3. शिवमूर्ति, केशर-कस्तूरी, राजकमल पेपरबैक्स, नई दिल्ली, दूसरा संस्करण, 2015, पृ. 21
4. वही, पृ. 23
5. वही, पृ. 34
6. वही, पृ. 51
7. वही, पृ. 110
8. अरुण सिंह, इंडिया इनसाइड, साहित्य वार्षिकी, 2016, पृ. 23
9. शिवमूर्ति, कुच्ची का कानून, राजकमल पेपरबैक्स, नई दिल्ली, संस्करण, 2017, पृ. 131
10. वही, पृ. 119



सिद्ध-नाथ साहित्य, सरहपा और हजारीप्रसाद द्विवेदी की आलोचना दृष्टि

○ दिवाकर दिव्यांशु

हिंदी साहित्य और हिंदी आलोचना को अपने विद्वतापूर्ण लेखन एवं पांडित्यपूर्ण चिंतन से सर्वाधिक प्रभावित करने वाले साहित्यकारों एवं आलोचकों में आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी का अन्यतम स्थान है। वे हिंदी साहित्य के महत्त्वपूर्ण इतिहासकार, आलोचक, निबंधकार एवं उपन्यासकार हैं। हिंदी साहित्य में एक साथ इन सभी विधाओं में लिखने वाले बहुत कम ही विद्वान हैं। हिंदी साहित्य के इतिहास में शुक्ल जी के बाद दूसरे बड़े आलोचक के रूप में इनका नाम लिया जाता है। शुक्ल जी के बाद इनका नाम इसलिए भी लिया जाता है क्योंकि जिन बिंदुओं पर शुक्ल जी की दृष्टि नहीं पहुँच पाई थी या फिर जिन पर उन्होंने एक तरफा स्थापनाएँ दी थीं उन पर द्विवेदी जी ने गंभीरतापूर्वक विचार किया है। इस प्रक्रिया में उन्होंने शुक्ल जी से इतर नई मान्यताएँ स्थापित की हैं। इस दृष्टि से द्विवेदी जी की भूमिका पर विचार करें तो वे शुक्ल जी के बरक्स एक दूसरी परंपरा के वाहक नजर आते हैं। ऐसा करते हुए वे शुक्ल जी के विरोधी नहीं बल्कि उनके पूरक नजर आते हैं। पूरक इस दृष्टि से कि जिन विषयों को शुक्ल जी ने उपेक्षित कर दिया था उन पर द्विवेदी जी ने विस्तार से चर्चा की है। हालांकि द्विवेदी जी ने इतिहास की कोई स्वतंत्र पुस्तक नहीं लिखी है बल्कि शुक्ल जी की कई मान्यताओं से टकराते हुए उनके ठीक विपरीत उन्हें दूसरे दृष्टिकोण से देखने का प्रयास किया है।

हिंदी आलोचना में उत्तरी और दक्षिणी ध्रुवों की तरह दो ध्रुवों का निर्माण किया जाए तो पहले शुक्ल जी और दूसरे द्विवेदी जी होंगे। शुक्ल जी ने हिंदी साहित्य के इतिहास लेखन की एक ठोस एवं मजबूत आधार खड़ा करने करने की कोशिश की थी तो द्विवेदी जी ने उस परंपरा को और भी मजबूती देने की कोशिश की थी। इन दोनों की परंपरा में कई आलोचक सामने आए। शुक्ल जी की परंपरा से जुड़े आलोचकों ने उनके ही दृष्टिकोण से साहित्य और इतिहास को देखा तो द्विवेदी जी की परंपरा से जुड़े आलोचक द्विवेदी जी के दृष्टिकोण से देखा है। इसका परिणाम यह हुआ कि हम इन दोनों बड़े आलोचकों के दृष्टिकोणों से अलग अपना कोई नया दृष्टिकोण विकसित ही नहीं कर पाए। आज भी हम हिंदी भाषा और साहित्य पर विचार करते हैं तो इन दोनों की मान्यताओं और स्थापनाओं से हमें जूझना पड़ता है। यदि यह कहा जाए कि इन दोनों में से शुक्ल जी का ज्यादा प्रभाव है तो गलत नहीं होगा। इसका कारण यह है कि शुक्ल जी ने व्यवस्थित और आलोचनात्मक इतिहास लेखन किया था। द्विवेदी जी ने साहित्य का कोई व्यवस्थित इतिहास नहीं लिखा है बल्कि शुक्ल जी के कुछ विचारों पर अपनी असहमतियाँ दर्ज की हैं और उन रचनाओं का विस्तृत मूल्यांकन किया है जिन्हें शुक्ल जी ने विवेचना योग्य नहीं समझा था। इससे द्विवेदी जी का महत्त्व कम नहीं हो जाता है। उन्होंने शुक्ल जी से अलग एक नई दृष्टि हमें दी। फलतः साहित्य एवं इतिहास को देखने का दूसरा विकल्प हमारे सामने आता है और संतुलित इतिहास बोध का का स्वरूप विकसित होता है। द्विवेदी जी की इसी भूमिका पर विचार करते हुए

नामवर सिंह ने 'दूसरी परंपरा की खोज' में लिखा है कि, "द्विवेदी जी जहाँ परंपरा से प्राप्त हिंदी साहित्य के मानचित्र को बदलकर एक दूसरा मानचित्र प्रस्तुत करते हैं, वहीं साहित्य संबंधी एक नई मान्यता भी सामने आती है। इस प्रकार एक नए इतिहास के साथ आलोचना का एक नया मान भी दृष्टिगोचर होता है।"¹

द्विवेदी जी सबसे पहले हिंदी साहित्य के 'आदिकाल' के नामकरण के विवाद पर अपने स्वतंत्र विचार को लेकर सामने आते हैं। उन्होंने शुक्ल जी द्वारा दिए गए 'वीरगाथा काल' के विरोध में अपनी स्थापनाएँ सामने लाने का काम किया था। साथ ही जिन बारह रचनाओं को आधार बनाकर शुक्ल जी ने इस काल को 'वीरगाथा काल' कहा था उन रचनाओं की प्रामाणिकता पर सवाल खड़ा करने के साथ-साथ उन्होंने यह भी सिद्ध कर दिया है कि उन रचनाओं में बहुतेरी ऐसी हैं जिनका रचना काल बाद का है। "जिन ग्रंथों के आधार पर इस काल का नाम 'वीरगाथा काल' रखा गया है, उनमें से कुछ नोटिस मात्र से बहुत अधिक महत्वपूर्ण नहीं और कुछ या तो पीछे की रचनाएँ हैं या पहले की रचनाओं के विकृत रूप हैं। इन पुस्तकों को गलती से प्राचीन मान लिया गया है।"² इसके अलावा यह भी बताया था कि उस काल में केवल वीर रस से ओतप्रोत रचनाएँ ही नहीं लिखी जा रही थी बल्कि शृंगार और भक्ति की प्रवृत्ति मौजूद थी। 'वीरगाथा काल' कहने से इन सभी प्रवृत्तियों की उपेक्षा हो रही थी। अतः उन्होंने बताया कि इसका नाम 'वीरगाथा काल' नहीं हो सकता। "कुछ आलोचकों को इस काल का नाम 'आदिकाल' ही अधिक उपयुक्त जान पड़ता है। इस पुस्तक में भी इस काल को इसी नाम से कहा गया है।"³ इस तरह से पहली बार द्विवेदी जी शुक्ल जी की मान्यताओं के खंडनकर्ता के रूप में सामने आते हैं।

द्विवेदी जी से पहले हिंदी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास लिखने का श्रेय आचार्य शुक्ल को है। उस इतिहास में शुक्ल जी के द्वारा 'आदिकाल' की अधिकांश रचनाओं को बाहर कर दिया गया था। बाहर की गई उन रचनाओं में बौद्ध सिद्धों की रचनाएँ भी थीं। इसके साथ ही इन सिद्धों से अलग होकर नाथ पंथ की स्थापना करने वाले नाथ-सिद्धों की रचनाओं के साथ-साथ जैनियों की रचनाएँ भी थीं। इन सब को शुक्ल जी ने हिंदी साहित्य में स्थान देने से इंकार कर दिया था। इसकी वजह उन्होंने उनमें व्याप्त धार्मिक उपदेशों का होना बताया था। हम जानते हैं कि उनकी रचनाओं में धार्मिकता के तत्त्व जरूर थे लेकिन सामाजिक कुरीतियों और ढकोसलों के विरुद्ध लोक को जगाने और उनकी चेतना को विकसित करने का काम भी वे कर रहे थे। शुक्ल जी उनकी उस लोक प्रतिरोधी चेतना को समझ नहीं पाए थे। यदि बौद्ध सिद्धों एवं नाथों की उन रचनाओं को द्विवेदी जी की नजरों से देखें तो पाएंगे कि उन्होंने उन रचनाओं को बहुत ही महत्वपूर्ण माना है। द्विवेदी जी ने लिखा है कि, "बौद्ध धर्म क्रमशः लोकधर्म का रूप ग्रहण कर रहा था और उसके निश्चित चिह्न हम हिंदी साहित्य में पाते हैं। इतने विशाल लोक धर्म का थोड़ा पता भी यदि यह हिंदी साहित्य दे सके तो उसकी बहुत बड़ी सार्थकता है।"⁴ यहाँ स्पष्ट रूप से हम देख सकते हैं कि द्विवेदी जी ने उन बौद्धों की लोकधर्मिता को विशिष्ट बताते हुए उसकी उपयोगिता को स्वीकार करते नजर करते हैं। साथ ही हिंदी साहित्य की सार्थकता भी इसमें समझते हैं कि वह उस लोकधर्म का परिचय देने वाला है।

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी की हिंदी साहित्य के इतिहास से संबंधित पहली पुस्तक 'हिंदी साहित्य की भूमिका' है जिसका प्रकाशन सन् 1940 ई. में हुआ था। हालांकि इसके पहले वे सूरदास पर किताब लिख चुके थे। वह एक स्वतंत्र पुस्तक थी जो सूरदास के कवित्व पर प्रकाश डालने तक ही सीमित थी। जबकि 'हिंदी साहित्य की भूमिका' के माध्यम से द्विवेदी जी शुक्ल जी की कई मान्यताओं का खंडन करते हुए उनके समानांतर दूसरा विकल्प बनकर सामने आते हैं। उन्होंने शुक्ल जी की कई मान्यताओं को चुनौती दी है। द्विवेदी जी से पहले शुक्ल जी की स्थापनाओं के खिलाफ जाने की हिमाकत किसी आलोचक ने नहीं की थी। द्विवेदी जी ने एक अलग दृष्टि से साहित्य और उसके इतिहास को देखा था। इनसे पहले शुक्ल जी की मान्यताओं को

अकाट्य समझ लिया गया था और उन्होंने जो कहा था वही अंतिम मान लिया गया था। जब द्विवेदी जी ने अपनी किताब में भक्तिकाल संबंधी शुक्ल जी के विचारों का खंडन किया तो लोगों के सामने हिंदी साहित्य को देखने का दूसरा रास्ता खुलता नजर आया। शुक्ल जी ने भक्ति आन्दोलन को इस्लाम की प्रतिक्रिया माना था जबकि द्विवेदी जी ने कहा था कि, “अगर इस्लाम नहीं भी आया होता तो भी इस साहित्य का बारह आना वैसा ही होता जैसा आज है।”⁵ यह शुक्ल जी की मान्यता के ठीक विपरीत मान्यता है। इसके बाद उन्होंने शुक्ल जी की उन सभी मान्यताओं पर अपनी आपत्ति दर्ज करते हुए उसकी गहराई से पड़ताल की है जिन्हें शुक्ल जी ने उपेक्षित कर दिया था। कबीर पर उनका विस्तृत मूल्यांकन और एक स्वतंत्र पुस्तक इसी बात का प्रमाण है। कबीर के माध्यम से द्विवेदी जी ने सिद्धों-नाथों के साथ एक सेतु का निर्माण किया है। जबकि शुक्ल जी ने इन दोनों को हिंदी साहित्य से काट कर अलग कर दिया था। द्विवेदी जी ने न सिर्फ कबीर के महत्त्व को उजागर किया बल्कि यह भी सिद्ध कर दिया कि कबीर की निर्माण प्रक्रिया में सिद्धों-नाथों का ही हाथ है। यदि सिद्धों-नाथों को हिंदी साहित्य से बाहर कर दिया जाए तो कबीर और अन्य निर्गुनियाँ संतों की चेतना को समझा ही नहीं जा सकता। कबीर पर सिद्धों-नाथों का कितना प्रभाव है इसे हम उनके इस विचार से समझ सकते हैं - “यदि कबीर आदि निर्गुणमतवादी संतों की वाणियों की बाहरी रुपरेखा पर विचार किया जाए तो मालूम होगा कि यह संपूर्णतः भारतीय है और बौद्ध धर्म के अंतिम सिद्धों और नाथ पंथी योगियों के पदादि से उसका सीधा संबंध है। वे ही पद, वे ही राग-रागिनियाँ, वे ही दोहे, वे ही चौपाइयाँ कबीर आदि ने व्यवहार की हैं, जो उक्त मत के मानने वाले उनके पूर्ववर्ती संतों ने की थीं। क्या भाव, क्या भाषा, क्या अलंकार, क्या छंद, क्या पारिभाषिक शब्द, सर्वत्र वे ही कबीरदास के मार्गदर्शक हैं। कबीर की ही भांति ये साधक नाना मतों का खंडन करते थे, सहज और शून्य में समाधि लगाने को कहते थे, दोनों में गुरु के ऊपर भक्ति करने का उपदेश देते थे। इन दोनों में गुरु को बुद्ध से भी बड़ा बताया गया है और ऐसे भाव कबीर में भी बड़ी आसानी से मिल सकते हैं, जहाँ गुरु को गोविंद के समान ही बताया गया है। सद्गुरु शब्द सहजयानियों, वज्रयानियों, तांत्रिकों, नाथपंथियों में समान भाव से समादृत है।”⁶ इन बातों के आलोक में देखें तो संतों पर सिद्धों-नाथों का कितना प्रभाव पड़ा था, वह स्पष्ट हो जाता है। यदि हम उन्हें हिंदी साहित्य से काट कर देखेंगे तो संत काव्य अपनी जड़ से कटा हुआ दिखाई पड़ेगा और हम उसकी निर्माण प्रक्रिया को ठीक से समझ ही नहीं पाएंगे। इतना ही नहीं बल्कि सिद्ध सरहपा की कविताओं को कबीर ने मध्यकाल में हू-ब-हू दोहराया था, उसका भी उल्लेख द्विवेदी जी ने किया है। उदाहरण के लिए सरहपा की बहुत ही प्रसिद्ध पंक्ति है :

“जहि मण पवण ण संचरइ, रवि-ससि णाहि पवेस ।

तहि बढ चित विसाम करु, सरहं कहिअ उएस ॥”⁷

कबीर ने मध्यकाल में इन्हीं पंक्तियों को दोहराया है :

“जिहि बन सीह न संचरै, पंखि उड़े नहिं जाय ।

रैनि दिवस का गम नहिं, तहँ कबीर रहा लौ जाइ ॥”⁸

अर्थात् पूरी परंपरा की जाँच करते हुए उन्होंने सिद्धों की कविता के परवर्ती हिंदी साहित्य पर पड़े प्रभाव को उजागर किया।

कबीर जाति-पांति के बंधनों को तोड़ देने में विश्वास रखते थे। उन्होंने जाति दंश को झेला था। उनका व्यवसाय बुनकरों वाला था और बुनकरों को अच्छूत समझा जाता था। सिद्धों में भी अधिकांश अच्छूत जाति के साधक थे। छूत-अच्छूत एक मानसिकता है जो हम मनुष्यों द्वारा बनाई गई है। चौरासी सिद्धों के आदि सिद्ध सरहपा ने इस सामाजिक बुराई के खिलाफ विद्रोह किया था। सरहपा के उस विद्रोही व्यक्तित्व पर विचार करते हुए

द्विवेदी जी ने लिखा है कि, “सरोरुहपाद (सरहपा) नामक सहजयानी सिद्ध जाति-व्यवस्था के भयंकर विरोधी थे।”⁹ उनकी विद्रोही प्रवृत्ति का उल्लेख करते हुए द्विवेदी जी ने सरहपा के उस कथन को उद्धृत किया है जिसमें सरहपा ने कहा था कि, “ब्राह्मण ब्रह्मा के मुख से उत्पन्न हुए थे; जब हुए थे तब हुए थे। इस समय तो वे भी दूसरे लोग जिस प्रकार पैदा होते हैं वैसे ही पैदा होते हैं, तो फिर ब्राह्मणत्व रहा कहाँ? यदि कहो कि संस्कार से ब्राह्मण होता है तो चांडाल को भी संस्कर दो, वह भी ब्राह्मण हो जाए; यदि कहो कि वेद पढ़ने से कोई ब्राह्मण होता है, तो क्यों नहीं चांडालों को भी वेद पढ़कर ब्राह्मण हो जाने देते? सच पूछो तो शूद्र भी तो व्याकरणादि पढ़ते हैं और इन व्याकरणादि में भी तो वेद के शब्द हैं, फिर शूद्रों का भी तो वेद पढ़ना हो ही गया और यदि आग में घी देने से मुक्ति होती हो तो सबको क्यों नहीं देने देते ताकि सब मुक्त हो जाएँ ? होम करने से मुक्ति होती हो या नहीं धुआँ लगने से आँखों को कष्ट जरूर होता है।”¹⁰ इस प्रकार हम देख सकते हैं कि सरहपा जाति-व्यवस्था या यह कह लीजिए कि वर्णाश्रम व्यवस्था के कितने बड़े विरोधी थे। द्विवेदी जी ने सरहपा का उल्लेख बहुत ज्यादा नहीं किया है। चाहे वह अन्य धर्म-संप्रदाओं के पाखण्ड के खंडन की बात हो या फिर नए-नए काव्य-रूपों के आविष्कार की, उन्होंने उन सब का कोई जिक्र नहीं किया है। उन्होंने उनके द्वारा सामाजिक जड़ता को तोड़ने वाली अन्य भूमिकाओं का उल्लेख भी नहीं किया है। यदि देखा जाए तो द्विवेदी जी ने भले ही सरहपा पर ज्यादा नहीं लिखा है किन्तु सिद्ध-नाथ साहित्य के संदर्भ में उनके योगदान को देखें तो पाएंगे कि इस विषय पर हिंदी में जितना काम उन्होंने किया है उतना किसी अन्य आलोचक या साहित्यकार ने नहीं किया है।

कबीर के साथ जोड़ कर इन सहजयानी सिद्धों खास कर सरहपा और नाथों को दिखाने का मेरा उद्देश्य बस इतना ही है कि मध्यकाल में जिस जाति-पांति, छुआछूत और धार्मिक पाखण्ड का विरोध कबीर ने किया है उसका रास्ता बहुत हद तक इन सिद्धों-नाथों ने पहले ही तैयार कर दिया था। हजारीप्रसाद द्विवेदी इस परंपरा को समझते थे जबकि शुक्ल जी की नजरों से यह छूट गया था। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने यह स्वीकार किया है कि वज्रयान का संबंध लोक-धर्म से था। सरहपा का संबंध इसी वज्रयान से था। सरहपा ने बौद्ध धर्म को एक नए रूप में ढाल दिया था। पहले वह संन्यासियों का धर्म था। जब सरहपा इसमें आते हैं तब उन्होंने इसमें न सिर्फ गृहस्थों के लिए बल्कि हर किसी के प्रवेश के लिए इसका रास्ता सुगम बना दिया। इसलिए द्विवेदी जी ने लिखा है कि, “महायान हीनयान के अपेक्षा अधिक मानवीय, लोकगम्य, सहज और समन्वयमूलक है। वह प्राचीन बौद्ध धर्म की भांति केवल यह नहीं कहता कि सबकुछ को छोड़कर चले आओ, बल्कि यह सलाह देता है कि सबकुछ लिए हुए भी तुम परम पद तक पहुँच सकते हो।”¹¹ यहाँ द्विवेदी जी ने हीनयान और महायान को तुलनात्मक रूप में देखा है। हीनयान में बौद्ध धर्म के मूल सिद्धांतों की ही प्रमुखता थी। जबकि महायान ने उसमें जोड़-घटाव कर उसे जनता के लिए आसान बना दिया था। इसी महायान का अगला रूप वज्रयान या सहजयान है। सरहपा ने इसे लोकधर्म के रूप में जन-जन तक फैला दिया था। सरहपा का यह कदम जहाँ उन्हें लोगों से जोड़ने में काम आया था वहीं इसके पतन का कारण भी बना। द्विवेदी जी ने लिखा है कि, “वज्रयान और सहजयान जो अपनी गाड़ी को सचमुच इतनी मजबूत और सहज बना सके कि उनमें पांडित्य और कृच्छसाध्यता का अर्थात् कष्टपूर्ण व्रतनियम आदि का कोई अंग रहा ही नहीं। इस प्रकार महायान संप्रदाय या यों कहिए कि भारतीय बौद्ध संप्रदाय, सन् ईसवी के आरंभ से ही लोकमत की प्रधानता स्वीकार करता गया, यहाँ तक कि अंत में जाकर लोकमत में घुल-मिलकर लुप्त हो गया।”¹²

इन पंक्तियों को पढ़कर सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है कि सर्वसुलभ होना भी कभी-कभी अपने लिए नुकसान के कारण बन जाते हैं। बौद्ध धर्म के साथ भी यही हुआ। सरहपा ने कुछ ज्यादा ही स्वतंत्रता अपने अनुयायियों को देने की कोशिश की थी। इसका परिणाम यह निकला कि इसका पतन ही हो गया। “महायान

शाखा कि अंतिम परिणति अभिचारादि में ही हुई।”¹³ द्विवेदी जी के ऐसा कहने के पीछे वज्रयान की वह वास्तविकता थी जिसे सरहपा ने लोगों के बीच इस संसार को ही सबकुछ बताते हुए भोगने योग्य सभी वस्तुओं का उपभोग जरूरी बताया था। इसी का फायदा उठाकर बाद के वज्रयानी साधक उन सभी वस्तुओं को अपनी साधना का अंग बना लेते हैं जिनका सरहपा ने उससे विरक्ति पाने के लिए उपभोग करने की बात की थी।

हजारीप्रसाद द्विवेदी की दूसरी पुस्तक ‘हिंदी साहित्य का आदिकाल’ नाम से सन् 1952 ई. में प्रकाशित होती है। यह समय-समय पर उनके आदिकाल से संबंधित दिए गए विभिन्न व्याख्यानों का संकलन है। इसमें उन्होंने ‘आदिकाल’ के नामकरण से लेकर उस काल की प्राप्त रचनाओं और उनमें पाई जाने वाली प्रवृत्तियों पर विस्तृत चर्चा की है। इस चर्चा का मुख्य उद्देश्य, शुक्ल जी ने जिन बारह पुस्तकों को आधार बनाकर ‘आदिकाल’ का नाम ‘वीरगाथा काल’ रखा था, उन पुस्तकों की प्रामाणिकता की जाँच-पड़ताल करना था। ऐसा कहने के पीछे पर्याप्त आधार मौजूद हैं। हम देख सकते हैं कि अपने पहले व्याख्यान में ही उन्होंने शुक्ल जी द्वारा बताई गई पुस्तकों की पड़ताल की है। उसके बाद निष्कर्ष रूप में उन्होंने यह सिद्ध कर दिया है कि जिन पुस्तकों के आधार पर इस काल का नामकरण करने का प्रयास किया गया है, वे पुस्तकें न तो प्रामाणिक हैं और न ही पुस्तकाकार उपलब्ध हैं। उसका रूप भी काफी प्रक्षिप्त है। अतः उनको आधार बनाकर साहित्य की किसी प्रवृत्ति का निर्धारण करना संभव ही नहीं है।

इसके बाद उन्होंने शुक्ल जी की उन मान्यताओं का भी खंडन किया है जिसके अंतर्गत उन्होंने सिद्धों-नाथों की रचनाओं में धार्मिकता के तत्त्व होने पर साहित्य से बाहर कर दिया था। इस प्रक्रिया में उन्होंने उन तत्वों की खोज कर बताया है कि उन रचनाओं में साहित्यिकता के तत्त्व भी प्रचुर मात्रा में दृष्टिगोचर होते हैं। उनमें न सिर्फ साहित्यिकता के तत्त्व हैं बल्कि उसने परवर्ती साहित्य को एक दिशा दिखाने का काम भी किया है। इसके महत्त्व पर प्रकाश डालते हुए उन्होंने लिखा है कि, “यह काल नाना दृष्टियों से अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। शायद ही भारतवर्ष के साहित्य के इतिहास में इतने विरोधी और स्वतोव्याघातों का युग कभी आया होगा। इस काल में एक तरफ तो संस्कृत के ऐसे बड़े-बड़े कवि उत्पन्न हुए जिनकी रचनाएँ अलंकृत काव्य-परंपरा की चरम सीमा पर पहुँच गई थीं और दूसरी ओर अपभ्रंश के कवि हुए जो अत्यंत सहज, सरल भाषा में अत्यंत संक्षिप्त शब्दों में अपने मार्मिक मनोभाव प्रकट करते थे। यह काल भारतीय विचारों के मंथन का काल है और इसलिए अत्यंत महत्त्वपूर्ण है।”¹⁴ इन पंक्तियों में उन्होंने इस काल को न सिर्फ हिंदी साहित्य का बल्कि सम्पूर्ण भारतीय साहित्य के विचारों का मंथन काल कहा है। इसे हम तत्कालीन साहित्यिक प्रवृत्तियों के परवर्ती हिंदी साहित्य पर पड़े प्रभाव के रूप में देख सकते हैं। आचार्य द्विवेदी ने भक्तिकालीन काव्य पर इसका प्रभाव दिखलाते हुए उसे स्पष्ट किया है। उन्होंने लिखा है कि, “इसमें कोई संदेह नहीं कि दोहों और पदों की परंपरा अविच्छिन्न रूप से हिंदी साहित्य में चली आई है और काव्य रूपों और विचार प्रवाह की दृष्टि से इन गानों और दोहों का संबंध परवर्ती हिंदी साहित्य से ही अधिक है। भाषा की दृष्टि से वह जो कुछ भी क्यों न हो।”¹⁵ यहाँ द्विवेदी जी ने सिद्धों-नाथों द्वारा प्रारंभ की गई काव्य-प्रवृत्तियों का संबंध हिंदी साहित्य से जोड़ कर देखा है। उन्होंने यह भी बताया है कि उन प्रवृत्तियों का उपयोग हिंदी में आज भी हो रहा है। अतः उस साहित्य का हिंदी साहित्य से अधिक संबंध है। इसके बावजूद उन्होंने उन रचनाओं को हिंदी भाषा और साहित्य का अंग नहीं माना है। इसलिए नहीं माना है क्योंकि द्विवेदी जी उनकी रचनाओं की भाषा को अपभ्रंश मानते हैं। वे उसे पुरानी हिंदी, प्राकृताभास हिंदी या अपभ्रंश मिश्रित हिंदी नहीं कहते हैं।

सिद्धों-नाथों की भाषा अपभ्रंश थी वे यह मानकर चल रहे थे। साथ ही वे यह भी मानते हैं कि अपभ्रंश से विकसित होने वाली जितनी भी आधुनिक भाषाएँ हैं उन सबका उस पर अधिकार है। उन्होंने लिखा है कि, “इसके दोहों की भाषा में परिनिष्ठित या स्टैण्डर्ड अपभ्रंश के रूप ही मिलते हैं; पर पदों में पूर्वी प्रदेश की

भाषा के चिह्न भी मिल जाते हैं। इन चिह्नों को देखकर कभी इस भाषा को बंगला का पूर्वरूप कहा गया है, तो कभी मैथिली और मगही का और कभी भोजपुरी का। कुछ लोगों ने उसमें उड़िया-भाषा का पूर्वरूप भी देखा है।”¹⁶ अर्थात् उन्होंने इस पर इन सभी का अधिकार माना है। एक स्थान पर उन्होंने लिखा है कि, “हिंदी साहित्य में प्रायः पूरी परंपराएँ ज्यों-की-त्यों सुरक्षित हैं। शायद ही किसी प्रांतीय साहित्य में ये सारी की सारी विशेषताएँ इतनी मात्रा में और इस रूप में सुरक्षित हों। यह सब देखकर यदि हिंदी को अपभ्रंश साहित्य से अभिन्न समझा जाता है तो इसे बहुत अनुचित नहीं कहा जा सकता। इन ऊपरी साहित्य-रूपों को छोड़ भी दिया जाए तो इस साहित्य की प्राण-धारा निरविच्छिन्न रूप से परवर्ती हिंदी साहित्य में प्रवाहित होती रही है।...प्रकृत यही है कि इन साम्यों को देखकर यदि हिंदी साहित्य के इतिहास-लेखकों ने अपभ्रंश साहित्य को हिंदी-साहित्य का ही मूल रूप समझा तो ठीक ही किया है।”¹⁷

यहाँ हम देख सकते हैं कि वे अपने ही मत पर स्थिर नहीं हैं। उनके विचारों में अंतर्विरोध है। उसे हम इस रूप में देख सकते हैं कि एक तरफ तो वे उन विद्वानों का समर्थन करते हैं जिन्होंने उस साहित्य से हिंदी साहित्य का संबंध दिखलाते हुए हिंदी का ही मानने के पक्ष में हैं तो दूसरी ओर वे यह भी कहते हैं कि उस पर अन्य भाषाओं का भी प्रभाव है। न सिर्फ प्रभाव है बल्कि उसका पूर्वरूप भी मानते हैं। “जो बात निःसंदिग्ध है, वह यह है कि इस पुस्तक की भाषा में भारतवर्ष के पूर्वी प्रदेशों की भाषा के लक्षण मिल जाते हैं। उसकी इस भाषा को बंगला, मगही, मैथिली, भोजपुरी, उड़िया, सभी का पूर्वरूप कहा जा सकता है।”¹⁸ बंगला और उड़िया भाषा के पूर्वरूप की जहाँ तक बात है तो उन्होंने यह स्वीकार किया है कि बंगला भाषा के साहित्य में यह प्रवृत्ति कभी थी ही नहीं या थी भी तो अब लुप्त हो गई है। उन्होंने लिखा है कि, “दोहों की प्रथा बंगाल के साहित्य में कभी रही ही नहीं और सही बात तो यह है कि बंगला भाषा की एक ऐसी उच्चारणगत विशिष्टता है कि दोहा छंद उसमें जम ही नहीं पाता। मैं यह तो नहीं कहता कि बंगाल का कोई कुशल कवि चाहे तो बंगला को दोहे छंदों में ढाल ही नहीं सकता, परंतु इतना अवश्य कहना चाहता हूँ कि बंगला-भाषा की प्रकृति दोहा के अनुकूल नहीं है।”¹⁹ यहाँ एक बात तो सिद्ध हो जाती है कि सिद्धों की काव्य-प्रवृत्तियों का संबंध हिंदी से ही है और हिंदी में आज तक सुरक्षित होने के साथ-साथ प्रयुक्त भी होती रही है। उड़िया में इसकी क्या स्थिति रही है इसके बारे में किसी आलोचक ने नहीं लिखा है और न ही उसकी पड़ताल करने की कोशिश की है। बंगला और उड़िया दोनों भाषाएँ आपस में काफी मिलती जुलती हैं, अतः उड़िया में उसकी परंपरा रही होगी इस पर मुझे संदेह है। कुल मिलाकर यह कहा जा सकता है कि हजारीप्रसाद द्विवेदी हिंदी साहित्य के ऐसे आलोचक हैं जिन्होंने सिद्ध-नाथ साहित्य पर विस्तृत प्रकाश डालने का काम किया है और शुक्ल जी से इतर इस विषय पर दूसरी तरह से सोचने का रास्ता दिखाया है।

संदर्भ :

1. नामवर सिंह, दूसरी परंपरा की खोज, राजकमल पेपर बैक्स, नई दिल्ली, संस्करण : 2011, पृ. 20
2. हजारीप्रसाद द्विवेदी, हिंदी साहित्य का आदिकाल, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण : 2008, पृ.22
3. वही, पृ. 56
4. हजारीप्रसाद द्विवेदी, हिंदी साहित्य की भूमिका, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण : 2009, पृ. 22
5. वही, पृ. 16
6. वही, पृ. 42
7. राहुल सांकृत्यायन (सं.), दोहाकोश, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना, संस्करण : 1997, पृ. 35
8. हजारीप्रसाद द्विवेदी, हिंदी साहित्य की भूमिका, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण : 2009, पृ. 45
9. वही, पृ. 43

10. वही, पृ. 43
11. वही, पृ. 21
12. वही, पृ. 20
13. वही, पृ. 18
14. वही, पृ. 9
15. हजारीप्रसाद द्विवेदी, हिंदी साहित्य का आदिकाल, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण : 2008, पृ. 17
16. वही, पृ. 16
17. हजारीप्रसाद द्विवेदी, हिंदी साहित्य : उद्भव और विकास, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण : 2011, पृ. 24
18. हजारीप्रसाद द्विवेदी, हिंदी साहित्य का आदिकाल, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण : 2008, पृ. 16
19. वही, पृ. 16



हिंदी दलित नाटक और रंगमंच

- विकास सूर्यकांत वाघमारे (शोधार्थी)
- प्रो. (डॉ.) संजय राठौड़ (शोध पर्यवेक्षक)

हिंदी दलित साहित्य की अवधारणा में नाटक या रंगमंच को देखें तो भारतीय समाज में जातियों के परस्पर टकराव झेलती जातियों का संघर्ष नजर आता है। यहाँ दर्द भी है और अधिकार की माँग भी। इसी चाह, आंदोलन और वैमनस्य तथा आक्रोश के गर्भ से दलित नाटक तथा रंगमंच का निर्माण हुआ। दलित नाटककार एवं रंगकर्मियों ने अपनी अस्मिता तथा संस्कृति को पहचाना और हिंदी हिंदू रंगमंच के समान अपनी मौजूदगी दर्ज की। जब हम दलित नाटक या दलित रंगमंच की ओर देखते हैं तो कुछ बातें हमारे सम्मुख उपस्थित होती हैं। अत्याचार सहते हमारी जातीय बंधु, सवर्ण पुरुषों द्वारा बलात्कार का शिकार होती हमारी माँ, बहने, बेटियाँ तथा देवदासी प्रथा के अंतर्गत हिंदू देवताओं के प्रतिनिधियों के हवस की शिकार धर्म भीरू महिलाएँ, मंदिरों में अपनी इज्जत बचाने के लिए चिल्लाती तथा अंधविश्वास की शिकार महिलाएँ यह सब जो होता है वह भारत में स्थापित सवर्णवादी व्यवस्था के कारण। सवर्णवादी व्यवस्था के उत्पीड़न की प्रतिक्रिया स्वरूप दलित साहित्य की एक मजबूत विधा के रूप में नाटक की उत्पत्ति हुई। सबसे पहले दलित समाज में इस व्यवस्था के प्रति आक्रोश निर्माण हुआ और इसी आक्रोश ने आंदोलन का रूप ले लिया। इसी आंदोलन के गर्भ से नाटक का जन्म हुआ। स्वयं डॉ. बाबासाहेब आंबेडकर ने कहा था, “मेरे दस भाषणों से कई अधिक एक नाटक की प्रस्तुति लोगों पर असर डालती है।”¹ मानवीय मूल्यों की स्थापना करना दलित नाटक तथा रंगमंच का मुख्य उद्देश्य रहा है। इसका निर्माता संवेदनशील होने के कारण अपनी वेदना, अपने ऊपर होने वाले अत्याचार, अपने अधिकारों का होता हनन, छटपटाहट को नाटक द्वारा व्यक्त कर समाज में चेतना निर्माण करने का कार्य करता है।

उपर हमने कहाँ है कि दलित नाटक की उत्पत्ति बहुत मजबूत रूप से हुई है। किंतु इसके बावजूद भी यह विधा अचर्चित दिखाई देती है। इसके कई कारण हमें दिखाई देते हैं। यह नाटक जब-जब कहीं खेले जाते हैं या इसका मंचन होता है तब इसका काफी विरोध होता रहा है। व्यावसायिक नाटकों से इसका संघर्ष, रंगमंच की प्रतिकूलता, लेखकों की आर्थिक उदारता, प्रकाशक वर्ग द्वारा इनकी होती उपेक्षा आदि अनेक कारण इसके अर्चवा के रहे हैं।

मूलतः नाटक यह विधा दलितों की ही देन है। शुरू से ही दलित समाज उत्पादक और श्रमजीवी रहा है। यह लोग दिन भर मजदूरी करके जब रात को वापिस आते हैं तो मनोरंजन के लिए अनेक कलाएँ प्रस्तुत करते थे। बिमारियों से मुक्ति, अकाल, अनावृष्टि से बचने के लिए यह लोग मुखौटा, जानवरों की खाल लगाकर नृत्य करते थे। नाटक का प्राथमिक रूप यही रहा है। मोहनदास नैमिशराय ने दलित नाट्य परंपरा को लोकनाट्य परंपरा से जोड़ते हुए लिखा है, “मैं अगर कहूँ कि हर रंगकर्मी के भीतर उसकी स्मृतियों का दबाव होता है तो गलत नहीं होगा। थिएटर और लेखन के प्रति मेरे अनुराग का कारण भी वहीं रहा है। उसे विकसित किया सांग, ढोला

तथा नौटंकी ने हमारे पड़ोसी लगभग अल्हा-उदल की कथा सुनते थे। बाद में मुझे पता चला वे हमारे पुरखे थे। उनकी बहादुरी के किस्से हमें रोमांचित करते थे। बिहार में 'राजा सल्हेस' का किस्सा लगभग इसी तरह का है। उस किस्से में अस्मिता का भाव है। साथ हमलावर को जवाब देने की प्रवृत्ति भी, दलितों के लिए नाटक से जुड़ना व्यक्तिगत रूची की बात कम और सामूहिक अधिक है।"²

मनोरंजन की जो तमाम विधाएँ हैं वह दलितों से ही विकसित होती नजर आती हैं; जैसे – नट, नृत्य, गायन इत्यादी। गाँव में नट-नटी के करतब दिखाने के लिए भाड़े-भड़ौती करना, विदूषक, मसखरा, बहुरूपिया बनना, किसी के गुणों-अवगुणों का गा-गाकर प्रचार करना दलित लोग ही करते थे। इसी कलाओं को आगे चलकर नाटक का स्वरूप प्राप्त हुआ। कोई भी लोककला क्यों न हो, जैसे- जलसा, लावणी या नाटक उसमें काम करनेवाले ज्यादातर लोग दलित समाज के ही होते हैं। इससे पता चलता है कि नाटक दलितों के द्वारा ही खेला जाता है।

वस्तुतः नाटकों का विवेचन दो रूपों में हम कर सकते हैं। वर्तमान में नाटक के दो रूप हमें दिखाई देते हैं। एक वह नाटक जो रंगमंच के अधीन है, जिसका निर्माण ही रंगमंच को आधार बनाकर किया जाता है। जिसे आज हम मूल प्रवाह का नाटक कहते हैं। जिसका उद्देश्य केवल मनोरंजन तथा अर्थ प्राप्ति ही होता है। लेकिन दलित नाटक इससे अलग है। यह दलितों द्वारा ही लिखा जाता है। यह अलग बात है कि आज गैर दलित लेखक भी दलितों के ऊपर लिख रहे हैं। लेकिन यह लेखन सहानुभूतिपरक होता है। परंतु आज दलितों को सहानुभूति नहीं चाहिए। क्योंकि सहानुभूति से कोई प्रश्न हल नहीं हो सकता है।

एक तरफ वह नाटक है जिसके पास पूरी तरह से रंगमंच होता है और एक ओर वह नाटक है जिसके पास कोई विशेष रंगमंच ही नहीं है। इसे हम दलित नाटक कहते हैं। इसके पास न कोई रंगमंच है न रंगमंच की कोई साधन सामग्री। सही बात तो यह है कि दलित नाटकों को इन साधनों की कोई जरूरत ही नहीं होती। इसकी थीम ही इतनी सशक्त होती है कि बिना किसी साधन-सामग्री तथा रंगमंच के बीना ही यह दर्शकों पर अपना प्रभाव छोड़ जाती है। यह नाटक जिसने भोगा है, उसके द्वारा लिखने के कारण उसमें अभिव्यक्ति सामर्थ्य इतना होता है कि उसे संगीत, प्रकाश, वस्त्रसज्जा आदि साधनों की कोई जरूरत नहीं होती। इसीलिए इसे मुक्त नाटक भी कहा जाता है।

मूलतः हिंदी में दलित रंगमंच का जो प्रारूप है वह लोक रंगमंच है। लोकमंच पर काम करनेवाले लोग दलित ही रहे हैं। उसमें काम करने वाला वर्ग दलित ही रहा है। जो लोककलाएँ थीं, उन्होंने ही आगे चलकर नाटक का रूप धारण किया। इस संदर्भ में दशरथ ओझा का मानना है कि, "हिंदी नाटक की परंपरा का मूल स्रोत यह जन-नाटक ही है, जो स्वांग आदि नाम से अपने प्राचीन रूप से अब तक विद्यमान है। क्रमशः इन जन-नाटकों की एक शाखा ने विकसित होकर साहित्यिक रूप धारण किया।"³

आज दलित साहित्य के अंतर्गत नाटक विधा प्रमुखता के साथ हमारे सामने आती है। डॉ. बाबासाहेब आंबेडकर जी के प्रेरणा से आज दलित नाटक एवं दलित रंगभूमी आगे बढ़ रही है। इतिहास में घटित अनेक प्रसंग एवं घटनाओं ने दलित नाटककारों को लिखने के लिए प्रेरित किया है। इतिहास में ऐसे कई पात्र हैं जिनके मानवी हक को नकार कर उन्हें केवल जैविक रूप में देखा गया है। ऐसे पात्रों की वकालत करने का काम इस रंगभूमि ने किया है। वरिष्ठ आत्मकथाकार कौशल्या बैसंत्री के अनुसार, "निश्चित ही नकारे हुए मानवीय हक को प्राप्त करने के लिए दलित रंगभूमि ने महत्वपूर्ण कार्य किया है।"⁴

20 वीं सदी में सबसे पहले स्वामी अछूतानंद ने हिंदी दलित नाट्य लेखन को लेकर पहल की। इनके चार नाटक दृष्टिगोचर होते हैं। इनका पहला नाटक 'रामराज्य न्याय' में रामायण के उपेक्षित तथा जुल्म का शिकार

पात्र शंबूक की हत्या का चित्रण है। उनके अन्य नाटक, 'मायानन्द बलिदान', 'पारख-पद', 'बली छलन' हैं जो हिंदू शास्त्रों और वाङ्मय के ऐसे पात्रों पर लिखे गए हैं, जिनके उत्पीड़न को सवर्ण साहित्यकारों और समाज ने त्यागा या बलिदान की संज्ञा देकर सवर्णों द्वारा दलितों के शोषण तथा सवर्ण पात्रों के छल को महिमामंडित करने का षड्यंत्र रचा था। अछूतानंद ने अपने नाटकों में ऐसे मर्म को छूनेवाले संवादों को रखा है जिससे दर्शक तथा पाठक को राम के प्रति अपनी मानसिकता बदलने को प्रेरित करते हैं और राम के वर्चस्ववाद को प्रस्तुत करते हैं।

हिंदी दलित नाटक की इसी परंपरा में महत्वपूर्ण रूप से शिवप्रसन्नदास का 'हरिजन', माता प्रसाद का 'अछूत का बेटा', 'धर्म के नाम पर धोखा', 'प्रतिशोध', मोहनदास नेमिशराय का 'अदालतनामा', 'हैलो कामरेड', डॉ. एन.सिंह का 'कठौती में गंगा', एन.आर. सागर का 'मार्ग का काटा', 'अन्तिम अवरोध', सुनील कुमार सुमन द्वारा लिखित 'एक बार फिर', एल.एम. धर्मरत कृत 'अछूत का प्यार', कर्मशील भारती द्वारा लिखित 'मान सम्मान', 'फाँसी', रूपनारायण सोनकर द्वारा लिखित 'विषधर', 'एक दलित डिप्टी कलेक्टर', 'महानायक', रत्नकुमार सांभरिया द्वारा लिखित 'बीमा', सुशीला टाकभौर का 'नंगा सत्य' आदि प्रमुख नाटक हैं।

दलित नाटक और रंगमंच की दृष्टि से कर्मशील भारती और धर्मवीर ने दिल्ली में दलित न्याय मंच स्थापित किया था। जिसके द्वारा अनेक दलित नाटकों का मंचन हुआ। कर्मशील भारती के अनेक नाटकों का यहाँ सफलतापूर्वक मंचन भी हुआ है। जिसमें 'मेरा वजूद', 'फाँसी', 'संवादों के पीछे' आदि प्रमुखता से देखे जा सकते हैं। उन्होंने 10 अक्टूबर, 1989 को विजयादशमी के दिन मुनीरका गाँव में 'मेरा वजूद' नाटक का मंचन किया था। उन्होंने 'मान-सम्मान', 'श्रेष्ठ-कौन', 'झूठा अहंकार', 'आजादी किसकी' आदि नाटकों का भी मंचन किया है। साथ ही वरिष्ठ दलित कथाकार ओमप्रकाश वाल्मीकि द्वारा लिखित 'दो चेहरे' नाटक भी कई नाट्य संस्थाओं द्वारा मंचित हुआ है।

60 के दशक में प्रसिद्ध रंगकर्मी रमेश मेहता ने एक नाटक लिखा था, जिसका नाम था- 'रोटी और बेटी'। नाटक के माध्यम से उन्होंने जातीय आधार पर लोगों को उद्वेलित और उत्तेजित करती आ रही ज्वलंत समस्या को उजागर किया है। इसी परंपरा में आगे 1977 में मनोहर लाल मानव ने 'चावली' नामक नाटक की निर्मिति की। इसकी मूल थीम दलित समाज के पढ़े-लिखे तबके में मध्यवर्गीय मूल्यों के प्रति रूझान और समाज का झकझोर कर उन्हें शिक्षित समाज के साथ आगे बढ़ने के लिए प्रेरणा देना है। इस नाटक का निर्देशन आनन्द कुमार ने किया था। यह नाटक अनेक सार्वजनिक सभाओं में और दलित बस्तियों में मंचित हुआ था। 1980 में मनोहरलाल और डालचंद के संयुक्त प्रयास से एल.के. रैना के द्वारा 'कबीरा खड़ा बाजार में', विशेष रूप से दलित लोगों के लिए मंचित किया।

जहाँ तक दलित समाज के शौकिया, नाटककारों की बात है, उसमें उत्तर प्रदेश के ही नाटककारों ने कई प्रस्तुतियाँ की। एकलव्य के जीवन पर वर्तमान के संदर्भ को लेकर भीमसेन संतोष द्वारा 'शोषित के नाम संतोष का पैगाम' नाटक लिखा, जो शोषित साहित्य प्रकाशन, दिल्ली की ओर से 1983 में प्रकाशित हुआ। इस नाटक में उन्होंने दलितों के भीतर की पीड़ा को बाहर लाने का प्रयास किया है। इस प्रकार दलित नाटकों का लेखन और मंचन आज भी होता हुआ दिखाई देता है।

वर्तमान समय में दलित नाटककार सिनेमा और सिरियल के चकाचौंध से प्रभावित तो हुए हैं, किंतु वह अपने मूल उद्देश्य से दूर नहीं गये। वह आंबेडकरी विचारों से हटे नहीं हैं। वह सामाजिक न्याय और सामाजिक परिवर्तन के लिए कटिबद्ध दिखाई देते हैं। भले ही आज दलित नाटक एवं दलित रंगभूमि के सामने अनेक समस्याएँ हैं किंतु बाबासाहेब आंबेडकर की प्रेरणा से दलित नाटककार, दलित नाटक, दलित रंगभूमि और दलित

कलाकार आज आगे बढ़ रहा है।

संदर्भ :

1. मोहनदास नेमिशराय, दलित साहित्य अवधारणा में रंगमंच, भारतीय उच्च अध्ययन संस्थान, शिमला, 2017, पृ. 54
2. संपा. मनोहर भंडारी, दलित साहित्य समग्र परिदृश्य, स्वराज प्रकाशन, दिल्ली, 2013, पृ. 149
3. दशरथ ओझा, हिंदी नाटक का उद्भव और विकास, राजपाल एंड सन्स, दिल्ली, 2013, पृ. 53
4. संपा. डॉ. उमाकांत बिरादार, डॉ. विजकुमार रोडे, दलित विमर्श : नाटक तथा रंगमंच, दिव्य डिस्ट्रीब्यूटर्स, कानपुर, 2015, पृ. 138



‘सुगम’ का मिज़ाज : ‘बुरा लगे तो लगे हमारे ठेंगे से’

○ सुचिता वर्मा

महेश कटारे ‘सुगम’ जनता के गजलकार हैं। उनकी गजलें जनता को सम्बोधित हैं और जनता की भाषा में लिखी गयी हैं। विचार और जीवन-दृष्टि के लिहाज से उनकी बातों में कोई उलझाव दिखाई नहीं पड़ता। वे विचार से जन-पक्षधर हैं और उन तमाम ताकतों के विरोधी हैं जो भारत की गंगा-जमुनी संस्कृति को नष्ट करने पर तुले हैं। इसका अर्थ यह नहीं है कि वे किसी राजनीतिक पार्टी के समर्थक हैं। उनकी चिंता के केंद्र में भारत का लोकतंत्र है, जो न तो पहले ठीक से लागू हो सका और न ही आज, जबकि ‘देशभक्ति’ के दावे अपने चरम पर हैं। उनकी गजलें देशभक्ति के छद्म के खिलाफ लिखी गयी हैं, वे युद्धोन्माद के विरोधी हैं और उन्होंने अपने कई शेर में युद्ध की राजनीति को बेनकाब किया है। वे सैनिकों के साथ खड़े हैं, मगर टी.वी. पर युद्धोन्माद फैलानेवाले ‘युद्ध-विशेषज्ञों’ और ‘पत्रकारों’ की कसकर खिंचाई करते हैं। सरकार की जुमलेबाजियों का मजाक बनानेवाले वे नायाब शायर हैं।

‘सुगम’ बुंदेली के भी शायर हैं। बुंदेली का शायर होना भी इस बात का प्रमाण है कि ‘सुगम’ की हिन्दी गजलों का मूल सरोकार लोक जीवन से है। यहाँ यह बात स्पष्ट कर देना जरूरी है कि लोक जीवन का अर्थ केवल गाँव का जीवन नहीं होता है। कस्बों और शहरों का आम जीवन भी अब लोक जीवन ही है। कुछ हद तक महानगरों के जीवन में भी रहन-सहन का एक आम स्तर होता है। इन सब की मानसिकता का एक हिस्सा भी एक-दूसरे से मिलता-जुलता है। अब लोक का अर्थ विस्तृत रूप में समझना चाहिए। उसे गाँव से लेकर महानगर तक अलग-अलग रूपों में चिह्नित करने की जरूरत है। ‘सुगम’ की गजलों में लोक का शहरी रूप भी मौजूद है। वे बुंदेली के शायर हैं, इसलिए गाँव का लोक तो उनकी बुंदेली गजलों में है ही।

‘सुगम’ की गजलों का संसार बहुत बड़ा है। उन्होंने बड़ी संख्या में गजलें लिखी हैं, लगभग पाँच हजार। जाहिर-सी बात है कि उनकी गजलों के विषय विविध हैं और कहने के अंदाज भी कई तरह के। यह अलग बात है कि वे कबीर की तरह कहते हैं कि मैंने कलम-स्याही छुई नहीं है, वे तुलसी की तरह कह देते हैं कि मेरे पास कविता का कोई विवेक नहीं है। ‘सुगम’ का एक शेर है,

“मैं तो ठहरा टेक अँगूठा मैं क्या जानूँ गजल वजल
वजन, बहर भी नहीं जानता मेरा कोई नहीं दखल”¹

इसी गजल में उनका राजनीतिक सरोकार भी झलकता है। वे इसके अंतिम शेर में लिखते हैं,

“नए भोर की नई किरण जब नए अँधेरे लाती है
हो उठती बेचैन कलम जब भी खिलते मनहूस कमल”²

अपने पढ़े-लिखे होने का कोई अभिमान 'सुगम' को नहीं है, मगर उनका दावा है कि देश में नया सबेरा जब अँधेरा लेकर आता है और 'मनहूस' कमल खिल उठते हैं, तब उनकी कलम बेचैन हो उठती है कुछ कहने के लिए। उनके संकेत उनकी प्रतिबद्धता की दिशा को स्पष्ट रूप से बताते हैं। 'सुगम' की चिंता का एक केंद्र है- लोकतन्त्र। लोकतन्त्र की असफलता ही जनता के दर्द का कारण है,

“लोकतन्त्र की लाश यहाँ पर
मार रही है बास यहाँ पर
सोच समझकर लिखा जा रहा
नफरत का इतिहास यहाँ पर”³

‘नफरत का इतिहास’ पर ध्यान दिया जाना चाहिए। भारत की राजनीति के इस पक्ष पर ‘सुगम’ ने खुलकर लिखा है। वे गंगा-जमुनी तहजीब को बचाने के लिए चिंतित हैं। नफरत का इतिहास इसी तहजीब को मिटाने के लिए रचा जा रहा है। जो मूलतः इतिहास का हिस्सा नहीं है उसे इतिहास में शामिल किया जा रहा है। रोमिला थापर ने अपने एक साक्षात्कार में कहा था कि धार्मिक राष्ट्रवाद अपना इतिहास स्वयं गढ़ता है। मतलब यह हुआ कि जो चीज इतिहास का हिस्सा नहीं है उसे भी कल्पना से गढ़कर इतिहास में शामिल कर लिया जाता है। मगर इन सबके विरोध में गिनी-चुनी आवाजों के अलावा सन्नाटा ही सुनाई पड़ता है। कवि का आग्रह है कि भले ही आज का माहौल बेजुबान होता जा रहा हो, मगर एक कवि के तौर पर वह अपना काम करता जाएगा। देश और समाज की बेहतरी के लिए जिन बातों को वह जरूरी समझता है, उन्हें कहता जाएगा,

“बेजुबान माहौल में शामिल हमारी चीख है
गौर करिएगा जरा ये मुआमला बारीक है
इस सियासत ने नए सामंत पैदा कर दिए
चल पड़ी है आज फिर सदियों पुरानी लीक है”⁴

‘सदियों पुरानी’ दासता के औजारों को फिर तेज किया जा रहा है। इतिहास को अपने नाम के मुताबिक रचने की जो हवस इन दिनों दिखाई पड़ रही है, उसे ‘सुगम’ ने बेहतर आवाज दी है,

“खुदगर्जी को खास बनाकर छोड़ेंगे
खुद को ये इतिहास बनाकर छोड़ेंगे”⁵

और देखिए,

“जीने का सामान हमारे हिस्से का
छीना हिन्दुस्तान हमारे हिस्से का”⁶

इन भावों का विस्तार देखना हो तो इस पूरी गजल को देखने की जरूरत है,

“जीवन में अब स्वाद नहीं रहने देंगे
लगता है आजाद नहीं रहने देंगे
कट्टरपन ने सोच लिया है दुनिया में
सुख का पानी, खाद नहीं रहने देंगे
यहाँ रहेगा धर्मों का कठमुल्लापन
इन्सां को आबाद नहीं रहने देंगे
मनमानी का दौर चलाया जाएगा
कोई भी संवाद नहीं रहने देंगे

गंगा-जमुनी जो तहजीब हमारी है
 उसकी कोई याद नहीं रहने देंगे
 पहरा होगा जोर, जुल्म, खौफों वाला
 फरियादी, फरियाद नहीं रहने देंगे”

‘सुगम’ प्रेम के रोमांटिक शायर नहीं हैं। मगर, गजल तो रोमानियत के बिना अपना पूरा असर छोड़ नहीं पाती है। इस रोमानियत को दूसरी दिशा देकर भी शायरी का साथ निभाया जा सकता है। ‘सुगम’ के पास दर्द की एक पूरी दुनिया है। यह दर्द दिल-ए-आशिक का नहीं जमाने का है। जिगर मुरादाबादी ने यही तो कहा था कि मुहब्बत का एक अर्थ यही होता है कि उसका विस्तार जमाने भर के दर्द के लिए चिंतित होना है (‘सिमटे तो दिल-ए-आशिक फैले तो जमाना है’)। ‘सुगम’ की एक पहचान उनकी यह पंक्ति भी हो सकती है- ‘हमारे पास दर्दों की अभी जागीर बाकी है’ यह जागीर जमाने के दर्द से मिलकर बना है। उनके यहाँ दिल-ए-आशिक के मामले दिखाई नहीं पड़ते, बल्कि शुरू से आखिर तक उनके दर्द का सरोकार जनता के दुःख से है। लोकतन्त्र में जनता का सबसे बड़ा दुःख है एक गलत सरकार का चुनाव। मुक्तिबोध ने ‘भूल गलती’ कविता इसी आशय से लिखी थी। जनता के द्वारा एक गलत सरकार को चुन लेने के बाद ऐसे ढेर सारे काम होते हैं जिनका दुष्प्रभाव लम्बे समय तक बना रहता है। एक शेर देखिए,

“ अपनी काली करतूतों पर फख करे
 ऐसा इज्जतदार हमारे घर में है”⁷

कितना सीधा और गहरा शेर है यह! अपनी काली करतूतों के आधार पर राजनीति करके चुनाव जीत जाना और क्रमशः इज्जतदार बनते जाना आज भारत के लोकतन्त्र में सम्भव होता जा रहा है। दंगों के आरोपित लोग सफलतापूर्वक राजनीति कर रहे हैं। वे जनता के बीच स्वीकार्य भी हो रहे हैं। ‘सुगम’ चिंतित हैं कि राजनीति ने व्यापार का रूप धारण करके सारी नैतिकता खो दी है,

“खुलकर जो व्यापार मौत का करते हैं
 ऐसा इक बाजार हमारे घर में है”⁸

जनता ने भरोसा किया और वह उस नाव में जा बैठी है जिसमें हजारों छेद पहले से मौजूद हैं। लोक-मन की बात को ठीक से जाननेवाला रचनाकार ही ऐसी बात कह सकता है कि जनता के विश्वास का दुरुपयोग किया जाता है। जनता को भ्रमित करके अपराधियों की सत्ता स्थापित भले कर ली जाती है, मगर देर नहीं लगती जब वे अपराधी अपना रंग दिखाना शुरू कर देते हैं,

“ अचानक खौफ उग आया मेरी खुशहाल बस्ती में
 न जाने क्या हुआ देखो तुम्हारी सरपरस्ती में
 भरोसा कर लिया तुम पर लपक कर आन भी बैठे
 पता क्या था हजारों छेद हैं पहले से कश्ती में”¹⁰

‘सुगम’ ने राजनीति की साम्प्रदायिकता और जुमलेबाजी को भी अपनी शायरी का आधार बनाया है। वे पूँजीवादी लूट, धर्म के राजनीतिक दुरुपयोग और विकास की लुभावनी घोषणाओं को एक ही गजल में कितनी सहज सुंदरता से पिरो देते हैं,

“ दिल में अपने लिख रक्खी हैं लूट-पाट की तहरीरें
 लेकिन घर में टांग रक्खी हैं राम कृष्ण की तस्वीरें
 चौराहे सब सजे हुए थे लोग खड़े थे सड़कों पर

भाषण ऐसा दिया कि जैसे बदल रहे हों तकदीरें”¹¹

विडम्बना देखिए और समकालीन उलझनों पर टिप्पणी देखिए,

“रेलगाड़ियाँ भेड़ बकरियों जैसी भरकर जाती हैं

बुलेट ट्रेन की सौगातें ये किसकी खातिर बतला दो”¹²

भारत के लोकतन्त्र को पूँजीवाद भटका चुका है। आवारा पूँजी ने लोकतन्त्र को भी आवारा बना दिया है। अब ऐसे निर्णय बिना किसी बहस के ले लिए जा रहे हैं जिनका फायदा केवल पूँजीपतियों को मिलने वाला है। जनता के मुद्दे पूँजीपतियों के हितों की मायावी भाषा में समाहित कर लिए गए हैं। जनता का एक बड़ा हिस्सा अराजनीतिक है, उसे अपने प्रभाव में लिए रहने के लिए अनेक भावनात्मक मुद्दे उसे परोसे जाते रहे हैं। ऐसा ही एक मुद्दा है सेना और युद्ध। पिछले दिनों पुलवामा की दुर्घटना हुई और उसके पहले भी सेना को लेकर ऐसी राजनीति खेली गयी जो भारत जैसे देश के लिए नया राजनीतिक मुद्दा था। युद्धोन्माद का वातावरण बनाया गया ताकि चुनावों को प्रभावित किया जा सके। ‘सुगम’ सैनिकों को सलाम करते हैं और युद्धोन्मादी बड़बोलों का मजाक उड़ाते हैं। वे एक ही ‘सलाम’ से दोनों काम करते हैं। मतलब यह कि वे ‘सलाम’ शब्द से सैनिकों के प्रति अपना सम्मान-भाव प्रकट करते हैं और अगली बार ‘सलाम’ कहकर युद्धोन्मादी राजनीतिक दलालों और हथियार के सौदागरों का मजाक भी उड़ा लेते हैं,

“सरहद पर जो सैनिक रहते उन्हें सलाम

भूख, प्यास, कष्टों को सहते उन्हें सलाम

ए, बी, सी जो नहीं जानते युद्धों की

गाल बजाते, बक बक करते उन्हें सलाम”¹³

पत्रकारिता ने ‘मीडिया’ का नया नाम धारण किया और आज वह लोकतन्त्र का चौथा खम्भा कहे जाने के लायक नहीं रह गयी है। टी.वी. के न्यूज चैनल्स पार्टी के प्रचारक बन कर रह गये हैं। अखबार बाजार के एक उत्पाद की तरह बिक रहे हैं। ‘सुगम’ ने इनकी निरर्थकता को शेर में ढला है ताकि जनता को बताया जा सके कि वह इनसे सावधान रहे। अपने राजनीतिक निर्णयों के निर्धारण में न तो टी.वी. रिपोर्ट को आधार बनाएँ और न ही अखबार के विचारों और समाचारों को। ये आज की तारीख में कुल मिलाकर सत्ता के प्रचार का हिस्सा बन गए हैं,

“सत्ता की दासी लगती है

टी.वी. और अखबार की भाषा

देशद्रोह माना जाएगा

मत बोलो अधिकार की भाषा”¹⁴

‘सुगम’ जानते हैं कि आज ‘देशद्रोही’ सिद्ध करके आपकी मॉब-लिचिंग करवाई जा सकती है। इसलिए ‘अधिकार की भाषा’ बोलनेवाले सावधान रहें। शायर अपने दौर के खतरों और घटनाओं को अपनी गजलों में ढाल रहा है और बहुत बेचैन है। मगर वह निराश नहीं है। वह बताता है कि जनता को खुश करनेवाली बातें करके खूब तालियाँ बजवाई गयी हैं। जनता का एक बड़ा हिस्सा नहीं जानता है कि वह जिन बातों के लिए तालियाँ बजा रहा है, उनकी कई सच्चाइयों से वह वाकिफ नहीं है। सतही भावुकता, संकीर्ण मुद्दों पर उसे संगठित करने का नहीं बल्कि सामूहिक रूप से छलने का प्रयास किया जा रहा है। पड़ोसी देश से नफरत के आधार पर उसके भीतर देशभक्ति की भावना भरने की कोशिश की जा रही है। उसके अपने ही देश के कुछ लोगों के प्रति हिंसक भाव भरकर उसे ध्रुवीकृत करने का प्रयास किया जा रहा है।

“खेल साजिश के ये दिखलाते रहे
हमसे बजवाते रहे बस तालियाँ

मगर वह दिन दूर नहीं जब जनता इन बातों को समझेगी और धोखे की राजनीति करनेवालों को पहचान लेगी,

अब हमें कसना पड़ेगी खुद कमर
लाएँगे अपने लिए खुशहालियाँ”¹⁵

महेश कटारे ‘सुगम’ की गजलों आसान-सी दिखाई पड़ती हैं, मगर ये रचाव में उतनी आसान होती नहीं हैं। वे भाषा, भाव, विचार की दृष्टि से भटकते नहीं हैं। जनता के लिए कविता लिखने के नाम पर ढेर सारे मंचीय कवि हमें दिखाई पड़ते हैं। वे रचते तो हैं जनता की भाषा में, मगर वे वैचारिक रूप से अत्यंत दुर्बल कविता के कवि होते हैं। ऐसे कवि कविता को एक हल्की-फुल्की विधा के रूप में ढालकर कविता के महत्त्व को घटा देते हैं। जनता का कवि होना आसान नहीं होता। उसके लिए जैसी काव्य-भाषा होनी चाहिए, वह आसानी से नहीं मिलती है। उसके लिए जैसी वैचारिकी और भाव-प्रवणता होनी चाहिए उसके लिए सशक्त राजनीतिक और सामाजिक दृष्टि की जरूरत होती है। इस तरह का संयोग ‘सुगम’ की गजलों में दिखाई पड़ता है।

सन्दर्भ :

1. आशाओं के नये महल, महेश कटारे ‘सुगम’, रश्मि प्रकाशन, लखनऊ, 2017, पृ. 76
2. वही, पृ. 76
3. वही, पृ. 75
4. वही, पृ. 27
5. वही, पृ. 34
6. वही, पृ. 45
7. वही, पृ. 52
8. वही, पृ. 21
9. वही, पृ. 21
10. वही, पृ. 22
11. वही, पृ. 23
12. वही, पृ. 113
13. वही, पृ. 102
14. वही, पृ. 88
15. वही, पृ. 33



विकास का मौजूदा मॉडल, तकनीक और गाँधी

○ आशुतोष पार्थेश्वर

गाँधी की समूची वैचारिकता में अध्यात्म और विज्ञान का विरल संयोग है। व्यक्ति और समाज के मानसिक विकास के लिए वे इन दोनों की सह-उपस्थिति आवश्यक मानते थे। माइक्रोस्कोप से लेप्रोसी के कीटाणुओं को देखती उनकी तस्वीर, उनकी चर्चित तस्वीरों में से एक है। किन्तु, जब वे विज्ञान से ही संभव हुए रेल, बड़े कारखानों और विशालकाय उद्योगों आदि की ओर सशक्त दृष्टि से देखते हैं, उनकी आलोचना करते हुए मिलते हैं, तो कई सवाल हमारे जेहन में उभरते हैं; जैसे यह कि क्या विज्ञान और तकनीक को अलग करके देखा और रखा जा सकता है। और भला कब तक? अगर गाँधी विज्ञान के पक्ष में थे तो वे तकनीक से दूरी क्यों बरतना चाहते थे। वे तकनीक का नियंत्रण और नियमन चाहते थे। इस प्रकार का नियमन और नियंत्रण क्या यथास्थितिवादी आग्रह नहीं है? भारतीय परिप्रेक्ष्य में देखें तो तकनीक ने सामाजिक जड़ता और सामंती-अर्द्धसामंती मूल्यों की जड़ें हिलाई हैं, तब क्या गाँधी का आग्रह इक्कीसवीं सदी के इन वर्षों में प्रासंगिक है? क्या गाँधी के 'चरखे' के सहारे औद्योगिक शक्तियों को चुनौती दी जा सकती है, चुनौती तो दूर क्या उनके सामने टिका भी जा सकता है।

गाँधी की सुनें तो, 'चरखे' के सहारे बड़ी शक्तियों के सामने टिका जा सकता है और उन्हें चुनौती भी दी जा सकती है। वह इस तरह कि चरखा (वह भी एक तकनीक ही है) या कोई भी तकनीक जब तक श्रम के सम्मान और बराबरी के उद्देश्य से संचालित है, आत्म संयम उसका प्राण और बृहत्तर रोज़गार उसका लक्ष्य है, वह स्वीकार्य है। खतरा यह है कि जितनी बड़ी तकनीक होगी, पूँजी के दखल की संभावना उतनी अधिक होगी। जितनी बड़ी तकनीक होगी, लोभ उतना ही बड़ा होगा। और, इस 'लोभ' की आलोचना महज आध्यात्मिक चर्चा के लिए नहीं होनी चाहिए, बल्कि इसलिए कि जितना बड़ा लोभ होगा मनुष्य और प्रकृति के लिए उतना बड़ा संकट उपस्थित होगा।

तकनीक के सर्वग्रासी चरित्र को समझने के लिए किसी बड़े और गहन सामाजार्थिक संदर्भ की आवश्यकता नहीं है। यह संकट अब इतना प्रत्यक्ष है कि रोज-ब-रोज, बल्कि हर क्षण यह हमारे सामने है और क्रमशः अपनी गिरफ्त में हमें लेता जा रहा है। यहाँ स्पष्ट रहे कि तकनीक के चरित्र को प्रश्नांकित करने का अर्थ विज्ञान के प्रति अवमानना प्रकट करना नहीं है। जहाँ तक विज्ञान और तकनीक की परस्परता का प्रश्न है। हम जानते हैं कि दोनों के बीच नाभिनाल संबंध है और दोनों के बीच पार्थक्य के बिंदु भी हैं। इस संबंध और पार्थक्य को समझकर ही मौजूदा दौर में तकनीक के चाल-चरित्र को समझना संभव हो सकता है।

विज्ञान का संबंध ज्ञान की उपलब्धता, व्यवस्था और अवधारणा से है वहीं तकनीक का संबंध उपलब्ध ज्ञान के अनुप्रयोग से है। बचपन में ही स्कूली कक्षाओं में हमें निबंध लिखने के लिए दिया जाता था- विज्ञान

: वरदान या अभिशाप। विज्ञान अपने आप में अभिशाप नहीं हो सकता। यह समस्या विज्ञान के साथ नहीं। यह समस्या तकनीक के साथ है। तकनीक अच्छी हो सकती है और बुरी भी। और, वह भी समय-समाज सापेक्ष। चौंकि मामला उपयोग का है तो उपयोग को संभव करनेवाला पूरा तंत्र, पूरा बाजार, उसके अपने नफे-नुकसान सब तकनीक के साथ जुड़े होते हैं।

विज्ञान और तकनीक ने समाज को बदला है। और, यह बदलाव इतना तीव्र होता है कि इसकी गति किसी दर्शन, मत या उपदेश से भी अधिक होती है। याद रहे रेणु की कहानी 'पंचलाइट'! महज तीन पृष्ठों की यह कहानी सन् 1958 में छपी थी। नए भारत की कहानी, वह भारत जहाँ दो-दो आम चुनाव हो चुके थे। उसमें भी बिहार का ठेठ देहात, जहाँ अभाव है किंतु सामाजिक चेतना और अपनी पहचान की छटपटाहट रत्ती भर कम नहीं है। कहानी यह है कि महतो टोली के पंचों ने सामूहिक जुर्माने से पैसा इकट्ठा किया और उससे पंचलाइट की खरीद हुई। गाँव में हरेक जाति की अपनी सभाचट्टी। हरेक के पास पंचलाइट। महतो टोली में पंचलाइट नहीं था। यह नहीं था तो वे दूसरों से पीछे थे। दूसरों के बराबर नहीं थे। बराबरी से कम का मामला था। बराबरी के लिए पंचलाइट जरूरी था। सो, वह खरीदकर लाया गया। पंचलाइट के स्वागत की तैयारी गाँव में जोर शोर से है। पूजा-कीर्तन सब कुछ का इंतज़ाम है। क्योंकि वह मात्र पंचलाइट नहीं है। वह सम्मान और बराबरी का प्रतीक है। बराबरी बामनटोली से और राजपूतटोली से।

किंतु, संकट यह है कि यह पंचलाइट जले कैसे? सभी पंचायत में, सभी जातियों में उसे जलानेवाले हैं, महतोटोली में भला उसे कौन बारे। और, दूसरी टोली से से किसी को बुलाकर जलवाएँ तो फिर इज्जत कहाँ रही? जिस इज्जत और बराबरी के लिए उसे खरीदा गया, उसी की कीमत पर पंचलाइट को बरवाना उचित नहीं। इससे अच्छा है कि उसे यूँ ही छोड़ दिया जाए। पर, यह खबर तमाम पंचायतों तक फैल चुकी है। मज़ाक यह कि पंचलाइट के सामने कान पकड़कर उठक बैठक करो, वह जलने लगेगा। यानी, जाति का पानी उतर रहा था। पंचलाइट न जले तो इज्जत चली जाए।

महतो टोली में पंचलाइट जलानेवाला केवल गोधन है, जो दूसरे गाँव से आकर बसा है। जिसने टोले के पंचों को पान-सुपारी का खर्चा नहीं दिया है। तिस पर गुलरी काकी की बेटी मुनरी को देखकर सलीमा का गीता गाता है-हम तुमसे मोहब्बत करके सलम! गोधन ने यह अपराध किया है। वह गाँव की लड़की से प्रेम कैसे कर सकता है! प्रेम पर तो पहरा होना चाहिए। यह तो गाँव की 'इज्जत' का सवाल है। गाँव ने उसका हुक्का पानी बंद कर दिया। अब वही 'इज्जत' दूसरी जातिवालों के सामने उतरी जा रही थी। गोधन को मनाने की कोशिश की जाती है। वह नहीं मानता। गुलरी काकी के मनाने से वह मानता है। वह पंचलाइट जलाता है। लोगों के दिल का मैल धुल जाता है। उसे फिर से सलीमा का गीत गाने की इजाजत मिल जाती है, उसके सात खून माफ हो जाते हैं। काकी उस रात उसे अपने खाने का न्यौता भी देती है।

अब इस छोटी सी कहानी का देशकाल याद रखें और देखें कि तकनीक का प्रभाव दो स्तरों पर है। जाति के बाहर भी और जाति के भीतर भी। तमाम चीजें हैं, दरी है, जाजिम है, सब कुछ है नहीं है तो 'पंचलैट' नहीं है। वह है क्या? वही तो है जिससे सवर्ण जातियों के बराबर खड़ा हुआ जा सकता है। यह बदलाव का एक रूप है। दूसरा बदलाव इस तरह कि वह प्रेम पर पहरेदारी को व्यर्थ सिद्ध करती है। रेणु यह दिखाते हैं कि तकनीक में समाज को बदलने की, जड़ीभूत मूल्यों को खंडित करने की बेपनाह ताकत है।

तकनीक के दूसरे पहलू को देखने के लिए यहाँ एक दूसरी कहानी का उल्लेख आवश्यक है। कहानी है 'हंस' के सितंबर 2006 के अंक में प्रकाशित सुभाषचंद्र कुशवाहा की 'नून तेल मोबाइल'। एक सामान्य से भी नीचे के किसान परिवार में जन्मा परसुराम ब्याह के बाद कमाने के लिए पंजाब चला जाता है। माँ-बाप हैं, दो छोटी बहनें हैं, एक भाई है और पत्नी है। कमाने के लिए पंजाब गया परसुराम महीनों तक अपनी ख़बर नहीं

भेजता। चार महीने में एक बार पैसे भेज दे, तो भेज दे। और, यहाँ अभाव ऐसे कि कमने का नाम न ले। गाँव में बाबू साहब और मुनव्वर चाचा के यहाँ फोन लग चुका है। और, मंटू बाबू के पास, कर लो दुनिया मुट्ठी में यानी मोबाइल है।

चिंता यह है कि परसुराम अपनी ख़बर नहीं भेजता। दूसरी चिंता यह कि अब चिट्ठी कौन लिखता है। उसका चलन खत्म होता जा रहा है। फोन कर दिया करे वह। सस्ता भी हो गया है। गाँव के बाबू साहब के यहाँ लैंडलाइन फोन है। किंतु बुलाना-न बुलाना उनकी मर्जी। बात कराना उनकी कृपा पर। कहीं से यह सुगबुगाहट शुरू होती है कि घर में टीवी आ जाए। इसलिए कि दूसरे के घरों में टीवी है तो दुखी भगत के घर में भी हो! दूसरे के घर में जाकर टीवी तो नहीं देखा जा सकता। दुखी भगत इसके लिए तैयार नहीं। क्योंकि टीवी बहू-बेटी को बिगाड़ने का साधन है। टीवी से हिरोइनों का लक्षण सीखने लगती हैं बेटियाँ-बहुएँ। टीवी ज़रूरी नहीं।

पर परसुराम के हाल-चाल का क्या करें। उसकी सुध-बुध तो मिलती ही नहीं। इधर मंटू बाबू मोबाइल से लोफरई करते रहते हैं, नहाते हुए बुढ़नी की चुपके से तस्वीर खींच लेते हैं। मंटू बाबू की 'सामाजिक हैसियत' उन्हें बचा लेती है। वही मंटू बाबू दुखी भगत और उनकी पत्नी की अनुपस्थिति में परसुराम के घर आते हैं और कहते हैं कि परसुराम उनके मोबाइल पर फोन क्यों नहीं कर लेता। वही आकर बात करा दिया करेगा।

बेटे से बात करने के लिए मंटू बाबू को घर में आने-जाने दिया जाए, इसके लिए दोनों बुजुर्ग तैयार नहीं होते। चाहे जो हो, पुराना ही सही, डाँड़ समझकर ही, मोबाइल ले लिया जाए। दुखी भगत कहते हैं, मोबाइल इज्जत-आबरू लुटती भी है, बचाती भी है।

मोबाइल तकनीक है, वैसे ही जैसे पंचलाइट तकनीक है। मोबाइल उतना ही ज़रूरी है-जैसे नून, तेल। आर्थिक अभाव भले हों, सामाजिक पहचान-प्रतिष्ठा पर आँच न आए। और, वह संभव है मोबाइल से। छत भले चुए, खाने को भरपेट न मिले, खेत के लिए यूरिया न हो, धोती भले पैबंदों से भरी हो-ये सारी ज़रूरतें मोबाइल के सामने छोटी हैं। मोबाइल प्रतिष्ठा है। फोटो खींचने के लिए नहीं, फोटो खींचने से बचने के लिए।

ये दो कहानियाँ हमारे सामने हैं। पंचलाइट जिसमें तकनीक सामाजिक जड़ता को तोड़ने और जातिगत श्रेणीक्रम को पुनर्व्याख्यायित करने में सहायक होता है और मोबाइल जो जीवन की बुनियादी ज़रूरतों के समानांतर आकर खड़ा हो जाता है। क्या हम यह कहकर निकल सकते हैं कि कहानी में मोबाइल के दोनों पक्ष उपस्थित हैं। उसका जीवन की बुनियादी ज़रूरत बनना-बाबू साहब की ऐंठन और मंटू बाबू की कुदृष्टि, दोनों से मुक्ति के लिए ज़रूरी है। इस तरह वह ग्रामीण समाज की अर्द्धसामंती संरचना को झकझोरनेवाली वस्तु है। और, यह पूरा मामला तो प्रयोग का है कि हम इस तकनीक का किस रूप में उपयोग करते हैं। तकनीक अच्छी या बुरी नहीं होती है-उसका उपयोग अच्छा या बुरा हो सकता है। प्रश्न यह है कि तकनीक के संबंध में यह धारणा शाश्वत सत्य है या जब हम ऐसा कहते हैं तो खतरनाक और खोखली दृष्टि के शिकार हो रहे होते हैं।

हम गाँधी की उपस्थिति यहीं चिह्नित करना चाहेंगे। तकनीक के अस्तित्व के साथ पूँजी की उपस्थिति स्वाभाविक रूप से होती है। उसकी गतिशीलता, प्रभावोत्पादकता और परिवर्तनशीलता सीधे पूँजी से प्रभावित होती है। उसके नियंत्रण में होती है। जहाँ पूँजी और बाजार का खेल है, वह कई मूल्यों, मान्यताओं और संभावनाओं को सोख लेता है। जब तक महतो टोली और दुखी भगत खुद ही तकनीक की पैरवी करें, तब तक वह ठीक है, किंतु जब बाजार उसकी ज़रूरत बताने लगे, स्थापित करने लगे-‘ये दिल माँगे मोर’ से लेकर ‘कर लो दुनिया मुट्ठी’ में सिखाने लगे-तो वह बहुत घातक और सर्वग्रासी हो जाता है। गाँधी की ज़रूरत यहीं उभरती है।

तकनीक के सहारे पूँजी का यह दखल हमसे हमारी मनुष्यता सोख रहा है। गाँधी ने यात्रिक साधनों को दो हिस्सों में बाँटा था—एक जिससे श्रम करनेवाले मनुष्यों अथवा पशुओं को कुछ कम मेहनत पड़े और उनका थोड़ा समय बचे; जैसे चक्की, चरखा, सायकल आदि। दूसरा, वैसे यंत्र जो श्रम करनेवाले मनुष्यों का स्थान लेते हैं या मनुष्य को मनुष्य न मानकर उसे जीवित यंत्र के रूप में उपयोग में लाते हैं। जैसे आटा पीसने की चक्की, तेल या शक्कर मिल।

गाँधी कहते हैं कि पहले प्रकार के यंत्रों में सुधार होने चाहिए। जैसे चरखे में सुधार हो। सायकल में सुधार हो। संभव है इससे मानव श्रम की भी जरूरत घटेगी किंतु वह कम से कम होगी।

दूसरे प्रकार के यंत्रों के लिए विवेक और सावधानी की जरूरत है। इस पर उसी प्रकार का नियंत्रण होना चाहिए जैसे गोला-बारूद बनाने या हथियार बनाने पर होता है। गाँधी स्पष्ट तौर पर कहते हैं कि ये दूसरे प्रकार के यंत्र हैं, इनका उपयोग गलत नहीं है यदि—

1. काम बहुत हो, और करनेवाले कम हों
2. जहाँ शीघ्रता से काम करना जरूरी हो और यंत्र के बजाय मनुष्यों से काम लेने से अव्यवस्था फैलने की संभावना हो, मसलन यदि कहीं आग लग जाए या कोई प्राकृतिक प्रकोप आ जाए।
3. जब एक यंत्र और उसके सुधार दूसरे सहयोगी यंत्र को नुकसान न पहुँचाते हों
4. जहाँ कार्य की सूक्ष्मता की जरूरत हो, और मानवीय साधनों से वह उसी रूप में संभव न हो
5. जो सार्वजनिक खपत की चीजें हो, जिनकी पैदावार बहुत चाहिए
6. राज्य की ओर से यंत्र का संचालन हो

हालाँकि राज्य से गाँधी की जो अपेक्षाएँ थीं, वह तो न जाने कब खंडित हो चुकी हैं, भारत में बीसवीं सदी में ही खत्म हो गई थीं, इक्कीसवीं सदी में अब उनका नाम लेना भी अपराध है। मसलन, हम यह सवाल नहीं उठाते कि निजी कंपनियाँ 5जी तकनीक ला रही हैं, लेकिन राज्य की कंपनी अभी तक 4जी क्यों नहीं ला पाई। यह पूँजी का खेल है। हम यह सवाल नहीं उठाते कि राज्य की कंपनी, जो वर्षों से गैस सिलिंडर हमारे घरों में पहुँचा रही है, क्या वह पाइप लाइन से गैस घरों तक पहुँचाने में असमर्थ थी? कि एक निजी कंपनी की जरूरत आ पड़ी।

हमें यह सवाल पूछने की अनुमति नहीं कि जो सरकारी संस्था वर्षों से रक्षा संबंधी उपकरण, आयुध और लड़ाकू विमान बनाती आ रही थी, उसकी जगह किसी नई कंपनी को क्यों मौका दिया गया? क्या सरकारी कंपनी तकनीक का उपयोग करने में असमर्थ थी?

हम यह सवाल नहीं पूछते कि पैसेंजर रेलगाड़ियाँ जब भीड़ से भरी हुई चलती हैं, जिनमें देश का निम्न मध्यवर्ग और अभावग्रस्त तबका सफर करता है तब वंदेभारत इंटरसिटी चलाने की योजना क्यों बनाई जा रही है? क्या यह तकनीक का सर्वग्रासी चरित्र नहीं है?

गाँधी के हवाले से देखें, वे कहते हैं जिस चीज़ की प्राकृतिक अनुकूलता न हो, उसकी खेती न हो, ईंधन की पैदावार के लिए उत्तर प्रदेश, बिहार और इस तरह के इलाके मुफीद माने जाते थे। किंतु, हम देखें कि गन्ने का व्यापार, देखते देखते पूरब से पश्चिम की ओर चला गया है। अब महाराष्ट्र उसका हब है। हरित क्रांति के अंतर्गत खेती में तकनीक के प्रयोग ने पैदावार को बढ़ाया। लेकिन किस कीमत पर, धरती की उर्वरता और अनुकूलता को छीज कर। मोटे अनाजों को, अनाजों की विविधता को समाप्त कर। मैदानी इलाकों में मक्के की ऐसी किस्म लगाई जाती थी, जो सावन-भादो में यदि खेत में पानी आ जाए, तो जैसे-जैसे पानी बढ़े फसल भी ऊँची होती जाती थी। किसान पानी से डरता नहीं था। वह पानी में डूबे हुए खेत से तैयार मक्के को काट

लेता था। इस परंपरित ज्ञान को तकनीक और नए ज्ञान ने खत्म कर दिया।

विडंबना यह है कि हमारी सरकारें फिर से कह रही हैं कि मोटे अनाज उगाइए। यह स्वास्थ्यवर्धक है, आदि-आदि। यह ज्ञान तो हमारे पुरखों को पहले से था। आपकी तकनीक और नए ज्ञान ने अनाजों की विविधता को खत्म कर दिया। इसका सबसे भयावह पक्ष देखिए कि मोटे अनाज की ज़रूरत सत्ता प्रतिष्ठानों से इसलिए बताई जा रही है कि पूँजीवादी ताकतें स्वास्थ्य के नाम पर, खाए-पिए-अघाए और फिटनेस के लिए मतिभ्रष्ट दिख रही बड़ी आबादी के मन से खेलने के लिए तैयारी हो चुकी हैं। वह मोटा अनाज आज भी मिल जाएगा, छोटे दुकानों में नहीं, मॉल में। यही पूँजी का खेल है।

यानी, गाँधी के यहाँ तकनीक का सवाल, उसके प्रति सावधान दृष्टि केवल आध्यात्मिक चर्चा के लिए नहीं है। बल्कि इसलिए है कि यदि तकनीक पूँजीपतियों के हाथ में होगी, उनके सहारे प्रसार पाएगी तो वह सामाजिक विभेद को गहराएगी। वह असमान और असम्मानजनक समाज का निर्माण करेगी।

तेज भागती और भगाई जाती तकनीकी दुनिया में, पूँजीपतियों के पास विकल्प हैं। वे चाँद पर जा सकते हैं। ग़ालिब कहते हैं—मंजर एक बलंदी पर और हम बना सकते/अर्श से उधर होता काश कि मकाँ अपना! वे कह सकते थे कि ‘यूँ होता तो क्या होता!’ संकट यह है कि तकनीक और बाजार ने ‘यूँ होने’ और ‘क्या होने’ की संभावनाओं को खत्म कर दिया है।

हम गाँधी के बताए हुए सात पापों से परिचित हैं :

1. सिद्धांत के बिना राजनीति,
2. श्रम के बिना धन,
3. आत्मा के बिना सुख,
4. चरित्र के बिना ज्ञान,
5. नैतिकता के बिना व्यापार,
6. मानवता के बिना विज्ञान,
7. त्याग के बिना पूजा

किंतु, गाँधी के मूल्य आज किनारे रख दिए गए हैं। हम कुछ सवालों का जवाब देकर करोड़पति हो जाना चाहते हैं। कबाड़ को बेचकर लखपति बन जाना चाहते हैं। विज्ञान अब शुद्ध विज्ञान नहीं, कोई खगालीय घटना भी अब मुनाफे के चटखारे के साथ खबर बनती है। व्यापार आदि की बात क्या ही की जाए?

हमने प्रकृति से होड़ कर रखी है। तकनीक ने सिखाया कि बाँध बनाओ—फरक्का पर बाँध बना। गंगा मर गई। परती परिकथा में रेणु कोसी को बाँधने से आकर्षित थे, 2008 में कोसी में आई बाढ़ ने दिखा दिया कि हमारी तकनीक कितनी बौनी है, ओछी है। महज पचास साल में। त्रिलोचन की एक छोटी कविता है—नदी कामधेनु :

नदी ने कहा था—मुझे बाँधो

मनुष्य ने सुना और

तैर कर नदी को पार किया।

नदी ने कहा था—मुझे बाँधो

मनुष्य ने सुना और

सपरिवार धारा को

नाव से पार किया।

नदी ने कहा था— मुझे बाँधो
मनुष्य ने सुना और
आखिर उसे बाँध लिया
बाँधकर नदी को
मनुष्य दुह रहा है।
अब वह कामधेनु है।

यह दुहना न रुका, तो हम उससे उत्पन्न खतरे के लिए तैयार रहे। यहाँ केदारनाथ सिंह की कविता 'माँझी का पुल' की याद आना स्वाभाविक है। 80 के आसपास लिखी इस कविता में कवि 'पुल' को सारसों की तरह डैने फैलाए हुए देखता है, पुल आकर्षण है। पुल गप्प है। पुल फुर्सत है। रोमान है पुल। किंतु, केदार जी इक्कीसवीं सदी आते आते 'पुल' को किसी और रूप में देखते हैं -

पृथ्वी के सारे के सारे पुल
एक गहरा षड्यंत्र हैं नदियों के खिलाफ
और नदियाँ उन्हें इस तरह बर्दाश्त करती हैं
जैसे कैदी जंजीरों को

और, वे जब कहते हैं

नदियाँ जो कि असल में
शहरों का आरंभ हैं
और शहर जो कि असल में
नदियों का अंत

यह कवि के रोमान के उतरने की निशानी नहीं है। महज आवेग नहीं है। यह चिंता है। यह आह्वान है कि विकास की तमाम अलामतों को ठहरकर देख लिया जाए।

तकनीक, बाजार और पूँजी को किनारे रखकर हम नहीं चल सकते। हमें इनके बीच से ही अपने लिए जगह बनानी है। किंतु, किस तरह? रास्ता बुद्ध, कबीर और गाँधी का ही है: हमें वह तकनीक नहीं चाहिए, जो हमें शारीरिक श्रम से मुँह मोड़ना सिखाए। हमें वह तकनीक नहीं चाहिए जो हमें मानसिक रूप से समाज के दूसरे हिस्से से काट दे। जो प्रकृति के शोषण का तरीका सिखाए।

तकनीक के प्रति इतना सचेत होना झटके से संभव नहीं है। लेकिन यदि हम चाहते हैं कि हिंसा, अन्याय, शोषण और गैर बराबरी से मुक्ति पानी है तो गाँधी का रास्ता सिद्धांत और विचार में ही नहीं, व्यवहार में अपनाना होगा और एक व्यक्ति के रूप में, समाज के रूप में निरंतर आत्मावलोकन की प्रक्रिया से गुजरना होगा।



‘लप्या’ की शिकार स्त्री की पुकार

○ अभिषेक कुमार यादव

संपादकीय टिप्पणी :

[अभिषेक कुमार यादव के लेखों की एक श्रृंखला अगले कुछ अंकों में क्रमशः प्रकाशित की जाएगी। वे पिछले एक दशक से ज्यादा समय से राजीव गाँधी विश्वविद्यालय, ईटानगर (अरुणाचल प्रदेश) में हिन्दी के प्राध्यापक के रूप में कार्यरत हैं। उन्होंने परिश्रम और सूझ-बूझ के साथ पूर्वोत्तर के कुछ राज्यों में रचित हिन्दी साहित्य के मूल्यांकन के लिए कुछ लेख लिखे हैं। इन लेखों के सहारे जाना जा सकता है कि पिछले तीन दशकों के भीतर वहाँ हिन्दी भाषा में रचित साहित्य की प्रवृत्ति किस तरह की है। जाहिर-सी बात है कि उन रचनाओं का सम्बन्ध वहाँ के समाज और भाषा से है। समाज का एक दूसरा रूप इनमें मिलता है और हिन्दी का भी। सामाजिक विवरण की भिन्नता के बावजूद मानवीय प्रसंगों की सार्वदेशिकता हुआ करती है। इसी के आधार पर हम देशी-विदेशी साहित्य को समझ पाते हैं। इन लेखों में भी मनुष्य की गरिमा को खंडित होते हुए चिह्नित किया गया है और उसके अखंडित होने की आकांक्षा प्रकट की गयी है। पूर्वोत्तर के हिन्दी साहित्य की भाषा का स्वरूप भी कुछ अलग है। प्रस्तुत लेख में नाटक के कुछ संवाद उद्धृत किए गए हैं। इन संवादों की भाषा अरुणाचल में प्रचलित हिन्दी है। उच्चारण की भिन्नता और स्थानीय भाषिक प्रभाव के कारण इस हिन्दी का रूप कुछ दूसरे ढंग का है। ऐसी भिन्नता हमलोग हिन्दी भाषी क्षेत्र में रचित साहित्य में भी देखते हैं, जब उसमें स्थानीयता को प्रकट करने के प्रसंग मौजूद होते हैं। हमें मानना चाहिए कि इन स्थानीयताओं के कारण हिन्दी साहित्य की समृद्धि बढ़ी है। ऐसे लेखों के जरिए हिन्दी साहित्य के इतिहास में पूर्वोत्तर के हिन्दी साहित्य पर विचार किए जाने के रास्ते खुलेंगे!] – कमलेश वर्मा

अरुणाचल प्रदेश में हिन्दी साहित्य लेखन की परंपरा बहुत पुरानी नहीं है। पिछले बीस-पच्चीस सालों में यह निर्मित हुई है। वर्तमान में कई रचनाकार साहित्य सृजन में रत हैं। ऐसे ही एक रचनाकार हैं ताई तुगुंग। वे हिन्दी में नाटक लिखने वाले अरुणाचली मूल के पहले लेखक हैं। अब तक अरुणाचल प्रदेश में जनजातीय लेखकों द्वारा हिन्दी में लिखित एक ही नाटक प्रकाशित हुआ है, जिसका नाम है ‘लप्या’ और इस नाटक के लेखक ताई तुगुंग¹ है। उन्होंने हिन्दी साहित्य में एम.ए. किया है और वर्तमान में अरुणाचल प्रदेश सरकार द्वारा संचालित एक शासकीय महाविद्यालय के हिन्दी विभाग में अध्यापन करते हैं। उनकी नाटकों और अभिनय में गहरी रुचि है। उन्होंने अरुणाचल प्रदेश की कुछ हिन्दी फिल्मों में अभिनय भी किया है और एक लोकप्रिय फिल्म ‘ईटानगर जीरो किलोमीटर’² में नायक की भूमिका भी निभाई है।

ताई तुगुंग द्वारा लिखित यह नाटक स्त्री-जीवन से जुड़ी एक समस्या को आधार बनाकर लिखा गया है। यहाँ यह उल्लिखित कर देना आवश्यक है कि किसी सामाजिक समस्या को आधार बनाकर और एक जनवादी सोच के साथ नाटक लिखने की परंपरा के साथ ही साथ भारत में संस्कृत की नाट्य परंपरा हो या प्राकृत और अपभ्रंश से होते हुए आधुनिक हिन्दी की नाट्य परंपरा हो, सबमें स्त्री-जीवन को केंद्र में रखकर नाटक लिखने की एक समृद्ध निरंतरता रही है। ऋग्वेद के 'यम-यमी संवाद' से लेकर भास के 'स्वप्नवासवदत्ता' और कालिदास के 'अभिज्ञानशाकुंतलम्', शूद्रक के 'मृच्छकटिकम्' से लेकर भवभूति के 'उत्तररामचरितम्' तक नाटकों की एक महती परंपरा ऐसी रही है जिसने भिन्न-भिन्न कारणों और दृष्टिकोणों से स्त्री को अपने केंद्र में रखा है। बाद में हिन्दी के कई लेखकों की नाट्य रचनाओं में भी स्त्रियाँ केंद्र में रहीं। जयशंकर प्रसाद का नाटक 'ध्रुवस्वामिनी' तो अपने किस्म का अलहदा नाटक है जिसमें स्त्री अपने नपुंसक पति का अस्वीकार करती है। इसी प्रकार सुरेन्द्र वर्मा का 'सूर्य की पहली किरण से सूर्य की आखिरी किरण तक', लक्ष्मीनारायण मिश्र का 'सिंदूर की होली', उपेन्द्रनाथ 'अशक' का 'अंजो दीदी', जगदीशचन्द्र माथुर का 'रीढ़ की हड्डी' तथा रमेश बक्षी का 'देवयानी का कहना है' आदि नाटक स्त्री-जीवन के विभिन्न पहलुओं को केंद्र में रखकर रचे गए हैं।

लोक-नाट्य की परंपरा और साहित्यिक नाट्य-लेखन की संस्कृत भाषा की परंपरा से लेकर उसके काव्यशास्त्रीय पहलुओं पर एक विहंगम दृष्टि डाल लेने से एक नाट्य रचना का साहित्यिक मूल्यांकन करना सहज हो जाता है। इसके साथ ही हिन्दी साहित्य के आधुनिक काल के नाट्य लेखन और उसकी प्रवृत्तियों का जायजा कर लेने से विश्लेष्य नाटक के अंतःसूत्रों को समझना आसान हो जाता है। कहना यह है कि 'लप्या' अपनी विशिष्टता के साथ ही साथ एक विराट नाट्य-परंपरा का हिस्सा भी है। यह, मूलतः एक समस्या पर केन्द्रित नाटक है जो उस समस्या का अमानवीय पहलू उजागर करके समाज को आईना दिखाना चाहता है ताकि इस समस्या को खत्म किया जा सके। इसका कथानक या कथावस्तु, अरुणाचल प्रदेश के तानी जनजातीय समूह की जनजातियों³ के सामाजिक जीवन में प्रचलित एक कुरीति और उसके सामाजिक प्रभाव पर आधारित है।

इस नाटक के कथानक पर चर्चा करने से पहले जनजातीय समाजों की सामाजिक बुनावट और संस्कृति पर एक दृष्टि डाल लेना उचित होगा। पूरी दुनिया में अलग-अलग तरह के समाज हैं, संस्कृतियाँ हैं, सामाजिक संरचनाएँ हैं लेकिन हर सामाजिक संरचना और सांस्कृतिक मूल्यों में हमें असमानता और शोषण दिखाई देता है। मनुष्यों ने अपने लिए सभ्यताओं का निर्माण किया लेकिन उन सभी सभ्यताओं की नींव में मनुष्यों का ही रक्त समाया हुआ है। मानव-सभ्यता अपने शुरुआती दिनों से ही मनुष्यों-मनुष्यों में भेद करने लगी थी। ताकतवर और कमजोर का निर्माण और उसकी निरंतरता ही मनुष्य की पहचान बनती गयी।

आज जब हम इतिहास को देखते हैं तो पता चलता है कि शुरुआती कबीलाई जीवन से आज तक के सफर में, निजी संपत्ति की शुरुआत और प्राक-संग्रहण से शुरू होकर आज के विकट पूंजीवादी और साम्राज्यवादी दौर तक हमने लगातार श्रेणीबद्धता और वर्चस्व को स्थापित किया है। इस क्रम में कभी सामंत बने, राजा-महाराजाधिराज बने, युवराज बने, धर्माचार्य हुए, पूंजीपति आए और आया इनका ऐश्वर्यशाली स्वर्ग। इसी क्रम में दास बने, गुलाम बने, शूद्र बने और बने मजदूर जिन्होंने अपने हाथों 'उनके' 'स्वर्ग' को बनाया और खुद पड़े रहे उसके पीछे फैले विशाल नारकीय साम्राज्य में। इस पूरी कालावधि में औरतों की स्थिति भी परिस्थितियों के अनुसार बदलती रही लेकिन एक सामान्य मनुष्य के सम्पूर्ण मानवीय अधिकारों से वह वंचित ही रही। औरतों की बदतरी का यह सफर कबीलाई जीवन के दौर में ही शुरू हो गया था। कहीं कम, कहीं ज्यादा। पितृसत्तात्मक व्यवस्था की शुरुआत भी सभी कबीलों में एक जैसी नहीं थी। हालाँकि लगभग सभी जगह समय के साथ औरतों की इच्छाओं, विचारों और सपनों के लिए जगह कम होती जा रही थी लेकिन उनके हिस्से के श्रम में उसी

अनुपात में बढ़ोत्तरी होती जा रही थी। जैसे-जैसे कबीलों का सामाजिक वितान बढ़ता जा रहा था और उनकी ताकत और चुनौतियों में इजाफा होता जा रहा था, उसी अनुपात में स्त्री-पुरुष सम्बन्धों में भी बदलाव आता जा रहा था। हालांकि स्त्री और पुरुष में अलग जैविक जिम्मेदारियों के अतिरिक्त कोई फर्क नहीं था। लेकिन जैसे-जैसे मानव-समाज का विकास होने लगा तो भौतिक परिस्थितियाँ भी बदलने लगीं और इन परिस्थितियों में जीने की शर्तें भी। शुरुआती कबीलाई समाजों के बनने के साथ ही इन शर्तों की सबसे बड़ी मार औरतों पर पड़ी। वानर से मनुष्य बनने में निश्चित ही सबसे बड़ी भूमिका श्रम की थी लेकिन जैसे ही श्रम में स्तरीयता और श्रेणीबद्धता शुरू हुई और एक जड़ता (जो स्थितियों के हिसाब से रूप बदलती रही लेकिन मूल स्वभाव वही रहा) की तरफ बढ़ गयी तो इसका पहला शिकार औरतें ही हुईं।

निजी संपत्ति के उदय ने जिन संस्थाओं के निर्माण में सहयोग दिया, उनमें से एक परिवार संस्था और विवाह संस्था भी थी। परिवार संस्था और विवाह संस्था आपस में नाभिनालबद्ध हैं। विवाह संस्था ने स्त्री समाज के लिए इतने नियम और संहिताएँ बना दी कि एक मनुष्य के रूप में स्त्री की स्वाधीनता ही समाप्त हो गयी। स्त्री के अधिकार की यह समाप्ति नारी जाति की विश्व ऐतिहासिक महत्व की पराजय थी। बाहरी संसाधनों पर नियंत्रण के कारण अब घर के अंदर भी पुरुष ने अपना अधिकार जमा लिया। नारी पदच्युत कर दी गयी, जकड़ दी गयी। वह पुरुष की वासना की दासी और संतान उत्पन्न करने का एक यंत्र मात्र बनकर रह गयी। स्त्री को मात्र संतानोत्पत्ति के साधन के रूप में देखने और समझने-मानने के कारण बहुत अमानवीय और वीभत्स स्थितियाँ उत्पन्न हुईं।

कबीलाई सामाजिक व्यवस्था के बाद ऐतिहासिक परिस्थितियों के दबाव से सामंती व्यवस्था का जन्म हुआ। इस सामंती समाज व्यवस्था में स्त्री की दशा और सामाजिक स्थिति को जानने के लिए प्रतीति को भेदकर सार तक पहुँचने पर पता चलता है कि स्त्री सामंती समाज में विलासिता और निजी उपयोग की वस्तु मात्र थी और साथ ही वंश चलाने का जरूरी साधन⁴। सामंती समाज में स्त्री की यह स्थिति कोई एक दिन में विकसित होने वाला यथार्थ नहीं था। इसकी जड़ें उसी कबीलाई समाज में छुपी हुई थीं जिनसे होकर यह सामंती व्यवस्था विकसित हुई थी। हालांकि यह भी सच है कि सामंतवाद ने स्त्री के शोषण को जिस कदर व्यापक और नियमबद्ध कर दिया तथा उसके अनुपालन का साधारणीकरण कर दिया, उसका वैसा स्वरूप कबीलाई समाजों में नहीं था।

भारतीय समाज-इतिहास को ध्यान से देखने पर पता चलता है कि यही हालत शूद्र जातियों की भी थी। एक उत्पादक ताकत के रूप में उनके ऊपर काम का दबाव बढ़ता जा रहा था लेकिन उनके अधिकार सिमटते जा रहे थे। कुछ कबीलाई समाजों में भी दास-प्रथा मौजूद थी। वे कबीले जो दूसरे कबीलों को जीत लेते थे, वे पराजित कबीले के पुरुषों को अपना गुलाम बना लेते थे और स्त्रियों को पत्नी या उपपत्नी के रूप में रख लेते थे। दास बनने या बनाने के कई और भी तरीके थे। *तानी समूह की जनजातियों में भी यह दास-प्रथा मौजूद थी। नाटक लप्पा में भी एक पात्र 'तसी' है जो गाँव-बूढ़ा तमर का दास है। उसके समुदाय का नाम 'सुलुंग' या 'पुरोईक' है। भले ही कानूनी रूप से आज यह प्रथा समाप्त घोषित कर दी गयी हो लेकिन इसकी सामाजिक मान्यता और इससे संबन्धित कलंक-मानसिकता आज भी कायम है। वेरियर एल्विन और हेमेन्द्रोफ दोनों ने ही तानी समूह की जनजातियों में मौजूद इस दास-प्रथा को चिह्नित किया है। 'ए फिलॉसफी फॉर नेफा' में एल्विन लिखते हैं कि ये दास अपने मालिक की संपत्ति होते थे और उसकी इच्छानुसार ही जीवन जीते थे। अगर वे मुक्त नहीं हो पाते थे तो उनके बच्चों की नियति भी एक दास के रूप में जीना ही थी। उन्हें खरीदा, बेचा या दिया जा सकता था। ये दास युद्ध में जीते गए लोग होते थे या खरीदे जाते थे। बहुत बार कोई ऐसा व्यक्ति जो कर्ज नहीं चुका सका हो तो उसे कर्ज देने वाले का गुलाम बनना पड़ता था। इसके अलावा यदि समुदाय*

के भीतर ही कोई व्यक्ति ऐसा अपराध कर दे जिसका जुर्माना चुका पाने में वह अक्षम हो तो उसे भी गुलाम बनना पड़ता था। सुलुंग लगभग पूरी तरह एक दास जनजातीय समुदाय था।⁵

तानी समूह की जनजातियों में आपस में कई समानताएँ हैं, भिन्नताएँ भी हैं। इस परिवार की जनजातियों में विवाह के संबंध में एक प्रथा प्रचलन में रही है जिसके तहत एक क्रूर दण्ड का विधान है। न्यीशी जनजाति में इसे 'लप्या' कहा जाता है। सामान्य तौर पर होता यह है कि किसी भी लड़की की शादी उसके माँ-बाप तय करते हैं और चूँकि लड़की को मातृ पक्ष की एक महत्वपूर्ण संपत्ति⁶ समझा जाता था तो उसके जाने के एवज में लड़के वाले कुछ चीजें, मसलन कीमती पारंपरिक आभूषण, अनाज, गृहस्थी के लिए आवश्यक चीजें और पशु खासतौर पर मिथुन⁷ देते हैं। यह लेने-देने दोनों परिवारों के बीच वैवाहिक संबंध का एक अलिखित समझौता होता है। इस बारे में मैं दो संदर्भ दर्ज करना चाहूँगा। प्रसिद्ध मानवशास्त्री क्रिस्टोफ वॉन फ्यूर हेमेन्द्रोफ⁸ ने दर्ज किया है कि तानी समूह की जनजातियों में यह कन्या-मूल्य और बहुपत्नी प्रथा एक सामान्य बात मानी जाती थी। वे लिखते हैं कि तालो गाँव के पुरुष अमीर थे और वे ज्यादा कन्या-मूल्य देकर कई पत्नियाँ ला सकते थे। 1944 में उन्होंने दर्ज किया कि एक व्यक्ति के पास नौ पत्नियाँ थीं। एक व्यक्ति की पाँच पत्नियाँ होना कोई अस्वाभाविक बात नहीं मानी जाती थी। तानी समूह की एक अन्य जनजाति पादाम और मिनियोंग⁹ में प्रचलित इस 'कन्या-मूल्य' के बारे में सचिन रॉय¹⁰ ने लिखा है कि लड़कियों को भी घर की संपत्ति के बतौर ही समझा जाता है। इसीलिए जब उनकी शादी होती है और वह संपत्ति किसी और घर में जाती है तो लड़का पक्ष के लोग इस नुकसान की भरपाई के लिए कुछ मुआवजा देते हैं। यह मुआवजा कोई तय मानक के तहत नहीं होता है बल्कि शादी के प्रस्ताव के समय आपसी बातचीत से तय किया जाता है। यह मुआवजा अचल संपत्ति के रूप में, पशुओं के रूप में या किसी अन्य परिवारिक संपत्ति के रूप में हो सकता है। इन संदर्भों से यह बिल्कुल स्पष्ट हो जाता है कि यह कन्या-मूल्य एक ऐसा सामाजिक विधान है जो तानी समूह की जनजातियों में बहुप्रचलित है।

अब यदि लड़की के घर वाले विवाह तय होने और कन्या-मूल्य लेने के बाद अपनी लड़की का विवाह तयशुदा परिवार में करने से मना कर दें तो उन्हें यह कन्या-मूल्य तो वापस करना ही पड़ेगा, साथ ही उन पर एक सामाजिक जुर्माना भी होगा जिसे समुदाय की पंचायत तय करेगी। यदि विवाह तय होने और कन्या-मूल्य लेने के बाद केवल लड़की मना करती है और उसके परिवार वाले इस 'अस्वीकार' से खुद को अलग कर लेते हैं तो उसके लिए दण्ड-विधान है 'लप्या'।

इस 'लप्या' में होता क्या है? ताई तुगुंग अपने नाटक 'लप्या' की भूमिका में लिखते हैं, "इस प्रथा के अंतर्गत किसी लड़की को शादी के लिए राजी न होने पर एक मोटी लकड़ी के गट्टर को बीच से छेद करके पैर में फंसा दिया जाता है। ऊपर से लोहे की मोटी कील ठोंक दी जाती है, ताकि पैर को निकाला न जा सके। बार-बार भाग जाने की स्थिति में लड़की को गर्भवती होने तक लप्या में बांधकर रखा जाता था"। यानी कि उसके साथ बलात्कार भी किया जाता था। इस अमानवीय प्रथा को साहित्य में दर्ज करने वाले ताई तुगुंग पहले लेखक नहीं हैं। उनसे पहले अरुणाचल प्रदेश के कई लेखकों ने औरतों की इस दारुण स्थिति पर अपनी कलम चलायी है। असमिया भाषा में लिखने वाले अरुणाचल प्रदेश के प्रसिद्ध लेखक स्वर्गीय श्री लुम्मर दाई¹¹ ने 'कन्यार मूल्य' (कन्या या दुल्हन का मूल्य, 1982) नाम से उपन्यास लिखा, जिसमें आदी (अब गालो) जनजाति में बेटे की कीमत लेने की प्रथा के दुष्परिणाम का चित्रण किया गया है। इस उपन्यास का श्री मुनीन्द्र मिश्र ने हिन्दी भाषा में अनुवाद किया है। इस प्रथा पर हिन्दी में सर्वप्रथम श्री जुमसी सिराम¹² ने लिखा है। वे अरुणाचल प्रदेश के जनजातीय समाज के प्रथम हिन्दी लेखक हैं। उन्होंने इस विषय को आधार बनाकर काफी अरसा पहले एक उपन्यासिका लिखी थी जिसका नाम था- 'मेरी आवाज सुनो'। हाल ही में इस उपन्यास का

परिवर्धित संस्करण अनुज्ञा प्रकाशन से प्रकाशित हुआ है।

नाटक 'लप्या' पुस्तक के रूप में तो 2017 में प्रकाशित हुआ लेकिन इसके पहले यह 'समन्वय पूर्वोत्तर' पत्रिका में पहली बार 2009 में और उसके बाद साहित्य अकादमी की द्वैमासिक पत्रिका 'समकालीन भारतीय साहित्य' के पूर्वोत्तर भारत विशेषांक (नवंबर-दिसंबर 2012) में प्रकाशित हुआ था। पत्रिका में प्रकाशित नाटक और पुस्तक के रूप में प्रकाशित नाटक के कुछ दृश्यों और पात्रों में भिन्नता है। पत्रिका में प्रकाशित नाटक में कुल आठ पात्र हैं और सात दृश्य हैं जबकि पुस्तकाकार प्रकाशित नाटक में दस पात्र और दस दृश्य हैं। पुस्तकाकार प्रकाशित नाटक में नायिका का नाम 'यमा' है और गाँव बूढ़ा तमर गाँव का 'जुब' (पुजारी) भी है जबकि पत्रिका में प्रकाशित नाटक में नायिका का नाम 'रीमा' है और गाँव बूढ़ा तमर के अलावा एक अन्य पात्र के रूप में 'जुब' तदक है। पत्रिका में प्रकाशित नाटक में तमर के घर में काम करने वाली एक 'औरत' पात्र है जो पुस्तकाकार प्रकाशित नाटक में नहीं है, उसकी बजाय इसमें 'जिरमिन' नाम की एक पात्र है जो नायिका 'यमा' की सहपाठी है और छात्रावास में उसके साथ रहती है। इसके अलावा पुस्तकाकार प्रकाशित नाटक में 'यमा' के भाई के रूप में 'तेले तले' नाम का भी एक पात्र है। पुस्तकाकार प्रकाशित नाटक में पात्र इस प्रकार हैं- गाम बुरा (गाँव बूढ़ा) तमर- गाँव का मुखिया और तचो के पिताजी, पच्चा तचो- तमर का मूर्ख बेटा, सुलुंग तसी- तमर का गुलाम, तकुम- एक गरीब किसान, तमर के गाँव में शरणार्थी, यमे- तकुम की पत्नी, तेले तले- तकुम का बड़ा बेटा, यमा- तकुम और यमे की बेटी, यपर- एक झगड़ैल विधवा, जुब तदक- गाँव का पुजारी और जिरमिन- यमा की सहेली।¹³

पत्रिका में प्रकाशित नाटक में तमर और तकुम अपनी बातचीत में जनजातीय समाजों में बढ़ रहे धर्मांतरण और ईसाई मिशनरियों के कामकाज पर कुछ टिप्पणी करते हैं। पुस्तक में यह हिस्सा हटा दिया गया है। इसके साथ ही पत्रिका में प्रकाशित नाटक में रीमा (यमा) द्वारा शादी से मना करने के संदर्भ में एक संकेत यह भी दिया गया है कि वह किसी सुलुंग यानि कि दास समाज के लड़के से प्रेम करती है। इसके तीसरे दृश्य में एक संवाद गौरतलब है। रीमा (यमा) कहती है "सुलुंग आदमी नहीं है क्या?" तो इसके जवाब में उसकी माँ यामी (यमे) कहती है कि "आदमी है, सुलुंग आदमी है। लेकिन वो हम लोग का बाजी है, गुलाम है। हमारा नौकर है। हम लोग से छोटा जात है"¹⁴। पुस्तक में यह हिस्सा भी हटा दिया गया है। लेखक ने बातचीत में यह बताया कि उन्होंने विवादों से बचने के लिए ऐसा किया। हालांकि यह करना किसी भी साहित्यिक कृति की गरिमा और अखंडता को भंग करता है। इसके अतिरिक्त पत्रिका में प्रकाशित नाटक का अंत यूँ होता है कि तमर गुस्से में, लप्या दी गयी अपनी बहू रीमा (यमा) का गला काट देता है। इस हिस्से को भी लेखक ने पुस्तक में हटा दिया है। पुस्तक में नाटक का अंत यूँ होता है तमर के अत्याचार से तंग आकर लप्या दी गयी यमा (रीमा) आत्महत्या कर लेती है। लेखक ने लंबे अरसे तक इस नाटक का अरुणाचल प्रदेश के विभिन्न हिस्सों में मंचन किया है। इस दौरान उन्हें कई अप्रिय अनुभव हुए। उनका कहना है कि इन अप्रिय अनुभवों से गुजरने के कारण ही उन्होंने पुस्तकाकार नाटक में कुछ परिवर्तन कर दिया।

नाटक के कथानक की शुरुआत यमे, तले और तकुम के बीच एक बहस से होती है। तले अपने माता-पिता (यानी यमे और तकुम) से इस बात के लिए जिरह करता है कि उसके लिए अब तक पत्नी नहीं लाई गई है। अब चूँकि लड़के की दुल्हन लाने के लिए काफी मूल्य चुकाना पड़ता है और साथ में खाने-पीने की अन्य सामग्री के साथ-साथ पालतू पशु भी देना होता है इसीलिए तकुम के लिए अपने बेटे की शादी करना एक कठिन काम होता है। इसका कारण यह है कि वर्तमान में तकुम अपने गाँव की बजाय एक दूसरे गाँव में शरण लेकर किसी तरह जीवन-यापन कर रहा था क्योंकि उसके पैतृक गाँव में उसके बेटे 'तेले तले' ने चोरी की थी और उसके दंड-स्वरूप तकुम को अपने सभी पालतू पशु जुमाने में देने पड़ गए थे और अपना गाँव छोड़ कर दूसरे

गाँव में शरण लेनी पड़ी थी। इसीलिए उसके पास इतनी सम्पत्ति नहीं थी कि वह तले के लिए पत्नी ढूँढ़ पाए। रोज-रोज की बहस से परेशान होकर तकुम गाँव के मुखिया (गाँव-बूढ़ा) तमर के पास जाता है और उससे अपनी परेशानी व्यक्त करता है। उसी वक्त यपर, तमर के बेटे तचो और उसके नौकर-दास सुलुंग तसी को डाँटते हुए वहाँ पहुँचती है और गाम बुरा (गाँव-बूढ़ा) तमर से उन दोनों की शिकायत करती है। दरअसल तचो ने यपर द्वारा पाली गई मुर्गियों के अंडों को चोरी करके खा लिया था और साथ ही तसी को भी इसमें अपना भागीदार बनाया था।

यपर सिर्फ शिकायत ही नहीं करती बल्कि अपने नुकसान की भरपाई की मांग करती हुई कहती है- “अण्डा का दाम एक बकरी और चोरी का फाईन (जुर्माना) एक गाऊरी (सूअर)”¹⁵। गाम बुरा (गाँव-बूढ़ा) उसकी माँगों को पूरा करने की बात मान लेता है। यपर चली तो जाती है परन्तु तमर का मन दुखी हो उठता है। उसका इकलौता बेटा जिससे उसे काफी उम्मीदें थीं, ऐसी हरकतें करके उसे अक्सर समाज के समक्ष शर्मिदा कर देता है। तचो का मंदबुद्धि होना तमर के मन में उसके भविष्य की चिंता को और बढ़ा देता है। तमर अपने इस दुःख को तकुम से साझा करते हुए कहता है कि- “चब्बीस साल का हो गया है, बच्चा जैसे काम करता है, कबी-कबी तो बहोत गुस्सा लगता है। (दुःख से) मेरा निसानी तो कतम है। ...मेरा रिस्ता, मेरा केती-माला, जंगल-पहार को आगे देकने वाला कोई नई होगा। तमर का कहानी तमर का सात कतम है। एक बच्चा है वो बी ऐसे है हम क्या करेगा।¹⁶ (छब्बीस साल का हो गया है। बच्चा जैसा काम करता है। कभी-कभी तो बहुत गुस्सा आता है। मेरी निशानी तो खत्म है। मेरे रिश्तों, मेरी खेती, माला, जंगल-पहाड़ को आगे देखने वाला कोई नहीं होगा। तमर की कहानी तमर के साथ ही खत्म हो जाएगी। एक ही बच्चा है और वह भी ऐसा है, मैं क्या करूँगा)। तमर की इस चिंता और दुख को जानकर तकुम उसे सलाह देता है कि तचो की शादी कर देनी चाहिए जिससे वह जिम्मेदार इंसान बन सके। तमर बताता है कि जिस भी लड़की से उसकी शादी होती है वह तचो को छोड़कर भाग जाती है। दो लड़कियों ने तचो के साथ ऐसा किया है। तकुम को लगता है कि यही सबसे अच्छा मौका है कि वह अपनी बेटी यमा, जो कि जोराम बस्ती के एक स्कूल में पढ़ रही है, की शादी तमर के बेटे तचो से करने का प्रस्ताव रखे और बदले में तमर से खूब सारी संपत्ति हासिल कर ले। उसने ऐसा ही किया। यह सुनकर तमर एक पल के लिए खुशी से झूम उठता है लेकिन अगले ही पल उसे ख्याल आता है कि कहीं यमा भी अन्य लड़कियों की तरह तचो को छोड़कर चली न जाए। उसकी आशंका को दूर करते हुए तकुम विश्वास दिलाता है कि वह अपनी बेटी को समझा देगा और उसकी शादी तमर के बेटे से ही करेगा। फिर भी तमर संतुष्ट नहीं होता है और गाँव के जुब (पुजारी) को बुलवाकर मुर्गी के कलेजे के द्वारा इस रिश्ते के भविष्य की जांच करता है। इसके बाद वह शुभ मुहूर्त दिखवाता है और रिश्ता तय हो जाता है। तमर, लड़की लेने के बदले में, यानी उसके मूल्य-रूप में बारह मिथुन और खेत की उपजाऊ जमीन देने का वादा करता है।

यमा, जिसका रिश्ता मंदबुद्धि तचो से तय होता है, वह पढ़ी-लिखी, समझदार और अपने भविष्य को लेकर सतर्क लड़की है। पढ़-लिख कर अपने पैरों पर खड़ा होना चाहती है। एक खुशहाल जीवन का सपना मन में लिए वह पढ़ाई कर रही है। उसे इस तय हो चुकी शादी की कोई जानकारी नहीं होती है। पिता के बीमार होने की झूठी खबर देकर उसे स्कूल के छात्रावास से गाँव बुलाया जाता है। घर आने पर यमा को सही वजह का पता चलता है। वह शादी से इंकार कर देती है। विवाह को लेकर यमा की अपने भाई तले से काफी बहस होती है। तले यह सोचता है कि यमा की शादी के बदले में मिले बारह मिथुन और उपजाऊ खेती की जमीन की बदौलत उसकी भी शादी हो जाएगी। पिता तकुम भी यमा को ही गलत ठहराते हैं। बात बढ़ती चली जाती है। यमा आखिरी हद तक विरोध करती है। कहती है “लरका?... दाम... दाम ले चुका है? हम अबी सादी नई

करेगा। तो वापस दे दो। इतना परने के लिए बाकी है। हम अभी सादी नई करेगा”¹⁷ (लड़का? ...दाम...दाम ले चुके हैं? मैं अभी शादी नहीं करूंगी। इसलिए सब कुछ वापस कर दो। पढ़ने के लिए अभी इतना कुछ बचा है। मैं अभी शादी नहीं करूंगी)। जब तकुम उसे धमकी देते हुए यह कहता है कि यदि वह तचो से शादी नहीं करती है तो वह उसे मार डालेगा, वह कहती है “मारो ना मारो, लाठी से नई दाऊ से कात दो”¹⁸ (मारो ना, बिल्कुल मारो, लाठी से नहीं दाव से काट दो)। माँ यमे किसी तरह मामले को संभालती है। लाख विरोध के बावजूद अंत में यमा की शादी गाम बुरा (गाँव-बूढ़ा) के बेटे तचो से हो जाती है। यमा इस विवाह से बहुत नाखुश थी इसलिए वह तमर और तचो के घर से भागने का प्रयास करती है।

उधर यमा की माँ यमे एक अपराधबोध से दबी रहती है। वह अपने पति तकुम को बार-बार ताना मारती है। कहती है “चिल्ला चिल्ला के गूमो ना, सब जानता है, तेरा पास कुच नई ता। ये सब यमा का दाम है दाम”¹⁹ (चिल्ला-चिल्ला कर घूमो ना, सभी जानते हैं कि तुम्हारे पास कुछ भी नहीं था। यह सब तो यमा का दाम है दाम)। जब तकुम शराब के नशे में धुत होकर घमंड में चूर होकर कहता है कि वह बहुत धनी है, उसके पास उपजाऊ खेती है, वह बारह मिथुन का मालिक है तो यमे चिढ़कर उसकी नकल उतारते हुए कहती है “मालिक है, अरे क्या मालिक? गाम बुरा से मिथुन तो ले लिया और हम लोग बदली में कुच बी नई दिया है। सब फिरी में लेके रखा है। गर से यमा को जाने दे समय हम को तो बहोत सरम लग रहा ता। मेरा बेती का गला कितना खाली-खाली ता। ... मा होके एक माला का एक गुती बी देने नई सका है। कोमती-कोमती होने से बी एक दाल असली माला तो देना ता। ताऊ मारता है, दूसरा का सामने बात करने के लिए सरम करो ना। पीके उल्ला-पुल्ला बात करता है”²⁰ (मालिक है, अरे क्या मालिक है? गाँव-बूढ़ा से मिथुन तो हमने ले लिया लेकिन उसके बदले में कुछ भी नहीं दिया। सब कुछ तो मुफ्त में ले लिया है हमने। जब यमा घर से जा रही थी उस वक़्त मुझे तो बहुत शरम लग रही थी। मेरी बेटी का गला कितना सूना-सूना था।... माँ होकर भी माला का एक मनका तक नहीं दे सकी मैं उसे। कम से कम एक असली माला तो देना ही चाहिए था। किस बात का इतना ताव है तुम्हें, दूसरों के सामने बात करने में शर्म करो। शराब पीकर उल्ला-सीधा बात करता है)।

उधर यमा, तमर के घर से भाग जाती है परंतु रास्ते में उसे उसका भाई पकड़ लेता है। वह फिर उसे तमर के घर पहुँचा देता है और धमकी देता है कि आइंदा वह भागने की कोशिश न करे। वह तमर से कहता है कि वह यमा को बांधकर रखे। कुछ दिनों के बाद यमा फिर भागने का प्रयास करती है और पाँच दिनों तक जंगल में छुपी रहती है। भूख-प्यास से उसकी बुरी हालत हो जाती है। इसी बीमार अवस्था में वह अपनी दोस्त जिरमिन के पास स्कूल के छात्रावास में पहुँचती है। लेकिन तमर का बेटा तचो और नौकर तसी उसे जिरमिन के यहाँ ढूँढ़ने पहुँच जाते हैं। मजबूरन उसे वहाँ से फिर भागना पड़ता है। वह जंगल में छुपने की कोशिश करती है लेकिन तचो और तसी उसे ढूँढ़ लेते हैं। वे उसे बांधकर घर लाते हैं। यमा को देखकर तमर गुस्से से पागल हो जाता है। उसी गुस्से में वह एक ‘लप्या’ तैयार करता है और बड़बड़ाता जाता है “बागने से बी कितना बागेगा? मानता है मेरा बेटा बुद्धू है... लेकिन मेरा मितुन को सोचना है... पानी केति को सोचना है... (आवेश में आकर) लप्या में बांद के रकने से पता चलेगा”²¹ (भागने से भी कितना भागेगी? मानता हूँ कि मेरा बेटा बुद्धू है... लेकिन मेरे दिये गए मिथुन के बारे में भी सोचना है... मेरी दी गयी पानी खेती, धान उपजाने की उपजाऊ और समतल जमीन के बारे में सोचना है.... लप्या में बांध कर रखेंगे तब पता चलेगा)। यमा को लप्या में बांध दिया जाता है। इसके बावजूद जब वह आत्मसमर्पण करने को तैयार नहीं होती है तो तमर उसका दंड बढ़ाते हुए कहता है कि “इसे कोई खाना नई देगा। पानी नई देगा। ऐसे ही बात है तो तीक है, हम बी देकेगा तुम केसे नई बेतेगा,

कितना बागेगा और तुम मेरा तचो के लिए जब तक बच्चा जनम नई देगा लप्या में बेतेगा”²² (इसको कोई खाना नहीं देगा। पानी नहीं देगा। अगर ऐसी ही बात है तो ठीक है, मैं भी देखूंगा कि तुम कैसे नहीं रहोगी घर में, कितना भागोगी और जब तक तुम मेरे बेटे तचो के लिए बच्चा पैदा नहीं करोगी तब तक तुम्हें इसी तरह लप्या में ही रहना पड़ेगा)।

यमा आखिरी समय तक संघर्ष करती है पर कोई रास्ता नहीं सूझने पर आत्महत्या कर लेती है। उसकी माँ यमे रोती-बिलखती है। अपने पति को ताना मारते हुए कहती है “बेती को बेचके दोनी होगा सोचा ता ना? तुम कितना गरीब हो गया है.... तकुम एक काम करो, हमको बी मार दो। हम को बी बेच दो”²³ (बेटी को बेचकर तुमने सोचा था कि तुम धनी हो जाओगे न...? तुम और भी ज्यादा गरीब हो गए। तकुम, एक काम करो कि मुझे भी मार डालो। मुझे भी बेच दो)। यमा की दोस्त जिरमिन रोती है। उधर तमर और उसका परिवार यमा के शव के साथ भी संवेदनहीनता से पेश आता है। तमर कहता है कि “तचो, फांसी लगाके मरने वाला को मत छुओ”²⁴, अच्चा के लिए बोला ता अपना मर गया, जहां-तहां माती में गार दो”²⁵ (तचो, फांसी लगाकर मरने वाले को मत छुओ। उसके अच्छे के लिए बोला तो मेरी बात न मानकर वह खुद ही मर गयी। उसे कहीं भी बुरी जगह ले जाकर मिट्टी में गाड़ दो)।

आखिर में नाटककार लिखता है-

*मन पंछी जब, उड़ना चाहा,
फांस लिया, पिंजड़े वालों ने,
तोड़ चली, बंधन को जब वो,
अहम के मारों ने फिर पकड़ा,
मारा काटा, मिटा दिया,
गलती क्या थी उसकी जिसने
अपने मन से जीना चाहा.....
माँ के कोख से ऐसा जन्मा है।
जग के रीत में जी नहीं पाते हैं।।
हम तो जैसे अंधेरी रात हैं।
रात जिसकी कोई सवेरा नहीं है।²⁶*

इसी के साथ नाटक खत्म हो जाता है। नाटक के आखिरी में गीत के माध्यम से नाटककार यही सवाल करता है कि आखिर अपनी ही बनाई दुनिया में मनुष्य अपनी इच्छा से क्यों नहीं जी सकता? हमने क्यूंकर ऐसी रात बना ली है खुद के लिए जिसका कोई सवेरा नहीं है? कैसे और किस रास्ते आएंगी वह पहली किरण जो अपने साथ लाएंगी मनुष्य की आजादी का परवाना। यह प्रकृति का नियम रहा है कि मादा और नर एक साथ मिलकर नई पीढ़ी का आरम्भ करते हैं। लेकिन इस सहज और नैसर्गिक साथ को नियंत्रण में करने के लिए तमाम संस्थाएं दुनिया भर के समाजों में खड़ी की गयी हैं। इन संस्थाओं ने नियम-कानूनों का एक बड़ा पुलिंदा तैयार कर दिया और फिर इन नियमों का शिकार भी मनुष्य ही हो गया। ये नियम कमजोर वर्गों के लिए शामत बन गए। यदि दो व्यक्ति अपनी सहमति से जीवन के नए अध्याय की शुरुआत करते हैं तो इसका सकारात्मक प्रभाव उनकी जिन्दगी पर पड़ता है। यह सकारात्मक प्रभाव केवल उन दो लोगों तक सीमित नहीं रहता बल्कि समाज पर भी इसका वैसा ही असर पड़ता है। लेकिन नियम-कानूनों की पोथियाँ सबसे पहले मनुष्य की इसी आजादी पर हमला करती हैं। जब किसी को उसकी इच्छा के विपरीत इस रिश्ते में बांध दिया जाता है तो यहीं से अन्याय की शुरुआत होती है।

इस नाटक की भाषा की व्यंजक क्षमता पर बात करने से पहले इसकी शैली पर बात करना आवश्यक है। ताई तुगुंग ने इसे हिन्दी की 'अरुणाचली शैली' में लिखा है। हम सभी भाषा की मूलभूत विशेषताओं से परिचित हैं। जो भाषा जितनी ज्यादा प्रचलित होती है वह उतनी ही लंबी उमर और उतना ही व्यापक विस्तार पाती है। जो समाज अपना दायरा जितना ही छोटा रखता है, वह उतनी ही जल्दी खत्म हो जाने या खो जाने की संभावनाओं से घिरा रहता है। यही बात भाषा पर भी लागू होती है। यहाँ यह भी स्पष्ट कर दें कि दायरा बढ़ा करने का मतलब 'एशिमिलेशन' नहीं है बल्कि इसे ग्रहणशीलता के संदर्भ में देखा जाना चाहिए। हिन्दी के मध्यकालीन संत-कवि और भाषा के मामले में बेहद प्रभावशाली और प्रयोगशील कवि कबीर कहते हैं कि 'भाखा बहता नीर'। भाषा तो बहते हुए पानी की तरह है। यदि उसे रोक देंगे तो ठहरे हुए पानी की तरह वह सड़ जाएगी। वह जितना बहेगी उतने ही नए रूपों को प्राप्त करेगी और विकसित होगी। भारत की जनभाषाएँ नए-नए रूपों में खुद को ढालती चली गईं और आज भी उनका वंश कायम है और न सिर्फ कायम है बल्कि पूरी ठसक के साथ हमारे बीच मौजूद है। हिन्दी और उसकी जनपदीय भाषाओं का साहित्य खूब विकसित हुआ क्योंकि उन्होंने अपने दरवाजे सबके लिए खोल रखे थे। यही हिन्दी जब अन्यान्य माध्यमों से (सेना, अध्यापक, सरकारी नीतियों, टेलीविजन, रेडियो आदि) अरुणाचल पहुँची तो इसने एक अरुणाचली-हिमालयी रूप धर लिया और खूब मजे से विकसित हुई।

पत्रिका में प्रकाशित नाटक के साथ एक टिप्पणी लगी हुई है। टिप्पणीकार ने नाटक की भाषा पर एक सारगर्भित टिप्पणी की है। उनके अनुसार "इसका लेखन उन्होंने (लेखक ने) जान-बूझकर हिन्दी भाषा के उस रूप में किया है, जिसका व्यवहार अरुणाचल प्रदेश के लोगों, विशेषकर जनजातीय लोगों द्वारा किया जाता है। मानक हिन्दी के जानकारों को यह जानकार आश्चर्य होगा कि अरुणाचल में हिन्दी भाषा का वह स्वरूप विकसित हो चुका है, जो हिन्दी भाषा के परिनिष्ठित दायरे में नहीं आता, किन्तु अरुणाचल का आम जन इसी के सहारे अपने हृदय की सही अभिव्यक्ति को संभव मान रहा है। हिन्दी भाषा के व्यापक और सार्वदेशिक व्यक्तित्व की दृष्टि से अरुणाचली हिन्दी को जानने समझने की जरूरत है"। टिप्पणीकार की यह टिप्पणी इस बात का सहज स्वीकार है कि हिन्दी का यह रूप भले ही परिनिष्ठित हिन्दी से भिन्न है लेकिन यह हिन्दी का विस्तार ही करता है। हालाँकि टिप्पणीकार ने यह भी स्वीकार किया है कि पत्रिका में प्रकाशित यह नाटक "हिन्दी जानने वालों के लिए यह बोधगम्य भाषा में प्रस्तुत है"²⁷। मतलब यह कि रचनाकार ने तो इसे अरुणाचली हिन्दी में ही लिखा लेकिन संपादक ने इसकी भाषा को अरुणाचली हिन्दी और परिनिष्ठित हिन्दी के मेल-जोल में प्रस्तुत किया है।

पुस्तक के रूप में प्रकाशित नाटक की भाषा पूरी तरह अरुणाचली हिन्दी है। हिन्दी के इस स्वरूप में लिंगभेद सामान्यतः खत्म हो गया है। इसका कारण शायद यह है कि जनजातीय भाषाओं में लिंगभेद बहुत प्रमुखता से मौजूद नहीं है। दूसरा कारण यह है कि लिंगभेद की अधिकता के कारण हिन्दी के बोलने में जो कठिनाई आती है, गैर हिन्दी-भाषी मनुष्य, हिन्दी भाषा के लिंगभेद की जटिलता हटाकर अपने बोलने के लिए आसानी कर लेता है। उदाहरण के लिए तमर द्वारा कहे गए एक संवाद को देखिये "एक लरकी होके ऐसे बोलेगा?"²⁸ (लड़की होकर ऐसे बात करेगी?)।

इस अरुणाचली हिन्दी में महाप्राण ध्वनियों को सामान्य तौर पर आराम दे दिया जाता है, मसलन 'ख' को आराम देकर 'क' से ही दोनों का काम लिया जाता है। उदाहरण के लिए 'खाना' को 'काना' कहा जाता है और 'खरीद' को 'करीद'। ऐसे ही 'नहीं' को 'नई' कहा जाता है, 'ठीक' को 'तीक' और 'बैठना' को 'बेतना' कहा जाता है। बोलने में कम से कम शब्दों का प्रयोग करके अधिक से अधिक भावों को अभिव्यक्त किया जाता है। इसके कारण कई हिन्दी शब्दों का अर्थ विस्तार हो जाता है। वे अलग-अलग परिस्थितियों के अनुरूप

कई अर्थों को व्यंजित करते हैं। हिन्दी बोलते समय जनजातीय समाज का साधारण मनुष्य, कहने वाले वाक्य को पहले अपनी भाषा में सोचता है, फिर उसका हिंदीकरण करता है और तब उसे बोलता है। इस प्रक्रिया में कई बार उसे पर्याप्त हिन्दी शब्द नहीं मिलते हैं इसीलिए वह हिन्दी के कम शब्दों से ही अधिक अभिव्यक्ति की कोशिश करता है। इसी प्रक्रिया में यह अरुणाचली हिन्दी विकसित हुई है। इसका एक उदाहरण देख सकते हैं। जब यमा, तमर के घर से भाग जाती है तो उसे दूढ़ते हुए सुलुंग तसी, यमा के मायके आता है। वहाँ, उसकी और यमा की माँ 'यमे' की बातचीत होती है। तसी के यह कहने पर कि यमा जंगल में छुपी होगी, यमे कहती है कि वह इतने ज्यादा समय तक बिना खाये-पिये जंगल में कैसे छुप कर रहेगी। तब तसी जवाब देता है "एसे बागने बाला लोग को नमक मिलने से हो जाता है। नमक का सात जंगल का पत्ता खाके बेता है और आंक फूलके बेतता है"²⁹ (इस तरह से भागने वाले लोगों को बस नमक मिलने से उनका काम चल जाता है। वे नमक के साथ जंगल का पत्ता खाकर रह लेते हैं और उल्टा-सीधा पत्ता खा लेने से उनकी आँखें फूल जाती हैं और फूली आँखों के साथ वे जंगल में रहते हैं)।

ताई तुगुंग ने इन्हीं विशिष्ट विशेषताओं वाली अरुणाचली हिन्दी में यह नाटक लिखा है। ध्यान से देखने पर पता चलता है कि लेखक ने अरुणाचली हिन्दी की भी एक बोली-विशेष का प्रयोग किया है जो न्यीशी जनजाति के गांवों में बोली जाती है। लेखक ने स्वीकार किया है कि "शुद्ध हिन्दी के स्थान पर मैंने हिन्दी की अरुणाचल वाली शैली में लिखने का प्रयोग किया है। स्त्रीलिंग-पुल्लिंग से विरहित अरुणाचली हिन्दी, जनजातीय जीवन के बेहद करीब है। हिन्दी यहाँ की संपर्क भाषा है। यहाँ मैं जिस भाषा का प्रयोग कर रहा हूँ, वह यहाँ की देहाती हिन्दी है। यह देखा गया है कि यहाँ के लोग पहले मातृबोली में सोचते हैं, फिर उसका तुरंत हिन्दी अनुवाद कर लेते हैं। व्याकरण का बंधन इनको पसंद नहीं है। बस बात समझ में आनी चाहिए। उसी रूप में मैंने भी कह दिया है। कई जगहों पर स्थानीय शब्दों का प्रयोग किया गया है, क्योंकि वे शब्द हिन्दी संस्कृति में हैं ही नहीं, सिर्फ जनजातीय जीवन में हैं"³⁰। हिन्दी के सामान्य पाठकों को यह अरुणाचली हिन्दी थोड़ा अजीब और दुरूह लग सकती है लेकिन इससे हिन्दी के रूपों और इलाके का विस्तार ही होता है। भाषा की यह विशिष्टता इस नाटक को और भी रुचिकर और महत्वपूर्ण बना देती है।

पत्रिका में प्रकाशित नाटक में कुछ चरित्र इकहरेपन का शिकार हैं। उदाहरण के लिए रीमा (यमा) की माँ जिसका नाम यामी (यमे) है, वह रीमा की जबर्दस्ती शादी के पक्ष में है। उसे अपनी बेटी के साथ सहानुभूति नहीं है। लेकिन पुस्तकाकार प्रकाशित नाटक में यमे (यामी) का चरित्र ज्यादा गंभीर और यथार्थपरक है। वह अपनी बेटी के पक्ष में रहती है लेकिन पति के दबाव में वह यमा (रीमा) की शादी गाँव बूढ़ा तमर के मूर्ख बेटे के साथ करने को तैयार हो जाती है। इसके बावजूद उसका मन हर पल रोता रहता है। वह खुद को और अपने पति को भी कोसती रहती है। इस पात्र के माध्यम से नाटककार ने एक माँ की लाचारी को बहुत मार्मिकता से व्यक्त किया है। नाटक के लगभग सभी पात्रों के भीतर सामान्य मानवीय अंतर्विरोध देखने को मिलता है। नाटककार की यही खूबी है कि उसने पात्रों को एक व्यक्ति-विशेष के रूप में नायक या खलनायक बनाने की बजाय परिस्थितियों और सामाजिक-सांस्कृतिक दोषों को अपना लक्ष्य बनाया है। पुरुषवादी संस्कृति और मान्यताओं ने एक तरफ जहाँ तमर को जकड़ रखा है, वहीं दूसरी तरफ यमे भी इसकी शिकार है। सुलुंग तसी के दिलो दिमाग में गुलामी और भय इस कदर जम चुका है कि वह यमा की आजादी से कोई तादात्म्य ही नहीं बिठा पाता है। एक तरफ यमा जैसी पात्र है जो अपने सपनों को जीना चाहती है, जो चाहती है कि उसे किसी पर निर्भर न रहना पड़े और वह अपनी जिंदगी की मालिक खुद हो तो दूसरी तरफ जरमिन जैसे पात्रों को भी नाटककार सामने लाता है जो यह मानती हैं कि गुलामी ही औरत की नियति है। मनुष्य कैसे अपने ही बनाए समाज, संस्कृति, नियम-कानूनों का गुलाम बन गया है, नाटक के पात्र इस बात को बखूबी स्पष्ट करते

हैं। यही कारण है कि ये पात्र सजीव लगते हैं। इनके भीतर कोई अलौकिकता नहीं है और यह लौकिकता ही इन्हें महत्वपूर्ण बनाती है।

यह नाटक न सिर्फ अरुणाचली हिन्दी साहित्य के लिए एक मूल्यवान कृति है बल्कि यह समूचे हिन्दी साहित्य के लिए बहुत महत्वपूर्ण रचना है। इसके माध्यम से हिन्दी की दुनिया के सामने नए सामाजिक यथार्थ प्रकट होते हैं और उनकी सांस्कृतिक जटिलताएँ भी दिखाई देती हैं। जनजातीय समाजों के आंतरिक पहलुओं को यह नाटक उद्घाटित करता है किन्तु यह उद्घाटन किसी दुर्भावना की बजाय एक संभावना के साथ किया गया है जिसमें नारी की मुक्ति की कामना और इस माध्यम से मनुष्य मात्र की मुक्ति की कामना को अभिव्यक्त किया गया है।

संदर्भ एवं टिप्पणी :

1. ताई तुगुंग के तीन अप्रकाशित नाटक भी हैं जिनमें से दो नाटकों के कुछ हिस्सों का उन्होंने मंचन भी किया है। ये नाटक हैं- 'जङ्गले आने', 'दोन्यी याई चुमजी' और 'उपाय नहीं है'। पहले दो नाटकों में उन्होंने तानी समाज के मिथकों को आधार बनाकर उनकी वर्तमान प्रासंगिकता को अभिव्यक्त किया है। तीसरा नाटक अरुणाचल प्रदेश की राजनीतिक व्यवस्था पर एक व्यंग्य है। इसके अलावा उन्होंने तीन नुक्कड़ नाटक भी लिखे हैं और उनका प्रदर्शन काफी सराहा गया है। ये नुक्कड़ नाटक हैं- 'शिक्षा का इतिहास', कानी (ताङ्सा जनजाति की भाषा में कानी का मतलब अफीम होता है। यह नुक्कड़ नाटक जनजातीय समाज में पसर रही ड्रग और अफीम की आदत को केंद्र में रखकर लिखा गया है।) और 'जागो ग्राहक'।
2. अरुणाचल प्रदेश को केंद्र में रखकर पहली फिल्म महान संगीतकार भूपेन हजारिका ने बनाई थी। इसका नाम था- 'मेरा धरम मेरी माँ'। इस फिल्म को लिखा था नाबाम टाटा ने। 1976 में बनी इस फिल्म के लिए भारत सरकार द्वारा आर्थिक सहायता दी गयी थी।
3. तानी समूह की जनजातियों में प्रमुख हैं- न्यीशी, आदी, गालो, तागिन और आपातानी। ये अरुणाचल प्रदेश के मध्य हिस्से में रहती हैं। इनके एक तरफ बौद्ध धर्म को मानने वाली जनजातियाँ रहती हैं तो दूसरी तरफ मिशमी हिस्से में मिशमी जनजाति। ये जनजातियाँ अपना पूर्वज तानी नाम के आदिपुरुष को मानती हैं। ये दोन्यी-पोलो की अभ्यर्थना करती हैं। दोन्यी अर्थात् सूर्य माता और पोलो अर्थात् चन्द्रमा।
4. हिन्दी के जाने-माने पत्रकार और लेखक राजकिशोर ने आज के प्रश्न नाम से एक पुस्तक-शृंखला संपादित की थी जिसके अंतर्गत कई सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक मुद्दों पर विचारात्मेक लेख पुस्तकाकार प्रकाशित हुए थे। उसी शृंखला की एक पुस्तक थी- 'स्त्री, परंपरा और आधुनिकता'। इसी में प्रकाशित लेख 'क्यों बचा रहे यह परिवार' की लेखिका कात्यायनी ने विवाह संस्था के मुद्दे पर कुछ गंभीर प्रश्न उठाए हैं।
5. वेरियर एल्विन (1902-1964) एक अभूतपूर्व प्रतिभा से सम्पन्न मानवशास्त्री थे। वे डोवर, ब्रिटेन में जन्में थे और उनके पिता अफ्रीकी देश सिएरा लियोने के बिशप थे। 1927 में वे एक मिशनरी पादरी के रूप में भारत आए लेकिन जल्दी ही उनका संपर्क भारतीय स्वाधीनता आंदोलन के नेताओं से हो गया। वे महात्मा गांधी से बहुत प्रभावित हुए। जब उन्होंने धर्मांतरण का विरोध किया तो उनका पादरी का प्रमाणपत्र रद्द कर दिया गया। आजादी के बाद एल्विन एक भारतीय नागरिक बनकर भारत में रहे। उन्होंने अपना पूरा जीवन आदिवासी समाजों का अध्ययन करने और उनके हित में काम करने में लगा दिया। मध्य भारत के आदिवासियों पर और उत्तर-पूर्व के आदिवासी समाजों पर उन्होंने कई पुस्तकें लिखीं। भारत के पहले प्रधानमंत्री जवाहरलाल नेहरू ने उन्हें आदिवासी मामलों का सलाहकार नियुक्त किया था और उन्हें यह जिम्मेदारी दी कि वे 'नेफा' (वर्तमान अरुणाचल प्रदेश) के लिए एक विस्तृत योजना प्रस्तुत करें। इसी काम को करते हुए एल्विन ने अपनी महत्वपूर्ण किताब 'ए फिलॉसफी फॉर नेफा' लिखी। इसके 'सोशल ऐम इन नेफा' नामक अध्याय में पृष्ठ 229 पर वे लिखते हैं "What is a slave? He is someone who is the property of another person and entirely

subject to him. He has to live with and work for someone else, often (at least at first) against his will. His children have the same fate and they, like him, can be bought and sold. People became slaves for a number of reasons. They were captured in war. They were purchased. They were used to repay a debt. Many were born slaves. Sometimes a man became a slave because he had committed a serious offense against the community and could not afford the fine demanded. The Sullungs are almost a slave tribe".

6. इसे निश्चित ही श्रम के साथ जोड़कर देखा जाना चाहिए। अरुणाचल प्रदेश की जनजातियों में महिलाओं के हिस्से में ज्यादा श्रमपूर्ण कार्य होते हैं। हालांकि ध्यान से देखें तो दुनिया के हर समाज में स्त्री के हिस्से में ही सबसे ज्यादा श्रम आता है। अब, जब वे श्रमपूर्ण कार्यों की बड़ी हिस्सेदार हैं तो निश्चित ही उनके जाने या आने से परिवार को फर्क पड़ता है। इसके साथ ही संतानोत्पत्ति और वंश वृद्धि का परिपेक्ष्य तो है ही।
7. मिथुन या मितुन को गयाल समझिए। संभवतः जंगली 'गौर' को जब पालतू बनाया गया तो वह समय के साथ इस रूप में सामने आया। यह भी संभावना व्यक्त की गयी है कि यह 'गौर' और किसी पालतू पशु मसलन गाय के संकर से पैदा हुआ। यह उत्तर-पूर्व के हिमालयी इलाकों के निचले हिस्सों में, म्यांमार और चीन के यूनान प्रोविन्स में बहुतायत से पाया जाता है। रहता तो जंगल में है लेकिन हर मिथुन का कोई न कोई मालिक होता है जिसके घर वह समय-समय पर अपनी शारीरिक आवश्यकताओं के लिए नमक चाटने आता है। उसका मुख्य उपयोग त्योहारों पर बलि देने के लिए किया जाता है। उसका मांस एक जरूरी और रुचिकर खाद्य-पदार्थ है।
8. क्रिस्टोफ वॉन फ्यूर हेमेन्द्रोफ (Christoph von Furer-Haimendorf, 1909-1995), लंदन विश्वविद्यालय में एशियन एंथ्रोपोलोजी के प्रोफेसर थे। वे आस्ट्रिया के रहने वाले थे। विएना विश्वविद्यालय से पीएचडी करने के बाद वे 1936 में अपने फील्ड वर्क के लिए नागा हिल्स में आए थे। करीब चार दशकों तक उन्होंने भारत के उत्तर-पूर्वी हिस्से को अपने अध्ययन का केंद्र बनाया। इस विषय पर उनकी कई पुस्तकें प्रकाशित हैं। उन्होंने भारत के अन्य जनजातीय समाजों पर भी विपुल शोध कार्य किया है। उनकी पुस्तक 'भारत की जनजातियाँ: अस्तित्व के लिए संघर्ष' (TRIBES OF INDIA : The struggle for survival) के अध्याय 'अरुणाचल प्रदेश में परिवर्तन और विकास' (Change and Development, Arunachal Pradesh) में विस्तारपूर्वक इस विषय पर लिखा है। इस पुस्तक के पृष्ठ 306 पर वे लिखते हैं कि "Yet there has probably been a considerable influē of women born else-where, for the men of Talo were rich and could marry many wives by paying high bride-prices. Even in 1944 there was a man who had nine wives, and men with five wives were not unusual in Talo."
9. अब ये सभी एक सामूहिक सामाजिक पहचान 'आदी' के तहत एकीकृत हैं।
10. सचिन रॉय, नेफा प्रशासन (वर्तमान अरुणाचल प्रदेश) में सांस्कृतिक शोध अधिकारी (Cultural Research Officer) थे। उन्होंने करीब चार वर्षों के परिश्रम के बाद एक शोध-पुस्तक तैयार की, जिसका नाम था- 'पादाम-मिनियोंग संस्कृति के पहलू' (ASPECTS OF PADAM MINYONG CULTURE)। 1960 में पहली बार प्रकाशित हुई इस पुस्तक का प्राक्कथन प्रसिद्ध मानवशास्त्री और नेफा के विशेष जानकार वेरियर एल्विन ने लिखा है। इस पुस्तक के 'सामाजिक जीवन' (Social Life) नामक अध्याय में तानी समूह की इन जनजातियों की विवाह पद्धति पर लिखा गया है। सचिन रॉय इस पुस्तक के पृष्ठ 202 पर लिखते हैं "Every girl is considered an asset to the family to which she belongs. So, depriving a family of a girl by taking her away in marriage has to be compensated by payment, commensurate with the status of the family and the personal belongings of the girl, such as tadaks. This payment of the bride-price is known as are. This is no fixed lumpsum payment settled at the time of proposal or marriage either in cash, household property or domestic animals."
11. मेबो सब डिवीजन के सिलुक गाँव में जन्में लुम्पर दाई एक यशस्वी साहित्यकार थे। उन्होंने असमिया भाषा

- में कई रचनाएँ लिखीं। 1961 में उनका पहला उपन्यास प्रकाश में आया जिसका नाम था 'पहाड़ोंर हिले हिले' (पहाड़ों की चट्टानों के बीच)। उनकी अन्य रचनाएँ हैं- 'पृथ्वीर हाहीं' (पृथ्वी की मुस्कान, 1963) 'मोन आरू मोन' (मन से मन, 1968), 'उदायांचालोर साधु' आदि।
12. जुमसी सिराम मध्य अरुणाचल के एक महत्वपूर्ण शहर आलो से कुछ दूर स्थित तादिन गाँव में रहते हैं। जुमसी पेशे से किसान हैं और उन्होंने हिन्दी की औपचारिक शिक्षा प्राप्त नहीं की है। हिन्दी के प्रति अपने लगाव के कारण उन्होंने स्वाध्याय करके ज्ञानार्जन किया और हिन्दी में साहित्य-लेखन किया है।
 13. लप्या, ताई तुगुंग, ताई तुगुंग द्वारा प्रकाशित, 2017, पृ. 05
 14. लप्या, ताई तुगुंग, समकालीन भारतीय साहित्य, पूर्वोत्तर भारत विशेषांक, अंक- 164, नवंबर-दिसंबर 2012, साहित्य अकादमी दिल्ली द्वारा प्रकाशित, पृ. 124.
 15. लप्या, ताई तुगुंग, ताई तुगुंग द्वारा प्रकाशित, 2017, पृ. 19.
 16. लप्या, ताई तुगुंग, ताई तुगुंग द्वारा प्रकाशित, 2017, पृ. 21-22.
 17. लप्या, ताई तुगुंग, ताई तुगुंग द्वारा प्रकाशित, 2017, पृ. 35.
 18. लप्या, ताई तुगुंग, ताई तुगुंग द्वारा प्रकाशित, 2017, पृ. 37.
 19. लप्या, ताई तुगुंग, ताई तुगुंग द्वारा प्रकाशित, 2017, पृ. 43.
 20. लप्या, ताई तुगुंग, ताई तुगुंग द्वारा प्रकाशित, 2017, पृ. 43-44.
 21. लप्या, ताई तुगुंग, ताई तुगुंग द्वारा प्रकाशित, 2017, पृ. 53.
 22. लप्या, ताई तुगुंग, ताई तुगुंग द्वारा प्रकाशित, 2017, पृ. 56.
 23. लप्या, ताई तुगुंग, ताई तुगुंग द्वारा प्रकाशित, 2017, पृ. 58.
 24. अरुणाचल प्रदेश के तानी जनजातीय समूह में यह माना जाता है कि यदि कोई मनुष्य अस्वाभाविक मौत मरा है तो उसके शव को गाँव में या उसके आसपास नहीं गाड़ना चाहिए। अक्सर ऐसे शवों को किसी तंग दर्रे या अनजानी जगह पर गाड़ा जाता है।
 25. लप्या, ताई तुगुंग, ताई तुगुंग द्वारा प्रकाशित, 2017, पृ. 57
 26. लप्या, ताई तुगुंग, ताई तुगुंग द्वारा प्रकाशित, 2017, पृ. 57-58
 27. लप्या, ताई तुगुंग, समकालीन भारतीय साहित्य, पूर्वोत्तर भारत विशेषांक, अंक- 164, नवंबर-दिसंबर 2012, साहित्य अकादमी दिल्ली द्वारा प्रकाशित, पृ. 117.
 28. लप्या, ताई तुगुंग, ताई तुगुंग द्वारा प्रकाशित, 2017, पृ. 56.
 29. लप्या, ताई तुगुंग, ताई तुगुंग द्वारा प्रकाशित, 2017, पृ. 45.
 30. लप्या, ताई तुगुंग, ताई तुगुंग द्वारा प्रकाशित, 2017, पृ. 04.



भाइट हाउस

○ एस. तरंगिणी

“भाइट हाउस किधर पड़ेगा भाई।”

परेशान हाल रामदहिन सिंह ने ऑटो वाले से पूछा। इस शहर के लिए वह नया नहीं था, बल्कि उसे ‘भाइट हाउस’ जाने की कभी जरूरत नहीं पड़ी थी।

“कागजी मोहल्ले से आगे लाइन बाजार रोड में।”

स्टेशन की सवारी समझ उम्मीद से देख रहे ऑटो चालक को निराशा हुई। वह आगे बढ़ गया। जून के महीने में कोर्ट-कचहरी, स्कूल, मॉरनिंग होने से दस बजे के बाद सवारी मिलनी मुश्किल होती है। वह टकटकी लगाये तिराहे पर आ रहे लोगों को स्टेशन-स्टेशन चिल्लाकर आमंत्रण देने लगा।

रामदहिन सिंह अंतिम उम्मीद लेकर यहाँ आया था। सक तो उसे तभी हो गया था, जब बिचवान ने बताया कि लड़का का रिजल्ट ए.एस.एम. में आ गया है। पढ़ने में तेज जानकर ही वहाँ बात चलाई थी। शादी के बाद रिजल्ट आया होता तो कितना अच्छा होता। रामदहिन था तो किसान पर उसके कई संगतिया मास्टर थे, जिनके साथ उसका उठना-बैठना था। उसे लगने लगा था कि नौकरी, खेती-किसानी से कहीं ज्यादा सम्मानित पेशा है। चाहे वह चपरासी की ही नौकरी क्यों न हो !

‘शुरुआत में एकाध नौकरी वाले लड़के के पास अपनी बेटी का रिश्ता लेकर गया था, पर बात न बन सकी। एक ने तो देहात की लड़की से शादी न करने का टका सा जवाब दे दिया। दूसरे ने इतनी बड़ी रकम मांगी कि, वह अपनी पूरी जमीन भी बेच देता तो रकम कम पड़ जाती। इस असफलता के बाद उसने दूसरी तरकीब सोची। ऐसे वर की तलाश करने लगा जो खेतिहर परिवार से हो, पर पढ़ने-लिखने में तेज हो। नौकरी पा लेने की संभावना हो। हालांकि यह जुआ खेलने जैसा था। अगर लड़के को नौकरी नहीं होती तो वह खेती के लायक भी नहीं रहता।

बैरामपुर के लड़के के बारे में उसी के बिरादरी के बिचवान ने बताया था। लड़के वाले के घर पचिसियों चक्कर लगाने के बाद बात कुछ आगे बढ़ी, लेकिन ए.एस.एम. में रिजल्ट आने से कुटुम ने पैतरा बदल लिया, कहने लगे की लड़का और आगे पढ़ना चाहता है। शगुन के रुपये भी लौटा दिये। बिरादरी के कई सम्मानित लोगों के पास जाकर अपनी व्यथा सुनाई। कुछ ने रामदहिन का पक्ष लेकर लड़के के घर जा कर दवाब बनाया पर बात नहीं बनी। एक ने उसे भाइट हाउस जाने की सलाह दी।

‘भाइट हाउस’ नजरगंज के स्थापित नेता का घर है। कहा जाता है कि अपराध जगत के कई मोकाम पार

करके यहाँ तक पहुँचे हैं। पच्चीस साल की उम्र में पहली बार बड़ा चुनाव जीता।

चर्चा में आये नजरगंज के एस.पी. पर गोली चलाने के कारण। उन दिनों चुनाव में ‘बूथ छपाई’ आम बात थी। एस.पी. को जब वायरलेस पर बूथ लूटने की खबर मिली तो अकेले ही निकल पड़े। बूथ लूटेरों का पीछा किया, पीछा ऐसा किया कि हफीजुर्र अंसारी की जान पर बन आई। गोलीबारी में एस.पी. और हफीजुर्र अंसारी दोनों बाल-बाल बचे। एस.पी. पर तो गोली जान बचाने के लिए चलाई थी पर यह घटना हफीजुर्र अंसारी के जीवन में वरदान सिद्ध हुआ। वह चुनाव जीत गया। एस.पी. का तबादला हो गया। इसके बाद पीछे मुड़कर नहीं देखा। हफीजुर्र से ‘हजूर अंसारी’ जाना जाने लगा। इलाके का बड़ा से बड़ा चुनाव जीता। अब लोग अदब से उसे ‘हजूर’ कहते हैं।

रामदहिन सिंह ‘भाइट हाउस’ पहुँचकर किसी पहचान वाले को खोजने लगा। जून की तपती गर्मी में भी मेले जैसे नजारा था। लोहे के गेट के अन्दर बड़ा बंगलानुमा नया मकान, सामने लॉन। कहा जाता है कि ‘भाइट हाउस’ का गेट कभी बंद नहीं होता। कोई कभी भी अपनी फरियाद लेकर यहाँ आ सकता है। लॉन में सौ-डेढ़ सौ मोटर साइकिलें लगी थीं। उसी अनुपात में लोग आसपास थे। गेट के अन्दर चारपहिया गाड़ी लाने की परंपरा नहीं थी कोई रोक नहीं था, पर सम्मान में लोग बाहर उतरकर पैदल जाते। गर्मी से बेहाल लोग पेड़ों की छांव में, बरामदे में और बड़े कमरों के अन्दर बैठे थे। बाहर भी बैठने, ठंडे पानी, शैचालय की अच्छी व्यवस्था थी। उसे जलाली पीर बाबा के मजार का स्मरण हो आया जो गांव के दक्षिणी सिवाना पर था। सैकड़ों लोग प्रेत-मुक्ति और इबादत के लिए वहाँ जाते हैं। बिना कोई जाति, धर्म, बंधन के।

“कहाँ आइल बानी बाबू साहब”

रामदहिन ने पीछे मुड़कर देखा तो फकीरा बिन्द खड़ा था। बगल के पंचायत के मुखिया जी का सिपहसलार। उससे कोई खास परिचय नहीं था। ऐसे ही किसी व्यक्ति की तलाश में था वह, जो उसकी समस्या को हजूर तक पहुँचा दे, पर अपने काम के लिए फकीरा उसे उपयुक्त पात्र नहीं लगा।

“मुखिया जी कहाँ बाड़े”

“बनारस गईल बाड़े, हजूर से कोई काम रहे का।”

फकीरा ‘बिन्द’ होकर भी बड़ा होशियार था। अपने पंचायत की राजनीति पर उसकी पैनी नजर थी। पंचायत के सभी गांवों के टोलों और जाति के अनुसार वोटों की संख्या में कहाँ किस टोले के किस जाति ने मुखिया जी को कितना वोट दिया, यह जबानी याद था। जहाँ मुखिया जी की पहुँच नहीं थी, वहाँ का भी वह विश्लेषण कर देता था कि अमूक ने क्यों उन्हें वोट दिया या नहीं दिया। यही कारण था कि मुखिया जी उससे सहमति लिये बिना कोई निर्णय नहीं लेते। दोनों ही निपट थे। पढ़े-लिखे बुद्धिमान लोगों से ज्यादा विश्वास फकीरा बिन्द पर करते थे।

रामदहिन उसके पंचायत का नहीं था, पर ‘हजूर’ के शरण में आने वाले सभी शरणागतों में एकात्मकता का भाव होना ही ‘भाइट हाउस’ में प्रवेश की पहली शर्त थी।

रामदहिन सोचने लगा कि बेटी की शादी के लिए इतना खुदगर्ज कैसे हो गया कि, मुसलमान और बेलदार की मदद लेने में भी नहीं हिचक रहा है। यदि बात उसके बिरादरी में फैल गई तो बेटे की शादी मुश्किल हो जायेगी। उसके अन्दर का ‘बाबू साहब’ सामने खड़ा हो गया, भारी असमंजस में था वह। उसे लगा कि लौट चलना ही अच्छा होगा। बेटी की किस्मत जहाँ होगी विवाह हो जायेगा। बेटियाँ अपना भाग लेकर आती हैं। लौटने को मुड़ा ही था कि आवाज आई “तू तो नाम का बाबूसाहब है रामदहिन, जिसके हाथ में सत्ता वही बाबूसाहब”

वह अपनी बेटी को खेतिहर किसानों की भट्टी में नहीं झोंकना चाहता था। किसी भी शर्त पर इस दुश्चक्र से निकलना चाहता था।

फकीरा से सारी बात खुलकर बता दी। फकीरा 'हजूर' से मिलाने के उपक्रम में लग गया। हजूर से मिलने से पहले रामदहिन की स्क्रीनिंग होनी थी। इस बात को फकीरा जानता था। हजूर से सीधे मिलकर भी कोई अपनी समस्या रख सकता था, पर मिलना कैसे कार्यसाधक हो यह फकीरा जानता था। रामदहिन के आगे अंधकार था। अमावस की काली रात। ऐसी अमावस जो खत्म होती दिखाई नहीं पड़ रही थी। इस अंधेरे में फकीरा दूर टिमटिमाती लौ सा था। पाँच बीघे वाले किसान की औकात किसी से छिपी नहीं थी। घर में कोई नौकरिया नहीं और इरादा ए.एस.एम. दामाद का। उसे लगा कि वह अंधेरे बंद गलियारे में दौड़ लगा रहा है, जिसकी दिवारें भी परत दर परत स्याह होती जा रही हैं।

फकीरा उन सैंकड़ों लोगों में से था जो 'भाइट हाउस' रोज आते थे। कोई काम से नहीं, बस दरबार में उपस्थिति लगाने। उसके पंचायत से जो लोग भाइट हाउस समस्या लेकर आते, उनको हजूर से मिलवाकर काम कराता। रोज मोटर साइकिल से मुखिया जी के साथ आता, दो-तीन घंटा बिताकर लौट जाता। भाइट हाउस जाने से उसकी प्रतिष्ठा बढ़ी थी। मुखिया जी 'हजूर' के 'आदमी' है यह बात प्रसारित थी। थाना-ब्लॉक में उन्हें कुर्सी दी जाती। कोई समस्या लेकर जाते तो वह उनकी समस्या न होकर शहजूरश की समस्या मान ली जाती।

फकीरा 'भाइट हाउस' के बरामदे से लगे कमरे में गया, जहाँ दस-बारह लोग बैठे थे। उसने सारी बात बतायी। आगंतुक की गांव और जाति जानकर गत चुनाव के नतीजों के आधार पर यह अनुमान लगाया जाता की अमुक जाति ने उस गांव में 'हजूर' को वोट दिया था कि नहीं। वहाँ बैठे लोग अलग-अलग क्षेत्र के विशेषज्ञ थे। मिनटों में बता देते थे कि आगंतुक गत चुनाव में उन्हें वोट दिया था कि नहीं। हजूर का वोटर यदि वह नहीं होता तो उसे दूसरे कमरे में ले जाकर इन्टरव्यू लिया जाता कि उसने या उसकी जाति ने गत चुनाव में हजूर को वोट क्यों नहीं दिया था। अब जब वह 'भाइट हाउस' की शरण में आ ही गया है तो अगले चुनाव में अपनी जाति का वोट हजूर के पक्ष में दिलवा सकता है या नहीं, इत्यादि।

'भाइट हाउस' में यह व्यवस्था हजूर का लोकतंत्र में गहरी आस्था का ही परिणाम था। वे जानते थे कि 'बूथ कैपचरिंग' कर वह ज्यादा दिनों तक सत्ता में नहीं रह सकते। आने वाले दिनों में बूथ कैपचरिंग उतना आसान भी नहीं होगा। सेटलाइट युग में यह नहीं चलेगा। अब 'बूथ-मैनेजमेंट' का जमाना है। खैर रामदहिन के मामले में यह पाया गया कि उसके गांव के बाबू साहबों ने 'माले' के भय से हजूर को न सिर्फ वोट दिया था बल्कि उन्हीं के आदमी को मुखिया में भी जिताया था। रामदहिन का 'केस' ले लिया गया पर उसके अंदर का अंधेरा कम नहीं हुआ। उसे लगा कि एक अंधेरी गलियारा से दूसरे अंधेरी गलियारा में जा रहा है, जिसकी दीवार पहले से ज्यादा स्याह है।

हमेशा वह राजनीति से दूर रहता था। उसे न तो इसकी समझ थी न इसमें दिमाग खपाता था, परन्तु हजूर के बारे में उसने कई कहानियाँ सुनी थी जो इलाके में किंवदंती के रूप में प्रचलित थी, जिसकी चर्चा बंद कमरे में भी करने से लोग परहेज करते थे। सजा देने के कई तरीके उसने सुन रखे थे। जब तक चोरी का सामान मिल न जाय तबतक चोरों को उलटा लटकाकर मारना। उनके विरोधियों का यहाँ कोई स्थान नहीं था। सरे आम सड़क पर गोली लगना। पांव की ओर से बोटी-बोटी काटकर गंगा में बहा देना। पाठक जी के ईंट भट्टे में जिन्दा डाल देना। तेजाब से नहलाना इत्यादि। जिसे सुनकर रोंगटे खड़े हो जाय। केस के गवाह को गोली लगना, वकील का दुर्घटना में मारा जाना आम बात थी। हजूर या उनके आदमियों के बिरुद्ध कोई केस नहीं लेता था। चुनाव के दिनों में हजूर की पार्टी के अलावा दूसरी पार्टी का झंडा-बैनर बनाना, बेचना, लेकर घूमना, अपने घर की

छत पर लगाना अपराध की श्रेणी में था। ऐसा करने वालों के लिए अलग-अलग सजाएं मुकरर थी। इन सबके बावजूद रामदहिन ने यह सुन रखा था कि वे गरीबों के मसीहा हैं। पर कुंदन साह की याद आते ही वह सिहर उठा! कुंदन साह उसके बगल के गाँव का था उसके साथ स्कूल में पढ़ता था। जिस दिन कुंदन के बेटों के बारे में खबर आयी थी आस-पास के गांवों में सन्नाटा पसर गया था। किसी के घर उस शाम चूल्हा नहीं जला था। कोई कुछ कह नहीं रहा था पर जान सब रहे थे। कुंदन की नजरगंज में परचून की दूकान थी, जहाँ उसके तीनो बेटे बैठते थे। रंगदारी मांगे जाने और उसे देने से इंकार करने पर उसके दो बेटों को हजूर के आदमी उठाकर ले गये थे। तीसरा छुपकर उसके पीछे गया तो उसे भी पकड़ लिया। उसके सामने ही दोनों को पांव की ओर से बोटी-बोटी काट डाला और बोड़े में डालकर उसमें ईंट बांध नाव से गंगा जी की बीच धारा में प्रवाहित कर दिया। फिर तीसरे को छोड़ दिया ताकि लोगों को घटना बयाँ कर सके। फिर कोई दूकानदार ऐसा साहस न करे। कुंदन कई महीनों तक नजरगंज लौटकर नहीं आया।

घंटों इंतजार के बाद रामदहिन की बारी आयी। फकीरा के साथ वह 'भाइट हाउस' के उस भव्य कमरे में पहुँचे जहाँ झाड़ू-फानूस के नीचे बड़े सोफे पर हजूर बैठे थे। उनके बायीं ओर शहर का एक नामी वकील और दायीं ओर सरकारी महकमे का एक इंजीनियर बैठा था। आगे कुर्सियाँ पर दो-तीन लोग थे। सुगंधित कमरे में खामोशी थी। 'हजूर' कोई भी फौजदारी या सिविल मामले में वकील साहब से राय लेकर ही फैसला सुनाते। कानून से आगे नहीं जाते। जरूरत पड़ने पर काजी, मौलवी, पंडित, डाक्टर, अफसर को बुलवाते।

रामदहिन ने हाथ जोड़कर अपनी फरियाद की, बैरामपुर के कुटुम के मुकरर जाने की बात सुनायी। यह भी विनति की, कि यदि कुटुम उनकी बात न माने तो कोई सजा मुकरर न की जाय। इससे समाज में बड़ी बदनामी हो जाएगी। फकीरा ने पीछे से उसका कुर्ता खिंचकर चुप रहने का इशारा किया।

'हजूर' ने वकील साहब से सलाहियत कर पन्द्रह दिनों बाद की एक तिथि मुकरर कर आने को कहा। उधर बैरामपुर खबर भिजवाकर कुटुम को भी आने का संदेश भेजा गया। रामदहिन भारी मन से घर लौटा। अपने घर में किसी को उसने कुछ नहीं बताया था। उसके मन का अंधेरा बढ़ता जा रहा था। वह इतना स्वार्थी कैसे हो गया। अपने हैसियत से अधिक की इच्छा क्यों पाले हैं यदि कुटुम ने हजूर की बात नहीं मानी और कुछ अनहोनी हो गई तो अपनी अंतरात्मा को क्या जवाब देगा।

जैसे-जैसे दिन गुजर रहा था चिंताएं बढ़ रही थी। मन में सकून का एक ही कारण था कि हजूर निर्दोष को सजा नहीं देते। उनकी न्यायप्रियता के भी कई किस्से उसने सुन रखे थे। कहा जाता है कि पहले की तुलना में कोर्ट कचहरी में मुकदमें घट गये हैं। वहाँ से ज्यादा मामले भाइट हाउस में आते थे। यहाँ कम समय में बिना कोई फीस के निपटा दिये जाते। न्याय भी ऐसा जिसकी चर्चा क्षेत्र में होती। हजूर को गरीबों का इतना ध्यान था कि निजी नर्सिंग होम और डॉक्टरों की फीस तय कर दी थी। कोई डॉक्टर पचास रुपये से ज्यादा फीस नहीं लेता। काले और सफेद कोर्ट से आम-आवाम को निजात दिलाना कोई आसान काम नहीं था। पहले आलम यह था कि गांव से इलाज के लिए कोई शहर आता तो गाड़ी से उतरते ही दलाल पीछे लग जाते। इसकी टोह लेते की 'शिकार' के पास 'माल' कितना है। 'शिकार' कहीं भी जाता तो इसकी सूचना देकर अपना कमीशन पा लेते। इसके आगे का काम नर्सिंग होम संचालक और कम्पाउंडर का था, कि कैसे पूरा माल रोगी के जेब से निकाल ले। दलाल की सूचना में कोई उन्नीस-बीस होता तो रुपये लौटा दिये जाते। इसमें बड़ी ईमानदारी थी, धंधा रोज का था एक दिन का नहीं।

ठीक पन्द्रहवें दिन रामदहिन फकीरा को लेकर 'भाइट हाउस' के लिए निकला। रास्ते में मन की गुबार को फकीरा के सामने रखा, जो उसे पन्द्रह दिन से परेशान कर रहा था।

“कुटुम के कोनो दिक्कत ना न होई बिन्द जी।”

“बाबूसाहब ई सामाजिक न्याय के सरकार ह। हजूर सामाजिक न्याय के नेता हउएं। समाज के बीच में बैइठ के समाज के लोगन के लिए समाज के हित में न्याय कर ताड़ें। ऐ तरह हड़बड़ाइला के जरूरत नइखे, रउआ निचित रहीं।’

‘भाइट हाउस’ में बैरामपुर वाले कुटुम चार-पाँच लोगों के साथ पहले से ही मौजूद थे। रामदहिन ने प्रणाम किया पर कुटुम ने कोई जबाब न देकर हिकारत भरी नजरों से देखा। दो-तीन घंटे इंतजार के बाद उनकी बारी आयी। रामदहिन, फकीरा, कुटुम और उनके साथ आये लोग ‘भाइट हाउस’ के बड़े झाड़-फानूस वाले कमरे की ओर बढ़ने लगे। कुटुम के साथ आये लोगों को अंदर प्रवेश की इजाजत नहीं दी गई। रामदहिन और कुटुम को बैठने का निर्देश मिला, पहले रामदहिन को फिर उसके बाद कुटुम को अपनी बात रखने का मौका दिया गया।

“जब लड़का पढ़त रहे त रउआ शादी खातिर तैयार रहीं, अब नौकरी हो गइल बा त कहत हई कि लड़का पढ़ाई करी। माजरा का बा, खुल के बताई।”

‘हजूर’ ने कुटुम से पूछा। कमरे की भव्यता, सौंदर्य, शांति और सुगंध कुटुम को भयभीत कर रहा था। कई कहानियाँ उसके आंखों के सामने चलचित्र बन घूमने लगी। उनके भीतर का सच स्वतः बाहर निकल आया। जैसे बिल में जलप्रवाह से पिपरियाँ बाहर निकल आती है।

“हजूर लड़का खातिर भगवतपुर से रिश्ता आइल, लड़की ठीके रहे, पइसों बढ़िये देत रहन, ये से हम इनका के न कह देलीं।”

“इनकर लड़की रउआ देखली हं,”

‘जी’

“पसंद बा”

“लड़की में तो कोनो दोष नइखे, गलती कइसे कह दीं।

“भगवतपुर वाला केता देता”

“आठ लाख”

“तू केतना देवे खातिर तैयार रहलअ रामदहिन”

इस अप्रत्याशित सवाल से रामदहिन सोच में पड़ गया। उसके पास कुल जमा अड़सठ हजार रुपये थे। के. सी.सी. खाता में चउआलिस हजार। दो भैंस बेचने पर पैंतीस हजार। सोलह-सत्रह कठा जमीन बेच दे तो दो लाख रुपये मिल जायेंगे। कर्ज महाजन जोड़कर उसने अपनी क्षमता का आकलन कर कहा

“हजूर चार लाख के तो व्यवस्था हो जायी”

यह कहते हुए संकोच भी हो रहा था। लक्ष्य के आधा तक भी वह नहीं पहुँच पाया। इसका अनुमान पहले से होता तो भाइट हाउस तक बात लाता ही नहीं। हजूर ने वकील साहब की ओर देखा, वकील साहब ने दो लोगों को बहार से बुलवाया। हजूर ने उनसे कुछ मंत्रणा की और कुटुम की ओर मुखातिब होकर कहा

“छः लाख ले ली आउर रामदहिन जी के उद्धार कर दी बाबूसाहब”

रामदहिन अवाक दो लाख और रुपये वह लायेगा कहाँ से, सोलह-सत्रह कठा जमीन और बेच देगा तो उसके पास बचेगा क्याए एक बेटा भी तो है उसका।

कुटुम के भीतर कमरे का दिव्य सन्नाटा पसरता जा रहा था। परकटे परिंदे की मानिंद इससे बाहर निकलने की कोशिश कर रहा था। भाइट हाउस से बाहर भागना चाह रहा था अपने घर।

“ताहर समाज में ए.एस.एम. लइका के एहि रेट चल रहल बा बाबू साहबए ये से ज्यादा कहीं न मिली।”

“कुटुम को चुप देख हजूर ने कहा।”

‘पर हजूर’

असमंजस की स्थिति में रामदहिन कुछ अर्ज करना चाहता था, पर उसे चुप रहने का इशारा किया। कुटुम का दम घूँट रहा था उसने अपने भीतर के सन्नाटे को चीरते हुए हामी भर दी। रामदहिन एक प्रश्नवाचक चिह्न की तरह खड़ा था।

पंडित को बुलवाकर शादी की तिथि मुकर्रर करने को हजूर ने कहा। कुटुम को बुलाकर उसके हाथ में दो लाख रुपये दिये। बाकी रामदहिन से ले लेने को कहा। शादी की तिथि मुकर्रर हो गई।

शादी सम्पन्न हुई, रामदहिन ने अपनी हैसियत से बढ़कर बारातियों का स्वागत किया। हजूर ने उसके दरवाजे पर आकर उसका मान बढ़ाया। समधी मिलन में रामदहिन के साथ थे। शादी के बाद एकाध साल तक वह असमंजस में रहा कि कुटुम उसकी बेटी को बसने दें कि न दें। जब एक नाती हुआ और सुदिन देखकर बेटी को नैहर लाये तो लगा कि गंगा नहा लिया। समय बीतता गया कुटुम की ओर से न तो रामदहिन सिंह को न ही उसकी बेटी को कभी कोई दिक्कत हुई।

एक बार रामदहिन पचास हजार रुपये इक्ठ्ठा कर भाइट हाउस गया कि रुपये धीरे-धीरे कर लौटा दे। हजूर यह सुनकर नाराज हुए और पैसे के साथ बैरंग उसे लौटा दिया। रामदहिन के मन में हजूर के प्रति भक्ति मिश्रित श्रद्धा भाव पनपने लगा। जब भी वह शहर जाता तो समय मिलने पर भाइट हाउस जरूर जाता। बेटे को भी ले जाकर आशीर्वाद दिला लाया था।

समय बीतता गया। सामाजिक न्याय की सरकार जाती रही। आने वाली सरकार ने कई मुकदमें दर्ज कर हजूर को जेल में बंद कर दिया। ‘भाइट हाउस’ का दरवाजा बंद हो गया था। रामदहिन सिंह कभी-कभी बंद दरवाजे से भाइट हाउस को देखने चला जाता। जेल में मिलने का प्रयास किया पर मिल न सका।

उनका दामाद अब बड़े शहर का स्टेशन मास्टर हो गया था। बेटा भी वहीं रह कर नौकरी की तैयारी कर रहा था। कुछ दिनों की तैयारी के बाद उसे नौकरी मिल भी गई। रामदहिन की खुशी का ठिकाना न रहा। वह फिर से हजूर से आशीर्वाद पाना चाहता था। उसके घर में बेटा दामाद दोनों नौकरिया हो गये। उसका बेटा खेतिहर-किसानी के दुःचक्र से बाहर निकल गया।

कई दिनों के बाद अखबार में हजूर की खबर छपी कि पुलिस जेल से इलाज के लिए दिल्ली ले जा रही है। खबर पढ़कर रामदहिन सिंह अपने दस वर्षीय नवासे को ले शहर की ओर निकल गया। उसे भी हजूर का आशीर्वाद दिलाना चाहता था। आज इसका अच्छा अवसर जान पड़ा। शहर पहुँचने पर वहाँ का नजारा बदला हुआ था। बस को शहर के बाहर ही रोक दिया गया। चप्पे-चप्पे पर पुलिस थी। सड़कों पर विशाल जनसैलाब। जेल के आसपास मोर्चाबंदी थी। कोई गैरसरकार व्यक्ति का प्रवेश उस ओर वर्जित था। भीड़ स्टेशन की ओर जा रहा था। रामदहिन भी स्टेशन की ओर चल पड़े। भीड़ शांत थी, न कोई नारा, न भाषण, न बैनर। पर शासन इस भीड़ से भयभीत थी। इससे निपटने की पूरी तैयारी थी। हजूर को स्टेशन लाने, वहाँ से दिल्ली ले जाने के समय और ट्रेन की सूचना अति गोपनीय रखी गई थी। लोगों को दिग्भ्रमित करने के लिए जेल से स्टेशन की ओर लगातार शासकीय गाड़ियों का आना-जाना हो रहा था। ‘ऊपर’ से सख्त हिदायत थी कि आम आवाम

को हज़ूर की झलक न मिले। सारा अमला इसी उद्देश्य की पूर्ति में लगा था।

लगभग एक घंटे की पदयात्रा के बाद रामदहिन स्टेशन पहुँचा। किसी प्लेटफार्म पर तिल धरने की जगह न थी। पटरियों के दोनों ओर भी चिटी की मानिंद लोग खड़े थे। रामदहिन प्लेटफार्म की जगह पटरियों के उस ओर जाना ही श्रेयस्कर समझा। वहाँ की बातचीत से लोग अनुमान लगा रहे थे कि “तपस्वी एक्सप्रेस” से दिल्ली ले जाया जायेगा। स्टेशन मास्टर के साथ शासन का एक आला अधिकारी प्रतिनियुक्त था, जिसका दायित्व था कि “तपस्वी एक्सप्रेस” स्टेशन पर निर्धारित समय पांच मिनट से ज्यादा न रूके। सही समय पर हज़ूर को बैठाकर ट्रेन को सुरक्षित हरी झंडी दिखला दी जाय।

रामदहिन भी सबके साथ ‘तपस्वी एक्सप्रेस’ का इंतजार करने लगा। ट्रेन आ गई, जनसैलाब में हलचल हुई। रामदहिन ए.सी. बोगी के काले शीशे के और समीप आ गया। वह हज़ूर को नहीं देख पा रहा था, पर उसकी इच्छा थी कि हज़ूर कम-से-कम उसे और उसके नवासे को देख लें। ट्रेन खुल गई, तभी उसकी नजर सामने के प्लेटफोर्म पर खड़े कुंदन पर पड़ी। वह सहम गया लगा कुंदन उसे ही देख रहा है, उसकी नजर लेजर किरण सी उसे चीरती हुई निकल रही थी। वह बेचैन हो उसपर से नजर हटा ली, पूरी भीड़ उसे कुंदन में तब्दील होती दिखी। इस सन्नाटे में जहाँ भी नजर जा रही थी उसे कुंदन और उसके बेटे दिख रहे थे। वह अपने हाथों से आँखों को बंद कर लेना चाहता था पर उसे लगा कि उसके हाथ खून से सने हैं।



अनुराग कश्यप के सिनेमा की यथार्थवादी दृष्टि

○ एज़ाजुल हक

संक्षिप्ति :

हिन्दी सिनेमा में यथार्थ की सर्वाधिक अभिव्यक्ति 'समांतर सिनेमा' की धारा में देखने को मिलती है। इस यथार्थ ने आम आदमी के साथ घटित घटनाओं को पर्दे पर सजीव कर दिया। सिनेमा में यथार्थ का जो स्वरूप उभरा उसमें यथार्थ वह तत्व है जिसे अपने मूल रूप में सामने आने पर उसकी स्वाभाविकता को लेकर संदेह करने की कोई गुंजाइश नहीं रहने पाती। यथार्थ को व्यक्त करने में केवल उसका रूप-आकार, आंतरिक ढाँचा और प्रवृत्तियाँ ही पर्याप्त नहीं होतीं बल्कि संबंधित विषय के परिवेश की भी इसमें महत्वपूर्ण भूमिका होती है। देशकाल की वास्तविकता को नकार कर यथार्थ का भ्रम तो पैदा किया जा सकता है लेकिन उसे जीवंत नहीं किया जा सकता। परिवेश को समझने के लिए ऐतिहासिक फिल्मों का उदाहरण लिया जा सकता है। ऐसी फिल्मों के माध्यम से जब अतीत की कथा कही जाती है तो उक्त समय में प्रचलित बोली-बानी से लेकर क्षेत्र या काल विशेष का पहनावा-ओढ़ावा, परिवेश, तात्कालिक जन मान्यताएँ आदि का हू-ब-हू वर्णन करने की बाध्यता बनी रहती है। अगर इसकी उपेक्षा की जाती है तो ऐसी फिल्में यथार्थ का जीवंत वर्णन करने के बजाए यथार्थ का भ्रम पैदा करती ज्यादा जान पड़ती हैं। जिन फिल्मों का विशुद्ध उद्देश्य मनोरंजन या चमत्कार पैदा करना हो वहाँ तो यथार्थ की जीवंतता की अपेक्षा की जा सकती लेकिन जिन फिल्मों का उद्देश्य पर्दे पर मनुष्य का अतीत या वर्तमान या इन दोनों से मिलते-जुलते संभावित भविष्य को दृश्यांकित करना हो वहाँ यथार्थ की उपेक्षा, मनुष्य की स्वाभाविक प्रवृत्तियों को उसकी आशा-निराशा में व्यक्त नहीं कर पाने की कमी को ही दर्शाती है। इन्हीं कारणों से मनुष्य या मनुष्य संबंधी घटनाक्रमों को समझने के लिए यथार्थ एक जरूरी पहलू बन जाता है।

बीज शब्द : यथार्थवाद, समांतर सिनेमा, जीवन-बोध, सामाजिक यथार्थ, हिंसा, अपराधवृत्ति।

विश्व सिनेमा में यथार्थवाद पहली बार फेंच सिनेमा के माध्यम से आता है। फ्रांस की 'नई धारा' और इटली की 'नवयथार्थवादी धारा' का सिनेमा आम आदमी के जीवन को उसी रूप में प्रस्तुत कर रहा था जैसा कि वह है। फ्रांस और जर्मनी की फिल्में भारतीय सिनेमा को भी प्रभावित करने लगी थीं। हिन्दी फिल्मों में पहली बार यथार्थवाद को आन्दोलन के रूप में स्थापित करने वाली फिल्में समांतर सिनेमा के नाम से जानी जाती हैं। यह एक सर्वविदित तथ्य है कि हिन्दी सिनेमा में यथार्थवाद की सबसे ज्यादा अभिव्यक्ति 'समांतर सिनेमा' में ही देखने को मिलती है। इस संदर्भ में संजीव श्रीवास्तव का मानना है कि, "इस कला में यथार्थवाद ही अभिहित है। यथार्थवादिता के कारण ही इस आन्दोलन के कई नाम दिए गए- 'नया सिनेमा', 'समांतर सिनेमा', 'सार्थक

सिनेमा’ आदि। लेकिन इस धारा के सिनेमा की मुख्य जमीन ‘जीवन-बोध’ या सामाजिक बोध की वास्तविक प्रतीति ही थी जिसे नए निर्देशकों ने नए स्तर से स्वीकार किया। नया सिनेमा के निर्देशकों का अपने परिवेश के प्रति लगाव, उसकी जीवन-दृष्टि और जीवन-बोध ने समकालीन मानवीय जीवन के यथार्थ रूप को व्यापक तौर पर उद्घाटित करके मूल रूप से आम आदमी की पीड़ा को व्याख्यायित किया।...इसमें मूलतः व्यावसायिक फंतासी से परहेज किया गया था। जीवन और समाज को उसी के मौलिक रंग में प्रस्तुत करने की यह यथार्थवादी पेशकश थी।”¹

भारतीय सिनेमा के यथार्थ के संदर्भ में जबरीमल्ल पारख कहते हैं- “भारतीय समाज कई तरह की विविधताओं और जटिलताओं से मिलकर बना है। यहाँ कई भाषाओं को बोलने वाले, कई धर्मों को मानने वाले, कई तरह की सामाजिक और सांस्कृतिक परंपराओं का पालन करने वाले लोग सदियों से एक साथ रहते आए हैं। यह कहना सही नहीं है कि इन विभिन्न जातीय समुदायों के बीच कोई द्वन्द्व या संघर्ष नहीं है। यह संघर्ष परंपरागत कारणों से भी है और आधुनिक समाज बनाने में आने वाली बाधाओं के कारण भी हैं। इन्हीं से भारतीय समाज का यथार्थ निर्मित हुआ है और इन्हीं से उन कहानियों का जन्म होता है जो विभिन्न विधाओं के माध्यम से सिनेमा के पर्दे पर साकार होती हैं।”²

समांतर सिनेमा द्वारा यथार्थवाद को आन्दोलन के रूप में लेकर चलने से पहले ही हिन्दी सिनेमा में यथार्थवादी फिल्में बनने लगी थीं। राज कपूर की ‘बूट पॉलिश’(1954) और ‘जागते रहो’(1956), वी शांताराम की ‘दो आँखें बारह हाथ’(1957), गुरुदत्त का ‘प्यासा’(1957) जैसी फिल्में कथ्य और अभिव्यक्ति को लेकर यथार्थवादी थीं। लेकिन सत्तर का दशक आते-आते नेहरू युग से मोहभंग चरम पर पहुँच गया। राजनीतिक मूल्यहीनता, अफसरशाही, घूसखोरी चरम पर पहुँच गया था। आजादी के वक्त नए भारत के सपने दिखाने वाले नेताओं पर अब जनता में पहले जैसा विश्वास नहीं रह गया था। चारों तरफ से हताश-निराश जनता को सत्तर के दशक के सिनेमा ने उसी रूप में प्रस्तुत करना शुरू किया जिस मनःस्थिति से वह गुजर रहा था। यही सिनेमा समांतर सिनेमा कहलाया। इस सिनेमा को आगे बढ़ाने में कई लोगों की अहम भूमिका थी। उन्हीं लोगों में, “श्याम बेनेगल, मणि कौल, कुमार साहनी, केतन मेहता, गोविन्द निहलानी और विजय मेहता जैसे कुछ हिन्दी फिल्म निर्माताओं ने 1970 के पूरे दशक के दौरान वास्तविक समानांतर फिल्मों का निर्माण भी जारी रखा।”³

आज के हिन्दी सिनेमा में व्यावसायिक दबाव के बावजूद अनुराग कश्यप सिनेमा को अपनी शर्तों पर बनाने का जोखिम उठाने वाले निर्देशक हैं। उन्होंने यथार्थ का जो स्वरूप गढ़ा है उसमें समाज का भयावह और क्रूर चेहरा दिखता है। उनका सिनेमा ‘फिल गुड’ कराने का मुहिम लेकर चलने वाला नहीं है बल्कि नग्न से नग्नतम यथार्थ का रेशा-रेशा करके रख देना वाला सिनेमा है।

इटैलियन फिल्मकार फेदरिको फेलिनी अपने सिनेमा में जिस यथार्थ की वकालत करते हैं वही अनुराग कश्यप के सिनेमा का भी यथार्थ है। फेदरिको फेलिनी कहते हैं- “मेरी फिल्मों में कोई दार्शनिक तत्व खोजना चाहेगा तो उसे निराशा भी हो सकती है। मेरी फिल्मों का मतलब है- गंगा मनुष्य।”⁴ यथार्थ की यही भयावहता ‘गैस ऑफ वासेपुर’ में भी है। इस फिल्म के कई दृश्यों में जब यथार्थ का त्रासद वर्णन किया जाता है तो कैमरा जिन चीजों को क्लोज शॉट्स लेता है या जो चीजें बैकग्राउंड में फोकस होती हैं वे सभी संबंधित विषय की वास्तविकता को उजागर करने में मददगार साबित होती हैं। सरदार खान द्वारा जे.पी. सिंह के पहलवान की हत्या वाले दृश्य के उदाहरण से इसे आसानी से समझा जा सकता है।

इस दृश्य में कैमरा बर्फ में चुभे औजार को निकालते ‘क्लोज अप’ शॉट लेता है, फिर औजार को पीठ पीछे छिपाकर सामने से आ रहे पहलवान के बगल से गुजरने, उसके बाद उसके पीठ पीछे पलटने का ‘मिड क्लोज अप’ शॉट लेता है। इन दोनों शॉट्स में कैमरा यथार्थ को फोकस करता है। ‘क्लोज शॉट’ में बता दिया

गया है कि हत्या करने वाला हथियार पहलवान जैसे दोहरे बदन के आदमी को मारने के लिए पर्याप्त नहीं है। अतः ‘क्लोज मिड शॉट’ में उसे पीठ पीछे छिपाना दिखाकर सरदार खान में ‘वन मैन आर्मी’ का तिलस्म रचने के बजाए एक आम आदमी का यथार्थ खड़ा किया गया है। पहलवान पर हमले से पहले सरदार का ‘का पहलवान, का हालचाल है?’ पूछना और बड़ी बेरुखी से पहलवान का ‘अबे भोसड़ी के’ जैसे जवाब देने में भी यथार्थ व्यक्त हुआ है। अभी तक कैमरे ने जिन चीजों को फोकस किया है उसे गौर करने पर हम पाते हैं कि सरदार के पास हमला करने के नाम पर बर्फ काटने वाला हथियार भर है जिससे हट्टे-कट्टे पहलवान को मार पाने को लेकर संदेह पैदा हो जाता है। दोहरे बदन वाले पहलवान को सामने से नहीं मारा जा सकता है इसलिए हथियार को पीछे छिपाकर बगल से गुजरने के बाद फिर सरदार पीठ पीछे पलटता है और अपने गुस्से को सातवें आसमान तक पहुँचाने के लिए पहलवान का हाल-चाल पूछकर उसे छेड़ता है ताकि ‘अबे भोसड़ी के’ जैसी गाली से उसका बिफरना स्वाभाविक हो सके। यहाँ गाली से जो स्वाभाविक उत्तेजना पैदा होती है, वही उसके अंदर फूटी पैदा करती है।

यथार्थ की अभिव्यक्ति के लिए दृश्य संबंधी जितनी चीजें दिखाई गई हैं सभी सार्थक हैं, कोई भी चीज अनायास नहीं आयी है। फ्रांसिसी फिल्म निर्देशक ज्यां रेनुआ का कहना है- “आप फिल्म में ढेर सारी चीजों को नहीं दिखा सकते हैं। मगर सही चीजें दिखाने की सतर्कता आपको रखनी होगी।”⁵

अनुराग कश्यप भी अपनी फिल्मों में जो चीजें दिखाते हैं उसकी सतर्कता का ख्याल हमेशा रखते हैं। ऐसी सतर्कता उपरोक्त दृश्य में भी देख सकते हैं। पहलवान के दोनों हाथों में जीवित मुर्गे हैं। जब उस पर हमला होता है तो मुर्गों का भी भयभीत हो जाना स्वाभाविक है। पहलवान अपने बचाव के लिए जब सरदार पर पलटवार करना चाहता है तब तक मुर्गे हाथ से छूट चुके होते हैं। अनुराग कश्यप ने मुर्गों के गिरने को फोकस करने के बजाए सिर्फ उनकी भयभीत आवाजें सुनाने भर से काम चलाया है।

यों तो अनुराग कश्यप ने ‘देव डी’ जैसी रोमांटिक फिल्म को भी सफलता दिलाई है लेकिन उनका पसंदीदा क्षेत्र अपराधवृत्तियों का अनुसंधान करना ही लगता है। हिन्दी सिनेमा में पटकथा लेखक के रूप में शुरुआत चाहे ‘सत्या’ जैसी अंडरवर्ल्ड के कथानक के रूप में रही हो चाहे निर्देशन के रूप में ‘पांच’, ‘ब्लैक फ्राईडे’ जैसी क्राईम फिल्में या फिर सर्वाधिक ख्याति दिलाने वाली ‘गैंग्स ऑफ वासेपुर’, सभी में अपराधवृत्तियों का बारीकी से अनुसंधान किया गया है। वे क्राइम वाले दृश्यों को फिल्माते समय जिस ‘डिटेल’ को खड़ा करते हैं वह अपराध के यथार्थ को एकदम से जीवंत कर देता है। चित्रकार मकबूल फिदा हुसैन जब सिनेमा निर्देशन में आए तो वे अपनी फिल्मों में चित्रकारी की छाप भी छोड़ते जान पड़े। यही बात उनके द्वारा निर्देशित ‘गजगामिनी’ फिल्म में भी देखने को मिलती है जिसे विनोद दास कुछ यों बयां करते हैं- “उनका कैमरा गज का मस्तक हो या दीवार, फिल्म में किसी वस्तु को अनकृत या प्रकृत रूप में नहीं दिखाता। उनके तबला या मृदंग या कलश भी साधारण तबला, मृदंग या कलश नहीं दिखते, उन्हें किसी खास रंग में रंगकर प्रस्तुत किया जाता है अथवा उन पर कोई रेखांकन या पच्चीकारी की गई होती है। कुआँ, घड़ा या रस्सी जैसी मामूली चीजें भी हुसैन की कलात्मक आभा में लिपटी होती हैं।”⁶ कहने का मतलब ये कि निर्देशक अपनी रुचि या प्रकृति वाले विषयों को उठाने में ज्यादा कुशल होते हैं। अनुराग कश्यप भी ‘वासेपुर’ में मकबूल फिदा हुसैन की ‘गजगामिनी’ की तरह अपराध वाले दृश्यों को एक ‘डिटेल’ देते चलते हैं। लेकिन ध्यान देने की बात है कि दोनों के दृष्टिकोण में स्पष्ट अंतर दिखाई पड़ता है। हुसैन का मकसद अपनी चित्रकारी के माध्यम से विषयों को अलंकृत करके उसे प्राकृत रूप में नहीं रहने देना है तो अनुराग कश्यप का मकसद विषय को ज्यादा-से-ज्यादा प्राकृत या यथार्थ बनाने के लिए ‘डिटेल’ में जाना है। जे.पी. के पहलवान की हत्या के समय का ‘डिटेल’ उसी यथार्थ का सूचक है।

व्यक्ति सामान्य अवस्था में कोई असामान्य कार्य तभी कर पाता है जब वह या तो संबंधित कार्य में दक्ष हो चुका होता है या फिर परिवेश में ही संबंधित कार्य से जुड़े संस्कार अनायास व्यक्तित्व के अंग बनते चले जाते हैं। 'वासेपुर' में अपराध संबंधी त्रासदी का एक कारण परिवेश संबंधित संस्कारों द्वारा व्यक्तित्व का संचालन भी है। यहाँ के पूरे परिवेश में ही अपराध इस कदर घुलमिल गया है कि व्यक्ति को अपराध संबंधी कारनामों को अंजाम देने के लिए अलग से किसी प्रशिक्षण की जरूरत नहीं होती। मिहिर पंड्या, अनुराग कश्यप के सिनेमा में परिवेश की इन्हीं विशेषताओं द्वारा किरदारों के संचालित होने का वर्णन करते हैं- "उनके (अनुराग कश्यप के) सिनेमा में परिवेश हमेशा किरदार की भूमिका अदा करते हैं। 'देव डी' में दिल्ली शहर एक ओर चंदा के लिए उस असह्य सामाजिक दबाव से मुक्ति है जिसके चलते उसके पिता ने आत्महत्या कर ली और उसकी माँ उसे छोड़कर चली गई। यहाँ हर नजर उसे घूरती नहीं।"

चंदा के 'न्यूड विडियो' वायरल होने पर उसे घूरती हुई नजर अब 'रेड लाइट' जैसे परिवेश में आकर उसका पीछा छोड़ देती है। 'रेड लाइट एरिया' के इस परिवेश से जो उसका व्यक्तित्व संचालित होता है अब उसे नए किरदार के रूप में खड़ा करता है। इससे पहले के परिवेश का किरदार अब बदले हुए परिवेश में बदली हुई भूमिकाएँ निभाने लगता है। संभव है कि दूसरे परिवेश में फिर से चंदा का किरदार दूसरी भूमिकाओं को जीने लगे। यही कारण है कि चौदह साल के परपेनडीकूलर के लिए अपराध बच्चों का खेल है। उसके परिवार का आपराधिक दबदबा होना इसके पीछे एक कारण जरूर है लेकिन परिवार उसे अपराध के लिए प्रेरित नहीं करता। वह खुद परिवार की नजर बचाकर दुकानदारों से रंगदारी माँगता है। उसके लिए अपराध एक आदत की तरह बनती जा रही है। अपनी इन्हीं आदतों की बदौलत वह पुलिस से कई बार मुठभेड़ में बच निकलने का अपने साथियों के बीच महिमामंडन करने से भी बाज नहीं आता। हिंसक और आक्रामक परिवेश में परपेनडीकूलर का व्यक्तित्व उसी किरदार को जीने लगता है।

'वासेपुर' में केवल बर्बर हत्याएँ ही त्रासदी नहीं हैं बल्कि हिंसा को बिना किसी आवेश और उत्तेजना के साथ बड़ी सहजता से अंजाम दे पाने में दक्ष हो जाना भी एक त्रासदी ही है। हत्या करने से पहले तयोरियों का चढ़े होना, आग बबूला होकर हाँफना, आँखों में खून उतर आना, दाँतों का कस कर भींचना ये कुछ स्वाभाविक अनुभाव होते हैं जो व्यक्ति को सामान्य नहीं रहने देते। लेकिन हत्या के वक्त आवेश और उत्तेजना की जगह चुहलबाजी समाज की उस विकृति का परिचायक है जहाँ जघन्य अपराधों के लिए भी पाश्चाताप जैसे शब्दों का अपना अर्थ खो देने का संकेत देता है। बाजार से सब्जी-फल खरीद रहे सुल्तान की हत्या के लिए, पीछे पड़े पात्रों के आपसी संवादों की मनोदशा कुछ ऐसी ही है-

'फल (केला) खरीद रहा। (हँसकर) भैया! खरीदेगा उ, खायेंगे तो हमलोग न। बोलें का लीची ले ले?'

'केला! पक्का पेट खराब होगा।'

'भैया, उ कटहल खरीद रहा।'

'कटहल काहे खरीद रहा?'

'हमको लगता है कि उसका आचार बनाएगा चाहे, साला! हो सकता है कोवा निकालेगा।'

'कटहल का सब्जी नहीं बनता है का?'

'भैया बनता है न? हमरी अम्मी बनाती हैं- कोफ्ता।'

'हमरी नानी तो कटहल को महीन-महीन काट के, तल के उसको दाल-चावल के साथ परोसतीं थीं।'⁸

हत्या करने से पहले दो पात्रों के इन संवादों में कहीं से भी उत्तेजना-उन्माद नजर नहीं आता बल्कि संवाद में गली, चौक-चौराहे, सगे-संबंधी, अड़ोसी-पड़ोसियों के बीच रोजमर्रा की बातें और बीच-बीच में उब तथा निरसता दूर करने के लिए की जाने वाली चुहल ही तो हैं। फिर संवाद के क्रम में कहीं 'अम्मी' आ जाती

है तो कहीं 'नानी' फिर जुड़ जाती हैं उनसे संबंधित स्मृतियाँ बिल्कुल दादी-नानी की कहानियों की तरह बचपन पर अपनी कोमलता की छाप छोड़ने जैसी!

रंजनी मजूमदार 'परिंदा' फिल्म में आए जिस स्याह पक्ष का वर्णन करती हैं उसी से मिलता-जुलता या उससे कहीं चटक स्याह अनुराग कश्यप के सिनेमा में देखने को मिलता है। रंजनी मजूमदार कहती हैं- "यहाँ (परिंदा में) सभी छवियाँ अंधेरो से निकलती हैं और छवियाँ किरदारों के रूप गढ़ती हैं। शायद ही आप कहीं रंगों का चटक इस्तेमाल देखें। यहाँ रात को लेकर एक अजीब सा आकर्षण है। जैसे सार्त्र ने आधुनिक जीवन के बारे में कहा है कि यह ऐसे रास्ते, दरवाजे और सीढ़ियाँ हैं जो कहीं नहीं पहुँचतीं। ऐसे विशाल चिह्न जिनका कोई अर्थ नहीं। परिंदा का शहर अंधेरा, भीड़ भरा और निर्मम है।"⁹

'परिंदा' फिल्म के किरदारों का रात के अंधेरे में निकलना तो फिर भी समझ में आता है कि अंधेरे में, पर्दे में अपनी वारदातों को समाज से छिपाने की मजबूरी है। लेकिन अनुराग कश्यप के सिनेमा में पात्रों के सामने अंधेरे-उजाले को लेकर किसी तरह की चौकसी करने की मजबूरी नहीं दिखती। ऐसा लगता है कि इन किरदारों के सामने वारदात के लिए एक खुला आकाश है जिस ओर खुलने वाली मकान की सारी खिड़कियाँ वारदात के वक्त झटके से बंद कर दी जाती हैं ताकि खुद को गवाह मान लिए जाने के भ्रम में उसी हिंसा की चपेट में न आना पड़ जाए। 'वासेपुर' के किरदार अपनी वारदातों को रात के अंधेरे में भी डंके की चोट पर अंजाम देते हैं और दिन के उजाले में भी। यहाँ न तो समाज का डर है और न ही कानून-व्यवस्था का। यही भयावहता अनुराग कश्यप के सिनेमा का एक नंगा यथार्थ है। सुल्तान जब फैजल की हत्या के लिए रात के अंधेरे में उसके घर पर हमला करता है तो अगल-बगल की दुकानों को बड़ी धौंस से बंद करवाता चलता है। यहाँ उसे समाज का नहीं बल्कि अपने प्रतिद्वन्दी फैजल का डर है। यहाँ रात के अंधेरे का इस्तेमाल अपनी पहचान छिपाने के लिए नहीं बल्कि लक्ष्य को ज्यादा अचूक बनाने के लिए किया गया है। यहाँ 'वासेपुर' की भयावहता 'परिंदा' से आगे बढ़ी हुई भयावहता है। लेकिन वहीं 'गुलाल' और 'मुक्काबाज' की भयावहता और त्रासदी उजाले से ज्यादा अंधेरे की लगती हैं। यहाँ वारदातों को गुप्त पहचान के साथ या वास्तविकता को आवरण में लपेटकर उजाले से बचने की भरपूर कोशिश दिखती है। सबकुछ खुलेआम और दिनदहाड़े करने के बजाए यहाँ शिकारी की तरह किसी दाने को लक्ष्य करके बड़ी चौकसी से 'चिड़िया फँसाने' जैसी वारदातों को अंजाम दिया जा सकता है वरना समाज की नजरों में बेनकाब होने से कानून का शिकंजा कसने का भी डर बना रहता है। यही कारण है कि 'गुलाल' का डुकी बाना देशविरोधी अपनी निजी सेना का हर आयोजन गुप्त ही रखता है- वो भी केवल विश्वस्त लोगों के लिए ही; उसमें शामिल किए जाने वाले लोगों से भी क्रूर वास्तविकता छिपाकर केवल 'क्रांति' की ढोंग की बदौलत! 'मुक्काबाज' में भी भगवानदास सुनैना और श्रवण के तलाक के लिए बाहुबल के बजाए कानूनी-प्रक्रिया अपनाना चाहता है। दोनों की शादी रोकने की असंवैधानिक कोशिश भी करता है मगर कुछ है जो समाज के सामने उसकी नहीं चलने देता। वह समाज और कानून से आमने-सामने की लड़ाई के बजाए अपनी वास्तविकता छिपाकर लड़ने में ही सक्षम है।

'गुलाल' फिल्म भी अनेकानेक त्रासदियों को अपने गर्भ में समेटे हुए है। यहाँ प्रेम की, संबंधों की, 'स्टेटस' की तथा परिवेश की गंभीर त्रासदी घुटन पैदा करती है। 'गुलाल' के गर्भ में पल रही इन त्रासदियों ने किसी भी संबंध के साथ गरिमा तथा विश्वास का रिश्ता नहीं जोड़ने दिया है।¹⁰ यहाँ प्रेम की त्रासदी इस हद तक है कि दिलीप को लगता ही नहीं कि उसका इस्तेमाल किया गया है। वह किरण द्वारा रत्ना के मरवाए जाने की बात पर भी तब तक विश्वास नहीं करना चाहता जब तक कि वह खुद न स्वीकार ले। किरण के स्वीकारने के बाद भी उसके अंदर अपने इस्तेमाल किए जाने का आक्रोश नहीं है जैसे कि बाकी लोगों की हत्याओं में था। किरण को जिंदा जाने देने में और खुद को गोली का शिकार हो जाने में एक शहीदी भाव है। उसके अंदर

जो अव्यक्त पीड़ा और टूटन इकट्ठी होती जाती है उसे निर्देशक ने 'देव डी' की तरह यहाँ भी संगीत के माध्यम से अभिव्यक्त किया है- "देव डी का 'खलनायक पुरुष' देवदास के पिता में नहीं, वह खुद देव के भीतर है। हिन्दुस्तानी सिनेमा का सतत कुठित नायक। देव में एक साथ अपराधबोध भी है और शहीदी भाव भी। बहुत कुछ है जो उसके भीतर भरा हुआ है और अभिव्यक्त नहीं हो पा रहा है। और फिल्म इसे अभिव्यक्त करने के लिए संगीत का माध्यम चुनती है।"¹¹

लेकिन 'देव डी' की तरह न तो दिलीप में कुंठा है और न ही वह खुद खलनायक है बल्कि खलनायकों की भीड़ में घायल और निहत्थे खड़ा है। दिलीप की विडंबना यही है कि उसके अंदर अपराधबोध अनुजा के लिए है तो शहीदी भाव किरण के लिए। यही अपराधबोध उसे जीवन की आखिरी घड़ी में पारंपरिक देवदास की तरह दम तोड़ने के लिए अनुजा के चौखट तक खिंच लाता है। प्रेम की इसी त्रासदी को गुलाल के संगीत में पिरोया गया है-

'ये जमीं थी आसमां था, हमको लेकिन क्या पता था?

हम खड़े थे जहाँ पर उसी के किनारे पे, गहरा सा अंधा कुआँ था।'

परिस्थितियों का शिकार हुआ नायक यहाँ भावनात्मक रूप से इतना टूट चुका है कि वहाँ से आगे उम्मीद की कोई राह नहीं सूझती। नायक के पूरे जीवन का संत्रास की भेंट चढ़ जाने के पीछे सबसे प्रमुख कारण 'चयन की स्वतंत्रता' का न होना लगता है। परिस्थितियाँ उसे जहाँ धकेल देती हैं या अपने रेलों में घसीट ले जाती हैं वह वहीं बिना किसी जोर आजमाइश के धक्के खाकर गिर जाता है या घिसटता हुआ चला जाता है। उसे अनुजा का साथ अच्छा लगता है लेकिन वहाँ 'चयन की दृढ़ता' दिखाने के बजाए किरण जैसी तात्कालिक परिस्थिति में घसीट लिया जाता है। यही बात डुकी बाना की अनुचित बातों के विरोध करने के वक्त भी देखने को मिलती है। 'सत्या' फिल्म का नायक भी चयन की स्वतंत्रता संबंधी उसी विवशता से जूझता जान पड़ता है। उसे विधा के प्रेम से ज्यादा अपराध जगत की परिस्थितियाँ अपने रेलों में घसीट ले जाती हैं। इस फिल्म में अपराध जगत के प्रति अपना दृष्टिकोण स्पष्ट करते हुए रामगोपाल वर्मा कहते हैं- "मैं इस फिल्म में सही या गलत का निर्णय नहीं करना चाहता था। पर ऐसा हो सकता है कि उन्हें (अपराध-जगत के लोगों को) अपने कृत्य का एहसास हो और वे उससे बाहर आएँ। फिल्म का नायक सत्या एहसास करता है कि विधा के साथ उसे खुशी होती है। जब तक इसका एहसास होता है, तब तक वह काफी अंदर घुस चुका होता है। इसलिए निकल नहीं पाता। तो ऐसी स्थिति में न जाएँ, जिससे निकलना मुश्किल हो। यही 'सत्या' का संदेश है। यही दृष्टिकोण है।"¹² चूँकि 'सत्या' फिल्म में भी अनुराग कश्यप के सिनेमा संबंधी अपराधवृत्तियों का वही अनुसंधान किया गया है जो अनुराग के अधिकतर फिल्मों में देखने को मिलता है। वे इस फिल्म से बतौर पटकथा लेखक भी जुड़े हुए थे। इस कारण इस फिल्म में भी उनके दृष्टिकोण का होना स्वाभाविक है।

अनुराग कश्यप उस पीढ़ी के फिल्मकार हैं जिन्होंने यथार्थ को उसके क्रूरतम रूपों में पर्दे पर उतारा है। इन "फिल्मों ने जैसे जीवन के रास्तों से जीवन का टुकड़ा उठाकर उसे उसके पूरे खुरदरेपन, उसकी पूरी खरोंच, उसकी पूरी क्रूरता के साथ दर्शकों के समक्ष रख दिया। निश्चय ही दर्शकों के लिए यह एक बड़ा अनुभव था जिससे पता चला कि जीवन जब अपनी पूरी सच्चाई के साथ प्रस्तुत होता है तो वह कितना क्रूर होता है। अब तक हिन्दी फिल्मों में यथार्थ के चित्रण का जो फॉर्मूला था वह अब टूट-फूट रहा है। पिछले वर्षों में प्रदर्शित सुधीर मिश्रा की 'ये साली जिंदगी', 'शेखर कपूर की बैडिट क्विन' (1994), अनुराग कश्यप की 'गैंग्स ऑफ वासेपुर' और राम गोपाल वर्मा की 'सत्या' जैसी फिल्मों अपने अति यथार्थ के लिए याद की जाती हैं।"¹³

'वासेपुर' के फैजल को भी जब तक एहसास होता है कि उसे अपराध की दुनिया में नहीं आना चाहिए था तब तक काफी देर हो चुकी होती है। उसके सामने बाहर आने के सारे विकल्प खत्म हो चुके होते हैं। उसकी

विडंबना यह भी कि उसे पता है चुनाव जीतने के बाद वह उस दलदल में और तेजी से धँसता चला जायेगा मगर फिर भी चुनाव लड़ने जैसे आत्मघाती कदम उठाने को विवश है- 'मोहसीना। हमें कभी अब्बा के धंधे में नहीं आना था। हमें कभी कुछ नहीं करना था। पता नहीं ये सब कैसे होता चला गया?...चुनाव जीत जायेंगे तो निकल नहीं पायेंगे। और गहरे फँसते चले जायेंगे। हमारे अब्बा के पास मौका था, वासेपुर वापस न आने का। लेकिन वो आए- वो आए और सब फँसता चला गया। रामाधीर की कहानी कब की खतम हो गई थी, शाहीद खान के साथ। लेकिन वो अब तक चल रहा है। अब हमें कुछ नहीं करना।"¹⁴

फैजल के सामने भी 'वरण की स्वतंत्रता' न तब थी; न अब है- कल को पूर्वजों की हत्या का प्रतिशोध थोपा गया था और आज 'चुनाव लड़ना'। उसके अब तक के जीवन की त्रासदी तो यही है कि प्रतिशोध थोपे जाने के समय अपना अलग रास्ता न चुन पाने का आज एहसास है भी तो कल तक फिर से एक नई चीज थोप दिए जाने के लिए आज प्रस्तुत है। 'चुनाव जीतने के बाद और गहरे धँसते जाने' के एहसास के बाद भी उसके लिए एड़ी चोटी एक करना उसी दलदल में धँसते जाने का एक पुख्ता इंतजाम है।

'गुलाल' के पारिवारिक संबंधों में गरिमा और विश्वास का अभाव भी त्रासदी का कारण बन जाता है। डुकी बाना का अपनी पत्नी को धोखे में रखना भी उसके त्रासद अंत का एक कारण बनता है। उसे भनक भी नहीं लगती कि किरण अपनी देह का इस्तेमाल कर जी.एस. के जिस पद तक पहुँचना चाहती है, उसे पाने के बाद उसका अगला कदम डुकी की हत्या भी हो सकती है। इस फिल्म में स्टेटस और परिवेश दोनों एक-दूसरे के पूरक हैं। 'राजपूताना' के 'को-फाउंडर' राजा साहब की अतीत की राजशाही स्मृतियाँ ही वो स्टेटस है जो पात्रों को अपना असली चेहरा गुलाल में छिपाने को प्रोत्साहित किए हुए है। गुलाल की लाली के पीछे असली चेहरा छिपे होने का सूत्रधार राजा साहब ही हैं जो अपना खोया हुआ राजपाट पाना चाहते हैं। लेकिन राजा साहब की विडंबना यही है कि उनके एकलौते बेटे को उन पुरानी स्मृतियों से रत्तीभर भी सरोकार नहीं है। वह बाप से अलग रहकर जिंदगी काटता है। उसे राजशाही स्टेटस और अकड़ को माथे लिए नहीं घूमना है। बावजूद इसके उसके जीवन की भी यही विडंबना है कि वह अपने पिता की अवैध संतान द्वारा अपहृत होने पर जान गंवा देता है लेकिन अपनी अकड़ से समझौता नहीं करता।

परिवेश के संदर्भ में भी यही बातें सामने आती हैं कि पूरे परिवेश में एक अजीब सी अकड़ देखने को मिलती है, जैसे कि व्यक्ति-व्यक्ति का अपना अलग वर्चस्व हो। यह वर्चस्व महाविद्यालय के संदर्भ में कुछ ज्यादा ही देखने को मिलती है। वहाँ पढ़ाई जैसी सृजनात्मकता की जगह उसके उलट सारी विकृतियाँ देखने को मिल जाती हैं, कहीं रैगिंग के नाम पर तो कहीं छात्र राजनीति के नाम पर। छात्र राजनीति में भी सृजनात्मकता की जगह हत्या-अपहरण संबंधी वे सारी विकृतियाँ जो मुख्यधारा की राजनीति को कलंकित करने के लिए पर्याप्त हैं।

निष्कर्ष :

अतः कहा जा सकता है कि अनुराग कश्यप के सिनेमा का यथार्थ परिवेश से उपजा हुआ यथार्थ है। परिवेश जितने भयावह और क्रूर हैं उसका यथार्थ भी उतना ही क्रूर हो जाता है। इस यथार्थ को क्रूर बनाने में परिवेश किरदारों का प्रशिक्षण कराता रहता है। हिंसा, उत्पीड़न जब अपने चरम को प्राप्त होता है तो हत्या होना कितनी आम बात हो जाती है अनुराग कश्यप का सिनेमा इसका उदाहरण है। हिंसा-प्रतिहिंसा के इस चक्र में परिवेशगत यथार्थ इतना भयावह हो जाता है कि कानून-व्यवस्था का दूर-दूर तक कहीं अता-पता नहीं रहता। कानून-व्यवस्था के नदारद होने से आदमी हिंसा की कितनी त्रासद और प्रयोगात्मक अभिव्यक्ति करने लगता है अनुराग कश्यप के सिनेमा ने इसी यथार्थ की अभिव्यक्ति की है। □

संदर्भ :

1. संजीव श्रीवास्तव, हिंदी सिनेमा का इतिहास, प्रकाशन विभाग, 2006, नई दिल्ली, पृ. 87
2. जबरीमल्ल पारख, 'भारतीय समाज का यथार्थ और हिन्दी सिनेमा', आजकल (अंक-7, पूर्णांक 888) नवम्बर, 2018, पृ. 6
3. विनोद विप्लव, 'हिन्दी सिनेमा : कल, आज और कल', बहुवचन, (अंक- 39), अक्टूबर-दिसम्बर, 2013, पृ. 47
4. प्रदीप तिवारी, सिनेमा के शिखर, संवाद प्रकाशन, मेरठ, 2006, पृ. 98
5. वही, पृ. 23
6. विनोद दास, भारतीय सिनेमा का अंतःकरण, मेधा बुक्स, दिल्ली, 2009, पृ.112
7. मिहिर पंड्या, शहर और सिनेमा : वाया दिल्ली, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2011, पृ. 163
8. गैंग्स ऑफ वासेपुर, अनुराग कश्यप द्वारा निर्देशित, नवाजुद्दीन सिद्दीकी, मनोज वाजपेयी, ऋचा चड्ढा, हुमा कुरैशी आदि द्वारा अभिनीत एवं अनुराग कश्यप द्वारा निर्मित फिल्म, 2012
9. रंजनी मजूमदार, बॉम्बे सिनेमा : आर्काइव ऑफ द सिटी, परमानेंट ब्लैक, रानीखेत, 2007, पृ. 163
10. प्रहलाद अग्रवाल, 'देव डी के माथे पर गुलाल का टीका', हिन्दी सिनेमा बीसवीं से इक्कीसवीं सदी तक (सं. प्रहलाद अग्रवाल, कमला प्रसाद तथा अन्य), साहित्य भंडार, इलाहाबाद, द्वितीय संस्करण, 2013, पृ. 571
11. मिहिर पंड्या, शहर और सिनेमा वाया दिल्ली, पृ. 162
12. अजय ब्रह्मात्मज, सिनेमा की सोच, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2006, पृ. 50
13. अरूण कुमार, 'सिनेमा में यथार्थ, उसका ट्रीटमेंट और हाइपर रियल', लोकमंच पत्रिका <http://www.lokmanch.in/?p=945>
14. गैंग्स ऑफ वासेपुर : अनुराग कश्यप द्वारा निर्देशित, नवाजुद्दीन सिद्दीकी, मनोज वाजपेयी, ऋचा चड्ढा, हुमा कुरैशी आदि द्वारा अभिनीत एवं अनुराग कश्यप द्वारा निर्मित फिल्म, 2012



‘हंस’ की वैचारिक बहसों में ‘कॉमरेड का कोट’ संबंधी विवाद का स्थान

○ उर्वशी कुमारी

संक्षिप्ति :

सृंजय द्वारा लिखित ‘कॉमरेड का कोट’ कहानी, हंस पत्रिका के फरवरी, 1989 अंक में छपी थी। यह छपते ही लम्बे विवाद का केन्द्र बन गई। फिर प्रश्न उठता है कि हंस पत्रिका के संपादक राजेन्द्र यादव ने एक कहानी पर हुए विवाद को लगातार कई अंकों तक आगे क्यों बढ़ाया ? विवादों को निरंतर छापते रहने में उनकी पत्रिका के क्या विचार थे ? पत्रिका के सामने स्पष्ट लक्ष्य था कि विभिन्न अनछुए पहलुओं पर वाद-विवाद करके ‘हिंदी की बौद्धिकता’ को कैसे सम्पन्न की जाए ? इसकी परिणति कभी स्त्री विमर्श तो कभी दलित विमर्श की पहल के रूप में सामने आयी, तो कभी बाबरी विध्वंस जैसी साम्प्रदायिकता पर तीखे प्रतिकार के रूप में। मंडल कमीशन द्वारा पिछड़े वर्ग के आरक्षण को राष्ट्र निर्माण के रूप में देखने की जोरदार पहल भी इसी पत्रिका में देखने को मिलती है। जितने भी ज्वलंत मुद्दे हो सकते थे, उनमें से किसी को भी पत्रिका ने नजरअंदाज नहीं किया। यह वही दौर था जब लालकृष्ण आडवाणी की रथयात्रा से देश भर में साम्प्रदायिक सौहार्द के सामने गंभीर चुनौती पैदा हो रही थी, पिछड़े वर्ग के आरक्षण के विरोध में कथित सवर्णों द्वारा प्रदर्शन किया जा रहा था। हिंदी जगत वैचारिक स्तर पर इन मुद्दों पर चर्चा करने से बच रहा था तभी राजेन्द्र यादव ने ‘हंस’ के माध्यम से वैचारिक हलचल पैदा करने की कोशिश की। स्त्री हों या दलित या फिर पिछड़ा वर्ग, उन्हें समाज की मुख्य धारा में लाने का उनका संकल्प कभी स्त्री लेखिकाओं को ‘हंस’ में प्राथमिकता के रूप में सामने आयी तो कभी दलित रचनाकारों को।

बीज शब्द : विमर्श, पिछड़ा वर्ग, सम्पादकीय, लोकतांत्रिक, समानता, ध्रुवीकरण, मार्क्सवाद, वर्ण व्यवस्था

हंस पत्रिका का चरित्र ही ऐसा था कि वह विभिन्न मुद्दों पर वैचारिक बहस के तहत काम करती थी। पत्रिका के दृष्टिकोण को स्वयं उसके संपादक राजेन्द्र यादव ने स्पष्ट किया है, “मेरा दृष्टिकोण था कि मैं औरों से हटकर कुछ काम करूँ। हटकर यह कि मैं चीजों को दूसरे दबावों से ढंककर कहना नहीं चाहता था, साफ-साफ कहना चाहता था। इसे साहसिकता माना गया। मुझे अपनी बात कहने के लिए दूसरों का मंच नाकाफी लगा। दूसरे मेरी बात पचा नहीं पाते थे। इसलिए अपनी बात अलग ढंग से कहने के लिए मैंने पत्रिका निकालने का विचार किया।”

‘हंस’ में होने वाले विचार-विमर्श, वाद-विवाद की उपलब्धियाँ क्या रही हैं, उसका दायरा और प्रभाव किन क्षेत्रों तक पड़ा, इसे मैनेजर पाण्डेय बखुबी रेखांकित करते हैं, “काँटे की बात’ और ‘मेरी तेरी उसकी बात में’ राजेन्द्र यादव साम्प्रदायिकता के माया जाल, हिन्दू धर्म के मोह और आतंक, साहित्य की स्वतंत्रता, बुद्धिजीवी के संकट, रचनाशीलता के द्वन्द्व, सत्ता और साहित्य के संबंध, सच बोलने के खतरे, पुरस्कारों की राजनीति, अस्मिता विमर्श के अतिरेक, अतीत के प्रेत और वर्तमान की वास्तविकताएँ, भारत में जाति व्यवस्था की

जकड़बंदियाँ, राजनीति के अर्थ की बहुलता, नीति और राजनीति के खेल, दलित चेतना और दलित साहित्य, साहित्य में श्लील-अश्लील और गालियाँ, भाषा और वर्ग, भारतीय समाज में स्त्री की स्थिति, उसकी स्वतंत्रता की सरहदें, स्त्री की हत्या, आत्महत्या और सती प्रथा तथा स्त्री लेखन की समस्याएँ आदि से जुड़े असंख्य सवालों पर अपना सोच-विचार पच्चीस वर्षों तक लगातार बेहिचक और बेबाक ढंग से व्यक्त किया है। इसीलिए हंस के संपादकीयों में ही राजेन्द्र यादव का हंस-विवेक मूर्त रूप में मौजूद है।”²

नब्बे के दशक में कई ज्वलंत मुद्दे भारतीय समाज को निर्णायक मोड़ पर ला दिये थे। उस स्थिति में भी बौद्धिक समाज में एक तरह की निष्क्रियता बनी हुई थी। राजेन्द्र यादव ने अपने सम्पादकीय से उस बौद्धिक जड़ता को झकझोरने का काम किया था। पिछड़े वर्ग के आरक्षण की बात आते ही देश भर में हाहाकार मच गया। कथित सवर्णों द्वारा विरोध में सरकारी सम्पत्तियाँ जलाई जाने लगीं फिर भी हिंदी का बौद्धिक वर्ग चुप्पी साधे रहा। इस चुप्पी को राजेन्द्र यादव ने कठघरे में खड़ा किया, “आरक्षण पर (प्रायः विरोध में) राजनेता बोल रहे हैं, समाजशास्त्री, अर्थशास्त्री, संविधान-शास्त्री, डॉक्टर-वकील-पत्रकार सब बोल रहे हैं, अगर चुप हैं तो सिर्फ रचनाकार। करोड़ों-अरबों की सम्पत्ति स्वाहा हो रही है, ताजियों के आगे काँटों और छुरों से अपने आपको लहू-लुहान करने वाले जुनूनी किशोर आत्मदाह और हत्या-आत्महत्याएँ कर रहे हैं और सतियों के खून का पुराना चस्का चुभलाता नरभक्षी स्वर्ण समाज उनका जय-जयकारा कर रहा है। मानवीय संवेदना के इन अलम्बरदारों की यह नृशंस चुप्पी सचमुच दिल दहला देनेवाला है।”³

राजेन्द्र यादव विचार-विमर्श के हिमायती थे, चाहे विरोधी मत ही क्यों न हो अगर तार्किक है तो उसे ‘हंस’ में जगह देते थे। उनकी दृष्टि में यह बात कहीं-न-कहीं थी कि वैचारिक असहमतियों से लोकतांत्रिक चेतना (वैचारिक स्वतंत्रता) का विकास होता है। हंस पत्रिका में विवादों को लगातार जगह देने का यह एक बड़ा कारण लगता है। पत्रिका का स्पष्ट मानना है कि उन्हें किसी विचार या विवाद को अंक विशेष में सीमित करने की बाध्यता कभी नहीं थी। विचारों या विवादों से जब तक लोकतांत्रिक चेतना का विकास होता रहे तब तक अंक-दर-अंक उन्हें जगह मिलती रही। “हंस की बहसों की सबसे बड़ी बात यह है कि इनमें बहस को एक अंक में समेटने की कोई जल्दी नहीं दिखती। एक बहस चार-पाँच महीनों तक जारी रहती है। लम्बी बहस विभिन्न अंकों में बँट जाने से लम्बी नहीं लगती, और अधिकांश पक्ष तात्कालिक प्रतिक्रियावाले होने से बच जाते हैं, जो भी हो, लम्बी बहसों के कारण ही कई मुद्दे केन्द्र में आ सके और कई सवालों पर हिंदी-समाज का माइंड-सेट बदलने में सफल भी हो पाए हैं।”⁴

इन लम्बी बहसों में बेहद प्रासंगिक विषयों को उठाया गया था; जैसे, ‘गाँधी बनाम अम्बेडकर’, ‘राम कहानी (राम आदि के चरित्र को लेकर विभिन्न भाषाओं में लिखित रामायण का आलोचनात्मक अध्ययन)’, ‘अपने अपने राम (राम के मिथक की पुनर्व्याख्या पर बहस)’, ‘साम्प्रदायिकता, धर्मनिरपेक्षता और बहुसंख्यकवाद’ (नब्बे के दशक की साम्प्रदायिक राजनीति पर तीखी बहस), ‘हिन्दी प्रदेश का वैचारिक संकट (हिन्दी प्रदेश के वैचारिक दिवालीयेपन के कारणों की पड़ताल)’, ‘स्त्री, दलित और दलित स्त्री’, ‘आरक्षण, सामाजिक न्याय और बुद्धिजीवी’ इत्यादि। उन्नीसवीं सदी का अंतिम दशक भारतीय समाज के जिन बुनियादी परिवर्तनों का गवाह रहा है, ‘हंस’ ने उनकी बड़े साहस और बेबाकी से शिनाख्त की है।

समतामूलक समाज के हिमायती राजेन्द्र यादव समस्या के मूल स्रोत का निदान करके उससे संबंधित अन्य समस्याओं का भी निदान ढूँढने की कोशिश करते रहे। भारतीय समाज में वर्ण व्यवस्था वह मूल समस्या है जो स्त्री की दयनीयता से लेकर दलित, पिछड़े, अल्पसंख्यक आदि को हाशिए का जीवन जीने के लिए विवश करती रहती है, “उमा भारती हो या महारानी सिंधिया, जगजीवन राम हों या वेंकटरमन, औरत और शूद्र को उसकी जगह बताना तो वर्ण-व्यवस्था को तो आता ही है, भारतीय वर्ण-व्यवस्था में आप कहीं भी क्यों न हों,

औरत को सेक्स और शूद्र को जाति बताकर चुटकियों में उसे उसकी जमीन दिखाई जा सकती है।”⁵ राजेन्द्र यादव नब्बे के दशक के साम्प्रदायिक ध्रुवीकरण को भी उसी वर्ण व्यवस्था का षड्यंत्र मानते हैं जो अपनी भूमिका को समाज पर नियन्त्रण के रूप में थोपता रहता है। पिछड़े वर्ग (लोधी समाज) की उमा भारती राम मंदिर के लिए जब वर्ण-व्यवस्था (या साम्प्रदायिक शक्तियों) के हाथों खेलने लगती है तो राजेन्द्र यादव उन्हें वर्ण-व्यवस्था के चाल-चरित्र से परिचित कराना उचित समझते हैं, “सिर-चढ़ी उमा क्या कभी नहीं सोचती कि जोशी ने उसे क्यों सिर चढ़ाया हुआ है ? शतरंज खत्म होने पर गोठियाँ किन डिब्बों में वापस बाँध दी जाती है ? नहीं, उस शिखर-क्षण में उमा बिलकुल नहीं सोचती... वह सिर्फ इतना जानती है कि यह विजय ‘उसकी’ है, जोशी जी भी उसके इस भ्रम को नहीं तोड़ेंगे... मगर नहीं उमा, यह विजय तुम्हारी नहीं, मूलतः यह विजय मुरली मनोहर जोशी की है, डेढ़-दो हजार साल पहले की उस मनुस्मृति की वर्ण-व्यवस्था की है जिसके शीर्ष पर जोशी जी ही विराजमान हैं। तुम तो सिर्फ ‘लठैत’ हो जो मालिक के इशारों पर अपने ही भाई-बंधों का सिर फोड़ आता है और गदगद होकर शाबाशी पाता है। तुम्हें तो इसी विश्वास में बने रहना है कि तुम धर्म के लिए मर-मिटने वाली सिपाही हो। इस पुण्य-कार्य के लिए भगवान तुम्हें स्वर्ग देगा... जोशी जी ने इसी लोक में अपने स्वर्ग के लिए और तुम्हारे स्वर्ग की व्यवस्था परलोक में कर दी है।”⁶

आलोचक मैनेजर पाण्डेय भी राजेन्द्र यादव की वैचारिकी में जाति व्यवस्था के प्रति आक्रोश देखते हैं, जाति व्यवस्था को ही साम्प्रदायिकता, उग्र राष्ट्रवाद की देन मानने वाली बात की शिनाख्त करते हैं। वे कहते हैं— “हिन्दी में जाति व्यवस्था की निर्भीक आलोचना की जिस परम्परा का निर्माण प्रेमचंद और राहुल सांकृत्यायन ने किया था उसी को अधिक उग्र और मूलगामी राजेन्द्र यादव ने बनाया है। वे जाति व्यवस्था को हिन्दू साम्प्रदायिकता और हिन्दू राष्ट्रवाद से नाभि-नाल-बद्ध मानते हैं।”⁷

‘हंस’ अपनी वैचारिकता के लिए इतना प्रतिबद्ध था कि अपने तर्कों को आक्रामकता की हद तक पहुँचा देता था। उसे जो भी कहना था उसमें कोई लाग-लपेट नहीं बल्कि डंके की चोट पर। इसी प्रवृत्ति की ओर विभूति नारायण राय ध्यान दिलाते हैं— “हंस ने हिंदी की साहित्यिक पत्रकारिता में पहली बार हाशिए के लोगों को बिना किसी क्षमा प्रार्थना के बल्कि यूँ कहा जाना चाहिए कि चिढ़ाने वाली आक्रामकता के साथ, मुख्यधारा में स्थान दिया। दलित और स्त्री से जुड़े मुद्दों को जिस प्रखरता से राजेन्द्र यादव ने अपने संपादकीय लेखों और बहस के पन्नों पर उठाया और उनसे जो विमर्श निर्मित हुए वे हिंदी संसार के लिए अभूतपूर्व थे। यह वह समय था जब हिंदी साहित्य में हाशिए के लोग सचमुच हाशिए पर ही थे।”⁸

राजेन्द्र यादव वैचारिक बहसों के लिए तत्परता दिखाते रहते थे। इन बहसों का निशाना अक्सर विचार विशेष में आने वाली जड़ता होती थी। वे इस जड़ता में एक वैचारिक हलचल पैदा करके विरोधियों और समर्थकों को खुला निमंत्रण दे बैठते थे। तब हिंदी समाज लगातार कई-कई अंकों (हंस के) तक उस वाद-विवाद से परिचित होकर अपने सोचने-विचारने की चेतना का विकास करता रहता था। वे वैचारिक स्वतंत्रता के इतने आग्रही थे कि जो भी विचार मन में चल रहा हो उसे अभिव्यक्त करने में कोई भी जोखिम उठाने को तत्पर हो उठते थे, फिर चाहे पुलिस-मुकदमा ही क्यों न हो— “उन्होंने (राजेन्द्र यादव ने) जमकर हिन्दुत्व और उसके उपादानों यथा वर्ण व्यवस्था, कर्मकांड और पुनर्जन्म की अवधारणा को कोसा और एक बार तो अपने अतिरिक्त उत्साह के चलते पुलिस के हत्थे चढ़ते-चढ़ते बचे पर इस मामले में बहुत से वामपंथी बुद्धिजीवियों के मुकाबले उनका रवैया अधिक स्वागत योग्य था। उन्होंने मुस्लिम कट्टरता को भी नहीं बक्शा। मुस्लिम औरतों की स्थिति और फतवों पर उन्होंने खुद भी ईमानदारी से लिखा और कई मुसलमान औरतों से भी लिखवाया। इस मामले में हमें उनकी तारीफ करनी चाहिए क्योंकि ज्यादातर वामपंथी बुद्धिजीवी हिंदू सांप्रदायिकता पर तो जमकर हमला करते हैं पर मुस्लिम कट्टरता का जिक्र आते ही रणनीतिक चुप्पी साध लेते हैं।”⁹

‘कॉमरेड का कोट’ कहानी पर हुई बहस ‘हंस’ की विवादित बहसों में से एक है। इस कहानी पर राजेन्द्र यादव की नजर पड़ती है कि ‘कहानी में यथार्थ को हम कितने कन्विसिंग ढंग से प्रस्तुत कर सकते हैं कि हमारी बात सही जगह चोट करे।’¹⁰ वे कहानी के यथार्थ के पक्ष में दिखते हैं लेकिन कहानी पर जो बहस छिड़ी उनमें से ‘सारी बहस पार्टी (सी.पी.आई और सी.पी.एम.) की नीति को गलत या सही सिद्ध करने के आस-पास मंडराती रही।’¹¹ वे दूसरी जगह भी यही चिंता जाहिर करते हैं, “अनेक स्थानों से पक्ष और विपक्ष में तीखी प्रतिक्रियाएँ आ रही हैं; कलकत्ते का दो दिन का ‘जनवादी कथा-समारोह’ तो लगभग इसी पर केन्द्रित हो गया था। जाहिर है कहानी पर प्रायः कोई बात नहीं कर रहा (इस बार डॉ. माहेश्वर ने कोशिश की है) सारी बहस वामपंथी राजनीति के दो भिन्न दृष्टिकोणों को लेकर होने लगी है। यह खतरा हर राजनैतिक रचना के साथ जुड़ा है। अदूर गोपाल कृष्ण की फिल्म ‘मुखामुखम’ हो या सृजय की कहानी ‘कॉमरेड का कोट’- दोनों पर रचना की तरह बात कम हो रही है, उनसे उठते राजनैतिक सवालों पर अधिक।”¹²

‘कॉमरेड का कोट’ की बहस के केन्द्र में न तो कहानी-कला रही और न ही कहानी का यथार्थ। राजेन्द्र यादव ने ‘कॉमरेड का कोट’ के विवाद को विराम देते हुए इन कमियों की तरफ ध्यान भी दिलाया था। तब सवाल उठता है कि इन कमियों के बावजूद लगातार पाँच अंकों (1989 के मार्च, अप्रैल, मई, जून, जुलाई अंक) को विवादों पर खर्च क्यों किया गया ? इसका स्पष्ट जवाब यही हो सकता है कि कहानी के यथार्थ से इतर वामपंथी पार्टियों से संबंधित जो भी बहस होती रही उनसे भी हिंदी समाज को परिचित कराना। इन पार्टियों की आंतरिक विसंगतियाँ भी वैचारिक मतभेदों से टकराकर हिंदी समाज के सामने आईं। राजेन्द्र यादव भारतीय समाज को जाति से अलग करके देखने के पक्ष में नहीं थे इसलिए वे कम्यूनिस्ट पार्टियों के चिंतन में वर्ण की जगह वर्ग को पचा नहीं पाते थे। वे इसे कम्यूनिस्ट पार्टियों की सैद्धांतिक कमजोरी के रूप में देखते हैं- “भारतीय समाज को जाति से अलग करके देखने वाले लोग या तो बहुत चालाक या फिर निरे मूर्ख लोग हैं। जाति यहाँ के समाज का कड़वा सच है। जाति के दंश को वे लोग महसूस नहीं कर सकते हैं, जो प्रभुता की स्थिति में हैं। भारत की कम्यूनिस्ट पार्टियों ने सबसे बड़ी गलती इस जाति-भेद को अनदेखा कर की। कास्ट सच्चाई है, परंतु बीमारी है यह समझें, फिर इलाज करें।”¹³

‘कॉमरेड का कोट’ का विवाद भी इस अंतर्विरोध की तरफ ध्यान खींचता है जहाँ मार्क्स द्वारा ‘भारत संबंधी विश्लेषण (वर्ण की जगह वर्ग पर जोर) को अधूरा मानने’¹⁴ का प्रश्न भी उठता है।

‘हंस’ के संपादक के हवाले से यदि वामपंथी पार्टियों पर विचार करें तो हम पाते हैं कि वे वामपंथ के अंतर्विरोध (जाति के प्रश्न को अनदेखा करना, वर्ग पर जोर आदि) पर स्पष्ट बात करते हैं। लेकिन वामपंथ भले ही राजनैतिक उपलब्धियों के रूप में असफल हो, वे उसे विचार-दर्शन के रूप में एक उपलब्धि की तरह देखते हैं- “मार्क्सवाद एक राज-व्यवस्था के रूप में भले ही असफल हो गया हो, समाज को समझने और समाज को बदलने के रूप में इसकी उपयोगिता निर्विवाद कायम है। इसके जरिए सामाजिक स्थितियों को ज्यादा ठीक ढंग से समझा जा सकता है। पूँजीवाद को भी मार्क्सवाद ही उसकी बनावट और कार्यपद्धति के बारे में समझाता है, ऐसा मुझे लगता है।”¹⁵

राजेन्द्र यादव का मार्क्सवादी दर्शन की तरफ झुकाव था। वे जनवादी लेखक संघ (सी.पी.एम का लेखक विंग) के उपाध्यक्ष रहते ‘कॉमरेड का कोट’ जैसी कहानियों को ‘हंस’ में जगह दे रहे थे। वे रचनाएँ और वैचारिकी दोनों माध्यमों से वामपंथ संबंधी राजनैतिक मूल्यहीनता को उजागर करके जनवादी संघर्ष की रक्षा करने के पक्ष में थे। इसीलिए, “चूँकि पार्टियाँ अपनी पार्टी लाइन से भटक रही थीं सो हमारी चोर-इच्छा थी कि कहानी के बहाने पार्टी-लाइन पर बहस छेड़ी जाए। धीरेन्द्र अस्थाना के एक पत्र के हंस में प्रकाशन के साथ ही बहस छिड़ गई। सी.पी.एम. और कुछ सी.पी.आई. (खगेन्द्र ठाकुर आदि) ने इसे अपने विरुद्ध मान लिया

और उन्हें लगा, यह कोई कहानी नहीं, यह सी.पी.आई.एम.एल. (जो उनमें से कइयों के अनुसार कांग्रेस या प्रतिक्रियावादी शक्तियों से मिली हुई है) का सी.पी.एम. पर तीखा प्रहार है। यहीं आकर बहस दलदल में फंस गई। अधिसंख्य सी.पी.एम. लेखकों और कार्यकर्ताओं का मानना था कि ऐसी कहानी को हंस में छपना ही नहीं चाहिए था और कि राजेन्द्र यादव ने इसे हंस में प्रकाशित कर पार्टी को बदनाम करने की कोशिश की है जो अक्षम्य है। अपराध तब और संगीन हो उठता है जब राजेन्द्र यादव 'जनवादी लेखक संघ' के उपाध्यक्ष भी हैं। हंस में पक्ष-विपक्ष में लंबे समय तक पत्र छपते रहे। यही नहीं यह विवाद हंस के पन्नों से छिटककर पूरे जनवादी खेमे में फैल गया। पक्ष में भाकपा (माले) और उस धड़े के लेखक और विपक्ष में माकपा, भाकपा आदि।¹⁶

'हंस' में सशस्त्र संघर्ष को प्राथमिकता देने वाली कहानियों के माध्यम से भी 'वामपंथ' के अंतर्विरोधों को उजागर किया गया है। "बिहार के गाँवों में किसान, मजदूर सशस्त्र आन्दोलन बनाम भू-स्वामियों की निजी सेनाओं द्वारा विरोधी पक्ष के समर्थकों के नाम पर जारी जातिगत सामूहिक नरसंहार का दस्तावेज है संजीव की कहानी 'पूत-पूत! पूत-पूत !' (संजीव, हंस, सितम्बर-1998)। पुलिस या तो जमींदारों की सेना का साथ देती है या मूक दर्शक बनी रहती है।"¹⁷ इस कहानी में वामपंथी पार्टी समर्थित सशस्त्र संघर्ष हो या भू-स्वामियों की निजी सेना द्वारा हिंसा, दोनों की आलोचना देखने को मिलती है। यही अंतर्विरोध रामनाथ शिवेन्द्र की कहानी 'हम तुम्हें खोना नहीं चाहते कॉमरेड !' (हंस, नवम्बर, 1997) में भी देखने को मिलती है। यह कहानी, "सशस्त्र संघर्ष को अपना रास्ता मान चुकी वामपंथी पार्टी की आपसी गुटबंदी और हिंसा-संस्कृति की परतें खोलती है।"¹⁸

वामपंथी पार्टियाँ भी अब चुनावी राजनीति की उन्हीं अंतर्विरोधों की शिकार हो चुकी हैं जिनकी वे कल तक आलोचना करते नहीं थकती थीं। उन्होंने भी वही दाव-पेंच सीख ली है जिनका वे कल तक विरोध करती थीं। इसका सबसे सटीक उदाहरण है अवधेश प्रीत की कहानी 'ग्रासरूट' (हंस, मार्च, 1996)। वामपंथी पार्टियाँ भी अब सत्ता के दबाव में अपना निर्णय लेने लगी हैं। वामपंथी पार्टी का विधायक सत्ता के दबाव में मजदूरी बढ़ाने के संघर्ष में हुई मजदूर की हत्या से साफ मुकर जाते हैं। यानी मुख्य समस्या या जिनसे जन समुदाय के हित प्रभावित होते हों (मजदूरी आदि से) उन्हें एक झटके में नकार दिया जाता है।

इन सबसे उलट चन्द्रभूषण की 'छापामार' कहानी (हंस, मई, 1997) में, सशस्त्र संघर्ष समर्थक वामपंथी पार्टी को विकल्प के रूप में भी देखा गया है। कहानी का पात्र नाई कुंवर बात-बात में जमींदारों द्वारा मार-पीट और बेगारी का शिकार होने पर तंग आकर सशस्त्र संघर्ष समर्थित वामपंथी पार्टी में शामिल हो जाता है।

कहने का तात्पर्य यह है कि 'हंस' में प्रकाशित वामपंथ संबंधी कहानियाँ अपने एकांगीपन के शिकार होने से बच गई हैं। इनमें चुनावी राजनीति को अपनाने वाली वामपंथी पार्टियाँ भी हैं और उसकी अनदेखा कर सशस्त्र संघर्ष की बदौलत 'जनवाद' की रक्षा की बात करने वाली वामपंथी पार्टियाँ भी हैं। पत्रिका में किसी के भी अंतर्विरोध को अनदेखा नहीं किया गया है। विषय के रूप में कहानियों में विविधताएँ हैं जो संपादक को वामपंथी पार्टी संबंधी किसी खघस गुट की वैचारिकता को, पत्रिका पर थोपने से बचाती हैं। इस तरह पत्रिका तमाम तरह की वैचारिक मतभेदों के लिए खुला मंच उपलब्ध कराती है। संपादक स्वयं अपने खिलाफ लगने वाले आक्षेपों को भी पत्रिका में छापने से नहीं चूकता और उन वैचारिक बहसों से तो खासकर नहीं जिनसे दो भिन्न विचारों को टकराव होता हो। वे कहते भी हैं- "हमारे खिलाफ भी चीजें जाती हैं और सबसे पहले छपती हैं। हमें गालियाँ भी मिलती हैं। अगर किसी को किसी के खिलाफ या किसी विचार का विरोध करना होता है तो वो छपता है। लोकतांत्रिकता और क्या होती है।"¹⁹

निष्कर्ष :

अतः 'कॉमरेड का कोट' के विवाद के संदर्भ में इतना ही कहा जा सकता है कि राजेन्द्र यादव उसके

बहाने वामपंथ के अंतर्विरोध से हिंदी समाज को परिचित कराना चाहते थे। हालाँकि कहानी-कला या कहानी के यथार्थ पर भी उनका ध्यान था। लेकिन बहस पार्टी नीति को सही या गलत साबित करने को लेकर चल पड़ी तो उसे जारी रखकर, कई तरह के वाद-विवादों से हिंदी समाज को परिचित कराना उन्हें ज्यादा सार्थक लगा।

‘हंस’ के विवादों के संदर्भ में ‘कॉमरेड का कोट’ पर बात की जाए तो स्पष्ट रूप से कहा जा सकता है कि राजेन्द्र यादव ने इसको लेकर साहसिक ईमानदारी दिखाई है। ‘जनवादी लेखक संघ’ के उपाध्यक्ष रहते उससे संबंधित पार्टी (सी.पी.एम. और उसके धड़े से जुड़े लेखकों के अनुसार) के अंतर्विरोध पर बात करना सचमुच साहस का काम था। वही साहस लालकृष्ण आडवाणी की रथयात्रा और उसके बाद की साम्प्रदायिकता पर बहस में देखने को मिलती है। राम मंदिर और रामायण सीरियल के बहाने जब देश में साम्प्रदायिक शक्तियाँ मजबूत हो रही हों, उस दशा में भी यदि राम के ऐतिहासिक चरित्र को लेकर कोई पत्रिका वाद-विवाद करे तो उसकी साहसिकता समझी जा सकती है। एकाध अंक में विवादों को समेटने के बजाए लगातार कई-कई अंकों तक उस पर जिरह-बहस से, सारी गुत्थियों पर बात करने की गुंजाइश बचती है। यह ‘हंस’ में छपने वाले लगभग सारे विवादों के साथ था। अतः कहा जा सकता है कि ‘कॉमरेड का कोट’ के विवादों की प्रकृति ‘हंस’ के विवादों (या विमर्शों) की ही निरंतरता है।

संदर्भ :

1. धनंजय कुमार दुबे, हिंदी कहानी और हंस, अनामिका पब्लिशर्स एंड डिस्ट्रीब्यूटर्स, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, 2014, पृ. 215
2. मैनेजर पाण्डेय, आलोचना में सहमति-असहमति, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण 2013, पृ. 175
3. हंस के विमर्श-1, श्रृंखला सम्पादक : राजेन्द्र यादव, संकलन सम्पादक : विभास वर्मा, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण 2012 (आवृत्ति संस्करण, 2014), पृ. 201
4. वही, ‘हंस’ की बहसें, विभास वर्मा (भूमिका)
5. वही, पृ. 161
6. वही, पृ. 159
7. मैनेजर पाण्डेय, आलोचना में सहमति-असहमति, पृ. 176
8. विभूति नारायण राय, (अंक-जनवरी-मार्च 2014), राजेन्द्र यादव का लोकतंत्र, बहुवचन पत्रिका, पृ. 19
9. वही, पृ. 20
10. राजेन्द्र यादव, (अंक- जुलाई 1989), ‘मेरी तेरी उसकी बात’ (संपादकीय), हंस, पृ. 6
11. वही, पृ. 6
12. राजेन्द्र यादव, (अंक- अप्रैल, 1989), ‘मेरी तेरी उसकी बात’ (संपादकीय), हंस, पृ. 6
13. धनंजय कुमार दुबे, हिंदी कहानी और हंस, पृ. 217
14. अमित सेनगुप्ता, (अंक- अप्रैल 1989), ‘बंद गली से अंधेरी गली तक’, हंस पत्रिका, पृ. 12
15. धनंजय कुमार दुबे, हिंदी कहानी और हंस, पृ. 217
16. संजीव, (अंक-जनवरी-मार्च 2014), ‘अमर होकर तो आया नहीं : राजेन्द्र यादव’, बहुवचन पत्रिका, पृ. 32
17. धनंजय कुमार दुबे, हिंदी कहानी और हंस, पृ. 170
18. वही, पृ. 180-81
19. राजेन्द्र यादव, ‘हंस सर्वाधिक लोकतांत्रिक पत्रिका है’, जवाब दो विक्रमादित्य, (समायोजन : कविता), वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2003, पृ. 247



मोहन राकेश एवं निर्मल वर्मा के संदर्भ में यात्रा साहित्य का वैशिष्ट्य

○ शिलाची कुमारी

संक्षिप्त :

हिंदी यात्रा-साहित्य के संदर्भ में राहुल सांकृत्यायन के पश्चात मोहन राकेश तथा निर्मल वर्मा को बड़ा हस्ताक्षर माना जाता है। इन्होंने यात्रा-साहित्य को नए अर्थों में समृद्ध किया। मोहन राकेश द्वारा लिखित 'आखिरी चट्टान तक' (सन् 1953) में दक्षिण भारत का विस्तार से वर्णन किया गया है। दक्षिण भारतीय जीवन पद्धति के विविध बिम्बों को इसमें लेखक ने यथावत प्रस्तुत कर दिया है। इनके यात्रा-साहित्य की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसमें कहानी की-सी रोचकता और नाटक का-सा आकर्षण देखा जा सकता है। निर्मल वर्मा ने 'चीड़ों पर चाँदनी' (सन् 1964) में यूरोपीय जीवन के चित्रों को उकेरा है। निर्मल वर्मा के यात्रा-साहित्य में न केवल अपने समय का वर्णन रहता है बल्कि इतिहास और संस्कृति के अनेक बिंदुओं को भी इसमें अभिव्यक्ति मिलती है। विदेशी संदर्भों को भी उनके गद्य की सहजता बोझिल नहीं होने देती।

बीज शब्द : यात्रा साहित्य, रोचकता, नाटकीयता, इतिहास, संस्कृति।

यात्रा करना मनुष्य की नैसर्गिक प्रवृत्ति है। हम अगर मानव इतिहास पर नजर डालें तो पाएँगे कि मनुष्य के विकास की गाथा में यायावरी का महत्वपूर्ण योगदान है। अपने जीवन काल में हर आदमी कभी-न-कभी कोई-न-कोई यात्रा अवश्य करता है लेकिन सृजनात्मक प्रतिभा के धनी अपने यात्रा अनुभवों को पाठकों के सम्मुख प्रस्तुत कर यात्रा-साहित्य को नया आयाम देते हैं। यात्रा-साहित्य का उद्देश्य लेखक के यात्रा अनुभवों को पाठकों के साथ बाँटना और पाठकों को भी उन स्थानों की यात्रा के लिए प्रेरित करना है। इन स्थानों की प्राकृतिक विशिष्टता, सामाजिक संरचना, सामाज के विविध वर्गों के सह-संबंध, वहाँ की भाषा, संस्कृति और सोच की जानकारी भी इस साहित्य से प्राप्त होती है।

यात्रा साहित्य पर विद्वानों के मत

वृहद हिन्दी कोश के अनुसार- जाने कि क्रिया, तीर्थ यात्रा, यात्रियों का समूह, मेला, यान, प्रस्थान, काल यापन, चढ़ाई, युद्ध यात्रा, उपाय-व्यवहार, जीवन निर्वाह उत्सव नृत्य गानयुक्त रास लीला का ढंग का बंगाल में प्रचलित एक अभिनय।¹

द्वारिका प्रसाद शर्मा- सफर एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाने कि क्रिया है।² यात्रा मनुष्य के जीवन से बहुत गहराई से जुड़ी है। आदि मानव से आधुनिक मानव तक बनने की प्रक्रिया में मनुष्य की यायावरी वृत्ति ने महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। भोजन और आजीविका की खोज से लेकर, ज्ञान प्राप्ति एवं सौन्दर्य जैसे अनेक उद्देश्यों तक यात्रा मनुष्य की सहचरी रही है।

सत्यदेव परिव्राजक के अनुसार – “ जो जातियाँ दूसरे देशों में भ्रमण करने नहीं जाती वे धीरे-धीरे मृत्यु की ओर चलने लगती हैं।”¹³ ‘यात्रा’ शब्द गतिशील का रक्षक है और स्थिरता की मृत्यु। मनुष्य का सर्वांगीण विकास यात्राओं द्वारा होता है।

रामचन्द्र तिवारी – “ यात्रावृत्त में देश-विदेश के प्राकृतिक रमणीयता, नर-नारियों के विविध जीवन-संदर्भ प्राचीन एवं नवीन सौन्दर्य चेतना की प्रतीक कलाकृतियों की भव्यता तथा मानवीय सभ्यता के विकास के धोतक अनेक वस्तु-चित्र यायावर लेखक के मानव रूप में रूपायित होकर वैयक्तिक रागात्मक ऊष्मा की दीप्ति हो जाते हैं।”¹⁴

यहाँ लेखक प्रस्तुत करता है कि प्राकृतिक सौन्दर्य के साथ-साथ मानव जीवन भी यात्रा का अंग रहा है। यात्रियों का ऐसा वर्ग भी है जो देश-विदेश के प्राकृतिक सौन्दर्य के प्रति साहित्यिक मनोवृत्ति के होते हैं। इन्हीं यात्रियों की मुक्त अभिव्यक्ति से यात्रा साहित्य का जन्म होता है।

रामस्वरूप चतुर्वेदी के शब्दों में, यात्रा-संस्मरण का एक पथ भूगोल के आकर्षण से जुड़ा हुआ है।¹⁵

हर एक स्थल का भौगोलिक परिवेश भिन्न-भिन्न होता है। पर्वत, सागर, झरनो-झीलों से सुशोभित भू-भाग अपने सौन्दर्य के कारण यात्रा को आकर्षित करते हैं। यात्रा लेखकों ने इन्ही भौगोलिक परिवेश को अपने यात्रा साहित्य में महत्वपूर्ण स्थान दिया है। प्रकृति भूगोल से जुड़ा हुआ है। आदिकाल से लेकर मनुष्य और प्रकृति का अटूट संबंध रहा है। मनुष्य का जन्म प्रकृति की गोद में हुआ है। प्रकृति ने ही मनुष्य का पालन पोषण किया है। यात्रा साहित्य में उस प्रकृति के सुंदर, मनोरम एवं आत्मीय रूप प्रतिबिम्बित होते हैं।

यात्रावृत्त के लेखक अपनी यात्रा के दौरान जो कुछ देखता और महसूस करता है, उसे प्रायः स्मृति के आधार पर लिखता है, इसलिए किसी अच्छे यात्रावृत्त में संस्मरण की प्रवृत्ति भी रहती है। फिर भी, यात्रावृत्त और संस्मरण एक-दूसरे से भिन्न हैं। यात्रावृत्त में समय तथा स्थान का उल्लेख अनिवार्य रूप से होता है, लेकिन संस्मरण में स्थान तथा समय का उल्लेख अनिवार्य नहीं है। इसके अतिरिक्त यात्रावृत्त में यात्रा के दौरान देखे गये स्थानों, दृश्यों अथवा घटनाओं से जुड़ी सामयिक स्मृतियों का वर्णन होता है, जबकि संस्मरण में स्थायी और अमिट स्मृतियों का वर्णन किया जाता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि वर्णन की दृष्टि से यात्रावृत्त निबंध और संस्मरण दोनों के कुछ गुणों को लेकर चलता है, फिर भी वह उन दोनों से अलग है। यात्रावृत्त का लेखक यात्रा के विवरणों में स्थान, दृश्य, घटना तथा व्यक्ति आदि से संबंधित कटु और मधुर स्मृतियों का चित्रण कर सकता है। हिंदी में यात्रावृत्त विधा को समृद्ध करने वालों में महादेवी वर्मा, राहुल सांकृत्यायन, अज्ञेय (अरे यायावर रहेगा याद), मोहन राकेश (आखिरी चट्टान तक), भगवतशरण उपाध्याय (वो दुनिया), यशपाल (स्वर्गोद्यान बिना साँप) आदि प्रमुख हैं।

यात्रावृत्त अकाल्पनिक गद्य विधा है। इसमें यात्राकार सामना की गई परिस्थितियों के यथार्थ अंकन का प्रयास करता है। हालाँकि, कलात्मक अभिव्यक्ति होने के कारण कल्पना से नकारा नहीं जा सकता परन्तु यात्रावृत्त में चित्रित प्रत्येक दशा यात्राकार की निजी अनुभूति होती है, अनुभूतियों को वह यथातथ्य सिद्ध कर सकता है। कल्पना का संयोग उसे रोचक बना देता है। लेखक की भावनाएँ उस परिवेश और वहाँ के मनुष्य की जीवनगत संवेदना को आत्मसात करती हैं, वह यात्रावृत्त मानों वहाँ का मानवीय इतिहास हो। जिसमें घटनाओं के साथ-साथ व्यक्ति-चेतना, संस्कार, सांस्कृतिक जीवन, सामाजिक और आर्थिक क्रियाएँ, राजनीतिक और भौगोलिक स्थितियाँ, विचार तथा धारणाएँ समाहित होती हैं।¹⁶

वर्णन की रोचकता यात्रावृत्त का मूल तत्व है। पढ़ते समय जो चीज मन में रोमांच पैदा कर दे तथा पाठक की जिज्ञासा शब्द-दर-शब्द बढ़ती ही जाए। रोचकता ही ऐसा तत्व है जो यात्रा साहित्य की पुस्तक को पर्यटन पुस्तिकाओं से अलगाता है। यात्री का उद्देश्य समय बीताने के लिये घूमना-फिरना नहीं होता। वह सैर किए गए

क्षणों को अनुभव करता है, उनसे आत्मीयता स्थापित करता है। यात्री का जुड़ाव इस कदर गहरा होता है कि वहाँ का प्राकृतिक सौन्दर्य जनजीवन, समस्याएँ आदि से वह संवेदना के गहरे स्तर पर तादात्म्य तो स्थापित करता ही है साथ ही साथ एक कलाकार की भेदक दृष्टि द्वारा कलात्मक वर्णन से वहाँ के दृश्यों को प्रत्यक्ष कर देता है। संवेदना के गहरे स्तर पर जुड़कर सौन्दर्य दृष्टि वृत्तान्त को साहित्यिक रूप देती है।

लेखक का ज्ञान और अनुभव यात्रा में पड़ने वाली प्रत्येक चीज को समझने में सहायक होता है। वह अपने अनुभवों के आधार पर निष्कर्ष निकालता है, तुलना करता है और कारणों की खोज करता है। ज्ञान और अनुभव के बिना यात्रा फीकी लगने लगती है और वह वस्तु वर्णन सा प्रतीत होने लगता है। लेखक के अनुभव ही महत्वपूर्ण नहीं होते बल्कि अभिव्यंजना कौशल भी महत्वपूर्ण होता है। भाषा और शैली का प्रयोग ही वर्णन की रुक्षता से बचाता है। लेखक प्रायः लोटकर स्मृति के आधार पर या यात्रा में लिखी गई डायरी के माध्यम से ही बाद में संपादित करके यात्रावृत्त की रचना करते हैं। वे यात्रा के समय अपने परिजनों या परिचितों को लिखे गये पत्रों में अपने यात्रानुभवों का वर्णन करते हैं। इससे शैली में आत्मीयता या रोचकता आ जाती है।

“सामान्य घटनाओं के वर्णनों में बोलचाल की भाषा की सहजता, प्रकृति या भावनात्मक क्षणों के वर्णन में कलात्मकता, दृश्यों के मूर्तिकरण में चित्रात्मकता और बिम्बधर्मिता, विचारों की अभिव्यक्ति में गाम्भीर्य तथा स्थितियों के विश्लेषण में भाषा का प्रौढ़, प्रांजल और बोधगम्य रूप दिखाई पड़ता है।” शैली की ही विशेषता है कि पाठक निरंतर जुड़ा रहता है।

किसी दृश्य का मूर्तिकरण करना चित्रात्मकता या बिम्बधर्मिता है। लेखक द्वारा यात्रा स्थल का वर्णन इस प्रकार करना की पढ़ते समय दृश्य आँखों के सामने जीवंत हो जाये। बिम्ब निर्माण करना किसी यात्रा लेखक की सबसे बड़ी सफलता है। यात्रा वृत्त का एक और महत्वपूर्ण तत्व जो उसका आधार है- समसामयिकता। उपर्युक्त तत्वों के बिना तो यात्रावृत्त का निर्माण हो नहीं सकता, परन्तु उसमें कालगत बोध स्वाभाविकता ला देता है। इससे यह अहसास नहीं होता कि हम इतिहास की कोई घटना पढ़ रहे हैं। हम समय के साथ-साथ यात्रा करने लगते हैं।

मोहन राकेश एवं निर्मल वर्मा का यात्रा साहित्य

हिंदी यात्रा-साहित्य के संदर्भ में राहुल सांकृत्यायन के पश्चात मोहन राकेश तथा निर्मल वर्मा को बड़ा हस्ताक्षर माना जाता है। इन्होंने यात्रा-साहित्य को नए अर्थों में परिभाषित किया। मोहन राकेश द्वारा लिखित ‘आखिरी चट्टान तक’ (सन् 1953) में दक्षिण भारत का विस्तार से वर्णन किया गया है। दक्षिण भारतीय जीवन पद्धति के विविध बिम्बों को इसमें लेखक ने यथावत प्रस्तुत कर दिया है। इनके यात्रा-साहित्य की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसमें कहानी की-सी रोचकता और नाटक का-सा आकर्षण देखा जा सकता है। निर्मल वर्मा ने ‘चीड़ों पर चाँदनी’ (सन् 1964) में यूरोपीय जीवन के चित्रों को उकेरा है। निर्मल वर्मा के यात्रा-साहित्य में न केवल अपने समय का वर्णन रहता है बल्कि इतिहास और संस्कृति के अनेक बिंदुओं को भी इसमें अभिव्यक्ति मिलती है। विदेशी संदर्भों को भी उनके गद्य की सहजता बोझिल नहीं होने देती।

‘आखिरी चट्टान’ यात्रावृत्त में मोहन राकेश ने कन्याकुमारी और उसके समीपवर्ती सागर-तट के भव्य सौन्दर्य का अत्यन्त सजीव व कलात्मक वर्णन किया है। लेखक एक बार कन्याकुमारी की यात्रा पर गया। उस यात्रा में उसे अनेक सुन्दर दृश्य देखने को मिले। कन्याकुमारी के हिन्द महासागर और बंगाल की खाड़ी के संगम पर स्वामी विवेकानन्द ने समाधि लगायी थी। उसी जगह पर आखिरी चट्टान से लेखक वहाँ के संध्याकालीन दृश्यों को देखता रहा। उस चट्टान के पास ही अन्य कई चट्टानें हैं जिनमें एक ऊँचा स्थान ‘सेण्डहिल’ है, जहाँ से सूर्योदय और सूर्यास्त का सुन्दर दृश्य दिखाई देता है। आखिरी पट्टान की यात्रा पर जाने वाले कुछ युवक

बेरोजगारी के कारण व्यर्थ में भटक रहे थे। कुछ मिशनरी युवतियाँ अपनी धार्मिक आस्था का चिन्तन कर रही थीं। लेखक कंप होटल में ठहरा था। उसे वहाँ का वातावरण अतीव आकर्षक लगा। वह वहाँ के सभी स्थानों का भ्रमण कर तथा आखिरी चट्टान पर स्थित मन्दिर के दर्शन कर लौट आया।

ऐसी-ऐसी बहुत सारी बातें आपको यह किताब पढ़कर ही पता चलेंगी।

“अब मैंने अपने को खुश रखने का एक तरीका सीख लिया है। और वह है खुश रहना। जब कभी मन उदास होने लगता है तो मैं जिस किसी के पास जाकर मजाक की दो बातें कर लेता हूँ, वह मुझे हँसोड़ समझता है और मेरी तबियत बहल जाती है।”⁸

सजग यायावर अपने देश के भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में अलग-अलग रूपों में विद्यमान सांस्कृतिक महत्व के स्थलों तक पहुँचना चाहते हैं और उनके अनुरक्षण एवं विस्तार में योग देना अपना कर्तव्य समझते हैं। पर जब अपने ही देश की संस्कृति एवं परंपरा के संवाहक उन क्षेत्रों के दर्शन के लिए किसी विदेशी अधिकारी से अनुमति माँगने के लिए बाध्य होना पड़े तो किसी भी स्वाभिमानी व्यक्ति को बहुत पीड़ा पहुँचती है। इस पीड़ा को अज्ञेय ने भोगा है, इसीलिए वे लेखते हैं- “देश की प्रत्येक सीमा तीर्थ होती है, नहीं तो देश पुण्यभूमि कैसे होता? पर अपने ही तीर्थ तक जाने के लिए परदेशीय सत्ता के अहंमन्य प्रतिनिधि का मुंह जोहना जैसे चुभता है, उसे भुक्त भोगी जानते हैं।”⁹

यात्रा-साहित्य का लेखक सरल, रोचक और चित्रात्मक भाषा का प्रयोग करता है। इससे जहाँ वर्णन में रोचकता आती है, वहीं पाठक भी उस विवरण को मनोयोग से पढ़ता है। यात्रा साहित्य के लेखक और पाठक में बातचीत का सा संबंध बना रहता है। ‘आखिरी चट्टान’ की भाषा भी ऐसी ही चित्रात्मक, सरल और आम बोलचाल की भाषा है। एक उदाहरण देखिए-

‘रात केप होटल का लॉन। अँधेरे में हिन्द महासागर को काटती हुई स्याह लकीरें-एक पौधे की टहनियाँ, नीचे आदमी। दक्षिण पूर्व के क्षितिज में एक जहाज की मद्धिम-सी रोशनी’।

एक और उदाहरण देखिए -

‘पानी और आकाश में तरह-तरह के रंग झिलमिलाकर, छोटे-छोटे द्वीपों की तरह समुद्र में स्याह चट्टानों की ओट से सूर्य उदित हो रहा था। घाट पर बहुत से लोग उगते सूर्य को अर्घ्य देने के लिए एकत्रित थे। दो स्थानीय नवयुवतियाँ उन्हें अपनी टोकरियों से शंख और मालाएँ दिखला रही थीं।

‘चीड़ों पर चाँदनी’ निर्मल वर्मा द्वारा लिखित ‘चीड़ों पर चाँदनी’ एक यात्रा संस्मरण है जो कि उनके सन् 1959 में प्रकाशित संग्रह ‘चीड़ों पर चाँदनी’ का नवाँ संस्मरण है। ‘चीड़ों पर चाँदनी’ संग्रह को लेखक ने तीन उपशीर्षकों में विभाजित किया है। प्रथम ‘उत्तरी रोशनियों की ओर’, द्वितीय ‘चीड़ों पर चाँदनी’ तथा तृतीय ‘देहरी के बाहर’। द्वितीय, उपशीर्षक- ‘चीड़ों पर चाँदनी’ में पाँच यात्रा संस्मरण हैं- लिदीत्से : एक संस्मरण, बर्तारम्का एक शाम, पेरिस : एक स्टिल लाइफ, वियना और चीड़ों पर चाँदनी। इनमें से चार यूरोपीय परिवेश से जुड़े यात्रा वृत्त हैं और अन्तिम ‘चीड़ों पर चाँदनी’ भारत से।

निर्मल वर्मा ने ‘चीड़ों पर चाँदनी’ यात्रा संस्मरण में पहाड़ी प्रदेशों के प्रमुख वृक्ष ‘चीड़’ को पहाड़ का प्रतीक मानकर, भारतीय पहाड़ी प्रदेशों की प्राकृतिक सुषमा को अभिव्यक्त किया है जो अपनी रमणीयता, रहस्य और भय से व्यक्ति को आह्लादित, विस्मित और भयभीत करती है। ‘पहाड़ों पर चाँदनी’ यह अद्भुत माया जाल मैंने पहली बार देखा था और एक अलौकिक विस्मय से मेरी आँखें अनायास मुँद गई थीं। उस रात मुझे लगा था कि पहाड़ों में भी साँप की आँख जैसा एक अविस्मृत, जादुई सम्मोहन होता है- एक भुतैला-सा सौन्दर्य जो एक साथ हमें आतंकित और आकर्षित करता है, जिसके मोह-पाश में बँधना उतना ही यातनामय है, जितना उससे

मुक्त होना।

निर्मल वर्मा का 'चीड़ों पर चाँदनी' यात्रावृत्तांत जितना ही निजी और भीतर की ओर जाता है उतना ही बाहर की ओर भी खुलता है। हम चीड़ों पर चाँदनी पढ़ते हुए न केवल शहरों, देशों और लोगों से गुजरते हैं बल्कि वहाँ के लेखकों, कवियों, शिल्पकारों, संगीतकारों की कला के प्रति निर्मल की गहरी समझ से भी वाकिफ होते चलते हैं। एक देश के बहुरंगी आयामों को यह यात्रावृत्तांत बहुत खूबसूरत तरीके से खोलती है। इसे पढ़ते हुए सफर के मुकम्मल होने का अहसास साथ चलता है। पुस्तक की भूमिका में लिखते हैं, "महज सांस ले पाना-जीवित रह कर धरती के चहरे को पहचान पाना यह भी अपने में एक सुख है- इसे मैंने इन यात्राओं में सीखा है।"¹⁰ इन संस्मरणों में निर्मल वर्मा खुद की आँखों से दुनिया को और दुनिया की आँखों से खुद को देखने-परखने और खोजने का प्रयास करते हैं।

निर्मल वर्मा ने मनुष्य के अकेलेपन की समस्या के द्वंद पर चर्चा की है कि पश्चिम में आधुनिक लेखकों को यह समस्या काफी पीड़ित करती है लेकिन आइसलैण्ड के साहित्य के नोबल पुरस्कार प्राप्त लेखक लैक्सनेस को इस समस्या ने कभी पीड़ित नहीं किया। सार्त्र के कथन, "आज के युग में कोई भी प्रतिगामी लेखक महान साहित्य की रचना नहीं कर सकता, का विरोध करते हुए लैक्सनेस कहते हैं कि अपने प्रतिगामी विचारों के रहते भी इलियट और काम्यू ने महान रचनाओं की सृष्टि की है।"¹¹

चीड़ों पर चाँदनी के माध्यम से निर्मल वर्मा समाज की विभिन्न समस्याओं को रेखांकित करते हैं और चिंता जाहिर करते हैं। आज के समय में जितना तेजी से विकास हो रहा है समाज में उतनी मात्रा में असामाजिक तत्वों में भी बढ़ोत्तरी हो रही है। चोरी, हत्या, बलात्कार जैसी दुर्घटनाएँ लगातार हो रही हैं, जो कि निंदनीय है। वही आइसलैण्ड में, "मेरे एक आइसलैण्ड मित्र ने मुझे बताया कि आइसलैण्ड में पिछले तीस या चालीस वर्षों से चोरी या डाके की एक भी घटना नहीं हुई और किसी व्यक्ति की हत्या तो अब प्रागैतिहासिक चीज बनकर रह गई है।"¹²

निष्कर्ष रूप में हम कह सकते हैं कि कोई भी लेखक अच्छा लेखक तभी बनता है जब वह जीवन को समीप से देखता है और जीवन को समीप से देखने का सबसे सरल माध्यम यात्रा करना है। रचनात्मक लेखन करने वाला हर लेखक अपने साहित्य में किसी न किसी रूप में यात्रा-साहित्य का सृजन अवश्य करता है। यात्रा साहित्य के प्रमुख हस्ताक्षर मोहन राकेश अपने यात्रा वृत्तान्त 'आखिरी चट्टान' में दक्षिण भारत की जीवन पद्धति, संस्कृति का जीवंत चित्रण करते हैं तो वहीं निर्मल वर्मा के 'चीड़ों पर चाँदनी में' आधुनिक जीवन और समाज के महत्वपूर्ण प्रश्न को उठाया गया है।

संदर्भ :

1. वृहत् हिन्दी कोश, सं० कालिका प्रसाद, राजवल्लभ सहाय एवं मुकुंदीलाल श्रीवास्तव, ज्ञानमंडल लिमिटेड, सप्तम परिवर्धित संस्करण, सितम्बर, 1992, पृ. 1118
2. संस्कृत शब्दार्थ कौस्तुभ, सं. चतुर्वेदी द्वारा का प्रसाद शर्मा तथा पं. तारिणीश झा, प्रकाशक : रामनारायण बेनीप्रसाद, इलाहाबाद-2, 1971, पृ. 686
3. सत्यदेव परिव्राजक, *नई दुनिया के मेरे अद्भुत संस्मरण*, पृ 30
4. रामचंद्रा तिवारी, हिन्दी का गद्य साहित्य, विश्वविद्यालय प्रकाशन, गोरखपुर, 1955, पृ. 196
5. रामस्वरूप चतुर्वेदी, हिन्दी साहित्य संवेदना और विकास, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, सोलहवाँ संस्करण, 2002, पृ. 192
6. ओप्रकाश सुंडा, 'यात्रा साहित्य: स्वरूप और तत्व', <https://vishwahindijan.blogspot.com/2019/06/>

7. डॉ संध्या शर्मा, हिंदी यात्रा साहित्य की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि, बुक पब्लिकेशन, 2015 पृष्ठ - 22
8. मोहन राकेश, 'आखिरी चट्टान', भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, 2010, पृ. 45
9. अज्ञेय, अरे यायावर रहेगा याद, राजकमल प्रकाशन, पुनर्मुद्रित संस्करण : 2019, पृ. 4
10. निर्मल वर्मा, चीड़ों पर चाँदनी, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, संस्करण : 2009, भूमिका से
11. वही, पृ. 145
12. वही, पृ. 70



पंचतंत्र एवं हितोपदेश की बाल कहानियों का तुलनात्मक अध्ययन

○ पूनम

प्रस्तावना :

पंचतंत्र ग्रंथ का संस्कृत नीति कथाओं में प्रथम स्थान माना जाता है। पंचतंत्र एक ग्रंथ होने के साथ-साथ एक विशाल साहित्य का परिचायक है। हालांकि यह पुस्तक मूल रूप में उपलब्ध नहीं है फिर भी अनुवादों के आधार पर इसकी रचना शताब्दी ईसा पूर्व के आसपास मानी गई है। अब तक इसका विभिन्न भाषाओं में अनुवाद हो चुका है, जिनमें से सबसे प्राचीन अनुवाद 'करकटमढनक' नाम का है। इसके अब तक लगभग 50 विभिन्न भाषाओं में अनुवाद के साथ लगभग 200 से ज्यादा संस्करण भी हो चुके हैं।

कृष्ण कुमार मिश्र के अनुसार :

पंचतंत्र को दुनिया के श्रेष्ठतम बाल साहित्य में गिना जाता है। इसकी लोकप्रियता यह है कि इस पुस्तक का अनुवाद अंग्रेजी, फ्रेंच, जर्मन, इटेलियन, अरबी, हिब्रू, उर्दू, फारसी में हो चुका है। (शिक्षा बाल साहित्य और विज्ञान 4)

बीज शब्द : पंचतंत्र, हितोपदेश, बाल कहानियाँ, तुलनात्मक अध्ययन।

पंचतंत्र, जैसा कि इसके नाम से ज्ञात हो रहा है- यह पांच तंत्र या पांच विभागों का समूह है। ये तंत्र हैं- मित्रभेद, मित्रसंप्राप्ति (मित्रलाभ), काकोलुकीयम, (संधि विग्रह), लब्धप्रणाश एवं अपरिक्षितकारक। बालकों को राजनीति, लोकनीति और व्यवहार का उचित ज्ञान देने के लिए पंचतंत्र की ही तरह हितोपदेश की रचना हुई, जिसके रचनाकार नारायण पंडित थे। संवत् 1393 में इस पूर्ण ग्रंथ की रचना इन्होंने की थी। हितोपदेश में रचित कहानियाँ पंचतंत्र की कहानियों पर ही आधारित है। महाभारत सुख सप्तति इन कथाओं का स्रोत है। लेकिन उपदेशात्मक श्लोकों की रचना इन्होंने स्वयं की है। श्री प्रसाद के अनुसार, परवर्ती काल में पंचतंत्र और हितोपदेश में पशु-पक्षियों की कहानी के आधार पर ही विविध प्रकार के मनोरंजक बाल साहित्य का आयोजन हुआ और आज भी पशु-पक्षियों से संबंधित साहित्य का लेखन केवल हिंदी में ही नहीं विश्व के बाल साहित्य में हो रहा है। (हिंदी बाल साहित्य की रूपरेखा 20)

हितोपदेश की रचना के समय यह संस्कृत साहित्य में पंचतंत्र से भी अधिक लोकप्रिय ग्रंथ था। लेकिन पंचतंत्र से गद्य और पद्य की स्वतंत्रता के साथ नौ सौ ईसवी के आसपास हितोपदेश की रचना हुई। पंचतंत्र में पांच तंत्र जबकि हितोपदेश में चार विभाग हैं। पंचतंत्र का पहला तंत्र मित्रभेद जो कि हितोपदेश में दूसरे स्थान पर है। विग्रह और संधि नामक विभाग की रचना नारायण भट्ट ने बहुत सी नई कथाएं जोड़कर नए ढंग से इसकी रचना की है। पंचतंत्र का तीसरा तंत्र काकोलुकीय हितोपदेश में उस रूप में नहीं मिलता बल्कि उसकी जगह

कर्पूरद्वीप के राजा हिरण्यगर्भ हंस और विन्ध्यगिरी के राजा चित्रवर्मा मसूर के बीच विग्रह और संधि की कथा है। हितोपदेश में पंचतंत्र का चौथा तंछत्र लब्धप्रणाश नहीं मिलता और पंचतंत्र के पांचवें तंत्र अपरिक्षितकारक की कथाएं हितोपदेश के तीसरे चौथे भाग में मिली हुई हैं। मूल पंचतंत्र को गद्य भाग का लगभग तीन बटा पांच और पद्य भाग का लगभग एक तिहाई हिस्सा हितोपदेश में आ गया है।

बच्चों का ज्ञानवर्धन के साथ-साथ उनके मनोरंजन का सबसे श्रेष्ठतम साधन बाल कहानी है। जब बच्चों को किसी भी घटना जो कि प्रेरणादायक, ज्ञानवर्धक या शिक्षाप्रद हो, बालक को कहानी के रूप में सुनाई जाए तो उन्हें जल्दी समझ आती है, और ये रुचि व जिज्ञासा के साथ उसे पढ़ते व सुनते हैं। जिस कहानी में कुछ जानने की इच्छा की प्रवृत्ति निहित हो वही कहानी सफल मानी जाती है। पंचतंत्र व हितोपदेश की कहानियाँ भी कुछ इसी तरह की नीतिपरक, ज्ञानवर्धक व प्रेरणादायक है। कहानियाँ बच्चों के मनोरंजन के साथ-साथ उनकी जिज्ञासा की प्रवृत्ति का भी विस्तार करती है।

पंचतंत्र में विष्णु शर्मा ने लिखा है :

“ भाजने लग्नः संस्कारों नान्यथा भवेत्।

कथाच्छलेन बालानाम् नीति स्तदिह करयते।”

अर्थात् जिस प्रकार किसी नए पात्र का कोई संस्कार नहीं रहता। ठीक उसी प्रकार बालकों की स्थिति होती है। इसलिए उन्हें कथाओं के माध्यम से ही संस्कार बताना चाहिए। नीति तथा उससे परिपूर्ण बालकों की जिज्ञासा को शांत करने वाला साहित्य बाल साहित्य है।

पंचतंत्र एवं हितोपदेश की कहानियाँ नैतिकता पर आधारित है। नैतिकता का संबंध बालक व व्यक्ति के चरित्र से होता है। नैतिकता ही मानव को सबसे भिन्न व महान बनाती है। नैतिकता के अंतर्गत सत्यता, सदाचार, दयालुता, निष्कपट या संतोष, आपसी सहयोग आदि गुण आते हैं। अपने आसपास के वातावरण से ही बालक यह सब ग्रहण करता है, और बच्चों में इन नैतिक गुणों का विकास शिक्षाप्रद बाल कहानियों के माध्यम से बहुत अच्छे ढंग से कर सकते हैं। बड़ों का आदर करना, हमेशा सच बोलना, बुरे लोगों की संगत में न रहना, मीठा बोलना सब के साथ सद्व्यवहार करना, क्रोध न करना यह सब गुण बच्चे के चारित्रिक विकास व व्यक्तित्व विकास में सहायक होते हैं। पंचतंत्र व हितोपदेश में बहुत सारी उपदेशात्मक, नीतिपरक एवं प्रेरणादायक कहानियों का उल्लेख है। दोनों ही संग्रहों की कहानियों में अनेक समानताएं एवं असमानताएं हैं, जिनमें से कुछ कहानियों की तुलना विभिन्न प्रवृत्तियों एवं कहानियों में दिए गए घटनाक्रम तथा पात्रों के आचरण के अनुसार निम्न बिंदुओं के माध्यम से करेंगे।

1. लालच की प्रवृत्ति : लालच में या स्वार्थ में आकर मनुष्य कुछ भी कर सकता है लेकिन उसे उसके बुरे परिणाम को भी भुगतना भी पड़ता है। रेखा व्यास द्वारा अनूदित कहानी संग्रह लघु कथा संग्रह भाग-1 में संकलित पंचतंत्र की कहानी ‘बगुला और केकड़ा’ जिसमें बगुला की लालच की प्रवृत्ति को दिखाया गया है। बगुला लालच में आकर मछलियों को उस तालाब में पानी खत्म होने की झूठी बात कह कर उन्हें दूसरे तालाब में ले जाने का ढोंग करके एक एक मछली को मारकर खा जाता है। तब केकड़े को उसकी चाल समझ आ जाती है और वह बगुले की गर्दन को दबोच कर उसे मार डालता है: “उत्तम मध्यम अधम बहुत-सी मछलियों का शिकार करने पर बेहद लालची बगुला किसी केकड़े के द्वारा मारा गया।”(9)

इसी कहानी संग्रह में रचित पंचतंत्र की कहानियों में एक अन्य कहानी ‘धोबी और गधा’ में भी इसी प्रवृत्ति को दर्शाया गया है। वह अपने गधे को शेर की खाल पहना कर खेतों से धान चुराकर खाता था। लेकिन सच्चाई का सामना तो हर किसी को एक दिन करना ही पड़ता है गधे के अपनी आवाज में जोर-जोर से रेंकने पर खेत के रखवाले उसे ढेलो, तीरों और पत्थरों से मार डालते हैं: “गुपचुप लाख कोशिश किए जाने पर भी पोल

खुल ही जाती है। शेर की खाल से ढंका हुआ गधा अपनी आवाज के चलते मारा गया।”(19)

उपर्युक्त कहानियों का अध्ययन करने के बाद हम कह सकते हैं कि बुरा करने वालों के साथ हमेशा बुरा ही होता है।

2 बुद्धि का उचित प्रयोग :

हर इंसान के पास बुद्धि होती है और यदि उसका सही इस्तेमाल किया जाए तो परिणाम भी अच्छे ही निकलेंगे। रेखा व्यास द्वारा अनूदित लघु कथा संग्रह भाग-1 में संकलित पंचतंत्र की कहानियों में रचित एक कहानी ‘खरगोश और हाथी’ में भी इसी तरह का वर्णन किया गया है। जिसमें हाथी अपने पास के तालाब में पानी खत्म होने पर दूसरे तालाब में पानी पीकर आते हैं। लेकिन वहाँ जाने पर खरगोशों के बिल टूट जाने पर बहुत सारे खरगोश घायल व कुछ मर भी जाते हैं। तब खरगोश अपनी बुद्धि का सही इस्तेमाल करके तालाब में चांद की परछाई दिखाकर, उसे अपना रक्षक बताकर हाथियों को वहाँ न आने की चेतावनी देते हैं। इस तरह से खरगोश बुद्धि का सही इस्तेमाल करके हाथियों को वहाँ आने से रोक देता है: “युक्ति से बहुत बड़े-बड़े काम हो जाते हैं। चंद्रमा के छल से खरगोश सुख पूर्वक निवास करते हैं।”(15)

इसी तरह की प्रवृत्ति इसी संग्रह में रचित हितोपदेश की कहानियों में संकलित कहानी ‘हाथी और शेर’ में भी दिखाया गया है। जिसमें सियार अपनी बुद्धि का सही इस्तेमाल करके हाथी को कीचड़ में फंसा देता है और सारे सियार मिलकर काफी दिन तक उसका मांस खाते हैं : “जो कार्य बुद्धि से हो सकता है, वह पराक्रम से नहीं। सियार ने बुद्धि से हाथी जैसे बड़े जानवर को मार डाला।”(38)

इसी तरह इसी कहानी संग्रह में रचित एक अन्य कहानी शेर और खरगोश में भी यही दर्शाया गया है। जिसमें शेर के आतंक से परेशान होकर सभी जानवर मिलकर शेर से यह समझौता करते हैं कि रोजाना एक जानवर को खाने के लिए शेर के पास भेज देंगे। लेकिन जब खरगोश की बारी आती है तो वह शेर को कुएं में उसी की परछाई दिखा कर उसे दूसरा शेर बताता है। शेर उसे दूसरा शेर समझकर कुएं में छलांग लगा देता है। और वह मारा जाता है। इस तरह बाकी सभी जानवरों की जान बच जाती है: “जिसके पास बुद्धि है, उसके पास बल है। बुद्धिहीन के पास बल कहाँ? देखो घमंडी शेर खरगोश के बुद्धिबल से मार दिया गया।”(39)

उपर्युक्त कहानियों का अध्ययन करने के बाद हम कह सकते हैं कि बुद्धि में बल होता है। बुद्धि का सही इस्तेमाल करने पर हर समस्या से निजात पाया जा सकता है।

3. उचित सलाह का फल :

जीवन में बहुत सी समस्याओं का सामना करना पड़ता है। लेकिन यदि उचित सलाह उचित समय पर मिल जाए और उसे सही समय पर मान लिया जाए तो उन समस्याओं को दूर किया जा सकता है। इसी कहानी संग्रह में रचित पंचतंत्र की कहानियों में संकलित एक कहानी ‘ब्राह्मण और केकड़ा’ में भी यही दर्शाया गया है। जिसमें ब्राह्मण के बाहर जाने पर उसकी मां ने उसकी सहायता के लिए केकड़ा उसके साथ भेजा। रास्ते में एक जगह विश्राम करने पर एक सांप ब्राह्मण के पास आया। तब केकड़े ने उसे मारकर ब्राह्मण की रक्षा की:

मैंने श्रद्धा पूर्वक मन से उसकी आज्ञा का पालन किया तो इस केकड़े ने सांप को मारकर मेरी रक्षा की। ठीक ही कहा गया है- मंत्र, तीर्थ, ब्राह्मण, देव, ज्योतिषी, वैद्य, गुरु इत्यादि के प्रति जैसी भावना रखी जाये, वैसी ही सिद्धि प्राप्त होती है।(21)

इसी कहानी संग्रह में संकलित हितोपदेश की कहानियों में रचित कहानी ‘हंस और कौवा’ जिसमें हंस को कोई सलाह देने वाला नहीं था। वह दुर्जन कौवे के साथ रहता था। जिसके कारण उसे अपने प्राणों से हाथ धोना पड़ा: “दुर्जन के साथ नहीं रहना चाहिए। कौवे के साथ रहने के कारण बेचारा राजहंस मारा गया।”(39)

इसी कहानी संग्रह में रचित एक अन्य कहानी ‘मुनि और चुहिया’ में भी मुनि को सही राय न मिलने के

कारण वह चुहिया को पहले बिल्ली, फिर कुत्ता, उसके बाद बाघ बना देता है। जब बाघ मुनि को ही खाने जाता है। तब मुनि वापस उसे चुहिया बना देता है: “नीच व्यक्ति ऊंचा पद पाकर स्वामी को ही मारना चाहता है। जैसे चूहे ने बाघ होकर मुनि को ही मारना चाहा।”(42)

4. साहस व त्याग की प्रवृत्ति :

त्याग की प्रवृत्ति हर इंसान में नहीं होती। उसके लिए किसी को भी बहुत कुछ सहना पड़ता है, और उसके लिए बहुत हिम्मत और साहस चाहिए। इसी कहानी संग्रह में रचित हितोपदेश की कहानियाँ में संकलित कहानी ‘वीरवर’ में भी वीरवर के त्याग को दिखाया गया है। जिसने अपने राजा और राज्य की रक्षा के लिए अपने बेटे की बलि दी थी। लेकिन देवी ने उसके त्याग और साहस को देखकर उसे उसका सब कुछ वापस दे दिया: “अकृपण प्रिय बोलता है। शूर या साहसी स्पष्ट कहता है। दाता सत्पात्रों को दान की वर्षा करता है। प्रगल्भ या वाचाल निष्ठुर नहीं होता। यही महापुरुष लक्षण है।”(42)

इसी कहानी संग्रह में संकलित पंचतंत्र की कहानियों में रचित कहानी ‘सोमिलक रंगरेज’ में बताया गया है कि मनुष्य के पास धन तो होना ही चाहिए। जहाँ वीरवर कहानी में वीरवर अपने बेटे, अपनी पत्नी, यहाँ तक कि अपने प्राणों का भी त्याग कर देता है। वहीं दूसरी तरफ सोमिलक रंगरेज में सोमिलक का मानना है कि इंसान के पास धन तो होना ही चाहिए। धन चोरी होने के कारण वह अपने प्राणों का भी त्याग करना चाहता है: “कृपण भी, अकुलीन भी सज्जनों द्वारा सदा वर्जित है। संसार में वही व्यक्ति शोभा पाता है, जिसके पास धन का भंडार है।”(15)

अतः हम कह सकते हैं कि त्याग सभी से नहीं होता लेकिन जो लोग त्याग की भावना रखते हैं, वो सभी लोगों के लिए सम्माननीय व आदर्श बन जाते हैं।

उपसंहार

उपर्युक्त कहानियों का अध्ययन करने के बाद हम कह सकते हैं कि पंचतंत्र व हितोपदेश की कहानियाँ नीतिपरक, उपदेशात्मक व प्रेरणादायक कहानियों से भरी हुई हैं। मनुष्य को सभ्य बनने के लिए लालच नहीं करना चाहिए बुद्धि का सही इस्तेमाल करना चाहिए। सही समय आने पर सही सलाह को मानना चाहिए व हमें निस्वार्थ भाव के साथ जीना चाहिए।

Work Cited:

- प्रसाद, श्री. हिंदी बाल साहित्य की रूपरेखा. लोक भारती प्रकाशन, 1985.
- पांडे, लल्ली प्रसाद. बालसाखा मासिक पत्रिका. इंडियन प्रेस, 13 अगस्त 1948.
- मिश्र, कृष्ण कुमार. शिक्षा बाल साहित्य और विज्ञान लेख. इलेक्ट्रॉनिकी आपके लिए, 25 नवंबर 2018.
- शर्मा, विष्णु. पंचतंत्र. राजकमल प्रकाशन, 300 ईसा पूर्व.
- सिंह, विजयपाल. हिंदी अनुसंधान. मॉडर्न प्रिंटर्स, 1978.
- सहगल, मनमोहन. हिंदी शोध तंत्र की रूपरेखा. पंचशील प्रकाशन, 1979.
- व्यास, रेखा. लघु कथा संग्रह भाग-1. साहित्य अकादमी, 2019.



स्त्री-विमर्श : अर्थ एवं विकास

○ नीरज कुमार

संक्षिप्ति :

स्त्री-विमर्श आज के अस्मितापरक विमर्शों में सर्वाधिक चर्चित एवं महत्वपूर्ण विमर्श है। इसके अन्तर्गत स्त्री से संबंधित विभिन्न विषयों पर विचार किया जाता है। स्त्री की लैंगिक स्थिति से जन्मे प्रश्न एवं उनका तर्कसम्मत विवेचन स्त्री-विमर्श के केन्द्रीय बिन्दु हैं। भारत में स्त्री-विमर्श उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध में हुए समाज सुधार आंदोलनों, पुनर्जागरण एवं पश्चिम के नारीवादी आंदोलन से प्रेरित-पोषित हुआ है। ओलिम्पी द गुजे, मेरी वोल्सटन क्राफ्ट, जे.एस.मिल, एंगेल्स, बेट्टी फ्राइडन, सीमोन द बोउवार, कैट मिलेट, सुलोमिथ फायरस्टोन एवं जर्मन गीयर इत्यादि ने पश्चिम में स्त्री प्रश्नों पर गंभीर विवेचन कर स्त्री-विमर्श के विकास में महत्वपूर्ण भूमिका अदा की। भारत में राजा राम मोहन राय, ईश्वर चन्द विद्यासागर, बेहराम जी मालाबारी, महादेव गोविन्द रानाडे, घोडो केशव कर्वे, पंडिता रमाबाई, ज्योतिराव फूले, स्वामी विवेकानंद, एनीबेसेंट तथा महात्मा गाँधी इत्यादि ने स्त्रियों की सामाजिक दशा में सुधार के प्रयत्न किए। साहित्यिक क्षेत्र में महादेवी वर्मा ने स्त्री-विमर्श की सैद्धान्तिकी प्रस्तुत की तथा आजादी के बाद लेखिकाओं की साहित्यिक भागीदारी ने स्त्री-विमर्श को एक वाद के रूप में स्थापित करने में सर्वाधिक महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह किया।

बीज शब्द : स्त्री-विमर्श, स्त्री-चेतना, पितृसत्ता, समाज सुधार, स्त्री-जागृति, स्त्री आंदोलन, स्त्री-अधिकार

‘स्त्री’ का तात्पर्य मानव के मादा स्वरूप से है। ‘विमर्श’ अत्यंत व्यापक शब्द है। इसका व्युत्पत्ति परक अर्थ विचार करना, सोचना, समझना और आलोचना करना है। ज्ञान शब्द कोश के अनुसार, विमर्श का अर्थ विचार, विवेचन, परीक्षण, समीक्षा, तर्कज्ञान करना आदि है। इस प्रकार स्त्री-विमर्श का तात्पर्य है स्त्री से संबंधित विषयों पर विचार करना, उनका परीक्षण करना, समीक्षा करना एवं तर्क सहित स्त्री प्रश्नों का विवेचन करना। कुछ विद्वान इसे ‘नारीवाद’ कहते हैं तो कुछ ‘स्त्रीत्ववादी विमर्श’ तो कुछ ‘स्त्रीवादी विमर्श।’ इसका उद्देश्य है कि स्त्री को पुरुष सत्तात्मक व्यवस्था में राजनीतिक, सामाजिक, यौनिक, बौद्धिक, आर्थिक सभी क्षेत्रों में पुरुष की भाँति समान अधिकार मिले। सभी दृष्टियों से उन्हें पुरुष के समकक्ष समझा जाए। स्त्रियों को किसी भी दृष्टि से पुरुषों से हीन न समझा जाए। इन्हीं विचारों से प्रेरित होकर पूरे विश्व में अनेक आंदोलन हुए तथा अनेक विचार तथा सिद्धांत स्थापित एवं प्रचारित हुए। इन सबका उद्देश्य जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में स्त्री को स्वतंत्रता तथा अस्मिता की रक्षा का अधिकार दिलाना रहा। जिसमें लैंगिक असमानता के आधार पर स्त्री के साथ कोई भेदभाव नहीं किया जाए। उसे द्वितीय श्रेणी की नागरिक न मानकर पुरुष के समकक्ष माना जाए।

स्त्री-विमर्श की प्रमुख परिभाषाएं इस प्रकार हैं : मैत्रेयी पुष्पा- “नारीवाद ही स्त्री-विमर्श है, नारी की यथार्थ स्थिति के बारे में चर्चा करना ही स्त्री विमर्श है।”

प्रभा खेतान- “नारीवाद न मार्क्सवाद है, न पूंजीवाद। स्त्री हर जगह है, हर वाद में है, फैलाव में है। मगर संस्कृति के विस्तृत फलक पर आज भी वह वस्तुकरण का शिकार है। वस्तुकरण की इस पारस्परिक प्रक्रिया को पुरुष दृष्टि से देखने और समझने की जरूरत है।”²

कात्यायनी- “स्त्री-विमर्श अथवा नारीवाद पुरुष व स्त्री के बीच नकारात्मक भेदभाव की जगह स्त्री के प्रति सकारात्मक पक्षपात की बात करता है। वस्तुतः इस रूप में देखा जाए तो स्त्री विमर्श अपने समय और समाज के जीवन की वास्तविकताओं तथा संभावनाओं को तलाश करने वाली दृष्टि है।”³

राजी सेठ- “स्त्री की चुनौती अपने समीकरण को पाना नहीं बल्कि अपने सत्य में से बृहत् सत्य की परिधि तक जाना जाता है।”⁴

इस तरह कह सकते हैं कि स्त्री-विमर्श रूढ़ हो चुकी मान्यताओं, परम्पराओं के प्रति असंतोष व उससे मुक्ति का स्वर है। पितृसत्तात्मक समाज के दोहरे नैतिक मापदण्डों, मूल्यों व अंतर्विरोधों को समझने व पहचानने की गहरी अंतर्दृष्टि है। यह पितृक प्रतिमानों व सोचने की दृष्टि पर सवालिया निशान लगाता है, आखिर क्यों स्त्रियाँ अपने मुद्दों, अवस्थाओं, समस्याओं के बारे में नहीं सोच सकती? क्यों उनकी चेतना इतने लंबे अरसे से अनुकूलित, अनुशासित व नियंत्रित की जाती रही है, क्यों वे साँचों में ढली निर्जीव मूर्तियाँ हैं? क्यों उनकी अपनी कोई पहचान नहीं है? इन सब प्रश्नों पर स्त्री ने जब बोलना व सोचना शुरू किया तथा पितृसत्ता के समक्ष प्रश्न खड़े किए तो यह उसे नागवार गुजरा। स्त्री का खुद के बारे में सोचना कभी भी पितृसत्ता को नहीं भाया। सीमोन द वाउवार के अनुसार, “स्त्री पुरुष प्रधान समाज की कृति है। वह अपनी सत्ता को बनाए रखने के लिए स्त्री को जन्म से ही अनेक नियमों के ढाँचे में ढालता चला गया।”⁵ जहाँ उसका व्यक्तित्व दबता चला जाता है।

पितृसत्ता स्त्री के चरित्र को स्वर्गिक देवी गुणों और शक्तियों के ढाँचों से ऐसा मण्डित करती है कि देवीत्व के बोझ तले उसका मनुष्यत्व कब घुट-घुट कर दम तोड़ देता है, वह स्वयं भी नहीं जान पाती है। महादेवी वर्मा कहती हैं कि “स्त्री न घर का अलंकार मात्र बनकर जीवित रहना चाहती है, न देवता की मूर्ति बनकर प्राण प्रतिष्ठा चाहती है। कारण वह जान गई है कि एक का अर्थ अन्य की शोभा बढ़ाना है तथा उपयोग न रहने पर फेंक दिया जाता है तथा दूसरे का अभिप्राय दूर से उस पुजापे को देखते रहना है, जिसे उसे न देकर उसी के नाम पर लोग बाँट लेंगे।”⁶ इसी कारण वह जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में पुरुष को चुनौती देकर स्वयं अपनी शक्ति का परीक्षण चाहती है। स्त्री अपना स्वतंत्र व्यक्तित्व और अपनी पहचान चाहती है वह अपना पूरा जीवन (बेटी, पत्नी, माँ) अन्या होकर नहीं जीना चाहती। इसके लिए उसका सारा प्रयास पितृसत्तात्मक मानसिकता के अस्वीकार व स्वतंत्र व्यक्तित्व के रूप में स्वीकृति का है।

स्त्री-विमर्श सदियों से चले आ रहे मौन को अभिव्यक्ति देता है तथाकथित नैतिक मूल्यों, पितृक व्यवस्थाओं को छिन्न-भिन्न करता है जो स्त्री की चेतना को अनुकूलित करते हैं। स्त्री-विमर्श साहित्य के ‘विमर्श’ के रूप में 60 से 70 के दशक के आसपास आता है। उससे पूर्व पश्चिम में यह नारीवादी आंदोलन के रूप में अपनी मुखर अभिव्यक्ति पा चुका था। ‘नारीवाद’ अंग्रेजी के Feminism (फेमिनिज्म) शब्द का पर्याय है। ‘फेमिनिज्म’ शब्द फ्रेंच के फेमी (Femme) अर्थात् सामाजिक आंदोलन और इज्म (ism) राजनैतिक विचारधारा के मिलने से बना है। इसका प्रयोग सबसे पहले 1880 ई. में फ्रांस, 1890 में ग्रेट ब्रिटेन और 1910 ई. में अमेरिका में होता है।

भारत में नारीवादी चेतना का उदय भिन्न परिस्थितियों और भिन्न परिवेश में हुआ। इसलिए उसका स्वरूप भी अमेरिका और पश्चिमी देशों से भिन्न रहा है। किन्तु भारत में नारीवादी चेतना के मूल प्रेरणा स्रोत किसी न किसी रूप में अमेरिका, इंग्लैण्ड और पश्चिमी देशों के ही नारीवादी आंदोलन रहे हैं। पाश्चात्य समाज में भी स्त्री को उसी दृष्टि से देखा गया है जिस प्रकार भारतीय समाज में स्त्री को देखा गया। पश्चिम में भी स्त्री

को स्वतंत्र इकाई अथवा स्वतंत्र व्यक्ति के रूप में नहीं देखा गया। वहाँ के साहित्य में स्त्री के जितने भी रूप देखने को मिलते हैं, वे सभी पुरुष रूपी केन्द्र के चारों ओर घूमते हैं। कारण वहाँ भी समाज पितृ सत्तात्मक था। पितृसत्ता यदि स्त्रियों को पुरुषों के अधीन रखने के लिए तमाम तरह के बंधनों में जकड़ देने का नाम है तो स्त्री-विमर्श उन बंधनों से मुक्त होने के लिए संघर्ष करने तथा स्त्री-पुरुष समानता के लिए किए गए प्रयास का नाम है। स्त्री-विमर्श मूलतः स्त्रियों को पुरुषों के बराबर वैधानिक, राजनैतिक, शारीरिक, मानसिक, सामाजिक, आर्थिक क्षेत्रों में उनके परिवार, समुदाय, समाज एवं राष्ट्र की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि में निर्णय लेने की स्वायत्तता के लिए किया जाने वाला संघर्ष है तथा यह स्त्री के प्रति समाज के दृष्टिकोण और मानसिकता में परिवर्तन के लिए भी संघर्षरत है। अतः कह सकते हैं कि 'परिवार, मातृत्व, शिशुपालन सहित समस्त सामाजिक गतिविधियों एवं संस्थाओं में स्त्री की भूमिका अन्य सामाजिक-आर्थिक शोषण-उत्पीड़न के साथ ही यौन भेद पर आधारित स्त्री उत्पीड़न, स्त्री-मुक्ति से जुड़ी सभी जटिल समस्याओं को साहित्य में चिंतन का विषय बनाना ही स्त्री-विमर्श है।'

पितृसत्ता को सामाजिक संरचना और क्रियाओं की ऐसी व्यवस्था के रूप में परिभाषित किया जाता है जिसमें पुरुषों का स्त्रियों पर वर्चस्व रहता है और वे उसका शोषण तथा उत्पीड़न करते हैं।

पाश्चात्य साहित्यकार थोमस फिलर ने लिखा है-

“ए वूमैन, ए डोग एंड ए वालनट ट्री।

दि मोर मू बीट, एंड दि बैटर दे बी।।”

सेक्सपियर ने 'हेमलेट' में लिखा है- “फ्रेलटी, दार्ड नेम इज वूमैन।”⁸ अर्थात् दुर्बलता, तेरा नाम नारी है।

पितृसत्तात्मक मूल्यों के कारण स्त्री अतीत में भी शोषित की गई, वर्तमान में भी उसका शोषण हो रहा है। यदि स्त्री विमर्श ने इस मूल्य व्यवस्था का डटकर विरोध नहीं किया तो भविष्य में भी उसका शोषण होता रहेगा। आज चाहे स्त्री सार्वजनिक क्षेत्रों में उच्च पद की अधिकारी भी है, तो परिवार, समाज में आते ही वह दमन का शिकार होने लगती है। यही दमन उसकी बौद्धिक रचना शक्ति को नष्ट करता है। इसीलिए स्त्री विमर्श ने पितृसत्ता तथा इसके मूल्यों के विरुद्ध अपनी आवाज बुलंद की है।

पश्चिम में पितृसत्ता के विरुद्ध स्त्रियों में अपने स्वत्व के प्रति जागृति फ्रांसीसी क्रांति के साथ आई क्योंकि उस समय स्त्रियों ने समस्त राजनीतिक जनकार्यवाहियों में खुलकर हिस्सा लिया था। उसी समय स्त्री अधिकारों के लिए समर्पित एक पत्रिका का प्रकाशन भी हुआ था। साथ ही स्त्री क्लबों के गठन ने स्त्री-अधिकारों, स्वतंत्रता एवं समानता की मांग उठाई। ओलिम्पी दि गुजे (1748-93) ने 'स्त्री और स्त्री-अधिकारों की घोषणा' तैयार कर राष्ट्रीय असेम्बली में 1791 ई. में प्रस्तुत किया। मेरी वोल्सटन क्राफ्ट ने 'द विंडीकेशन ऑफ द राइट्स ऑफ द वूमैन' नामक महत्वपूर्ण पुस्तक लिखकर नारीवादी आंदोलन का एक महत्वपूर्ण दस्तावेज सामने रखा। जे. एस. मिल. ने 1851 ई. 'द सब्जेक्शन ऑफ वूमैन' नामक प्रसिद्ध पुस्तक लिखकर स्त्रियों की पराधीनता पर प्रकाश डाला। इन प्रयासों पर कात्यायनी का कथन इनकी उपादेयता पर प्रकाश डालता है- “आज पीछे मुड़कर देखने पर लगता है कि बीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध में, घुमाकर नाक पकड़ने और बाल की खाल निकालने की आदी तमाम अकर्मक नारीवादी विमर्शकों से भी अधिक व्यापक परिप्रेक्ष्य में और अधिक व्यावहारिक-वैज्ञानिक ढंग से स्त्री प्रश्न को लगभग 150 साल पहले जॉन स्टुअर्ट मिल ने देखा समझा था। स्त्री प्रश्न पर मिल का चिंतन स्त्री मुक्ति के तमाम सच्चे पक्षधरों की क्रांतिकारी विरासत है। स्त्री-मुक्ति विमर्श की इतिहास-यात्रा में मेरी बोल्सटन क्राफ्ट की पुस्तक के बाद यह पुस्तक दूसरा मील का पत्थर है, यह इतिहास का स्थापित तथ्य है।”⁹

एंगेल्स ने 1894 ई. में 'परिवार, निजी सम्पत्ति और राज्य की उत्पत्ति' नामक पुस्तक लिखकर नारीवादी

विमर्श में महत्वपूर्ण योगदान दिया। एंगेल्स का स्पष्ट मानना था कि “विवाह में पुरुष की श्रेष्ठता उसकी आर्थिक श्रेष्ठता का सीधा परिणाम है। आर्थिक श्रेष्ठता समाप्त हो जाने पर वैवाहिक जीवन में पुरुष की श्रेष्ठता भी समाप्त हो जाएगी।” उन्होंने महिलाओं के रोजगार को ही उनकी प्रगतिशील स्थिति बताया। पति पर महिलाओं की निर्भरता को उन्होंने इस प्रकार व्यक्त किया कि परिवार के दायरे में पति ‘बुर्जुआ’ होता है और पत्नी ‘सर्वहारा’।

अमेरिकी लेखिका बेट्टी फ्राइडन और उनकी प्रसिद्ध पुस्तक ‘दि फेमिनिन मिस्टिक’(1963) का स्त्री-विमर्श और नारीवादी आंदोलन में महत्वपूर्ण स्थान है। इस पुस्तक में उन्होंने अमेरिकी महिलाओं की स्थिति पर गहरा असंतोष व्यक्त किया है। उनका मानना था कि ‘नारी जीवन का उद्देश्य सिर्फ अपने नारीत्व की आकांक्षाओं को पूरा करना है। उपभोक्ता सामग्रियों का ढेर भी इस जिंदगी से उत्पन्न होने वाले खोखलेपन को दूर नहीं कर सकता। बस यह तो नारी को निश्चेष्ट करने तथा घनघोर निराशा की ओर ले जाने में महत्वपूर्ण भूमिका निभा सकता है। उन्होंने स्त्री शिक्षा पर बहुत जोर दिया। उन्होंने 1966 ई. में नेशनल आर्गनाइजेशन ऑफ वूमैन (Now) की स्थापना की। जो आज सबसे बड़े ‘नारीवादी संगठन’ के रूप में जाना जाता है।

सीमोन द बोउवार स्त्री विमर्श की सर्वाधिक महत्वपूर्ण हस्ताक्षर मानी जाती हैं, उन्होंने 1949 ई० में ‘द सेकेंड सेक्स’ नाम की प्रसिद्ध पुस्तक की रचना की। दुनिया की अनेक भाषाओं में इस पुस्तक का अनुवाद हो चुका है। इसके माध्यम से उन्होंने आधुनिक नारीवाद की उस विचारधारा की नींव रखी, जिसमें नारी मुक्ति की अनिवार्य शर्त नारीपन से मुक्ति मानी गई है। उनके अनुसार, स्त्री के उत्पीड़न का कारण जेंडर है तथा सेक्स को जेंडर से अलग समझना चाहिए। बोउवार लिखती हैं कि “औरत जन्म से ही औरत नहीं होती बल्कि बढ़कर औरत बनती है। कोई भी जैविक, मनोवैज्ञानिक या आर्थिक नियति आधुनिक स्त्री के भाग्य की अकेली नियन्ता नहीं होती। पूरी सभ्यता ही इस अजीबो-गरीब जीव का निर्माण करती है।”¹⁰

कैट मिलेट ने 1970 ई. में प्रकाशित अपनी पुस्तक ‘सेक्सुअल पॉलिटिक्स’ से उग्र नारीवाद का समर्थन किया। उन्होंने स्त्री की पारिवारिक स्थिति पर विस्तार से लिखा है तथा परिवार को स्त्री के लिए कारागार कहा है। सुलोमिथ फायरस्टोन ने अपनी पुस्तक ‘दि डायलेक्टिक्स ऑफ सेक्स’ में स्त्रियों की प्रजनन क्षमता को ही उनके शोषण का कारण माना है उनके अनुसार, “महिलाओं के उत्पीड़न की आत्मा उनके द्वारा बच्चे पैदा करने तथा बच्चों के लालन-पालन में निहित है।”¹¹ जर्मन गीयर भी उग्र-नारीवादी लेखिका है। अपनी पुस्तक ‘विद्रोही स्त्री’ (1971) में गीयर पितृसत्ता को नष्ट करने की बात करती है। इस पुस्तक में उन्होंने स्त्री देह, उसकी रूढ़ छवि, ऊर्जा, शिशुरूप, लड़कीपन, वयःसंधि, कच्चा माल की छवि, उसकी शक्ति एवं कामकाज की चर्चा करने के साथ ही, उसके प्रेम की भी चर्चा की है।

भारतीय परिवेश में स्त्री-विमर्श बीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध में अपनी मुखरता को प्राप्त होता हुआ दिखाई देता है जब उषा प्रियंवदा, मन्नू भण्डारी, मृदुला गर्ग, प्रभा खेतान, शिवानी, कृष्णा सोबती, आशा रानी वोहरा, चित्रा मुद्गल, मृदुला सिन्हा, नासिरा शर्मा, ममता कालिया, मंजुल भगत, मेहरुन्सिसा परवेज जैसी लेखिकाएँ अपने उपन्यासों और कहानियों के माध्यम से परम्परागत स्त्री की छवि के इतर आधुनिक स्त्री को हमारे सामने प्रस्तुत करती हैं। इसी क्रम को मैत्रेयी पुष्पा, अलका सरावगी, अनामिका, राजी सेठ, क्षमा शर्मा, कात्यायनी, रमणिका गुप्ता, रेखा कस्तवार, मनीषा गीतांजलि श्री जैसी समर्थ लेखिकाएँ शिद्दत से आगे बढ़ाने का कार्य निरंतर कर रही हैं।

भारत में स्त्री-विमर्श के विकास में उन्नीसवीं सदी के नारी जागृति प्रयत्न तथा समाज सुधार आंदोलनों का महत्वपूर्ण योगदान है। महत्वपूर्ण यह है कि इस ओर प्रारम्भ से ही पुरुष वर्ग ने अपना योगदान दिया। पाश्चात्य शिक्षा के फलस्वरूप अनेक विद्वजनों ने स्त्री प्रश्नों को नए सिरे से उठाया। इन प्रश्नों पर अंग्रेजों व भारतीय समाज सुधारकों दोनों ने विचार किया। स्त्री की स्थिति अशिक्षा, पर्दा प्रथा, बहु विवाह, बाल विवाह, सती प्रथा

एवं वैधव्य के कारण अधीनस्थ की थी। पिता लिए बोझ एवं पति के लिए बच्चे पैदा करने की मशीन थी। स्त्रियों की समस्याओं की जड़ में कुलीनवाद एवं यौन पावित्र्य महत्वपूर्ण कारक थे। कुलीनवाद ने बहु विवाह, बेमेल विवाह और बाल विवाह को प्रश्रय दिया।

राजा राम मोहन राय, ईश्वरचन्द्र विद्यासागर उन सुधारकों में सर्वप्रथम थे जिन्होंने सती प्रथा की समाप्ति एवं विधवा विवाह का समर्थन किया। उन्होंने बुरी प्रथाओं में मुक्त कर स्त्रियों की उच्च स्थिति की इच्छा व्यक्त की। अनेक असंगतियों के बावजूद, पुनर्जागरण काल की प्रवृत्तियों ने स्त्रियों की सामाजिक स्थिति सुधारने के प्रयास अवश्य किए। समाज में प्रचलित घृणित रीति-रिवाजों के विरुद्ध जनमानस को जागृत करने के प्रयासों की शुरुआत इस युग में हुई। सती प्रथा, बालिका वध, बाल विवाह, वैधव्य जैसी सामाजिक बुराइयों को समाप्त करने के प्रयत्नों की ओर सरकार और सुधारक प्रेरित हुए। स्त्रियों की स्थिति में बदलाव की जमीन तैयार हुई।

राजा राम मोहन राय ने दायभाग कानून का विरोध एवं माँ की सम्पत्ति में अधिकार की वकालत की। ईश्वर चन्द्र विद्यासागर ने बाल विवाह का विरोध और विधवा विवाह का समर्थन किया। उन्होंने कुलीनवाद का विरोध कर स्त्री शिक्षा पर जोर दिया। बेहराम जी मालाबारी ने बाल विवाह से जन्मी समस्याओं का अध्ययन कर इसे समाज के लिए हानिकारक बताया। महादेव गोविन्द रानाडे ने बाल विवाह पर रोक, विधवा पुनर्विवाह, महिला शिक्षा हेतु प्रयत्न किया। घोडो केशव कर्वे ने स्त्री शिक्षा के क्षेत्र में महत्वपूर्ण कार्य किया। उन्होंने एस.एन.डी. टी. महिला विश्वविद्यालय की स्थापना की तथा विधवा स्त्री से विवाह कर समाज के सामने आदर्श प्रस्तुत किया। पंडिता रमाबाई ने स्त्रियों की आत्मनिर्भरता, व्यावसायिक शिक्षा की वकालत की। उन्होंने शारदा सदन की स्थापना की। ज्योतिराव फूले ने विधवा पुनर्वास की दिशा में महत्वपूर्ण प्रयास किया। गर्भवती महिलाओं के लिए आश्रम की स्थापना की तथा स्त्री शिक्षा के लिए आजीवन प्रयास किया। स्वामी विवेकानंद ने समाज की प्रमुख बुराई स्त्री की दयनीय स्थिति को माना। उन्होंने स्त्री शिक्षा का समर्थन, बाल विवाह का विरोध किया। ऐनी बेसेन्ट ने थियोसोफिकल सोसायटी के माध्यम से बाल विवाह का विरोध, विधवा विवाह का समर्थन, स्त्री शिक्षा पर बल दिया। शासन स्तर पर 1829 ई. में सती प्रथा की समाप्ति, 1856 में विधवा पुनर्विवाह, 1861 में अनुमति की आयु का अधिनियम पास हुआ।

बदलते परिवेश में स्त्री ने अपने अधिकारों की लड़ाई के साथ-साथ स्वतंत्रता आंदोलन में भी सक्रिय भागीदारी की। स्त्रियों ने संघर्ष की विभिन्न प्रक्रियाओं, जैसे- धरना देना, जुलूसों में शामिल होना, जेल जाना, पुलिस बर्बरता का सामना करना, स्वदेशी आंदोलन में भागीदारी आदि जैसे साहसिक कार्य किये। स्त्रियों ने अपने मताधिकार की भी माँग की।

साहित्यिक क्षेत्र में स्त्रियों की सक्रिय भागीदारी ने नारीवादी आंदोलन को विमर्श बनाने में सर्वाधिक महत्वपूर्ण भूमिका अदा की। मध्यकाल में मीरा बाई ने स्त्री प्रश्न को उठाया था- ‘हे री मैं तो प्रेम दीवानी, मेरो दर्द न जाने कोया’ आधुनिक काल में महादेवी वर्मा ने अपनी कविताओं के माध्यम से स्त्रियों की वेदना को अभिव्यक्त किया। इसके अतिरिक्त उन्होंने ‘श्रृंखला की कड़ियाँ’ के माध्यम से भारतीय स्त्री-विमर्श को भी व्याख्यायित किया। महादेवी के पहले 1882 ई. में एक अज्ञात हिन्दू औरत द्वारा लिखी गई पुस्तक ‘सीमान्तनी उपदेश’ में स्त्री की समस्याओं को समग्रता से देखा गया है। धर्मवीर भारती ने 1982 ई. में इसका सम्पादन करते हुए इसके महत्त्व पर प्रकाश डाला है- “यह पुस्तक हिंदुस्तान की बेटियों के लिए ‘आजादी का घोषणा पत्र’ के समान है। यह औरत के दर्द और विद्रोह का सुलगाता हुआ दस्तावेज है। जब-जब पढ़ लिखकर उसके समझ और संवेदना का विस्तार हुआ है, तब-तब सदियों से हो रहे अत्याचार के खिलाफ उसके आँसू आग बनकर घर की चारदीवारी के बाहर बरसने लगते हैं। तब वह अपने विस्तार की तलाश करने लगती है और आसमान की ऊँचाईयाँ छूना चाहती है। तब वह पुत्री, बहन और पत्नी की इमेज के साथ-साथ अपने भीतर के

व्यक्ति को भी खोजना चाहती है। यह किताब नारी के भीतर के उसी शाश्वत व्यक्ति की खोज का हिस्सा है।”¹²

हिन्दी कथा साहित्य में स्त्री प्रश्नों को आरम्भ से ही उठाया गया है। किन्तु ये प्रश्न आदर्शवादी स्त्री अथवा परम्परागत पुरुष मानसिकता के अनुसार उठाए गए हैं। स्त्री की दशा में सुधार की बात तो जरूर की जाती है किन्तु उसे आदर्श माँ, पत्नी, बहन बनाने पर ही जोर ज्यादा है। व्यक्ति के रूप में उसकी पहचान प्रायः नदारद है। जब से कथा साहित्य में स्त्रियों का आगमन हुआ है तब से स्थिति बदली है। स्त्रियों का लेखन, पुरुषों के लेखन से भिन्न रहा है। एक पुरुष जब स्त्री के विषय में लिखता है और जब एक स्त्री लिखती है तो दोनों में बहुत अंतर होता है। स्त्रियों के लेखन में अनुभव की सच्चाई होती है। स्त्री जिन स्त्री पात्रों की कथा कहती है वे स्त्रियाँ काल्पनिक व आदर्श स्त्रियाँ नहीं होती बल्कि वे ऐसी आम स्त्रियाँ होती हैं, जो हमारे आस पास होती हैं। वे देवी का अवतार नहीं बल्कि साधारण स्त्रियाँ होती हैं। “स्त्री उपन्यास लेखिकाओं ने अपने उपन्यासों द्वारा जो चित्र प्रस्तुत किए हैं वे बहुत अधिक प्रभावशाली और सजीव हैं। पुरुष नारी स्वभाव का केवल द्रष्टा मात्र है। अनुभूति का अभाव होने के कारण उसके चित्रों में वह तन्मयता नहीं आ सकती, जो नारी के चरित्रों में आनी संभव है।”¹³

स्त्री, स्त्री की समस्या को अधिक गहराई से अनुभव कर सकती है, उसकी भावनाओं को समझ सकती है, अतः उसमें भावुकता का पुट आ जाना स्वाभाविक है। आरम्भ में इसी आधार पर पुरुष लेखकों ने महिला लेखन को निम्न स्तर का कहा। “अधिकतर पुरुषों की नजर में महिला लेखन जड़, नीरस, भावुक, लिजलिजा, आत्मकेन्द्रित रहा है। (राजेन्द्र यादव, हंस)। यानि पुरुषों के स्तर का नहीं, उनके लायक नहीं। साहित्य संसार में पुरुषों को स्त्रियों की जरूरत नहीं थी, यह तो महिलाएँ ही हैं जो जबरजस्ती अपनी लेखकीय महत्वाकांक्षा से ग्रस्त मंच की ऊँचाइयों तक लपकने लगीं। कोई पारो थी, कोई सुनीता, जो अपनी बात कहना चाहती थी, मगर ठीक से कभी कह नहीं पाई।”¹⁴

एक स्त्री को जिन समस्याओं से दो चार होना पड़ता है, उन्हीं से दूसरी स्त्रियों को भी, और यही कारण है कि कुछ विषय स्त्रियों के लेखन में सामान्य रूप से आ जाते हैं। किन्तु इस कारण स्त्री लेखन की जीवन्तता को नकारा नहीं जा सकता है। कमोवेश सभी लेखिकाओं ने स्त्री अधिकारों की बात को सामने रखा है। इन्होंने स्त्री की शारीरिक व मानसिक आवश्यकताओं को भी पुरजोर तरीके से रेखांकित किया है। ‘मित्रो मरजानी’ (1966) की मित्रो कहती है कि “अब तुम्हीं बताओ जिठानी तुम जैसा सत बल कहाँ से लाऊँ? देवर तुम्हारा मेरा रोग नहीं पहचानता।..... बहुत हुआ हफ्ते पखवारे.. और मेरी इस देह में इतनी प्यास है कि मछली सी तड़पती हूँ।”¹⁵

स्त्री कथाकारों ने अपने लेखन में उन सभी मान्यताओं का खण्डन किया है जो स्त्री को केवल देह समझते हैं या देवीत्व के विधानों में जकड़कर उसकी स्वतंत्रता तथा अधिकारों का हनन करते हैं। ‘रुकोगी नहीं राधिका’ की राधिका अपने पिता से कहती है- “जो आप चाहते हैं वही हमेशा क्यों हो? क्या मेरी इच्छा कुछ भी नहीं है।”¹⁶

मृदुला गर्ग के ‘चितकोबरा’ की नायिका पति के साथ दाम्पत्य संबंध निभाते हुए भी अन्य व्यक्ति से प्रेम करती है। ‘उसके हिस्से की धूप’ की मनीषा पति से अलग होकर प्रेमी से विवाह करती है। दूसरा विवाह करने के बाद भी पहले पति से मिलती है। ‘अनित्य’ की संगीता पिता की उम्र के व्यक्ति से प्रेम करती है। शशिप्रभा के ‘नावें’ ऐसी युवती की कहानी है जो बिना विवाह किए अपने प्रेमी साथ रहती है। मैत्रेयी की नायिकाएँ तो पूरी परम्परा व नैतिकता के बने बनाएँ ढाँचे को तोड़कर नया विमर्श ही गढ़ती हैं। मैत्रेयी पुष्पा का मानना है- “साहित्य में स्त्री जीवन के जो कोने-अंतर अब तक ढुके-मुंदे रहते हैं। उन्हें उनकी कलम ने उघाड़ दिया। लहलुहान कथाओं ने प्रमाणित कर दिया है कि पुरुष जैसा हो जाने की लालसा भी पुरुषों की सरपरस्ती है।

अतः उसने स्त्री होकर ही स्त्रीत्व का हक माँगा है।”

इन सभी लेखिकाओं ने समकालीन समस्याओं के चलते नारी की दशा का वर्णन किया है तथा हमारे प्राचीन साहित्य का इस दृष्टि से पुनर्मूल्यांकन भी किया है। इस तरह इन्होंने स्त्री-विमर्श को और सुदृढ़ किया है। आदर्श स्त्री पात्र के स्थान पर वास्तविक स्त्री चरित्रों की सृष्टि की। तलाक, विवाहेतर संबंध, बलात्कार तथा सम्पत्ति के अधिकार से जुड़ी समस्याओं का चित्रण किया। साथ ही वैश्वीकरण के इस युग में स्त्री रचनाकारों ने स्त्री से जुड़े लगभग सभी प्रश्नों तथा समस्याओं को अपने लेखन में स्थान देकर स्त्री-विमर्श की भारतीय अवधारणा को पुष्ट किया है।

संदर्भ :

1. मैत्रेयी पुष्पा, हंस, अक्टूबर 1996, पृ. 75
2. प्रभा खेतान, हंस, अक्टूबर 1996, पृ. 78
3. कात्यायनी, हंस, अक्टूबर 1996, पृ. 84
4. क्षमा शर्मा, स्त्रीत्ववादी विमर्श: समाज और साहित्य, पृ. 5
5. सीमोन द बाउवर, स्त्री उपेक्षिता, पृ. 212
6. महादेवी वर्मा, शृंखला की कड़ियाँ, पृ. 105
7. धर्मपाल, नारी एक विवेचन, प्राक्कथन, पृ. 3
8. धर्मपाल, नारी एक विवेचन, प्राक्कथन, पृ. 4
9. कात्यायनी सत्यम, स्त्रियों की पराधीनता, भूमिका, पृ. 30
10. सीमोन द बाउवर, स्त्री उपेक्षिता, पृ. 121
11. सरला माहेश्वरी, नारी प्रश्न, पृ. 48
12. सं. डॉ. धर्मवीर, सीमान्तनी उपदेश, पृ. 10
13. डॉ. शैल रस्तोगी, हिन्दी उपन्यासों में नारी, पृ. 294
14. प्रभा खेतान, उपनिवेश में स्त्री, पृ. 46-47
15. कृष्णा सोबती, मित्रो मरजानी, पृ. 19
16. उषा प्रियवंदा, रूकोगी नहीं राधिका, पृ. 9



भारतीय स्वतंत्रता आंदोलन के इतिहास में महात्मा गाँधी और सुभाष चंद्र बोस के विचारों एवं रणनीतियों का संघर्ष

○ अजीत प्रताप सिंह

संक्षिप्ति :

भारतीय स्वतंत्रता आंदोलन की प्रकृति और उसके स्वरूप को जिन विचारों तथा रणनीतियों ने सबसे अधिक प्रभावित किया। वे थे 'राष्ट्रपिता' कहे जाने वाले मोहनदास करमचंद गांधी और 'नेताजी' की उपाधि से सम्मानित युवा क्रांति के प्रतीक तथा भारतीय इतिहास के गौरव सुभाष चंद्र बोस। महात्मा गांधी ने दक्षिण अफ्रीका में अहिंसा और सत्याग्रह का सफल प्रयोग कर लिया था भारत आगमन के बाद ब्रिटिश शासन से संघर्ष में उसी को अपना हथियार बनाया तथा कमोबेश कांग्रेस उन्हीं की नीतियों पर चलती रही। एक अन्य क्रांतिकारी विचार जो देश पर सब कुछ न्योछावर कर देने को तैयार थे सुभाष बोस उन्हीं में से एक थे। असहयोग आंदोलन के स्थगन, महात्मा गांधी की उदारवादी नीति से क्रांतिकारी विचारधारा के व्यक्ति सुभाष बोस को बहुत निराशा हुई। महात्मा गांधी को लगता था कि सुभाष बोस की नीतियों से कांग्रेस तथा उनका अहिंसक आंदोलन संकट में पड़ सकता है इसलिए सुभाष बोस की शक्तियों पर अंकुश लगाना जरूरी है। आगे चलकर गोलमेज सम्मेलन में गांधी की असफलता, पूर्ण स्वराज तथा त्रिपुरी कांग्रेस अधिवेशन (8-12 मार्च 1939) में अध्यक्ष पद के प्रश्न को लेकर संघर्ष आरंभ हो गया। सुभाष चंद्र बोस ने साम्राज्यवाद विरोधी संघर्ष का जो राजनीतिक प्रतिमान स्थापित किया था उसने बोस की राष्ट्रीय आंदोलन के नायक का प्रतीक बना दिया था जो उपर्युक्त अध्यक्षीय चुनाव में बहुमत के रूप में प्रकट हुआ। गांधी जी और बोस की संघर्ष की रणनीति कांग्रेस की एकता को अक्षुण्ण रखने के प्रयास पर टिकी हुई थी। अंत में दोनों अपने विश्वासों, विचारों और रणनीतियों पर चलते रहे और स्वतंत्रता आंदोलन को अपने हिसाब से चलाने की कोशिश करते रहे।

सुभाष चंद्र बोस ब्रिटिश शासन को किसी भी प्रकार की सहायता देने से इन्कार करते थे वह सशस्त्र क्रांति में भारत के युवाओं, किसानों तथा महिलाओं को एकजुट करके ब्रिटिश शासन को एक झटके में हटा देना चाहते थे। इस मामले में महात्मा गांधी की समझ थोड़ी धुंधली दिखाई देती है। महात्मा गांधी भारत की सामाजिक समस्याओं का ब्रिटिश शासन के सहयोग से समाधान करके धीरे धीरे पूर्ण स्वराज्य को पाना चाहते थे।

बीज शब्द : पूर्ण स्वराज, सत्याग्रह, अहिंसा, युवा क्रांति, फासिज्म, परिवर्तनवादी, साम्राज्यवाद।

भारतीय स्वतंत्रता संग्राम के राष्ट्रवादी नायक तथा भारतीय राष्ट्रवाद के प्रेरणा स्रोत नेताजी सुभाषचंद्र बोस और सत्याग्रह एवं अहिंसा के पुजारी राष्ट्रपिता महात्मा गांधी के विचारों तथा रणनीतियों को लेकर जो आपसी मतभेद थे हमने इस शोध के माध्यम से इसे समझने का प्रयत्न किया है। महात्मा गांधी और सुभाष चंद्र बोस

दोनों का उद्देश्य भारत को ब्रिटिश शासन से मुक्त कराना था लेकिन रणनीति और आंदोलन के स्वरूप को लेकर कुछ बुनियादी विवाद था। जनता संघर्ष के लिए किस हद तक तैयार है? तथा भविष्य में जन आंदोलन का स्वरूप क्या हो?

इन दोनों स्वतंत्रता सेनानियों के विचारों एवं मतभेदों को समझने से पहले इनके प्रारंभिक जीवन की संक्षिप्त जानकारी दे देनी आवश्यक होगी। सुभाषचंद्र बोस का जन्म सन् 1897 ई. को उड़ीसा के कटक (उस समय पश्चिम बंगाल) में एक मध्यमवर्गीय बंगाली परिवार में हुआ था। पिता पेशे से वकील थे सन् 1919 ई. में कलकत्ता विश्वविद्यालय से स्नातक ग्रहण करने के पश्चात 1920 ई. में इंपीरियल सिविल सर्विस (I-C-S) में उत्तीर्ण हुए 1 वर्ष पश्चात सिविल सेवा से त्यागपत्र दे दिया। मोहनदास करमचंद गांधी का जन्म 2 अक्टूबर 1869 ई. का पोरबंदर गुजरात में हुआ। पिता राजकोट के दीवान थे 13 वर्ष की उम्र में विवाह हो गया। प्राथमिक शिक्षा ग्रहण करने के पश्चात वकालत पढ़ने के लिए लंदन चले गए।¹¹

दक्षिण अफ्रीका में भारतीय अल्पसंख्यकों के वकील के रूप में महात्मा गांधी ने ब्रिटिश शासन के जुल्म और अमानवीय कानून का विरोध करने के लिए एक नई युक्ति खोज निकाली जिसे वे सत्याग्रह तथा अहिंसा कहते हैं। अपनी सत्याग्रह और अहिंसा की नीति पर चलते हुए दक्षिण अफ्रीका में उन्होंने सफलता प्राप्त की थी। स्वदेश लौटने के पश्चात अपने देश में उन्होंने इसी सत्याग्रह के मार्ग पर चलने के लिए लोगों को एकजुट किया। सत्याग्रह की अपनी नीति में उनका इतना अटल विश्वास था कि महात्मा गांधी मानते थे कि यदि अहिंसा और सत्याग्रह पर अमल हो तो हिंदुस्तान एक रोज में स्वराज पा जाए। कई दशकों से भारतीय स्वतंत्रता आंदोलन के केंद्र बिंदु में उनकी सत्याग्रह और अहिंसा की नीति को ही प्रमुखता से दिखाने का प्रयास किया गया है। इसलिए हम सत्याग्रह और अहिंसा को समझ कर ही स्वतंत्रता आंदोलन में उनके विचारों और अपनाई गई रणनीतियों को समझ पायेंगे।

अपनी पुस्तक हिंद स्वराज में वे सत्याग्रह का वर्णन करते हुए कहते हैं। “इसका ध्येय लड़ाई के ध्येय से उल्टा है जब मुझे कोई काम पसंद ना आए और मैं वह काम ना करूं तो उसमें सत्याग्रह था।” गांधी के दृष्टिकोण में सत्याग्रह के लिए अहिंसा एक अनिवार्य तत्व है। उनकी सत्याग्रह की नीति का सार यह है कि जब कोई कानून या बात आपके हिसाब से गलत हो तो उसका शांतिपूर्ण ढंग से विरोध करना तथा सत्य पर पूरे आत्मबल से डटे रहना ही सत्याग्रह है।¹²

भारतीय स्वतंत्रता आंदोलन के दौरान एक अन्य प्रबल विचारधारा विद्यमान थी जो गांधीवादी आदर्शों में विश्वास नहीं रखते थे। जिनका मानना था कि ब्रिटिश साम्राज्य को सशस्त्र संघर्ष से ही हराया जा सकता है और भारतीयों को एकजुट होकर उन्हें मार भगाना चाहिए। इस विचार को मानने वाले अनुयायियों में देशबंधु चितरंजनदास, बाल गंगाधर तिलक, अरविंद घोष, लाला लाजपत राय, नेताजी सुभाष चंद्र बोस तथा अन्य कई और क्रांतिकारी इसमें शामिल थे। समाजवादी विचार रखने वाले आमूल परिवर्तनवादी, राष्ट्रवादी सुभाष चंद्र बोस अहिंसा के गांधीवादी आदर्शों में विश्वास नहीं रखते थे। उनके चरित्र पर चितरंजन दास, अरविंद घोष, तिलक तथा स्वामी विवेकानंद के विचारों की स्पष्ट छाप थी। नेताजी सुभाष चंद्र बोस अंतरराष्ट्रीय घटनाओं की अच्छी समझ रखते थे उन्होंने अपनी आत्मकथा में लिखा है कि “मैंने बिस्मार्क की आत्मकथा, मेटरनिख के संस्करण तथा काबूर के पत्रों को पढ़ा। जिसने मेरी राजनीतिक भावना को जागृत किया और अंतरराष्ट्रीय राजनीति की धारणाओं को समझने में सहायता मिली” सुभाषचंद्र बोस का दृष्टिकोण गांधीजी की अपेक्षा अधिक व्यावहारिक एवं तार्किक था। सुभाष चंद्र बोस का मानना था कि हमारा लक्ष्य ब्रिटिश शासन को उखाड़ फेंक कर पूर्ण स्वराज हासिल करना तथा अपनी स्वयं की शासन व्यवस्था स्थापित कर क्षमा याचना की अपनी नीति को छोड़कर ब्रिटिश शासन से सशस्त्र संघर्ष करना चाहिए।¹³

सुभाष चंद्र बोस की इस विचार में गहरी आस्था थी कि जनता सशस्त्र संघर्ष के लिए तैयार है हमें अंतर्राष्ट्रीय परिस्थितियों का फायदा उठाकर ब्रिटिश शासन को उखाड़ फेंकना चाहिए। वहीं गांधी अपने जिद्दी स्वभाव से सत्याग्रह तथा अहिंसा की नीति पर टिके रहे उन्होंने क्रांतिकारियों के इस विचार की आलोचना भी की। आगे हम देखेंगे कि दो राष्ट्रीय नायकों के मध्य रणनीति और संघर्ष की रूपरेखा को लेकर उनके विचारों का संघर्ष अधिक तीव्र हो गया और मतभेद गहराता चला गया।⁴

साम्राज्यवाद विरोधी संघर्ष में शामिल होने के शुरुआती दिनों में सुभाषचन्द्र यह स्वीकार करते हैं कि वह “महात्मा गांधी के आदर्शों पर चलने को तैयार थे”। उन्होंने पूरे जोश से असहयोग आंदोलन का समर्थन किया। अपनी सिविल सेवा की नौकरी को छोड़ कर वह स्वतंत्रता आंदोलन में कूद पड़े। परन्तु चौरी चौरा की घटना के बाद गांधी द्वारा असहयोग आंदोलन वापस लिए जाने से युवा क्रांतिकारी सुभाष चंद्र बोस को काफी निराशा हुई। आगे चलकर जब गांधी की अस्वीकृति के बावजूद चितरंजन दास और मोतीलाल नेहरू ने विधान परिषदों में चुनाव लड़ने का निश्चय किया तो सुभाष बोस उसमें शामिल हो गए। सन् 1925 में चितरंजन दास की मृत्यु के बाद बंगाल का नेतृत्व और जिम्मेदारी उन्हीं के हाथों में रही।

सन् 1927 के मद्रास अधिवेशन में सुभाष बोस के पारित पूर्ण स्वराज के प्रस्ताव को अगले वर्ष गांधी के इशारे पर अस्वीकार कर दिया गया तो सुभाष बोस का गांधी की नीतियों से विश्वास उठता चला गया। यद्यपि सुभाष बोस महात्मा गांधी के नेतृत्व के महत्त्व को स्वीकार करते हैं और यह भी स्वीकार करते हैं कि महात्मा गांधी के नेतृत्व में कांग्रेस एक मजबूत और शक्तिशाली संगठन के रूप में उभरी है लेकिन गांधी की उदारवादी रणनीति को देखकर सुभाष बोस को यह यकीन हो गया कि गांधीवादी आदर्शों पर चलकर पूर्ण स्वराज को पाना काफी कठिन होगा इसलिए उन्होंने कांग्रेस के भीतर ही ऐसी नीतियां लागू कराने की कोशिश की जिससे साम्राज्यवाद को जल्द से जल्द हटाया जा सके। सुभाष बोस का उदारवादियों की इस नीति में कम ही भरोसा था कि ब्रिटिश संसदीय व्यवस्था में पहुंचकर वह भारतीय समस्याओं का समाधान कर सकेंगे। क्योंकि सुभाष बोस अच्छी तरह समझते थे कि “ब्रिटिश शासन का संपूर्ण ढांचा ही भारतीयों का शोषण करता है और उसमें लोक कल्याणकारी तत्व कम ही है।”⁵

द्वितीय गोलमेज सम्मेलन में गांधी की असफलता की सुभाष बोस ने निंदा की और कहा कि यदि गांधीजी ने तानाशाह हिटलर, मुसोलिनी तथा स्टालिन की भाषा में बात की होती तो इरविन समझ गया होता और सम्मान में अपना सर झुकाता। द्वितीय विश्व युद्ध के पूर्व ही सुभाष बोस का मानना था कि जनता संघर्ष के लिए तैयार है और अंतर्राष्ट्रीय संकट के कारण वह अवसर आने वाला है जब भारत अपने आप को आजाद कर लेगा। परन्तु गांधी की धारणा थी कि जनता और कांग्रेस दोनों अभी संघर्ष के लिए तैयार नहीं है “संघर्ष शुरू करने से पहले भारतीयों को अपना घर दुरुस्त कर लेना चाहिए”। भारत की आजादी के लिए सुभाष बोस धुरी शक्तियों से भी सहयोग लेने को तैयार थे। उनके इस विचार की गांधीवादियों द्वारा आलोचना भी की गई कि वह फासिस्ट जैसी ताकतों का समर्थन कर रहे थे। इसपर सुभाष बोस कहते हैं कि “मैं यह स्पष्ट कर देना चाहता हूं कि इस समय तक फासिज्म ने अपना साम्राज्यवादी अभियान शुरू नहीं किया है और फासिज्म मुझे राष्ट्रवाद का ही आक्रामक रूप लगता है”। गांधी और कांग्रेस फासीवादी शक्तियों के प्रति पूर्णतः सजग थे। वह इसके विरोध में ब्रिटेन को सहायता देने को तैयार थे बशर्ते कि ब्रिटेन कुछ संवैधानिक रियायतों का वादा करे। अपने भारतीय उपनिवेश पर जापान के आक्रमण से ब्रिटेन डरा हुआ था भारतीयों के मन में भी ब्रिटिश साम्राज्य के प्रति विरोध चरम पर था। सुभाष बोस भली प्रकार समझ गए थे कि यह शुभ अवसर है और हमें इसका लाभ उठाना चाहिए। लेकिन सन् 1939 के त्रिपुरी कांग्रेस में जो कुछ हुआ उसने सुभाष बोस की आकांक्षाओं पर पानी फेर दिया तथा महात्मा गांधी से उनके मतभेद और अधिक उभरकर सामने आए।⁶

सुभाष बोस ने गांधी की इच्छा के विरुद्ध जाकर चुनाव लड़ा और गांधी के अपने उम्मीदवार पट्टाभि सीतारमैया को हराकर अध्यक्ष पद का चुनाव जीता। जैसा की बी.आर. टॉमलिंग्सन का कथन है, “यह चुनाव वैचारिक मुद्दों पर दक्षिण बनाम वाम, संघ समर्थन बनाम संघ विरोध, मंत्रिमंडल समर्थन बनाम मंत्रिमंडल विरोध, पर लड़ा गया था”। महात्मा गांधी इससे बहुत अधिक नाराज हो गये और सुभाष बोस को अपने हिसाब से मंत्रिमंडल बनाने का आग्रह किया और किसी भी तरह के सहयोग से इनकार कर दिया। कांग्रेस कार्य समिति के 15 सदस्यों में से 12 सदस्यों ने तुरंत इस्तीफा दे दिया। बोस ने समझौते की कोशिश की, लेकिन वह असफल रहे। आखिरकार उन्होंने त्यागपत्र दे दिया। गांधी के इशारे पर ही बंगाल के कांग्रेस अध्यक्ष पद से उन्हें हटा दिया गया और 3 साल तक कांग्रेस के किसी भी पद पर नियुक्त होने पर प्रतिबंध लगा दिया गया।”

सुभाष चंद्र बोस ने अपनी आत्मकथा में लिखा कि “कांग्रेस अध्यक्ष के रूप में मैंने पूरी कोशिश की कि कांग्रेस समझौतावाद की राह पर ना चले जिससे गांधीवादियों को परेशानी होती थी”⁷⁸ इस तरह भारतीय स्वतंत्रता आंदोलन के जुझारू क्रांतिकारी सुभाष चंद्र बोस जिनके पास भारत की आजादी की व्यावहारिक नीति थी। कांग्रेस तथा गांधी दोनों ने उनमें अविश्वास जताया। चार्ल्स एफ एन्ड्रूज को लिखे पत्र में महात्मा गांधी ने कहा, “सुभाष बोस परिवार का एक बिगड़ैल बच्चा है जिसे उसके भले के लिए सबक सिखाना जरूरी है”। आगे जो हुआ वह सुविदित ही है कि कांग्रेस महात्मा गांधी की नीतियों पर ही चलती रही और सुभाष चंद्र बोस ने कांग्रेस के भीतर ही फारवर्ड ब्लाक की स्थापना कर ली। सन् 1941 में गुप्त तरीके से रूस पहुँचे फिर वहाँ से बर्लिन, जापान में आजाद हिंद फौज का नेतृत्व किया और जापानी सेना के सहयोग से बर्मा के रास्ते इंगाल (मणिपुर) तथा असम में प्रवेश कर ब्रिटिश शासन को उखाड़ने का निश्चय किया। उनका यह स्वर्णिम ख्वाब पूरा होता इससे पहले ही एक आकस्मिक विमान दुर्घटना में वे राजनीतिक परिदृश्य से हमेशा के लिए गायब हो गए। उनके जाने से आजाद हिंद फौज तथा युवा क्रांतिकारी नेतृत्व को गहरा झटका लगा।⁷⁹

अंत में यह कह देना आवश्यक होगा कि स्वतंत्रता आंदोलन के इतिहास में इतिहासकारों द्वारा एक नायक की खोज ने अन्य सभी क्रांतिकारियों तथा आम जनता के योगदान को महत्वहीन बना दिया।

निष्कर्ष :

महात्मा गांधी और सुभाष चंद्र बोस के विचारों तथा उनकी नीतियों तथा आपसी मतभेदों के अध्ययन के दौरान हमने पाया कि जहाँ गांधी के विचार उनकी नीतियों पर उनकी पारिवारिक पृष्ठभूमि तथा दक्षिण अफ्रीका में प्राप्त उनके अनुभव पर टिकी थी उनके मन में सत्याग्रह और अहिंसा का विचार यूँ ही नहीं पनपा। दक्षिण अफ्रीका तथा लंदन में अपने प्रवास के दौरान उन्होंने ब्रिटिश शासन के सैनिक शक्ति को नजदीक से देखा था। जिसे देखकर वह मानने लगे थे कि ब्रिटेन को सशस्त्र संघर्ष में हराया नहीं जा सकता। देखने से लगता है कि उनकी इतिहास की समझ अभी परिपक्व नहीं हुई थी। फ्रांस, अमेरिका तथा इटली में हुई सफल क्रांति से उन्होंने कुछ भी नहीं सीखा। ब्रिटिश शासन की न्यायप्रियता में उनका भरोसा साफ दिखाई देता है। अपने जिद्दी स्वभाव एवं अडिग विश्वास के कारण स्वतंत्रता संग्राम के अन्य सभी क्रांतिकारियों में काफी असंतोष पैदा किया। वहीं सुभाष बोस पर क्रांतिकारी विचारधारा का स्पष्ट प्रभाव देखा जा सकता है स्वतंत्रता आंदोलन में उनकी नीतियाँ अधिक व्यावहारिक एवं तत्कालीन परिस्थितियों के अनुरूप लगती हैं। उनमें सहनशीलता तथा नेतृत्व की अद्भुत क्षमता थी। महात्मा गांधी जहाँ अपने हठी स्वभाव से अपने फैसले पर टिके रहे वहीं सुभाष बोस ने उनसे अधिक विचारों की परिपक्वता का परिचय दिया और बड़ों का पूरा सम्मान किया। सुभाष बोस ने गांधी से अपने मतभेदों तथा असहमति को कभी स्वतंत्रता आंदोलन में बाधक नहीं बनने दिया।

महात्मा गांधी जहाँ स्वतंत्रता तथा पूर्ण स्वराज्य से थोड़ा हटकर अपने सत्याग्रह तथा अहिंसा की नीति के प्रचार तथा रचनात्मक कार्यों में संलग्न रहे वहीं सुभाष चंद्र बोस अपने लक्ष्य पूर्ण स्वशासन को पाने के लिए

सशस्त्र संघर्ष की रणनीति तैयार करते रहे ब्रिटिश विरोधी नई शक्तियों से गठजोड़ की कोशिश करते रहे जीवन के अंतिम क्षणों तक सुभाष चंद्र बोस स्वतंत्रता आंदोलन के लिए संघर्ष करते रहे। “जय हिन्द”, “तुम मुझे खून दो मैं तुम्हें आजादी दूंगा” जैसे ओजस्वी पूर्ण भाषणों ने भारतीय जनमानस की अंतरात्मा को झकझोर दिया था।

भारत के स्वाधीनता संघर्ष में युवा क्रांति के प्रतीक सुभाष चंद्र बोस और राष्ट्रपिता महात्मा गांधी के विचारों तथा रणनीतियों ने भारतीय स्वतंत्रता आंदोलन को नई दिशा दी। आपसी मतभेदों के बावजूद दोनों ने साम्राज्यवादी विरोधी संघर्ष को कमजोर नहीं होने दिया परस्पर विरोधी विचारधाराओं ने ही ब्रिटिश शासन की नींव को अंदर और बाहर दोनों तरफ से खोखला तो किया ही।

यह अवश्य ही कहा जाना चाहिए कि गांधी के पास विरोध एवं शांतिपूर्ण आंदोलन का पर्याप्त अनुभव था जब वे भारत आये तो विचारों से पूरी तरह परिपक्व थे। परंतु यह अफसोसजनक रहा कि वह भारत के युवा मन मस्तिष्क को कभी समझ नहीं सके इतने अनुभवों के बावजूद उन्होंने सहनशीलता नहीं दिखाई, इसके विपरीत सुभाष चंद्र बोस भारतीय समाज एवं जनमानस की गहरी समझ रखने वाले व्यक्ति थे वह भारत के लिए नई व्यवस्था चाहते थे जो शोषणकारी तथा ब्रिटिश अन्याय से मुक्त हो, यह भी कहा जा सकता है कि महात्मा गांधी के सत्याग्रह तथा अहिंसा की नीति का पूर्ण पालन नहीं हो सका क्योंकि भारतीय जनमानस में जो आक्रोश व्याप्त था उसे तो फूटना ही था।

यह भी ध्यान देने योग्य है कि युवा क्रांतिकारी और सुभाष चंद्र बोस अधिक सुसंगत साम्राज्यवादी विरोधी दृष्टिकोण की मांग कर रहे थे। वे राष्ट्रवाद को सामाजिक न्याय से जोड़े जाने की आवश्यकता का अनुभव कर रहे थे।

संदर्भ :

1. मोहन दास करमचंद गांधी, सत्य के प्रयोग अथवा आत्मकथा, हिन्दी अनुवाद : काशी नाथ त्रिवेदी, नवजीवन प्रकाशन मंदिर, अहमदाबाद, 2009, पृ. 10, 388, 447
2. मोहनदास करमचंद गांधी, हिंद स्वराज, हिन्दी अनुवाद : अमृतलाल ठाकोरदास नानावटी, नवजीवन मुद्रणालय, अहमदाबाद, 2009, पृ. 29, 80
3. सुभाष चंद्र बोस, एन इंडियन पिलग्रिम, ऑक्सफोर्ड युनिवर्सिटी प्रेस, 1998, पृ. 11, 150, 135, सुभाष चंद्र बोस, द इंडियन स्ट्रगल खंड 1, 2. पृ. 76, 84, 14, 21.
4. रमेश कुमार, सुभाष चंद्र बोस एंड महात्मा गांधी ए क्लेश आफ ऑडियोलॉजी, (शोध ग्रंथ, शोधगंगा से, 2011)
5. सुमित सरकार, आधुनिक भारत (1885-1947), राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2016, पृ. 272
6. बिपिन चंद्र, मृदुला मुखर्जी, आदित्य मुखर्जी, सुचेता महाजन, के.एम पनिककर, भारत का स्वतंत्रता संघर्ष, (हिन्दी माध्यम कार्यान्वयन निदेशालय, नई दिल्ली, 1990), पृ. 428, 429
7. बिपिन चन्द्र, आधुनिक भारत का इतिहास, ओरियंट ब्लैकस्वान, नई दिल्ली, 2009, पृ. 279
8. शेखर बंधोपाध्याय, प्लासी से विभाजन तक और उसके बाद, ओरियंट ब्लैकस्वान, नई दिल्ली, 2009, पृ. 408, 409
9. दीपमाला द्विवेदी, जीवन एक रहस्यात्मक पहेली नेताजी सुभाष चंद्र बोस, (शोधग्रंथ शोधगंगा से, 2008)
10. शिशिर कुमार बोस, नेताजी संपूर्ण वांग्मय खंड 2, (सूचना एवं प्रसारण मंत्रालय भारत सरकार, 1999)
11. "Subhaschandrabo.Org | Life And Work Of Netaji Subhas Chadra Bose".Subhaschandrabo.Org,2020, <http://www.subhaschandrabo.org/>.
12. "Netaji Research Bureau". Netaji.Org,2020.<http://www.netaji.org/>.
13. Shodhganga.inflibnet.nic.in



विपुल व विस्तृत ग्रामीण विकास का रचना संसार : एक समग्र अध्ययन

○ स्वर्णिम घोष

संक्षिप्ति :

जैसा कि हमें ज्ञात है, ग्रामीण विकास ग्रामीण क्षेत्रों में जीवन यापन करने वाले आम जन-मानस, जो कि अपेक्षाकृत अलग और कम आबादी वाले क्षेत्रों से सम्बन्ध रखती हैं, के जीवन की गुणवत्ता और मूलभूत रूप से उनके आर्थिक कल्याण में सुधार लाने की प्रक्रिया है। प्रस्तुत शोधपत्र के माध्यम से विषय से सम्बंधित साहित्यिक सर्वेक्षण व अनुभवजन्य आंकड़ों के अध्ययन के पश्चात् यदि हम प्राचीन या परम्परागत दृष्टिकोण की बात करें तो हम पाते हैं कि ग्रामीण विकास कृषि और वानिकी जैसे भूमि-गहन प्राकृतिक संसाधनों के दोहन पर केन्द्रित रहा है। जबकि वैश्विक उत्पादन नेटवर्क में बदलाव और बढ़ते शहरीकरण जैसे कारकों ने ग्रामीण क्षेत्रों के मूल स्वभाव और चरित्र को भी बदलने का कार्य किया है एवं साथ-ही बढ़ते हुए पर्यटन व तथाकथित आलानिर्माताओं और मनोरंजन ने संसाधन निष्कर्षण और कृषि को प्रमुख आर्थिक चालकों के रूप में परिवर्तित कर दिया है। अतएव, अध्ययन व सर्वेक्षण के उपरान्त यह सहज अनुभूति हुई है कि ग्रामीण क्षेत्रों के विकास की शृंखला में शिक्षा, स्वास्थ्य, उद्यमिता, भौतिक आधारभूत संरचना और सामाजिक आधारभूत संरचना जैसे कारक महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। इसप्रकार, प्रस्तुत अध्ययन सम्बंधित क्षेत्र में साहित्य की समीक्षा कर वस्तुस्थिति को स्पष्ट करने के प्रयास से भी सम्बंधित है।

बीज शब्द : संसाधन निष्कर्षण, आधारभूत संरचना, पारिस्थितिक कृषि, रचनात्मक कार्य, ग्रामीण विकास।

ग्रामीण क्षेत्र की अर्थव्यवस्था स्वभाव एवं प्रकृति से बहुत मजबूत तो नहीं परन्तु अन्य किसी भी प्रकार के अर्थव्यवस्था से विलग, अत्यंत ही विपुल और विस्तृत है इसका रचना-संसार। फिर चाहे वह वैश्विक मंदी का दौर हो या कोरोनाजनित मंदी का दौर। यह राख से पुनर्जीवित होने वाली मायापंक्षी की तरह भारतीय अर्थव्यवस्था के व्यष्टि सह-समष्टिमूलक स्वरूप को सम्हाले रखने का दम-खम रखती है। कारण यह है कि अभी-भी भारत के कार्यशील जनसंख्या का 70% श्रम गांवों में ही विद्यमान है। हालाँकि विगत वर्षों के अध्ययन से प्राप्त अनुभवजन्य आंकड़ों की यदि समीक्षा की जाए तो ग्रामीण अर्थव्यवस्था पर संकटों का विषम जाल यथा; नक्सलवाद की समस्या, विकास का सही अर्थ में न होने की समस्या, आधारभूत ढाँचे की कमी, ऊपर से कोढ़ में खाज की तरह बुनियादी सुविधाओं की कमी आदि समस्याओं ने हमेशा ही अपनी जड़ें फैला कर रखी हुई हैं, परन्तु किसानों की ऋण-माफी एवं सरकार के रोजगार गारंटी जैसे कानूनों व कल्याणकारी नीतियों के कारण सुधार धीरे-धीरे ही सही किन्तु परिलक्षित होने लगा है। परन्तु मौजूदा सरकार के द्वारा लागू की गई कई सामाजिक और वित्तीय राहत योजनाओं के बावजूद वंचित समुदायों व समाज की अंतिम छोर पर खड़े

अभागों का भाग्य आज भी चिंता का विषय बना हुआ है। सर्वेक्षण के दौरान इस तथ्य का भी संकेत मिला कि धरातल पर ग्रामीण सर्वेक्षण नहीं किये जाने के फलस्वरूप ग्रामीण भारत में पूंजीवादी प्रक्रियाओं ने गहरी पैठ जमा ली है, जिससे ग्रामीण श्रमिकों के लिए आजीविका विकल्पों का संकट उत्पन्न हुआ है। 'सेंटर फॉर मानिट्रिंग इंडियन इकॉनमी' के एक रिपोर्ट के अनुसार, मार्च, 2022 तक ग्रामीण महिलाओं की श्रम भागीदारी दर महज 9.92% थी, जबकि पुरुषों के लिए यह दर 67.24% रही। निःसंदेह यह स्थिति संतोषजनक नहीं क्योंकि ग्रामीण अर्थव्यवस्था भारत की राष्ट्रीय आय में महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है। इसलिए इस ओर सरकार का ध्यान अपेक्षित है और तत्काल सकारात्मक कार्यवाही की मांग करता नजर आता है, जिसमें मनरेगा के तहत निर्धारित प्रदर्शन मानकों को लिंगवार स्थापित किया जाना शामिल है।

वर्तमान समय में ग्रामीण विकास शब्द केवल विकासशील देशों के मुद्दों तक ही सीमित नहीं, बल्कि साहित्यिक सर्वेक्षणों के पश्चात यह पता चलता है कि कई विकसित देशों में अत्यंत ही सक्रिय ग्रामीण विकास कार्यक्रम संचालित हो रहे हैं। यह सर्वविदित है कि भारत गांवों का देश है। देश की जनसंख्या का एक बड़ा हिस्सा आज भी ग्रामीण इलाकों में निवास करता है। स्पष्ट है कि ग्रामीण जनसंख्या की इस विशाल जनसंख्या के बुनियादी सुविधाओं को संशोधित किये बिना हम समग्र, स्वस्थ व हरित विकास का सपना देख ही नहीं सकते क्योंकि ग्रामीण विकास ही राष्ट्रीय विकास का केंद्र बिंदु है। जब हम समग्र विकास की बात करते हैं तो बिना ग्रामीण अर्थव्यवस्था के सामाजिक-आर्थिक-प्रौद्योगिकीय आधारभूत ढांचे को सशक्त किये ये बातें महज जुमला प्रतीत होती हैं। स्पष्ट है कि भारत जैसे देश को विकास सम्बन्धी अपने आर्थिक नजरिये को बदलने की ही नहीं वरन पुनर्विचार करने की आवश्यकता है। जिससे यह निश्चय ही ग्रामीण अर्थव्यवस्था सम्बन्धी अपने सतत विकास लक्ष्यों को पूरा करने की ओर बढ़ेगा।

ग्रामीण विकास क्या है :

ग्रामीण विकास मूल रूप से ग्रामीण अर्थव्यवस्था के विकास के उन घटकों की व्याख्या करने के साथ ही इस ओर ध्यान केन्द्रित करता है, जो ग्रामीण अर्थव्यवस्था के सर्वांगीण विकास के प्रतिमानों में कहीं पिछड़ गये हों। ग्रामीण विकास से आशय समग्र विकास द्वारा जनता के आर्थिक, सामाजिक, प्रौद्योगिकी एवं सांस्कृतिक उत्थान करने एवं उनके जीवन-स्तर में सकारात्मक सुधार से है।

विश्व बैंक के अनुसार : “सामान्य रूप से ग्रामीण विकास, एक ग्रामीण परिवेश वाले लोगों के आर्थिक और सामाजिक जीवन को बेहतर बनाने के लिए, बनाई गई रणनीति है। जो विशेष रूप से ग्रामीण क्षेत्रों में रहने वाले गरीबों, छोटे व सीमांत किसानों और भूमिहीन मजदूरों पर अपना ध्यान केन्द्रित करता है।”

उमा लैली कहती हैं, “ग्रामीण विकास से अभिप्राय ग्रामीण क्षेत्रों में रहने वाले अनेकानेक निम्न आय वर्ग के लोगों के जीवन स्तर में सुधार लाना और उनके विकास के क्रम को आत्म पोषित बनाना है।”

आर.एन. आजाद कहते हैं, “ग्रामीण विकास का अर्थ, आर्थिक विकास की प्रक्रिया हेतु ग्रामीण क्षेत्रों में आवश्यक अवसंरचनात्मक विकास करना, जिसमें लघु एवं कुटीर उद्योगों का विकास तथा विपणन जैसी द्वितीयक एवं तृतीयक सेवाओं का विकास सम्मिलित है।”

बसंत देसाई के अनुसार : “ग्रामीण विकास एक अधिगम है जिसके द्वारा ग्रामीण जनसंख्या के जीवन की गुणवत्ता में उन्नयन हेतु क्षेत्रीय स्रोतों के बेहतर उपयोग एवं संरचनात्मक सुविधाओं के निर्माण के आधार पर उनका सामाजिक आर्थिक विकास किया जाता है एवं उनके नियोजन एवं आय के अवसरों को बढ़ाने के प्रयास किये जाते हैं।”

क्रॉप कहते हैं कि, “ग्रामीण विकास एक प्रक्रिया है जिसका उद्देश्य सामूहिक प्रयासों के माध्यम से नगरीय

क्षेत्र के बाहर रहने वाले व्यक्तियों के जनजीवन को सुधारना एवं स्वावलंबी बनाना है।”

इस सम्बन्ध में, संत कवि तिरुवल्लुवर ने ग्रामीण विकास के महत्व को रेखांकित करते हुए कहा है कि, “मिट्टी की जुताई करने वाले अधिकार के साथ जीते हैं, श्रृंखला के शेष लोग उनके आश्रय की रोटी खाते हैं”

ग्रामीण विकास से जुड़े मुख्य प्रश्न व निर्धारक तत्व : ग्रामीण विकास की अवधारणा को सशक्तता से निर्धारित करने वाले मुख्य घटकों में से निम्नवत उल्लेखनीय हैं :-

- मानव पूंजी का निर्माण शिक्षा एवं तकनीकी कौशल के द्वारा
- रुग्ण कृषि के विकल्प के रूप में ग्रामीण व वंचित समुदायों के लिए उत्पादक संसाधनों का विकास यथा; वैकल्पिक व्यवसाय का विकास
- कृषि आजीविका को धारणीय बनाने के लिए कृषि विविधीकरण
- भूमि-सुधार तकनीकी सुधारों के साथ
- आधुनिक तकनीकों व विधियों का उपयोग कर उत्पादकता में वृद्धि
- आधारीक संरचनाओं का विकास; जैसे- बिजली, सिंचाई, ऋण, परिवहन, बाजारों का विकास आदि
- निर्धनता-उन्मूलन के सशक्त प्रयास
- स्थानीय आजीविकाओं के साधन के विकास पर ध्यान केन्द्रित करना
- गरीबों के ऋण आवश्यकताओं की पूर्ति करने हेतु अतिलघु साख व्यवस्था की भूमिका
- स्वयं सहायता समूहों व गैर-सरकारी संगठनों की भूमिका
- ग्रामीण विकास में ग्रामीण बैंकिंग का अहम् योगदान
- ग्रामीण विविधीकरण में गैर-कृषि रोजगार का महत्व यथा; पशुपालन, मत्स्य-पालन और वागवानी आदि
- धारणीय विकास, खाद्य सुरक्षा व सूचना व प्रौद्योगिकी की महत्ता
- ग्रामीण विकास एवं जैविक खेती का विकास
- ग्रामीण विकास में सहकारी संस्थाओं की भूमिका

उपर्युक्त परिभाषाओं व निर्धारक तत्वों के परिक्षण व विवेचन के पश्चात् यह कहना कदाचित अतिशयोक्ति नहीं कि निश्चित रूप से ग्रामीण विकास एक बहुआयामी अवधारणा है। संकुचित अर्थ में, जहाँ यह कृषि, पशुपालन, ग्रामीण हस्तकला एवं उद्योग, ग्रामीण मूल संरचना में बदलाव की मांग कर ग्रामीण क्षेत्रों के विकास से सम्बन्धित है तो वहीं वृहद रूप से इसका उद्देश्य वंचित समुदायों का सर्वांगीण उत्थान करना है। इस सम्बन्ध में, महात्मा गांधी का यह कहना कि, “भारत की वास्तविक विकास का तात्पर्य शहरी औद्योगिक केन्द्रों का विकास नहीं, बल्कि मुख्य रूप से गावों के विकास से ही संभव है” पूर्णतया समसामयिक है। ग्रामीण विकास का मुख्य उद्देश्य ग्रामीण क्षेत्रों में गरीबी उन्मूलन, रोजगार सृजन तथा क्षेत्र विकास के कार्यक्रमों को कार्यान्वित करना है। जलवायु परिवर्तन के इस युग में ग्रामीण विकास एवं कृषि संयंत्र के मुद्दे चुनौतियों के समान उभर रहे हैं। कृषि व स्थानीय आजीविका के साधन ग्रामीण अर्थव्यवस्था के विकास के लिए रीढ़ की हड्डी के समान है। परन्तु यदि हम कोरोनाकाल की दशा और दिशा और ग्रामीण प्रवासियों की स्थिति व घुमावदार ग्रामीण प्रवासन पर प्रकाश डालें तो स्वतः परिलक्षित होता है कि ग्रामीणों का गाँव से शहर प्रवास का अपना एक ‘घुमावदार चरित्र’ है जहाँ दिन के अनुपयुक्त और अन्तर्निहित अर्थव्यवस्था के कारण ग्रामीणों ने शहरों, महानगरों और खाड़ी देशों को अभूतपूर्व स्तर पर स्थान्तरित कर दिया और अवांछित प्रवासी का रूप धारण कर शहरी एवं औद्योगिक क्षेत्रों में अपनी गरिमा, सम्मान, संस्कृति की लागत पर सस्ते श्रम प्रदान किया व पेरी-शहरी क्षेत्रों में बदसूरत

और अस्वस्थ मलिन बस्तिओं का गठन किया और मुसीबत में पुनः उसी गाँव की ओर लौटा जहाँ कृषि को एक अयोग्य व्यवसाय मानकार उसने दुत्कारा था। अनुभव जन्य शोध यह भी बताते हैं कि गैर-कृषि अर्थतंत्र में कुछ घटकों में पर्याप्त गतिशील अंतर्संबंध पाए जाते हैं जिससे स्वस्थ समृद्धि की संभावना बढ़ जाती है। साथ-ही नियोजित ग्रामीण विकास की रणनीति में राज्य की भूमिका को महत्वपूर्ण माना जाता है।

ग्रामीण विकास के उद्देश्य :

प्रस्तुत शोधपत्र इस तथ्य के खोज से सम्बंधित है कि ग्रामीण अर्थव्यवस्था के कार्याकल्प के लिए सरकार द्वारा विकास के लिए कितनी योजनाएँ शुरू की गयीं व ग्रामीण भारत में इन योजनाओं को अपनाने के विभिन्न लाभ व चुनौतियाँ क्या रहीं। यह शोधपत्र इस तथ्य पर भी केन्द्रित है कि क्या योजनाओं ने ग्रामीण व वंचित समुदायों को जोड़ने का कार्य किया है। यदि हाँ तो क्या वे ग्रामीण आम-जनमानस की बुनियादी आवश्यकताओं को पूरा करने में सफल हुई है। इस सम्बन्ध में ग्रामीण विकास से सम्बन्धित निम्नलिखित उद्देश्यों को रेखांकित किया गया है; वे हैं,

1. ग्रामीण समुदायों के सामाजिक और आर्थिक विकास को बढ़ावा देना।
2. ग्रामीण विकास एजेंडा में सामुदायिक भागीदारी पर ध्यान केन्द्रित करना।
3. स्वयं ग्रामीण लोगों की भागीदारी के साथ ग्रामीण क्षेत्रों में सुधार के तरीकों की खोज करना ताकि ग्रामीण समुदायों की आवश्यक जरूरतों को पूरा किया जा सके।
4. उत्पादकता को बढ़ाने के साथ-साथ पूर्ण रोजगार व विकास योग्य संसाधनों का न्यायसंगत आबंटन।

परिकल्पना :

प्रस्तुत शोध-पत्र की विवेचना एवं सत्यापन हेतु निम्नवत परिकल्पनाओं का निर्माण किया गया है, वे हैं-
शून्य परिकल्पना (H₀): ग्रामीण विकास व राष्ट्रीय विकास के बीच उच्च धनात्मक सहसंबंध व्याप्त है।
वैकल्पिक परिकल्पना (H₁): ग्रामीण विकास व राष्ट्रीय विकास के बीच कोई सह-सम्बन्ध नहीं है।

शोध विधि :

प्रस्तुत शोध पत्र के विश्लेषण हेतु प्राथमिक व द्वितीयक दोनों ही संमकों का प्रयोग किया गया है। अध्ययन की सरलता एवं सुविधा के दृष्टिकोण से तथ्यात्मक अनुभवजन्य व गुणात्मक शोध विधि की सहायता ली गयी है। प्रस्तुत अध्ययन ग्रामीण अर्थव्यवस्था से सम्बंधित महत्वपूर्ण निर्धारक कारकों की समीक्षा कर सुधारों के लिए अंतर्दृष्टि प्रदान करने का प्रयास करता है।

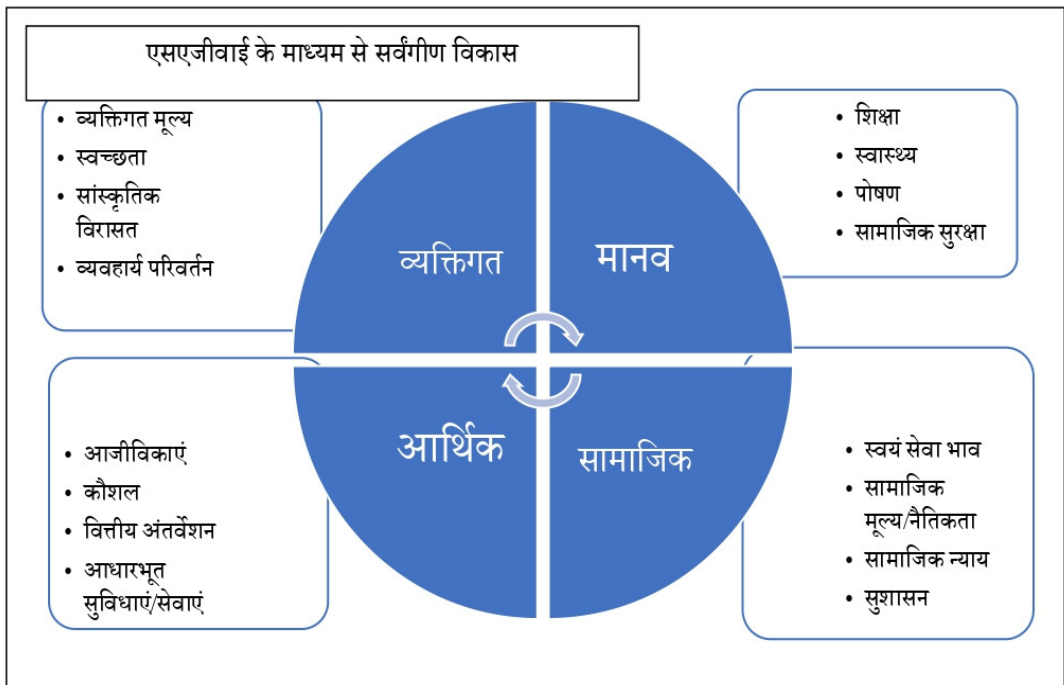
तालिका 1.1 : ग्रामीण विकास और बजट परिव्यय : एक सापेक्षिक अध्ययन

वित्तीय वर्ष	बजट परिव्यय
2012-13	50162 करोड़ रुपये
2013-14	58630 करोड़ रुपये
2014-15	67263 करोड़ रुपये
2015-16	77321 करोड़ रुपये
2016-17	95000 करोड़ रुपये
2017-18	105447.88 करोड़ रुपये
2018-19	112403.92 करोड़ रुपये
2019-20	117647.19 करोड़ रुपये
2020-21	120147.19 करोड़ रुपये

स्रोत : ग्रामीण विकास मंत्रालय, भारत सरकार

उपर्युक्त तालिका से स्पष्ट है कि ग्रामीण विकास मंत्रालय द्वारा निरंतर ग्रामोत्थान हेतु विभिन्न वित्तीय वर्षों में लगातार बजट परिव्यय के आबंटन में बढोत्तरी की जाती रही है। राष्ट्रीय ग्रामीण आजीविका मिशन, मनरेगा, भारत निर्माण आदि योजनाओं के अतिरिक्त दीनदयाल उपाध्याय ग्रामीण कौशल योजना, रौशनी (आदिवासियों के लिए कौशल विकास योजना), हिमाचल परियोजना मॉडल, स्वच्छ भारत मिशन, सांसद आदर्श ग्राम योजना, विरासत विकास और संवर्धन योजना, प्रधानमंत्री ग्राम सड़क योजना, ट्रायसेम, अन्त्योदय अन्न योजना, ग्राम अनाज बैंक योजना, राष्ट्रीय ग्रामीण स्वास्थ्य मिशन, आम आदमी बीमा योजना, कुटीर ज्योति कार्यक्रम, सर्व शिक्षा अभियान आदि ग्रामीण विकास योजनाओं का विस्तार हुआ है।

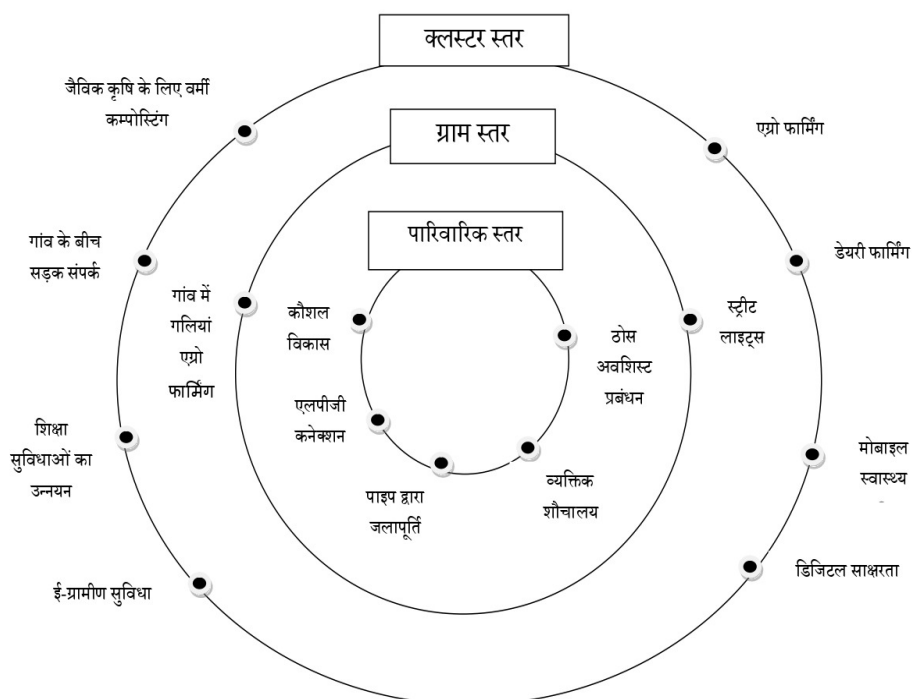
चित्र 1.1 : ग्रामीण विकास और विविध आयाम



स्रोत : ग्रामीण विकास मंत्रालय, भारत सरकार

आंकड़े बताते हैं कि नियोजन के पूर्व और बाद भारत में ग्रामीण विकास की रणनीति बदलती रही है। ग्रामीण लोगों की प्रवृत्ति और व्यवहारों में भी व्यापक परिवर्तन हुए हैं। ग्रामीण विकास का सम्बन्ध देश की 70% जनसंख्या से है। स्पष्ट है कि यदि हम देश के एक बड़े जनसमूह को न्यायसंगत रूप से खुशहाल बनाना चाहते हैं तो हमें वहाँ उन समस्त सुख-सुविधाओं का विकास करना होगा, जो ग्रामीण क्षेत्रों के नागरिकों को शहर की ओर पलायन करने को विवश करते हैं। संभवतः यही कारण है कि 1952 में सामुदायिक विकास कार्यक्रमों द्वारा बहुदेशीय उपागम द्वारा एक शैक्षिक एवं संगठनात्मक प्रक्रिया के द्वारा सामाजिक-आर्थिक अवरोधों को दूर करने का प्रयास किया गया व “बिना सहकार नहीं उद्धार” नारा बुलंद हुआ तो वहीं जनतांत्रिक विकेंद्रीकरण अधिगम द्वारा भारत में पंचायती राज्य संस्थाओं का विकास किया गया एवं क्षेत्रीय स्तर पर स्थानीय विकास कार्यक्रमों के निर्धारण एवं क्रियान्वयन के द्वारा ग्रामीण संरचना में परिवर्तन की रणनीति अपनाई गयी। विगत

चित्र 1.2 : ग्रामीण भारत की बदलती तस्वीर : विकास के नवीन आयाम



स्रोत : ग्रामीण विकास मंत्रालय, भारत सरकार

समय में ग्रामीण विकास तथा आधुनिकीकरण के इस युग में यदि हम सन् 1921 से सन् 1980 तक के ग्रामीण विकास से संबंधित सरकारी कार्यक्रमों व प्रयोगात्मक मार्गदर्शक परियोजनाओं की समीक्षा करें तो हम पाते हैं कि मार्तण्ड परियोजना (1921), बड़ोदा का ग्रामीण पुनर्निर्माण कार्य (1932), मद्रास की फीको विकास योजना (1946), सामुदायिक विकास कार्यक्रम/राष्ट्रीय प्रसार सेवा (1952), सघन कृषि जिला विकास कार्यक्रम (1960-61), लघु कृषक विकास अभिकरण, सूखा प्रणव क्षेत्र कार्यक्रम, कमान क्षेत्र विकास कार्यक्रम, हरित-क्रांति, श्वेत क्रांति, राष्ट्रीय सहकारी नीति संकल्प एवं ग्रामीण विकास कार्यक्रम, समग्र/एकीकृत ग्रामीण विकास कार्यक्रम संकल्पना (1980) आदि कार्यक्रम व योजनाओं के सिद्धांत एक व्यवहार में काफी अंतर है। इस सन्दर्भ में कारणों की खोज करने के पश्चात वास्तविक मापदंड के आधार पर संभावित लाभ-भोगियों की उचित पहचान, समर्पित एवं वचनबद्ध तंत्र के अभाव के कारण कार्यान्वयन प्रक्रिया में व्यवधान, ग्रामीण क्षेत्रों में गहन आबादी का पाया जाना, प्रभावशाली वर्गों की ओर से निहित स्वार्थ के प्रति दबाव, कार्यक्रम के प्रति लोगों में जानकारी का अभाव, प्रशासनिक व बैंकिंग कुव्यवस्था आदि प्रमुख थे।

परन्तु यदि हम 1990 से 2021 तक के आंकड़ों की समीक्षा करें तो ग्रामीण भारत की तस्वीर बदलती हुई प्रतीत होती है। विगत वर्षों के आंकड़ों के अध्ययन के पश्चात यह सहज अनुभूति हो रही है कि ग्रामीण अर्थव्यवस्था का वैश्विक अर्थव्यवस्था से जुड़ाव बढ़ा है। अब ग्रामीण किसान भी दुनिया को देखते हुए बीज बोने लगे हैं, फसल का पैदावार करने लगे हैं। साक्षरता विशेषकर नारी साक्षरता, शिक्षा और कौशल का विकास, स्वास्थ्य-स्वच्छता और जन-स्वास्थ्य, भूमि-सुधार, उत्पादक संसाधनों का विकास, आधारित संरचना का विकास

जैसे; बिजली, सिंचाई, ऋण, बाजार, परिवहन सुविधायें, कृषि-अनुसंधान, विस्तार व सूचना-प्रसार की सुविधाओं का विकास, कृषि तथा गैर-कृषि उत्पादक क्रियाकलापों का विकास आदि विकास के संकेतकों में तेजी से नरेगा (2005), मनरेगा (2010), दीनदयाल उपाध्याय ग्रामीण कौशल्य योजना, राष्ट्रीय ग्रामीण आजीविका मिशन, दीनदयाल अन्त्योदय योजना, एनआरएल एम्, इंदिरा आवास योजना, प्रधान मंत्री ग्राम सड़क योजना, सांसद आदर्श ग्राम योजना, श्यामा प्रसाद मुखर्जी रुबर्न योजना, नेशनल सोशल असिस्टेंस प्रोग्राम, स्वयं सहायता समूह का विकास आदि ग्रामीण विकास से सम्बंधित कार्यक्रमों के कारण ग्राम्यांचलों में उत्पादकता एवं विकास दोनों में ही बढ़ोतरी हुई है। ग्रामीण क्षेत्रों में साख और विपणन के विकास के साथ उत्पादक गतिविधियों में भी विविधीकरण हुआ है। जिससे ग्रामीणों की आय में वृद्धि दर्ज की गयी और उनके क्रय शक्ति में भी बढ़ोतरी पायी गयी जिससे निसंदेह ग्रामीण अर्थव्यवस्था के विकास को गति मिली है।

अतएव, सर्वेक्षण के पश्चात् यह स्पष्ट है कि ग्रामीण विकास एवं राष्ट्रीय पुनरुद्धार के बीच उच्च सह-सम्बन्ध व्याप्त है तथा यह राष्ट्र-पुनर्निर्माण का द्वार खोलने में पूर्णतया सक्षम है। विभिन्न अध्ययनों और साक्ष्यों से यह पता चलता है कि नया भारत बड़े शहरों से छोटे शहरों और ग्रामीण क्षेत्रों की ओर विनिर्माण गतिविधि और रोजगार में बदलाव का अनुभव कर रहा है। (विश्व बैंक की रिपोर्ट, 2012) उच्च शहरी-ग्रामीण लागत अनुपात के परिणामस्वरूप औपचारिक क्षेत्र में विनिर्माण संयंत्र शहरी क्षेत्रों से ग्रामीण क्षेत्रों की ओर जा रहे हैं जबकि अनौपचारिक क्षेत्र ग्रामीण से शहरी स्थानों की ओर बढ़ रहा है। यदि हम उद्योगों के वार्षिक सर्वेक्षण 2019-20 के आंकड़ों पर दृष्टिपात करें तो विनिर्माण क्षेत्र के उत्पादन में ग्रामीण क्षेत्र ने उल्लेखनीय योगदान दिया है। आंकड़ों के अनुसार, 42% कारखाने और 62% अचल पूंजी ग्रामीण क्षेत्रों में है। यह लगभग दो दशकों से ग्रामीण स्थानों में लगातार निवेश का परिणाम है। इसके अलावा, उत्पादन और मूल्यवर्धन के सन्दर्भ में, ग्रामीण कारखानों ने कुल क्षेत्र में लगभग आधे का योगदान दिया है। जबकि रोजगार के मामले में ग्रामीण क्षेत्रों की हिस्सेदारी 44% है। पर सच्चाई यह भी है कि ग्रामीण क्षेत्रों में सेक्टर की कुल मजदूरी का केवल 41% हिस्सा था। अध्ययन के दौरान ग्रामीण विनिर्माण में वृद्धि के कारणों में ग्रामीण क्षेत्रों में मजदूरी, भूमि और सम्पत्ति की लागत का कम होना, उत्पादन की बढ़ी हुई पूंजी गहनता, उत्पादन-लागत भिन्नताएं, पूंजी के पुनर्गठन की संभावनाएँ आदि दृष्टिगोचर हुए हैं। हालाँकि ग्रामीण क्षेत्रों में 'कौशल की कमी' एक प्रमुख मुद्दा बनकर उभरा है जिसे ग्रामीण श्रमिकों के लिए बेहतर शिक्षा और कौशल है। यह उच्च विश्वसनीयता और उत्पादकता सुनिश्चित करेगा और कृषि से उच्च कमाई वाली आजीविकाओं की ओर बढ़ने की प्रक्रिया को तेज करेगा। परन्तु ग्रामीण परिवारों के लिए भोजन तथा आजीविका सुरक्षा, सार्वजनिक वितरण प्रणाली के द्वारा अनाज की उपलब्धता, मनरेगा के सुदृढीकरण जैसे कारक ग्रामीण अर्थव्यवस्था के बुनियादी संरचना को मजबूती प्रदान करने का कार्य करती है। अतः आर्थिक नीति-निर्माताओं व आला-अधिकारियों को ग्रामीण अर्थव्यवस्था से सम्बंधित किसी भी नीति-निर्धारण से पूर्व यह हमेशा ध्यान देना चाहिए कि ऐसे अर्थव्यवस्था के लिए आपदाकाल में यदि किसी भी प्रतिबंधात्मक उपाय जैसे; लॉकडाउन, सामाजिक दूरी आदि को क्रियान्वित करने की आवश्यकता महसूस हो तो वहाँ के आम-जनमानस के लिए एक निश्चित आय, भोजन व चिकित्सीय सुविधाओं की व्यवस्था पहले की जानी चाहिए। हमें यह याद रखना चाहिए कि ये वे लोग हैं जो प्रत्यक्ष तौर पर इन प्रतिबंधित नियमों से नकारात्मक रूप से प्रभावित होते हैं।

निष्कर्षतः यह कहना अतिशयोक्ति नहीं कि विकास की इस अंधी दौड़ में हम जिस ग्रामीण समाज के सदस्य हैं, उसकी नींव में आश्वासन, अविश्वास व अदृश्य शक्ति लाभ-वृत्ति तीनों का ही समीक्षण व्याप्त है। ग्रामीण समुदायों के विकास को व्यापक दृष्टिकोण देने की आवश्यकता ने कृषि तथा संसाधन आधारित व्यवसायों के लिए प्रोत्साहन पैदा करने की बजाय विकास लक्ष्यों की एक वृहत शृंखला पर अधिक ध्यान केन्द्रित किया है।

ग्रामीण विकास को स्थानीय रूप से उत्पादित आर्थिक विकास रणनीतियों पर और अधिक जोर देने की आवश्यकता है। परीक्षण से यह भी पता चलता है कि स्थानीय सरकारों की समग्र वित्तीय ताकत राष्ट्रीय सरकार की तुलना में काफी कामजोर होती है जिससे ग्रामीण नागरिकों के प्रति उनकी प्रतिक्रिया और सामुदायिक विकास, पहल में भागीदारी बढ़ाने में सफलता पर प्रतिकूल प्रभाव डालती है। वर्तमान किसान आन्दोलन की यदि हम बात करें तो यह स्पष्ट है कि धारणाओं, योजनाओं, दृष्टिकोणों, प्रथाओं और फाईलों और रिपोर्टों के परे ग्रामीण विकास के प्रतिमानों में प्रामाणिक परिणामों में विशाल अंतराल ने भारतीय कृषि व ग्रामीण विकास को अधिक असुरक्षित बना दिया, कारण यह है कि सफलता के यथार्थपरक निर्धारक तत्वों व कमजोर बिन्दुओं की अभी तक ठीक से पहचान ही नहीं की गयी है। जहाँ तक ग्रामीण अर्थव्यवस्था में आधी आबादी अर्थात् महिलाओं की स्थिति के उत्थान का प्रश्न है तो सरकार के निरंतर प्रयासों के बावजूद निम्न मजदूरी दर पर अस्थायी कार्य में संलग्न महिलाओं के लिए पारस्परिक संघर्ष अब भी कायम है। सरकार को चाहिए कि नई योजनाओं और नीतियों को बनाने के साथ इन योजनाओं और नीतियों को आकर्षित करने हेतु कृषि क्षेत्र में कुछ व्यवहार्य विकल्प और जमीनी स्तर पर बिल्लियों के गले में घंटियों को बांधते हुए नवाचारों की संभावित सीमाओं का विश्लेषण करे, समस्या की पहचान कर समाधान की एक सशक्त योजना बनाकर बहुस्तरीय, बहुविध समीक्षात्मक मूल्यांकन करे ताकि ग्रामीण युवाओं, सेवानिवृत्त और अनुभवी युवाओं को जोड़कर सौहार्दपूर्ण और तकनीकी व वित्तीय सहायता प्रणालियों के मार्गदर्शन, बातचीत और सहयोग तथा ब्लाक, जिला और राज्य स्तर पर ग्रामीण अनुसंधान केंद्र, ग्रामीण पुस्तकालय और चेतना केंद्र और आधार स्कूल नेटवर्क स्थापित करने कि कवायद मूर्त रूप ले सके। हमें सच्चे हृदय से इस तथ्य पर आत्मावलोकन करना होगा कि देश में इतनी बड़ी मशीनरी व करोड़ों रुपये के प्रावधान के बावजूद भी ग्रामीण विकास से सम्बंधित समस्त कार्यक्रमों का लाभ वंचित समुदाय किस कारण से नहीं ले पा रहा? स्पष्ट है कि जन-जागरण एवं आत्मचेतना का मंच तैयार कर सामाजिक न्याय के सामान्य ढाँचे को वास्तविक बनाना होगा। पर्यावरण का क्षरण, अशिक्षा, निर्धनता, उभरती असमानता जैसे मुद्दों का भलीभांति विश्लेषण कर ग्रामीण विकास को अनुकूल बनाया जा सकता है, जिसका प्रत्यक्ष सकारात्मक प्रभाव राष्ट्रीय विकास के रूप में परिलक्षित होता है।

सन्दर्भ :

1. मोसले, मैल्कम जे. (2003), ग्रामीण विकास : सिद्धांत और व्यवहार (1. प्रकाशन एड.), लन्दन [युए]: सेज, पेज 5, ISBN 978-07619-4766-0
2. विश्व बैंक, (1975) ग्रामीण विकास, सेक्टर पालिसी पेपर, वाशिंगटन, डीसी : विश्व बैंक.
3. ए.बी कोहेन, जॉन एम् अपोफ, नोर्मन टी. (1980-03-01). “ ग्रामीण विकास में भागीदारी का स्थान : विशिष्टता के माध्यम से स्पष्टता की तलाश”, विश्व विकास, 8(3) : 213-234, ISSN 0305-750X.
4. पलिसरी, सोनी (2012), “ग्रामीण विकास”, स्थिरता का विश्वकोश, 7 : 222-225.
5. आर्थिक सर्वेक्षण : 2017-2018.
6. <http://www.ncert.nic.in/ncerts/I/khec106.pdf,p-2>
7. <http://documents.worldbank.org/curated/en/522641468766236215/Rural-development>
8. www.mygov.in
9. <http://www.oecd.org>
10. <https://www.academia.edu>
11. <https://rural.nic.in>
12. औद्योगिक वार्षिक सर्वेक्षण : 2019-20
13. विश्व बैंक की रिपोर्ट, 2012

जिला सोनभद्र में कृषि विविधता पर खनन का प्रभाव एवं भूमि के परिवर्तित होते प्रतिरूप का विश्लेषण

○ उरुज फात्मा

संक्षिप्ति :

कृषि भारतीय जनसंख्या का मूल आधार है। विकसित हो चुके नगरों के अतिरिक्त अभी भी ज्यादातर जनसंख्या कृषि अर्थव्यवस्था पर ही निर्भर है फिर चाहे वो विनिर्माण, औद्योगीकरण, खनन, सेवा क्षेत्र के विकसित हो रहे संकुल हों या विशुद्ध रूप से ग्रामीण क्षेत्र। भारत की ऊर्जा राजधानी सोनभद्र में आजादी के बाद बहुत तीव्र गति से औद्योगीकरण तथा खनन की गतिविधियाँ प्रारम्भ हुई, जिसका परिणाम क्षेत्र के भूमि उपयोग प्रतिरूप पर पड़ा। प्रस्तुत शोध पत्र सोनभद्र जनपद के तहसील राबर्ट्सगंज और दुद्धी में खनन के कारण कृषि विविधता में आये परिवर्तन के अध्ययन पर केन्द्रित है।

प्रस्तुत शोध पत्र कृषि और उसकी सहायक गतिविधियों का विश्लेषण करने का प्रयास करता है। जिसमें ग्रामीण समुदायों की जीविका के प्रमुख साधन के रूप में कृषि तथा सहायक क्रियाओं में हो रहे परिवर्तन का विवेचन किया जायेगा। चूँकि खनन तथा औद्योगीकरण परस्पर सम्बन्धित हैं और इनका संयुक्त प्रभाव अर्थव्यवस्था के साथ-साथ पर्यावरण प्रदूषण तथा सतत् विकास की क्षमता पर भी पड़ता है इसलिए पर्यावरण निम्नीकरण इस शोध पत्र के अध्ययन की मूल अवधारणा में शामिल है। शोध प्रविधि विश्लेषणात्मक है जो प्राथमिक एवं द्वितीयक आंकड़ों के विवेचन से विकसित होगी।

बीज शब्द : विनिर्माण, औद्योगीकरण, खनन, पर्यावरण निम्नीकरण।

पृथ्वी के संपूर्ण पर्पटी का का लगभग 98 प्रतिशत भाग आठ तत्वों, जैसे आक्सीजन, सिलिकन, एलुमिनियम, लोहा, कैल्शियम, सोडियम, पोटैशियम तथा मैग्नेशियम से बना है तथा शेष भाग टायटेनियम, हाइड्रोजन, फास्फोरस, मैंगनीज, सल्फर, कार्बन, निकिल एवं अन्य पदार्थों से बनी है। स्थलमंडल का निर्माण करने वाले उपरोक्त तत्वों के समायोजन की विविधता तथा जलवायुवीक दशाओं के मेल के फलस्वरूप पृथ्वी पर विभिन्न स्थानों पर भिन्न-भिन्न कृषि विविधता पाई जाती है। 32 करोड़ 88 लाख हेक्टेयर क्षेत्रफल के साथ विश्व का सातवां सबसे बड़ा देश भारत में कुल भूमि के 92.9 प्रतिशत भाग के उपयोग संबंधी आंकड़े उपलब्ध हैं। देश के भूमि उपयोग में कृषि की प्रधानता है। कुल भूमि के 47.48 प्रतिशत भू-भाग पर कृषि कार्य किया जाता है। भारत में कृषि भूमि का क्षेत्रफल 14.12 करोड़ हेक्टेयर है, जो विश्व की कुल कृषित भूमि का 12 प्रतिशत है। कृषि और उद्योग धंधे भारतीय अर्थव्यवस्था का मजबूत स्तंभ है। कृषि हमारी अर्थव्यवस्था का मूल आधार है। भारत की 65-70 प्रतिशत जनसंख्या अपनी आजीविका के लिए कृषि पर ही निर्भर करती है। कृषि से भारत के सकल घरेलू उत्पाद (GDP) का 17.1 प्रतिशत भाग प्राप्त होता है।

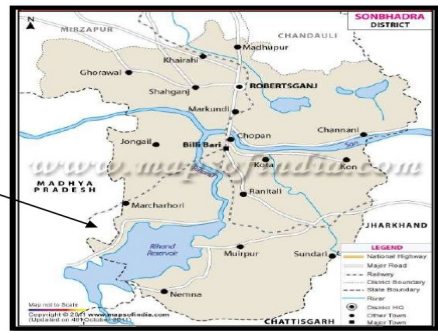
स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात से ही कृषि भूमि का प्रतिशत लगातार बढ़ता हुआ दिखाई देता है। 1950-51 में कुल भूमि का 42.56 प्रतिशत भू-भाग कृषि के अंतर्गत था जो 1970-71 में बढ़कर 46.01 प्रतिशत तक पहुँच गया। इस समय में कृषित भूमि का कुल क्षेत्रफल 14.12 करोड़ हेक्टेयर है। सम्पूर्ण भारत में असमान वितरित कृषित भूमि का सर्वाधिक भाग महाराष्ट्र 1.77 करोड़ हेक्टेयर तथा द्वितीय स्थान पर उत्तर प्रदेश 1.65 करोड़ हेक्टेयर है। परन्तु भारत की ऊर्जा राजधानी कही जाने वाली सोनांचल घाटी में निरन्तर कृषि भूमि में हास हुआ है।

भौगोलिक स्थिति

उत्तर प्रदेश का दूसरा सबसे बड़ा जिला सोनभद्र कैमूर श्रेणी के पठार के उत्तरीय भाग में स्थित है। जो गंगा की सहायक नदियों बेलन नदी तथा कर्मनाशा नदी के अपवाह पर स्थित है। इसका क्षेत्रफल 6788 वर्ग किलोमीटर है। अध्ययन क्षेत्र की सीमा पश्चिम में मध्य प्रदेश, दक्षिण में छत्तीसगढ़, पूर्व में झारखण्ड तथा बिहार एवं उत्तर में उत्तर प्रदेश के मिर्जापुर जिला से लगती है। उत्तर प्रदेश की उपश्रेणी मिर्जापुर संभाग में अवस्थित सोनभद्र का 23°52 से 24°41 उत्तरी अक्षांश तथा 82°31 से 83°03 पूर्वी देशांतर के मध्य विस्तृत है। इसकी उत्तर से दक्षिण की ओर अधिकतम लंबाई 105 किमी तथा पूर्व से पश्चिम की चौड़ाई 85 किमी है। प्रशासनिक दृष्टि से सोनभद्र जनपद को तीन तहसील यथा- रॉबर्ट्सगंज, दुद्धी एवं घोरावल और आठ विकासखंडों यथा- रॉबर्ट्सगंज, चोपन, चतरा, नगवा, मयूरपुर, दुद्धी, बभनी, घोरावल में विभक्त किया गया है। रॉबर्ट्सगंज यहाँ का प्रमुख नगर तथा जिला मुख्यालय है। अध्ययन क्षेत्र की जनसंख्या 14,63,519 है तथा इसका जनसंख्या घनत्व उत्तर प्रदेश में सबसे कम 198 व्यक्ति प्रति वर्ग किमी है। अध्ययन क्षेत्र को हम दो प्रमुख भौगोलिक क्षेत्र में विभक्त करते हैं - प्रथम भाग के अंतर्गत पठारी क्षेत्र है, जो विंध्य पहाड़ियों से कैमूर पहाड़ियों तक होते हुए सोन नदी तक फैला हुआ है। यह क्षेत्र गंगा घाटी से 400 से 1,100 फीट ऊंचा है। द्वितीय भाग के अंतर्गत सोन नदी के दक्षिण में सोन घाटी है जिसमें सिंगरौली तथा दुध्दी आते हैं। यह अपने प्राकृतिक संसाधनों एवं उपजाऊ भूमि के कारण विख्यात है। प्राकृतिक संसाधनों, उपजाऊ भूमि एवं गंगा कही जाने वाली सोन नदी के होने के बावजूद अध्ययन क्षेत्र सोनभद्र में हो रही कृषित भूमि में हास चिंता का सबब है। अध्ययन करने पर ज्ञात होता है कि सोनभद्र जिले में औद्योगिक विकास एवं खनन ने मृदा में अनेक जैविक अजैविक तत्वों को समाहित कर दिया है। खनन ने बहुत से कृषित, आकृषित भू-भाग पर एकाधिकार कर लिया है, औद्योगिक प्रतिष्ठानों तथा खनन क्षेत्रों से निकलने वाले प्रदूषकों द्वारा कृषि पद्धति में भी परिवर्तन आया है।



Source : MapsofIndia.com, Uttar Pradesh
Figure 1



Source : MapsofIndia.com, Sonbhadra
Figure 2

अध्ययन का उद्देश्य

इस शोध पत्र का व्यापक उद्देश्य मुख्य रूप से निम्नलिखित है-

- सोनभद्र जिला की तहसील राबर्ट्सगंज और दुहरी में कृषि विविधता के बदलते प्रतिरूप के कारणों पर प्रकाश डालना है।
- अध्ययन क्षेत्र में रहने वाली आबादी की सामाजिक-आर्थिक स्थिति के प्रभाव पर चर्चा करना तथा खनन के कारण भूमि एवं मानव स्वास्थ्य की गुणवत्ता के हास का विश्लेषण करना है।

शोध प्रविधि :

प्रस्तुत शोध पत्र सोनभद्र जनपद में खनन के कारण कृषि विविधता में आये परिवर्तन के अध्ययन पर केन्द्रित है। चूंकि खनन तथा औद्योगीकरण परस्पर सम्बन्धित हैं और इनका संयुक्त प्रभाव अर्थव्यवस्था के साथ-साथ पर्यावरण प्रदूषण तथा सतत् विकास की क्षमता पर भी पड़ता है इसलिए पर्यावरण निम्नीकरण इस शोध पत्र के अध्ययन की मूल अवधारणा में शामिल है। शोध प्रविधि विश्लेषणात्मक है, जो प्राथमिक एवं द्वितीयक आंकड़ों के विवेचन से विकसित है। आंकड़ों का एकत्रण प्राथमिक आधार पर जनपद सोनभद्र के विभिन्न क्षेत्रों में पहुँच कर स्थानीय नागरिकों, श्रमिकों तथा कृषकों से मिली जानकारी एवं प्रकाशित किताबों, सांख्यिकी पत्रिका, विभिन्न शोध पत्रों, थीसिस, लेखों, वेबसाइटों और समाचार पत्रों के माध्यम से तैयार और वर्गीकृत किया गया है। इस शोध पत्र हेतु सोनभद्र जनपद के 12 गांवों का चयन किया गया, जिनमें 108 व्यक्तियों से प्रश्नावली के माध्यम से वित्तीय सहायता एवं समय को ध्यान में रखते हुए स्नो बॉल मेथड के द्वारा सूचनाएं प्राप्त की गई हैं।

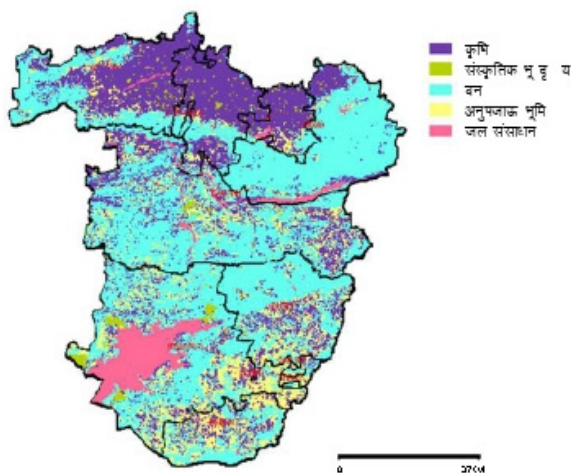
क्रम सं.	1	2	3	4	5	6	7	8	9	10	11	12
गांव	चोपन	डाला	चुर्क	गोठानी	बेलवा	अगोरी खस	बिल्लाही	चतर	महुरिया	बीजपुर	हीराचक	बभनी
तहसील	राबर्ट्सगंज							दुहरी				

विश्लेषण

अध्ययन क्षेत्र पूर्वी उत्तर प्रदेश का अत्यंत पिछड़ा एवं आदिवासी बहुल क्षेत्र है। कुछ महीनों पूर्व ही जमीन विवाद को लेकर यहां 10 आदिवासियों के हत्या का मामला राष्ट्रीय स्तर पर सुर्खियों में रहा। इस परिप्रेक्ष्य में कृषि भूमि में हो रहे बदलाव को समझना, देश के अन्य हिस्सों में आदिवासियों एवं वंचित समुदाय के प्रति विकास की रूपरेखा निर्धारण, विकास योजना तथा नीति बनाने के लिए अत्यंत समाचीन एवं उपयोगी होगा, इन्हीं तथ्यों को सामने रखकर इस शोध पत्र की रूपरेखा तैयार की गई।

अध्ययन हेतु द्वितीयक प्रकाशित आंकड़ों को आधार के रूप में 1990 से लेकर 2018 तक का प्रयोग किया गया है। यद्यपि 2018 के आंकड़े भी उत्तर प्रदेश सरकार के सूचना विभाग के उपलब्ध हैं तथापि पांच वर्षों के अंतराल को ध्यान में रखते हुए प्राथमिक आंकड़ों के आधार पर विश्लेषण करने का प्रयत्न किया गया है।

सोनभद्र भूमि उपयोग प्रतिकरूप



Source: <http://gis.nic.in>

Figure: 3

सोनभद्र में कृषि भूमि उपयोग :

तालिका 2 से स्पष्ट होता है 1994 से 2010 तक अनाज उत्पादन में लगातार गिरावट हुई परंतु 2014-15 का आंकड़ा यह स्पष्ट करता है कि 2010-15 के मध्य 5 वर्ष में अनाज उत्पादन में 5464 हेक्टेयर भूमि उपयोग में वृद्धि दर्ज की गई। इसी प्रकार बीज, वाणिज्य फसलों, औद्योगिक फसलों तथा अन्य फसलों में 2010-15 के मध्य वृद्धि दर्ज की गई। केवल दलहन की कृषि भूमि उपयोग में कमी दर्ज की गई। (तालिका 2)

कृषि भूमि उपयोग(हेक्टेयर में)					
फसल	1994-95	1999-2000	2004-05	2009-10	2014-15
अनाज	161975	18136	151806	109768	115232
दलहन	32560	41259	40066	37684	36663
बीज	21970	20454	13743	13141	13895
वाणिज्य फसल	632	837	3560	3760	4128
औद्योगिक फसल	420	557	388	287	346
अन्य फसलें	26342	17906	10290	9384	8268
कुल	243899	262378	219853	174024	178532

स्रोत: सांख्यिकी पत्रिका जनपद सोनभद्र (www.updes.up.nic.in)

भूमि का परिवर्तित होता प्रतिरूप

यद्यपि 1994 से 2015 तक अध्ययन क्षेत्र सोनभद्र में भूमि का प्रतिरूप लगातार परिवर्तित होता रहा है। निम्न तालिका द्वारा यह स्पष्ट होता है कि 1994 से 2010 तक कृषि भूमि में 20.85 प्रतिशत की कमी आई लेकिन 2009 से 2015 के मध्य यह 2.59 प्रतिशत हो गई। (तालिका 3)

Table 3

फसल	भूमि का परिवर्तित प्रतिरूप (प्रतिशत में)			
	1994-1995	1999-2000	2004-2005	2009-10
	से 1999-2000	से 2004-2005	से 2009-2010	से 2014-2015
अनाज	10.69	-19.47	-38.30	4.74
दलहन	21.08	-2.98	-6.32	-2.78
बीज	-7.41	-48.83	-4.58	5.43
वाणिज्य फसल	24.49	76.49	5.32	8.91
औद्योगिक फसल	24.6	-43.56	-35.19	17.05

स्रोत: सांख्यिकी पत्रिका जनपद सोनभद्र (www.updes.up.nic.in)

दो दशक पूर्व सोनभद्र में कृषि भूमि उपयोग

अध्ययन क्षेत्र में कुल फसल वाले क्षेत्र के खाद्यान्न के अंतर्गत 50 प्रतिशत से अधिक क्षेत्र था जिसके बाद 2014-15 में दलहन (19.84 प्रतिशत), अन्य फसलें (8.50 प्रतिशत), तिलहन (7.62 प्रतिशत), वाणिज्यिक फसलें (2.19 प्रतिशत) और औद्योगिक फसलें (0.19 प्रतिशत) थीं। वाणिज्यिक फसलों (553.16 प्रतिशत) और दालों (12.60 प्रतिशत) को छोड़कर 1995 से 2015 तक सभी प्रकार की फसलों की फसल की कटाई की प्रवृत्ति कम हो रही थी क्योंकि ये फसलें लोगों को खाद्य आपूर्ति की बुनियादी और दैनिक आवश्यकताएं पूर्ण करती हैं। (तालिका 4)

Table 4

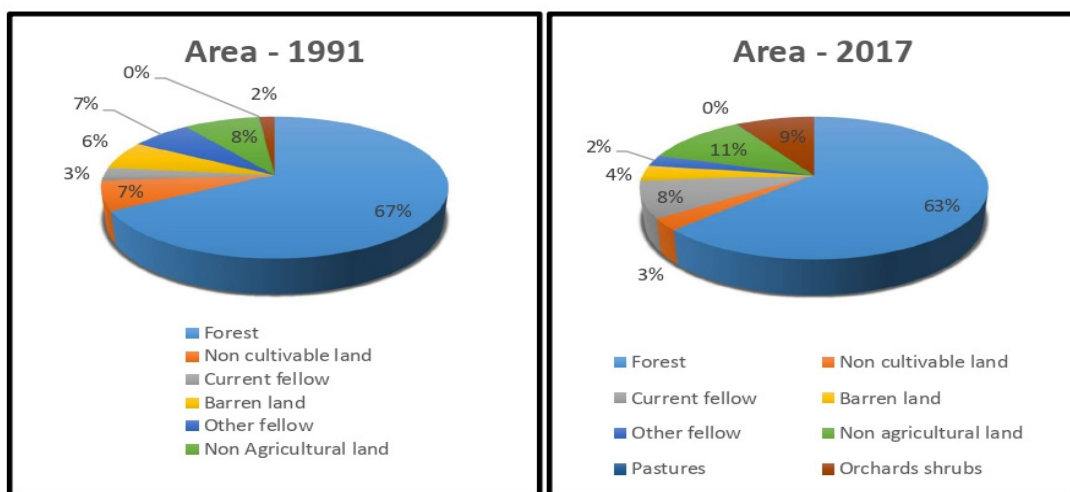
Crops group	Condition of agricultural land use during 1995 to 2015			
	1994-95	2014-15	Difference	Change in per cent
Food-grains	161975	115232	-46743	-28.86
Pulses	32560	36663	4103	12.60
Oil seeds	21790	13895	-7895	-36.23
Commercial crops	632	4128	3496	553.16
Industrial crops	420	346	-74	-17.62
Other crops	26342	8268	-18074	-68.61
Total crops	243719	178532	-65187	-26.75

स्रोत: सांख्यिकी पत्रिका जनपद सोनभद्र [www.updes.up.nic.in]

दूसरी ओर, कृषि गतिविधि लोगों का प्रमुख कार्य होने के बावजूद भी खाद्यान्न, तिलहन, औद्योगिक फसलों और अन्य फसलों की प्रवृत्ति कम हो गई थी। खनन, उद्योग, वन आधारित खाद्य और अन्य उत्पाद लोगों की दैनिक आवश्यकताओं की पूर्ति करने के साथ ही आर्थिक स्थिति को भी मजबूत करते हैं। सभी फसली क्षेत्रों की घटती प्रवृत्ति जिले के लिए प्रमुख चिंता का विषय है। ये प्रवृत्ति परिवहन, उद्योग, खनन, आवास आदि जैसी अन्य गतिविधियों के लिए कृषि भूमि के उपयोग के कारण हुई। कृषि-भूमि को गैर-कृषि कार्यकलापों में बदलने के कारण अध्ययन क्षेत्र के किसान आजीविका की अधिक चुनौतियों का सामना कर रहे हैं।

मिर्जापुर से अलग होने के पश्चात् 1991 से लेकर 2015 तक जिला सोनभद्र में लगातार भूमि प्रतिरूप में परिवर्तन आता रहा है जहाँ कृषि भूमि में लगातार कमी दर्ज की गयी। प्रस्तुत चार्ट1 के माध्यम से हम देखते हैं कि किस प्रकार वन, बंजर भूमि, आकृषित भूमि, कृषित भूमि, उद्यान, चारागाह, उद्योग, वन आधारित खाद्य और अन्य उत्पाद आदि में परिवर्तन आया है। सन 1991 में आकृषित भूमि जो 8 प्रतिशत थी, 2017 तक 11 प्रतिशत हो गयी। वहीं वन क्षेत्र में भी 4 प्रतिशत की कमी दर्ज की गयी। बंजर भूमि 4 प्रतिशत से 6 प्रतिशत हो गयी और कंटीली झाड़ियों युक्त उद्यान 2 प्रतिशत से बढ़ कर 9 प्रतिशत हो गये। चारागाह 7 प्रतिशत से केवल 2 प्रतिशत रह गये हैं, भूमि प्रतिरूप में इस प्रकार आये अनिश्चित परिवर्तन ने कृषक वर्ग को अत्यधिक प्रभावित किया। (चार्ट1)

Chart1



निष्कर्ष :

उपरोक्त विश्लेषण इस तथ्य की ओर इशारा करते हैं कि सोनभद्र जनपद में देश के अन्य हिस्सों की तरह तेज गति से भूमि स्वरूप में बदलाव हो रहा है, यह बदलाव कई स्थानीय कारक, राष्ट्रीय नीति तथा वैश्विक प्रभाव के द्वारा नियंत्रित किया जा रहा है। औद्योगिक रूप से समृद्धि यह जनपद मिर्जापुर से अलग होकर भी विकास की वह गति नहीं प्राप्त कर सका जिसको ध्यान में रखकर इस जनपद का विलंगन किया गया था। औद्योगिक क्षेत्र होने के कारण पर्यावरण दुष्प्रभाव को स्थानीय लोगों को ही झेलना पड़ता है। उद्योगों द्वारा अपने सामाजिक दायित्व को निभाने के लिए इस दिशा में पर्याप्त सार्थक प्रयत्न नहीं किए जा रहे हैं। कृषि में बहू फसल विविधता समाप्त प्राय है तथा जनपद का अधिकांश क्षेत्र कैमूर और विंध्य की पठारी के अंतर्गत आने के कारण गंगा के मैदान के अन्य उपजाऊ हिस्सों की तरह कृषि क्षेत्र में समृद्धि प्राप्त नहीं कर सका है। अध्ययन

क्षेत्र के लोग शहरी क्षेत्र के लगातार विस्तार के कारण कृषि भूमि के सिकुड़ने, जंगलों के कटने तथा पहाड़ों के नष्ट होने से भी व्यथित हैं। वायु प्रदूषण, मृदा प्रदूषण, जल प्रदूषण से जनित विभिन्न गंभीर असाध्य रोगों ने यहां के जीवन को और दुश्वार बनाया है।

सोनभद्र के निवासी अपनी आजीविका कमाने के लिए खनन गतिविधियों में शामिल हो रहे हैं। सोनभद्र मुख्यतः खनिज शैलों एवं कोयले के लिए जाना जाता है। सोन, कन्हार और रेणु प्रमुख नदियों में रेत एवं मोरम का खनन राजस्व का प्रमुख स्रोत है। पर्यावरण पर खनन का प्रमुख प्रभाव मुख्य रूप से भू-दृश्य की भौतिक क्षति और हानिकारक अपशिष्टों की बड़ी मात्रा के उत्पादन के कारण है। खनन मुक्त रूप से वायु, जल और मृदा को प्रभावित करता है। खनन कार्य के अंतर्गत ड्रिलिंग(खुदाई), ब्लास्टिंग, ढुलाई, संग्रहण और परिवहन जैसे कार्य वायु प्रदूषण के प्रमुख स्रोत हैं। खदानें खनिजों तथा धूल से भरी हुई होती हैं, खनन प्रक्रिया के दौरान धूल कणों का उड़ना, साथ ही परिवहन के दौरान कालिख उत्सर्जन और सांस की समस्याओं में योगदान देती है। खनन मिट्टी और पानी के अम्लीकरण का कारण बनता है, एसिड खनन जल निकासी (AMD) एक संभावित गंभीर प्रदूषण का खतरा है जो कि भूजल के आसपास के क्षेत्र और सतह के जल को दूषित कर सकता है। ट्रेस तत्वों द्वारा संदूषण मृदा की जैविक शक्ति क्षीण कर उसकी उर्वरता में हास और मृदा के कटाव का कारण बनता है। जिसका तात्पर्य यह है कि एक परित्यक्त खनन स्थल का पुनर्वास ना ही सरल कार्य है और ना ही सस्ता। वास्तव में, इस प्रकार से भू-परिदृश्य का भौतिक विनाश अपूरणीय हो सकता है।

Work Cited:

- Singh, A.K., Singh, S.P. and Dwivedi, S., 2010, Land Use and Cropping Pattern Followed by Vegetable Growers in Eastern Uttar Pradesh, Research Journal of Agricultural Sciences, Jammu and Kashmir 1(4), pp. 448-450
- Singh, A.K. and Dwivedi, S., 2012, Population Pressure and Land use Change in Chakia Block of Chandauli District, U.P., National Geographical Journal of India, B.H.U., Varanasi 58 (2): pp. 107-16
- Singh, S.K. and Kumar, A., 2016, Land, Land Use and Land-Use Change: A Conceptual Understanding and its Inter-Linkages, Population, Development and Environment An Indian Experience Edited by Rai, A.K. and Kumar, A., Manakin Publication, New Delhi, pp. 269-276.
- Singh, S.K. and Sharma, V.N., 2015, Land Use Pattern in District Sonbhadra, Earth Surface Review, Geographical Developmental Research Institute, Gorakhpur, Uttar Pradesh, India, December 2013, 4 (2): pp 8-15.
- <http://updes.up.nic.in/spiderreports/agricultureReports.jsp>.
- <https://www.mapsofindia.com/maps/uttarpradesh/districts/sonbhadra.htm>
- www.updes.up.nic.in/spatrika
- <https://www.mapsofindia.com/maps/uttarpradesh/>
- <http://updes.up.nic.in/spiderreports/gettable17Report.action>.
- Khullar, D.R., 2011, Geography, McGraw Hill Education Private Limited, New Delhi.
- Tripathi, S.K., 2001, Geographical study on agricultural development, problems and prospectus in Mirzapur district Ph.D. thesis, Department of Geography



स्वतंत्रता के बाद जन्मदर की प्रवृत्तियाँ

○ आर.के. मौर्य

भारत आज तृतीय विश्व का एक प्रधान देश है अमेरिका तथा सोवियत रुस जैसे शक्तिशाली तथा साधन सम्पन्न देशों के कूट नीतिक गठबन्धनों से तटस्थ रहते हुए सामाजिक-आर्थिक विकास के लिए प्रत्यन्तशील देशों के एक समुदाय को तृतीय विश्व के नाम से संबोधित किया जा रहा है। शक्ति एवं सम्पन्नता के आधार पर जैसे किसी समाज में व्यक्तिगत प्रस्थितियों तथा वर्गों का सोपान क्रम सभी समाज व्यवस्थाओं में अनिवार्य रूप से बनता है, वैसे ही अन्तर्राष्ट्रीय संस्तरण की कुछ आधारभूत मान्यताएँ स्थापित हो चुकी हैं, और कुछ मानदण्ड के नये सिरे से बन रहे हैं। तृतीय विश्व के कुछ देश द्वितीय महायुद्ध एवं उसके कुछ समय बाद तक औपनिवेशिक शासन एवं शोषण के शिकार थे। तृतीय विश्व की अनेक राजनैतिक, ऐतिहासिक, एवं आर्थिक विशिष्टताएँ हैं, जो उन्हें आर्थिक रूप से पछड़े देशों के समुदाय के रूप में शक्तिशाली एवं सम्पन्न देशों से बिलग करती हैं। जनसंख्या वृद्धि एवं उत्पादन के साधनों में असन्तुलन एवं तनाव की स्थिति इस आर्थिक रूप से असन्तुलित तीसरी दुनिया की एक सामान्य विशेषता है। भारत ऐसा देश है जो औपनिवेशिक शोषण का सदियों तक शिकार होने के बाद स्वतन्त्र हुआ भी तो आर्थिक रूप से विपन्न एवं अतिविशाल जनसंख्या के बोझ को लेकर स्वतन्त्र हुआ। भारत आज 136 करोड़ से अधिक आबादी को लेकर आर्थिक पिछड़ेपन के कारागार से मुक्त होने के लिए करवट ले रहा है। बढ़ती जनसंख्या के कारण जितना दबाव साधन सम्पत्ति पर आज भारत में है उतना दबाव-तनाव तृतीय विश्व के अन्य देशों में भी बहुत कम देखने को मिल रहा है।¹

जन्म व्यक्ति परिवार एवं समाज के सामाजिक जीवन में एक महत्वपूर्ण घटना है। जन्म का अभिप्राय सन्तान उत्पन्न करने से है। मानव समाज भी निरन्तरता की प्रक्रिया पर निर्भर करती है। माता या पिता बनना एक व्यक्ति के जीवन में अत्यधिक महत्वपूर्ण घटनाओं में से एक है। समाज की निरन्तरता के लिए मनुष्य का जन्म व्यक्ति के लिए सबसे महत्वपूर्ण व्यवहार प्रतिमान है।²

जनसंख्या की वृद्धि :

जनसंख्या वृद्धि दो समय बिन्दुओं के बीच किसी क्षेत्र विशेष में रहने वाले लोगों की संख्या में परिवर्तन को कहते हैं। इसकी दर को प्रतिशत में अभिव्यक्त किया जाता है। जनसंख्या वृद्धि के दो घटक होते हैं- 1. प्राकृतिक, 2. अभिप्रेरित; जबकि प्राकृतिक वृद्धि का विश्लेषण अशोधित जन्म और मृत्यु दरों से निर्धारित किया जाता है। अभिप्रेरित घटकों को किसी दिये गये क्षेत्र में लोगों के अन्तर्वर्ती और बर्हिर्वती संचालन की प्रबलता द्वारा स्पष्ट किया जाता है।

स्वतन्त्रा के बाद जन्मदर में दशकीय वृद्धि दर :

सारिणी नं. -1

जनगणना वर्ष	कुल जनसंख्या	वृद्धि दर	
		नित्प्रेक्ष जनसंख्या वृद्धि दर	वृद्धि का प्रतिशत
1951	361088090	(+) 42420485	(+) 13.31
1961	439234771	(+) 77682873	(+) 21.51
1971	548159652	(+) 108924881	(+) 24.80
1981	683329097	(+) 135169445	(+) 24.66
1991	846302688	(+) 162973591	(+) 23.85
2001	1028610328	(+) 182307640	(+) 21.54
2011	1210193422	(+) 181583094	(+) 17.64

$$\text{दशकीय वृद्धिदर: } g = P2 - P1 \times 100$$

जहाँ $P1 = k$ आधार वर्ष की जनसंख्या $P2 = k$ वर्तमान वर्ष की जनसंख्या स्रोत: भारत की जनगणना 2011

उच्च जन्मदर के कारण :

1. जनसंख्या शिक्षा व अज्ञानता : भारत में जनसंख्या शिक्षा की अज्ञानता सर्वव्यापी है, देश में जनसंख्या शिक्षा का स्तर बहुत ही कम है, तथा अभी सर्वत्र नहीं पहुँच सकी है। साक्षरता से किसी देश के सामाजिक एवं आर्थिक विकास का पता चलता है जो समाज शिक्षित है, वहाँ के लोगों का रहन-सहन स्तर तथा सोच उच्च स्तर का है इसके विपरीत जो समाज अशिक्षित है वहाँ निश्चित ही रुढ़ियों एवं अन्धविश्वासों की अधिकता है। प्रजनन एक प्राकृतिक प्रक्रिया है और परम्परावादी समाज में इसे प्रकृति के उपर पूर्ण रूप से छोड़ दिया जाता है। अतः जन्मदर के सम्बन्ध में कोई योजना न कोई उपाय और न कोई आधुनिक ढंग का गर्भ निरोध के उपाय ही का प्रयोग नहीं हो रहा है। यदि प्रजनन को पूर्णरूप से प्रकृति पर छोड़ दिया जायेगा तो जन्मदर बहुत उच्च स्तर का होगा, समाज में बच्चों की संख्या कम करने के लिए सिर्फ प्रेरणा का होना आवश्यक नहीं है, अशिक्षा बच्चों के विकास तथा रहन-सहन के स्तर को बढ़ने नहीं देती है। अतः समाज में परिवार का होना न कोई विवशता होती है और नहीं कोई प्रेरणा होती है जो परिवार को सीमित किया जा सकें।

अनेक विद्वानों का ऐसा मानना है कि शिक्षा से जन्मदर घटती है तथा शिक्षा के स्तर में वृद्धि होने के साथ ही शारीरिक, मानसिक, सामाजिक तथा आर्थिक क्षेत्रों में ऐसे परिवर्तन होते हैं जिनके द्वारा जन्मदर निश्चय ही कम होती है कुछ परम्परागत विद्वानों का ऐसा मानना है कि उच्च शिक्षा प्राप्त करने तथा उच्च शिक्षा के लिए संघर्ष करने से प्रजनन क्षमता कम हो जाती है। इन विद्वानों में माल्थस तथा हरवर्ट स्पेसर प्रमुख हैं। इनका ऐसा मानना है कि मानसिक श्रम, स्नायविक भार तथा अधिक चिन्ताएँ उच्च शिक्षा प्रजनन दर को कम करने में सहायक होती है। शिक्षा के साथ जन्मदर कम होती जाती है। और ऐसा आर्थिक कारणों से होता है। अधिकांश शिक्षित लोग ऊँचे रहन-सहन के स्तर के बारे में जागरूक हो जाते और वे अपने बच्चों तथा परिवार का होना आवश्यक हो जाता है। जन्मदर के प्राथमिक निर्धारण (प्रजनन की योग्यता, प्रजनन के लिए अवसर, तथा प्रजनन सम्बन्धी निर्णय लेना) को ध्यान में रखते हुए यह कहा जा सकता है। कि इन तीनों बातों पर शिक्षा अपना पूर्ण प्रभाव डालती है। शिक्षा के कारण प्रजननदर घट जाती है, क्योंकि अधिक उच्च शिक्षा प्राप्त करने के कारण

विवाह देर से होती है। जिससे प्रजनन के लिए उपलब्ध समय कम होता है अधिक शिक्षा के कारण प्रजनन योग्यता कम होती है। इसका कारण मानसिक, परिश्रम, थकान, तथा चिन्ता को माना गया है प्रजनन के अवसर भी शिक्षितों के लिए कम हो जाते हैं, क्योंकि उच्च शिक्षा प्राप्त अधिकांश लोग अपनी मानसिक और सामाजिक उन्नति में व्यस्त रहते हैं।

2. रहन-सहन का निम्न स्तर :

अभी भी हमारे देश में 70 प्रतिशत जनसंख्या गाँवों में रहती है। यहाँ पर जीवन स्तर नीचा रहता है। शिक्षा कम तथा रूढ़िवादिता अधिक है। शहरों में रहने मात्र से ही जन्मदर कम नहीं हो जाता, बल्कि शहरी मनोवृत्ति से बच्चे कम पैदा करने का संकल्प दृढ़ हो जाता है। यहाँ परिवार नियोजन की नीतियाँ शीघ्र ही अपना ली जाती हैं। शहरों में ही स्त्रियों का सामाजिक स्तर ऊँचा रहता है। गरीब तथा अशिक्षित स्त्रियों पर मातृत्व का बोझ लाद दिया जाता है। बच्चा पैदा करने से पूर्व उनकी (स्त्रियों की) स्वीकृति भी नहीं ली जाती यहाँ स्त्रियाँ पति द्वारा प्रदत्त बच्चे को अमानत मानकर उसे जन्म देना धार्मिक कार्य मानती हैं, यह रहन-सहन के निम्न स्तर का ही प्रभाव है।

निम्न स्तर पर रहने वाले अधिकांश व्यक्ति सामान्यतया अपने बच्चों के लिए भी बहुत ऊँचे स्तर की बात नहीं सोच पाते हैं। ऐसे परिवारों में बच्चों पर अधिक व्यय नहीं किया जाता है और लोग छोटे परिवार के प्रति कोई उत्सुकता नहीं दिखाते हैं। इसके विपरीत रहन-सहन के उच्च स्तर वाले परिवारों में एक और बच्चे का जन्म होने का अभिप्राय उस परिवार के रहन-सहन का स्तर निम्न होना तथा बच्चे का पालन-पोषण भी अच्छे ढंग से नहीं किया जा सकता है। रहन-सहन के निम्न स्तर के कारण शिक्षा का स्तर भी निम्न रहता है तथा अधिकांश लोगों में ज्ञान का अभाव होता है। लोग पुरानी परम्पराओं में अधिक जकड़े होते हैं जिसके कारण ऐसे परिवारों में जन्मदर प्रायः ऊँचा होता है।

ऐसा देखा गया है कि कठोर परिश्रम करने वाले लोग अधिक प्रजनन शक्ति रखते हैं और उच्च शिक्षा प्राप्त लोगों को कठोर परिश्रम नहीं करना पड़ता है, बल्कि निम्न स्तर के लोगों को कठोर परिश्रम करना पड़ता है। मानसिक परिश्रम प्रजनन शक्ति को घटा देती है, रहन-सहन के उच्च स्तर के होने के साथ-साथ मानसिक परिश्रम अधिक करना पड़ता है जबकि रहन-सहन के निम्न स्तर के कारण मानसिक श्रम कम करना पड़ता है।

प्रायः ऐसा देखा जाता है कि निर्धन लोगों के लिए बच्चे आर्थिक रूप से सहायक होते हैं इसलिए गरीब परिवार में लोग बच्चों की संख्या कम करने के प्रति कोई विशेष रुचि नहीं रखते हैं। जहाँ रहन-सहन का स्तर ऊँचा है, वहाँ गर्भ-निरोधक उपाय भी अधिक प्रयोग में लाये जाते हैं और उनके परिवार का आकार नहीं बढ़ पाता है।

अनेक विद्वानों ने यह स्पष्ट किया है कि रहन-सहन के उच्च स्तर होने के साथ-साथ परिवार का आकार छोटा होता रहता है तथा निम्न स्तर के साथ परिवार का आकार बढ़ा रहता है। माल्थस तथा नव माल्थसवादी भी इसी विचार के हैं; एडम स्मिथ, डबल डे, कार्लमार्क्स, सिमौन्डी, कैटिलन इत्यादि विद्वानों का भी ऐसा मानना है कि रहन-सहन के उच्च स्तर के साथ प्रजनन दर कम होती है इसलिए यह कहा जा सकता है कि यदि रहन-सहन का स्तर निम्न है तो जन्म दर अधिक होती है। इसमें कोई सन्देह नहीं है कि भारत में औसत व्यक्ति का रहन-सहन का स्तर बहुत निम्न स्तर का है तो औसत प्रति व्यक्ति आय भी बहुत कम है। अतः गरीबी और निर्धनता के कारण रहन-सहन का स्तर ऊँचा नहीं हो सकता तथा जन्मदर अधिक होने में यह बहुत हद तक सहायक है।

विवाह की अल्प आयु : भारत में विवाह की आयु अभी भी बहुत कम है, यद्यपि वर्तमान समय में विवाह

की औसत आयु कुछ बढ़ी हुई है, किन्तु अभी भी वह बहुत कम ही है। जहाँ ग्रामीण क्षेत्रों में 10 वर्ष की आयु में लड़कियों का विवाह कर दिया जाता है, वहीं 15 वर्ष की आयु में अधिकांश लड़कों का विवाह सम्पन्न हो जाता है। अतः 16 अप्रैल, 1976 की इन जनसंख्या नीति के अन्तर्गत विवाह के लिए लड़कों की न्यूनतम आयु 21 वर्ष तथा लड़कियों की 18 वर्ष निश्चित किया गया और 21 फरवरी 1978 को इस सम्बन्ध में कानून बनाया गया जो 1 अक्टूबर 1978 को पूरे देश में लागू हो गया।³

भारत में विवाह की आयु कम होने का प्रयास का प्रमुख कारण समाज का परम्परावादी होना कहा जा सकता है। और यह परम्परावादी विचार आज भी विद्यमान है, अतः यह परम्परा अभी समाप्त नहीं हो पा रही है, क्योंकि भारत में अभी भी शिक्षा का स्तर बहुत कम है जिसके कारण उच्च शिक्षा प्राप्त किये बिना भी लोग विवाह करके जीवन व्यतीत करने में कोई कठिनाई महसूस नहीं करते हैं। अतः भारतीय समाज में शिक्षा का निम्न स्तर तथा विवाह की आयु निम्न स्तर की है, क्योंकि बच्चों के पालन-पोषण भी जिम्मेदारी पिता पर न होकर पिता के ऊपर पितामह पर होता है। अतः परिवार में बच्चों की संख्या बढ़ने के विरुद्ध कोई उपाय नहीं किया जाता है। संयुक्त परिवार के कारण भी विवाह की आयु निम्न स्तर की है। क्योंकि बच्चों के पालन पोषण की जिम्मेदारी पिता पर न होकर पितामह पर होता है। अतः परिवार में बच्चों की संख्या बढ़ने के विरुद्ध कोई उपाय नहीं किया जाता है।

संयुक्त परिवार में बड़े (बुजुर्ग) लोग नवयुवकों का विवाह यथा शीघ्र कम उम्र में ही कर देना चाहते हैं, उनका ऐसा मानना है कि परिवार के युवक जल्द विवाह करके बच्चे को जन्म दे तथा परिवार को आगे बढ़ाये ताकि वंश परम्परागत तरीके से आगे बढ़ता रहे। ऐसी परिस्थितियों में कभी-कभी बहुत छोटे बच्चों का भी विवाह कर दिया जाता है।

इस प्रकार यह स्पष्ट रूप से कहा जा सकता है कि विवाह की अल्प आयु होने के कारण लोगों को प्रजनन हेतु अधिक समय मिल जाता है जिसके कारण जन्मदर उच्च स्तर की होती है तथा परिवार का आकार भी बड़े बने रहते हैं।

विवाह का होना आवश्यक :

भारत जैसे विकासशील देश में विवाह की आयु पहले से ही कम रही है, साथ ही यहाँ कोई व्यक्ति अविवाहित न रहे, जिसके कारण अधिकांश लोग विवाह कर लेते हैं। परम्परावादी विचारधारा के अनुसार ऐसी धारणा रही है कि बिना विवाह के जीवन पूर्ण नहीं माना जाता है। क्योंकि अविवाहित व्यक्ति कोई भी धार्मिक कार्य नहीं कर सकता है और न ही समाज में उसे एक सम्पूर्ण व्यक्ति के रूप में मान्यता प्राप्त होती है।

यद्यपि वर्तमान समय में इस विचारधारा में कुछ परिवर्तन हुआ है, किन्तु अभी भी एक निश्चित आयु के बाद बहुत कम ही लोग ऐसे रह जाते हैं, जिनका विवाह नहीं हुआ रहता है, क्योंकि लगभग अधिकांश लोगों का विवाह सम्पन्न हो चुका होता है। अतः जन्मदर का ऊँचा होना स्वाभाविक है।

इस प्रकार यह स्पष्ट रूप से कहा जा सकता है कि जहाँ अधिकतर लोगों का विवाह होगा, वहाँ अन्य बातों के समान रहने पर बच्चे भी अधिक होंगे। भारत जैसा विकासशील देश भी उनमें एक है, जहाँ अधिकतर लोग विवाहित होते हैं। अतः जन्मदर उच्च स्तर का होना स्वाभाविक है।

ग्रामीण जनसंख्या :

भारत जैसा विकासशील देश आज भी एक ग्रामीण समाज के रूप में जाना जाता है, क्योंकि लगभग 70 प्रतिशत जनसंख्या आज भी गाँव में ही निवास करती है और इनका मुख्य व्यवसाय कृषि होता है। अतः गाँव की विशेष परिस्थितियों में बड़े परिवार का होना लाभदायक सिद्ध होती है एक बड़ा परिवार जिनमें अधिक से अधिक नवयुवकों का होना गाँव के लिए अच्छा माना जाता है, क्योंकि गाँव में अभी भी सुरक्षा का उचित प्रबन्ध

नहीं है, जितना शहरों में है। इसी कारण गाँव में बड़ा परिवार को छोटा करने के प्रति कोई उपाय नहीं करते हैं बल्कि परिस्थिति वश बड़ा परिवार और परिवार में अधिक लड़कों का होना आवश्यक मानते हैं।

अधिकांश ग्रामीणवासी कृषि कार्य ही करते हैं और कृषि ही इनका पुरुष व पारिवारिक व्यवसाय है। अतः इन परिस्थितियों में परिवार का बड़ा होना स्वाभाविक है साथ ही अधिक लड़कों का होना उचित माना जाता है। गाँव में शस्त्र और स्थिरता अधिक होती है, ग्रामीण जीवन में भौतिक सुख-सुविधा तथा महत्वाकांक्षाओं का कोई महत्व नहीं होता है। ऐसी परिस्थितियों में परिवार का आकार भी प्रकृति पर ही निर्भर करता है। अतः अधिकांश ग्रामीण वासी न तो बच्चों के पालन-पोषण के बारे में और नहीं रहन-सहन के स्तर के बारे में सोच पाते हैं। जिसके कारण परिवार का बड़ा होना स्वाभाविक है।

अधिकतर गाँव में पुरानी परम्पराएँ आज भी विद्यमान हैं। अतः परिवार के सम्बन्ध में अभी भी आधुनिकता नहीं आ पायी है। ग्रामीण जीवन में सीमित परिवार का कोई महत्व नहीं है साथ ही वहाँ भी परिस्थितियाँ भी परिवार को छोटा करने के प्रति लोगों को विवश नहीं करती हैं।

पुत्र का महत्व :

भारत जैसे विकासशील देश में लड़कियों की अपेक्षा लड़कों का अधिक महत्व है, इसके पीछे अनेक कारण हैं। परम्परागत समाज में हिन्दू धर्मानुसार पुत्र का होना अत्यन्त आवश्यक व महत्वपूर्ण समझा जाता है, क्योंकि पुत्र के होने से माता-पिता को मोक्ष मिल सकता है। केवल पुत्र की परिवार तथा वंश परम्परा को आगे बढ़ा सकता है। अर्थात् अनेक लड़कियों के होते हुए भी एक लड़के का होना आवश्यक होता है।

कुछ अन्य कारणों से भी परिवार में पुत्र का महत्व विशेष होता है। ऐसा समझा जाता है कि लड़के परिवार में ही रहते हैं जबकि लड़कियाँ परिवार से बाहर चली जाती हैं परिवार में लड़कों से आर्थिक संरक्षण मिलता है जबकि लड़कियों से यह नहीं मिल सकता है। अतः परिवार में लड़को का विशेष महत्व होता है।

भारतीय समाज एक कृषि प्रधान समाज है और कृषि क्षेत्र में श्रम शक्ति का विशेष महत्व होता है इस कारण परिवार में लड़के श्रम शक्ति का कारण बन जाते हैं जबकि लड़कियाँ इस क्षेत्र में महत्वहीन समझी जाती हैं। इस प्रकार यह स्पष्ट रूप से कहा जाता है कि भारत में परम्परावादी विचारधारा तथा धार्मिक रूढ़िवादिता के कारण लड़के का विशेष महत्व होता है, अर्थात् परिवार में लड़के का होना आवश्यक होता है। यद्यपि परिवार में अधिक लड़कियों के होते हुए भी एक लड़के के उम्मीद में लोग बच्चे उत्पन्न करते चले जाते हैं। अतः परिवार का बड़ा होना स्वाभाविक है। इस प्रकार इन सभी कारणों से भारत में जन्मदर उच्च स्तर का बना रहना स्वाभाविक है।

रूढ़िवादिता :

आज भी अधिकांश लोग रूढ़ियों एवं पुरानी परम्पराओं से प्रभावित हैं। अधिकांश भारतीय भाग्यवादी होते हैं। अतः भाग्यवादी होने के कारण बच्चों के भविष्य को अक्सर भगवान पर छोड़ जाता है। अज्ञानता, निर्धनता, अन्धविश्वास के कारण लोगों की परिवार नियोजन तथा प्रगतिशील वार्ता को स्वीकार करना कठिन ही नहीं बल्कि असम्भव लगता है। क्योंकि रूढ़िवादी व्यवहार को आसानी से छोड़ा नहीं जा सकता है। ऐसे परम्परागत समाज में अपने ढंग का संतुलन होता है, मृत्युदर उच्च स्तर के होने पर तथा जन्मदर अधिक होने पर भी जनसंख्या वृद्धि अधिक नहीं होती थी। किन्तु वर्तमान समय में मृत्युदर बहुत कम हो गयी है, इस कारण जहाँ जन्मदर अधिक है वहाँ जनसंख्या की वृद्धि भी बहुत अधिक है।

अतः इन रूढ़ियों एवं परम्पराओं के प्रभाव के कारण अधिकांश लोग जब तक गर्भ निरोधक उपाय नहीं अपनाते तथा बच्चे उत्पन्न करने के विरुद्ध कोई ठोस उपाय नहीं करते, तब तक जन्मदर, उच्च स्तर पर ही रहेगी।

धार्मिक विश्वास :

देश में धार्मिक विश्वास बहुत देखने को मिलता है। अधिकांश भारतीय लोग आज भी धार्मिक रूढ़ियों में पकड़े हुए हैं। परम्पराओं और रूढ़ियों के कारण अधिकतर लोग आज प्रकृति के विरुद्ध कोई उपाय करना उचित नहीं समझते हैं। जन्म के सम्बन्ध में भी यही विश्वास बना रहता है। लोगों का यह मानना है कि भगवान के रास्ते में आना ठीक नहीं है, क्योंकि भगवान यदि खाने के लिए एक मुठा देता है तो काम करने के लिए दो हाथ भी देता है। गर्भ निरोधक सम्बन्धी उपाय धर्म के रास्ते में रुकावट पैदा करने के बराबर है।

वर्तमान समय में अब यह विचार बदल रहे हैं, फिर भी बहुत से लोग अभी भी परम्पराओं व धार्मिक रूढ़ियों में जकड़े हुए हैं, उसे छोड़ नहीं पाये हैं धार्मिक रूढ़ियों के विपरीत लोगों को समझाना बहुत ही कठिन कार्य है। धर्म एक व्यक्तिगत विश्वास की चीज है, धर्म के विरुद्ध लोगों को कोई भी बात बतलाना कठिन हो जाता है। अतः जन्मदर के उच्च स्तर में कभी लाना सम्भव नहीं होता है।

भारत के अधिकांश लोग जो धर्म में अधिक विश्वास रखते हैं, वे जन्मदर को कम करने के प्रति गर्भ-निरोधक उपायों को नहीं अपना पाते हैं। अतः ऐसे लोगों में जन्मदर का अधिक होना स्वाभाविक है।

अनेक विद्वानों का ऐसा मानना है कि भारत एक धार्मिक देश है, जहाँ धार्मिक परम्पराओं और धारणाओं का महत्वपूर्ण स्थान है। यद्यपि अधिकांश अशिक्षित लोगों द्वारा अब गर्भ निरोधक उपाय अपनाये जा रहे हैं। किन्तु बहुत से लोग अभी भी इस सन्दर्भ में प्रगतिवादी बने हुए हैं।

आवास का छोटा होना :

देश में घनी आबादी के कारण लोगों को एक ही मकान में अनेक लोगों के साथ रहना पड़ता है। आवास का आकार छोटा होने के कारण लोग गर्भ निरोधक साधनों का समुचित उपयोग नहीं कर पाते हैं। बेपर्दगी के भय के कारण गर्भ निरोध के इन साधनों का प्रयोग नहीं हो पाता है। अतः जन्मदर ऊँचा रहने का एक महत्वपूर्ण कारण आवास का छोटा होना है।

अधिकतर लोग छोटे मकानों में ही रहते हैं, क्योंकि अधिकतर लोग संयुक्त परिवार के साथ रहते हैं। इसके अतिरिक्त गरीबी के कारण भी लोग उचित आवास की व्यवस्था नहीं कर पाते हैं, क्योंकि यह उनके क्षमता के बाहर होता है। अतः इन सभी कारणों से जन्मदर का उच्च स्तर बना रहना सम्भव होता है।

संयुक्त परिवार प्रणाली :

भारत में संयुक्त परिवार प्रणाली के चलते रहने के कारण जन्मदर का उच्च स्तर का होना स्वाभाविक है। संयुक्त परिवार में जन्म लेने वाले बच्चों के पालन-पोषण का दायित्व उनके माता-पिता का नहीं होता है, बल्कि परिवार में जो बड़े होते हैं, जिन्हें मुखिया कहा जाता है, उनका दायित्व होता है। इस कारण अधिक बच्चे होने पर भी कोई कठिनाई नहीं होती है।

संयुक्त परिवार प्रणाली में विवाह की आयु भी कम होती है, क्योंकि अल्प आयु में ही अधिकतर लोगों का विवाह कर दिया जाता है तथा विवाहित व्यक्ति पर उसके पत्नी तथा बच्चों का कोई भार नहीं होता है, बल्कि यह भी परिवार के मुखिया का दायित्व होता है कि वह उनके भरण-पोषण का भार वहन करें।

संयुक्त परिवार में परिवार के बड़े लोग यही चाहते हैं कि उनके नवयुवक परिवार के सदस्यों का विवाह जल्दी हो और उनके बच्चे भी जल्दी हो ताकि वह एक पूर्ण सामाजिक प्राणी हो सकें। ऐसा देखा गया है कि संयुक्त परिवार में गर्भ निरोधक (कृत्रिम) उपायों का प्रयोग नहीं किया जाता है या कम से कम प्रयोग किया जाता है। संयुक्त परिवार प्रणाली में स्त्रियों की प्रतिष्ठा निम्न स्तर की होती है, ऐसे परिवारों में प्रायः स्त्रियों को अपने बारे में निर्णय लेने का कोई अधिकार नहीं होता है। अतः ऐसे परिवार में जन्मदर का उच्च स्तर बना रहता स्वाभाविक है।

भारत में संयुक्त परिवार प्रणाली अभी भी विद्यमान है, यद्यपि वर्तमान समय में लोग धीरे-धीरे इस व्यवस्था से दूर होते जा रहे हैं, किन्तु अभी भी समाज का एक बड़ा भाग संयुक्त परिवार प्रणाली के घेरे में ही है। अतः यह कहा जा सकता है। कि भारत में औसतन परिवार का बड़ा होना स्वाभाविक है।

सामाजिक सुरक्षा का अभाव :

देश में आज भी सामाजिक सुरक्षा का पर्याप्त अभाव बना हुआ है। यदि समाज में सामाजिक सुरक्षा व्यवस्था उचित तथा सन्तोषजनक हो तो व्यक्ति को अपने वृद्धावस्था की चिन्ता नहीं होती है, अर्थात् ऐसी परिस्थितियों में किसी भी व्यक्ति को अपने बच्चों या निकट सम्बन्धियों के सहारे की आवश्यकता होती है। इसके विपरीत यदि सामाजिक सुरक्षा व्यवस्था सन्तोषजनक नहीं है तो अधिकांश लोगों को अपने परिवार तथा बच्चों का सहारा लेने पड़ते हैं। अतः परिवार में बच्चे को जन्म देना आवश्यक हो जाता है। विशेषकर लड़के की अधिक आवश्यकता होती है, जो उसके वृद्धावस्था का सहारा बन सके। इस प्रकार प्रजनन को प्रोत्साहन मिलता है तथा जन्मदर बढ़ जाता है। अतः पर्याप्त सामाजिक सुरक्षा व्यवस्था का न होना स्वाभाविक जन्मदर को बढ़ाने में सहायक होता है।

स्त्रियों को निम्न प्रतिष्ठा :

भारतीय समाज में अधिकांश परिवार पुरुष प्रधान होता है तथा परिवार में समस्त निर्णय पुरुषों द्वारा ही लिया जाता है। इसमें महिलाओं का कम योगदान होता है। अतः जिस समाज में स्त्रियों की प्रतिष्ठा कम होती है, उस समाज में परिवार का आकार बड़ा होता है। ऐसे समाज में स्त्रियों को बच्चे पैदा करने की मशीन समझा जाता है तथा समाज न उसके कल्याण की चिन्ता करता है और न ही सुख, सुविधा, स्वास्थ्य तथा जीवन का ही। यदि समाज में स्त्रियों की प्रतिष्ठा होती है तो समाज उनके उपर अधिक प्रसव का भार नहीं डाल सकता। समाज में महिलाओं की प्रतिष्ठा के साथ-साथ उनके सुख-सुविधा स्वास्थ्य तथा जीवन का महत्व बढ़ जाता है। अतः उनको अधिक बच्चों के जन्म के लिए विवश नहीं किया जा सकता है। इस प्रकार ऐसे समाज में परिवार का आकार छोटा होता है।

समाज में स्त्रियों की प्रतिष्ठा है या नहीं इसके उपर जन्मदर का स्तर निर्भर करता है। समाज में स्त्रियों की प्रतिष्ठा अधिक होने के साथ-साथ उनके जीवन में अनेक बातों का महत्व बढ़ जाता है। उन्हें अधिक अवकाश मिलता है, इनके लिए कल्याण की बात महत्वपूर्ण हो जाती है। इसीलिए अधिक बच्चों के लिए विवश नहीं किया जाता है, साथ ही साथ विवाह की आयु भी अधिक होती है। अतः इन सभी बातों का महत्वपूर्ण प्रभाव जन्मदर को कम करने में सहायक होता है।

यदि अधिकांश लोग यह मानने के लिए तैयार हो कि भारतीय समाज में आज भी महिलाओं को उतना सम्मान प्राप्त नहीं है जितना कि होना चाहिए, तो यह कहना गलत नहीं होगा कि महिलाओं की प्रतिष्ठा में कमी भी जन्मदर के उच्च स्तर का एक महत्वपूर्ण कारण है।

रजस्वला होने की आयु 12 से 15 वर्ष है क्योंकि यह देश उष्ण जलवायु में है, जबकि यूरोपीय देशों में 20 वर्ष के लगभग यह आयु आती है।

अभी भी अधिकांश व्यक्तियों को सन्तुलित आहार नहीं मिलता है जिसके कारण उनकी प्रजनन क्षमता अधिक रहती है। इस प्रकार यह स्पष्ट रूप से कहा जा सकता है कि गर्म जलवायु तथा असन्तुलित आहार भी जन्म दर के उच्च स्तर का एक महत्वपूर्ण कारण है।

निर्धनता एवं पिछड़ापन :

भारत जैसे विकासशील देश के अधिकांश जनसंख्या व्यापक निर्धनता एवं आर्थिक व सामाजिक पिछड़ेपन से ग्रस्त है, इससे जन्मदर में वृद्धि होना स्वाभाविक है। निर्धन लोग यौन सुख को ही मनोरंजन का एक मात्र

साधन मानते हैं तथा शिशुओं को भगवान की देन मानते हैं। ऐसे परिवार में बच्चों की आय का साधन माना जाता है। बच्चों को होश सम्भालते ही बिन शिक्षित किये उन्हें काम पर लगा दिया जाता है। अतः निर्धनता एवं पिछड़ापन भी जन्मदर ऊँचा होने का सर्वप्रमुख कारण है।

बाल-श्रम :

भारत जैसे विकासशील देश के अधिकांश ग्रामीण परिवारों में बाल-श्रम आज भी प्रचलित है, जहाँ छोटे-छोटे बच्चे काम करके आय प्राप्त कर सकते हैं। अतः इन बच्चों को ऐसे कामों में लगा दिया जाता है, जहाँ उन्हें उनके काम का पारिश्रमिक मिले। ऐसी परिस्थितियों में परिवार के आकार को छोटा करना आवश्यक नहीं समझा जाता है।

बच्चों के पालन-पोषण पर जितना व्यय होता है यदि बच्चे उससे अधिक कमा लेते हैं तो बच्चों का आर्थिक भार-माता-पिता पर नहीं पड़ता है। अतः यह कहा जा सकता है कि बाल-श्रम की प्रथा परिवार के आकार को छोटा करने के विपरीत काम करता है, इस प्रकार बाल-श्रम भी जन्मदर को ऊँचा बनाये रखने में महत्वपूर्ण योगदान करता है।

इस प्रकार यह स्पष्ट रूप से कहा जा सकता है कि भारत जैसे विकासशील देश आज भी रूढ़ियों में जकड़ा हुआ है, क्योंकि यहाँ शिक्षा का प्रसार अभी भी बहुत कम हुआ है। लोगों में जन्मदर को कम करने के प्रति जागरूकता नहीं आयी है। यद्यपि विकासशील देशों की भाँति यहाँ भी गर्भ-निरोध के अनेक नये-नये तरीकों का विकास किया गया है, लेकिन उनके बारे में लोगों को सही जानकारी न होने के कारण सारे तरीके बेकार साबित हुए हैं। इसका मूल कारण अशिक्षा एवं अज्ञानता है। यदि अधिकांश भारतवासियों को शिक्षित कर दिया जाय तो न सिर्फ शिक्षा का विस्तार होगा बल्कि समाज से रूढ़िवादी अज्ञानता और अन्धविश्वास दूर होगा तथा देश का समुचित विकास होते हुए जनसंख्या वृद्धि भी कम होगी।

प्रजनन क्षमता को प्रभावित करने वाले कारक :

जन्मदर के प्रभावित करने वाले कारकों की संख्या अत्यधिक है। परन्तु यहाँ कुछ प्रमुख कारक इस प्रकार हैं।

1. जैविक कारक :

एक सीमा तक यह कारक शारीरिक होने के कारण मनुष्य के नियन्त्रण से परे माना जा सकता है किन्तु प्रकृति, स्वास्थ्य, वंशानुगत तत्वों आदि पर भी निर्भर है, परन्तु जन्मदर को इसके प्रभाव के अतिरिक्त कई अन्य तत्व भी प्रभावित करते हैं जो मनुष्य एवं समाज द्वारा नियन्त्रित किये जा सकते हैं; जैसे- विवाह की आयु, विवाह तथा काम-सम्बन्धी, क्रिया-कलाप, परिवार नियोजन के साधनों का उपयोग, जन-स्वास्थ्य सुविधाएँ आदि। देश की जलवायु का भी उर्वरक क्षमता पर प्रभाव पड़ता है। गर्म जलवायु वाले देशों में ठण्डे क्षेत्रों की अपेक्षा कम आयु में ही लड़के-लड़कियों शारीरिक दृष्टि से प्रजनन योग्य हो जाती हैं। अतः इन क्षेत्रों में जन्मदर को नियन्त्रित करने के लिए कृत्रिम उपायों के प्रयोग की अधिक आवश्यकता है।

वैवाहिक स्थिति:

जन्मदर का वैवाहिक स्तर से प्रत्यक्ष सम्बन्ध है। विवाह ही जन्मदर के स्तर को प्रभावित करता है। अविवाहित, विधुर, विधवा, तलाकशुदा पुरुष एवं महिलाएँ प्रजनन से सम्बन्धित नहीं रहती हैं। भारत में धर्म परंपराओं के अन्तर्गत विवाह एक अनिवार्य संस्कार माना गया है। इसी कारण से यहाँ जन्मदर अपेक्षाकृत ज्यादा है। पश्चिमी देशों में विवाह की अनिवार्यता न होने के कारण वहाँ जन्मदर अत्यधिक कम रहती है।

निवास स्थान :

सामान्य रूप से यह कहा जा सकता है कि शहरों में गाँवों की अपेक्षा जन्मदर कम होती है। परिवार

नियोजन कार्यक्रमों का लक्ष्य भी ग्रामीण क्षेत्रों में ही है जो इस बात की पुष्टि करता है, क्योंकि भारत के ग्रामीण क्षेत्रों में ही अधिकांश जनसंख्या निवास करती है। इस प्रकार ग्रामीण क्षेत्रों की अपेक्षा शहरी क्षेत्रों में जन्मदर कम होने के कई कारण हैं जैसे असन्तुलित लिंग अनुपात अपेक्षाकृत उच्च जीवन स्तर, अधिक लागत, आय, शिक्षा, आवास समस्या, सीमित परिवार का प्रचलन, बच्चों के लालन-पालन के प्रति अधिक जागरूकता एवं उत्तरदायित्व की भावना, शिशु मृत्युदर का कम होना चाहिए।

आर्थिक स्थिति :

यह सत्य है कि अमीर लोगों के अपेक्षा गरीब लोगों के पास अधिक सन्तान होती है। इस बात को जनसंख्या के अनेक प्राकृतिक एवं सामाजिक सिद्धान्तों में स्पष्ट किया गया है। इसके भी कई कारण हैं, गरीबी के कारण मनोरंजन के साधनों का अभाव, बच्चों के प्रति दृष्टिकोण में भिन्नता जिसके कारण गरीब लोग बच्चों को आय का स्रोत मानते हैं, उचित भोजन न मिलने के कारण गरीब परिवारों में स्त्रियों की गर्भधारण की क्षमता अधिक होना, निर्धन परिवारों में बच्चों का लालन-पालन उचित न होना तथा उनका कम उम्र में ही आर्थिक दृष्टि से आत्म निर्भर हो जाना, इत्यादि इन सब कारणों से जनसंख्या का आर्थिक स्तर, देश की जन्मदर के निर्धारण में महत्वपूर्ण भूमिका होती है।

शिक्षा :

पति पत्नी का शैक्षिक स्तर भी जन्मदर को प्रभावित करता है। शिक्षा और जन्मदर के मध्य ऋणात्मक सह-सम्बन्ध है यानी जितना उच्च शिक्षा का स्तर होगा, जन्मदर उतनी ही कम होगी। यदि पति-पत्नी दोनों अशिक्षित हो तो जन्मदर सर्वाधिक पायी जाती है, केवल पत्नी शिक्षित हो तो उससे कम, केवल पति शिक्षित हो तो उससे भी कम तथा यदि दोनों शिक्षित हो तो जन्मदर घटाने में सहायक होते हैं, स्त्रियों-पुरुषों की व्यस्तता, सम्पन्नता, जागरूकता, परिवार नियोजन के साधनों का प्रयोग करना आदि।

धर्म एवं सामाजिक प्रथाएँ :

विभिन्न धर्म के लोगों में जन्मदर भी भिन्न-भिन्न पायी जाती है। भारत में ही प्रजनन योग्य स्त्रियों में 0-4 वर्ष के शिशुओं की संख्या हिन्दुओं में 678 प्रति हजार, मुसलमानों में 770 प्रति हजार तथा आदिवासियों में 808 प्रति हजार अनुमानित की गयी है। पारसियों में जन्मदर बहुत कम पायी जाती है। धर्म का कोई प्रत्यक्ष प्रभाव के जन्मदर पर ही है, परन्तु धर्म कई अन्य बातों से सीधे प्रभावित होता है। जो जन्मदर का निर्धारण करने में सक्षम है; जैसे- विवाह की आयु विवाह सम्बन्धी, रीति रिवाज, खान-पान की आदतें, समाज में स्त्रियों का स्थान, बच्चों के प्रति दृष्टिकोण, परिवार नियोजन के उपायों के प्रयोग के प्रति दृष्टिकोण इत्यादि।

व्यवसाय :

व्यवसाय का जन्मदर से घनिष्ठ सम्बन्ध है। शारीरिक श्रम सम्पन्न करने वालों की जन्मदर अन्य प्रकार का कार्य करने वाले व्यक्तियों की अपेक्षा अधिक होती है। जैसे- कृषि तथा निर्माण कार्य में संलग्न श्रमिकों की प्रजनन क्षमता व्यापार रत व्यक्तियों की अपेक्षा अधिक होती है। इसी प्रकार व्यवसाय में काम करने वाली स्त्रियों की जन्मदर भी कम होती है। इसका मूल कारण व्यस्तता एवं शिशुओं को जीविकोपार्जन में बाधक मानना है। शिक्षित और जागरूक होने के कारण भी यह वर्ग परिवार नियोजन के उपायों का सहर्ष प्रयोग करता है। इसके अतिरिक्त व्यवसाय का शारीरिक गठन एवं प्रजनन क्षमता पर भी प्रभाव पड़ता है।

मृत्युदर :

विभिन्न आँकड़ों से यह स्पष्ट होता है कि मृत्युदर अधिक होने पर, विशेषकर यदि शिशु मृत्युदर अधिक हो तो जन्मदर भी अधिक होता है। इसका कारण मनोवैज्ञानिक है। लोगों में बच्चों के जीवन को लेकर भय और

अनिश्चितता की स्थिति बनी रहती है। जिसमें मुक्त होने के लिए अधिक शिशु पैदा किये जाते हैं। कन्याओं तथा वृद्ध लोगों में मृत्युदर बढ़ने का जन्मदर पर उतना प्रभाव नहीं पड़ता है।

भौगोलिक कारक :

देश की जलवायु, भू-संरचना, उपलब्ध खाद्य सामग्री इत्यादि जैविक तत्वों पर प्रभाव पड़ता है। अतः इन विभिन्न जैविकीय कारकों का जन्मदर पर महत्वपूर्ण प्रभाव पड़ता है। जिसके कारण भारत में जन्मदर प्रभावित होती है।

वैवाहिक स्थिति :

प्रत्येक समाज में विवाह के सम्बन्ध में कुछ न कुछ व्यवस्थाएँ अवश्य हैं। विवाह एक जैविक प्रक्रिया है, जिसके द्वारा स्त्री तथा पुरुष पति-पत्नी के रूप में परिणित होते हैं, तत्पश्चात् वे माता-पिता की भूमिका निभाते हैं। किन्तु विवाह का एक मात्र उद्देश्य यौन सुख प्राप्ति अथवा सन्तानोत्पादन ही नहीं है, बल्कि इससे समाज की सर्वप्रमुख इकाई 'परिवार' का जन्म होता है। इस प्रकार परिवार के निर्माण का आधार विवाह ही है। इसके अतिरिक्त परिवार वंश परम्परा के संचालन का महत्वपूर्ण तन्त्र है।

सामान्यतः लड़कियाँ 15 वर्ष की आयु में तथा लड़के 18 वर्ष की आयु में विवाह योग्य हो जाते हैं। परन्तु यह आवश्यक नहीं है कि वे न्यूनतम वैवाहिक आयु में ही विवाह कर लें। वर्तमान समय में अधिकांश व्यक्ति विवाह के पूर्व आर्थिक स्वतन्त्रता प्राप्त करना चाहते हैं।

भारत जैसे विकासशील देश जहाँ 70 प्रतिशत जनसंख्या गाँव में रहती है, अधिकांश ग्रामीण स्त्रियों की विवाह शीघ्र कर दिया जाता है, जिसका प्रत्यक्ष प्रभाव प्रजनन पर पड़ता है। यदि विवाह अधिक उम्र में किया जाय तो उससे प्रजननता कम होती है।

आज भी बाल विवाह का नियम है, अपवाद नहीं। अधिकांश ग्रामीण क्षेत्रों में लड़कियों का आज भी 18 वर्ष की आयु के पूर्व ही विवाह कर दिया जाता है। अधिकतर अशिक्षित ग्रामीण कन्याओं का 13 से 17 वर्ष की आयु तक विवाह कर दिया जाता है। कुछ लोगों का ऐसा मानना है कि अधिक वयस्क कन्या एक समस्या बन जाती है। तथा कुछ लोग कन्या को कन्या के रूप में कन्यादान देने के उद्देश्य से अल्प आयु में विवाह कर देते हैं। यद्यपि वर्तमान समय में इस विचारधारा में महत्वपूर्ण परिवर्तन आया है।

विवाह के समय की आयु विशेषकर स्त्रियों की आयु का प्रजनन दर के निर्धारण में विशेष स्थान है। भारत में विवाह औसतन कम आयु में ही सम्पन्न कर दिया जाता है। वर्ष 1951 में लगभग 10 प्रतिशत स्त्रियों का विवाह 14 वर्ष की आयु प्राप्त करने से पूर्व ही सम्पन्न हो चुका था। 1961 के जनगणना में यह तथ्य सामने आया कि 15-19 वर्ष की आयु वर्ग में 70 प्रतिशत महिलाएँ विवाहित थीं, 1971 में यह 56 प्रतिशत तथा वर्तमान समय में और भी कमी आयी है। यह परिवर्तन सामाजिक सुधार का संकेतक है, जिसमें विवाह की आयु निर्धारण सम्बन्धी कानूनों का महत्वपूर्ण योगदान रहा है।

भारत की वैवाहिक स्थिति अभी भी विकसित राष्ट्रों की तुलना में सन्तोषजनक नहीं कहीं जा सकती है। जनगणना में यह तथ्य सामने आया कि लड़कियों के विवाह की औसत आयु 17 वर्ष थी तथा 20 वर्ष की आयु प्राप्त करते-करते 80 प्रतिशत लड़कियों का विवाह सम्पन्न हो जाया करता है। सन् 2001 के अनुमान के अनुसार उत्तर प्रदेश में 15-19 वर्ष की आयु के लड़कियों का प्रतिशत केवल 19 था जबकि केरल में यह 80 प्रतिशत था। 20-24 वर्ष के आयु वर्ग में अविवाहित लड़कियों का प्रतिशत उत्तर प्रदेश और केरल में क्रमशः 20 और 30 या अतः विवाह की आयु का प्रजनन पर अत्यधिक प्रभाव करता है।

भारत में विवाह को एक धार्मिक-सामाजिक संस्कार की मान्यता प्राप्त है। अतः इसके अनेक धार्मिक सामाजिक पक्ष हैं, जो प्रजननता को प्रभावित करते हैं, जैसे बहु विवाह, तलाक, विधवा विवाह, पुर्नविवाह

इत्यादि, विवाह के समय स्त्री-पुरुष में आयु का अन्तर, विवाह के पश्चात स्त्री द्वारा अपने माता-पिता का घर छोड़कर पति के घर रहना अथवा इसके विपरीत होना, पति-पत्नी का अलगाव इत्यादि। इन सभी का प्रभाव प्रजननता पर पड़ता है। जहाँ बहुविवाह, तलाक, पुर्नविवाह और विधवा विवाह को सामाजिक स्वीकृति प्राप्त है, वहाँ प्रजनन दर अन्य स्थानों की अपेक्षा अधिक होती है विवाह के बाद ऐसे दम्पतियों में प्रजननता अधिक पायी जाती है, जिसमें स्त्री अपने माता-पिता का घर छोड़कर पति के घर रहती है, इसके विपरीत रोजगार या अन्य कारणों से पति-पत्नी के अलग-अलग रहने पर प्रजनन दर कम होती है।

भारत में विधवा पुर्नविवाह सम्बन्धी उल्लेख आवश्यक है, क्योंकि इनसे सम्बन्धित रीति-रिवाज विवाह तथा प्रजननता को प्रभावित करते हैं, भारत में विधवा स्त्रियों की संख्या अत्यधिक थी। इसके अनेक कारण जिनमें मुख्यतः अल्प आयु में विवाह की सर्व व्यापकता तथा पुरुषों की उच्च मृत्युदर इत्यादि। विधुर की अपेक्षा विधवाओं का उल्लेख करना अधिक महत्वपूर्ण है, क्योंकि उनके लिए समाज और सरकार को विशेष व्यवस्था करनी पड़ती है, जहाँ 1911 में 17 प्रतिशत विधवा स्त्री थी, वही वर्तमान समय में लगभग 2 प्रतिशत विधवा स्त्रियाँ हैं। इस कमी का मुख्य कारण बाल-विवाह का अत्यधिक कम होना तथा विधवा पुर्नविवाह को प्रोत्साहन मिलना है।

निष्कर्ष :

वर्तमान में भारत में जन्मदर में गिरावट के लक्ष्यों को प्राप्त करना कोई सरल कार्य नहीं है। इसके लिए आवश्यकता इस बात की है कि लोगों की मान्यताओं, प्रवृत्तियों तथा मूल्यों में परिवर्तन हो तथा लोग छोटे परिवार की अवधारणा को स्वीकार करें। भारत आज भी गाँवों को देश है। क्योंकि लगभग 70 प्रतिशत जनसंख्या अभी भी गाँव में ही निवास करती है। अतः भारत में जन्मदर में गिरावट के लिए दीर्घकालीन जनांकिकीय नीति की सफलता के लिए यह आवश्यक है कि छोटे परिवार की अवधारणा को गाँव में अधिकांश लोग स्वीकार करें।

पश्चिमी देशों में जन्मदर में गिरावट के युग का आरम्भ औद्योगिक क्रान्ति से हुआ। औद्योगिक क्रान्ति के पश्चात लोगों में उच्च जीवन स्तर की आकांक्षाएँ उत्पन्न हुई हैं। इसके अतिरिक्त समाज में महिलाओं की प्रतिष्ठा में भी परिवर्तन हुआ है, तथा बच्चों के पालन-पोषण पर होने वाले व्यय में भी वृद्धि हुई। अतः इन सभी कारणों ने लोगों को छोटे परिवार की अवधारणा को स्वीकार करने के लिए बाध्य किया। इस प्रकार पश्चिमी देशों में जनांकिकीय परिवर्तन, रहन-सहन के स्तर में सुधार का परिणाम था। किन्तु भारत जैसे विकासशील देश में जनांकिकीय परिवर्तन के लिए उस समय की प्रतीक्षा नहीं कर सकते हैं। जब तक लोगों के रहन-सहन में सुधार ही अथवा सामान्य शिक्षा का प्रसार, हो, इसमें बहुत समय लगेगा तथा तब तक जनसंख्या में बहुत अधिक वृद्धि हो चुकी होगी।

इस प्रकार, यह कहा जा सकता है कि भारत में जन्म की प्रवृत्ति चाहे वह राष्ट्र स्तर पर हो या राज्य स्तर पर हो या राज्य स्तर पर हो, सभी का गहन अध्ययन करने के महान् यह कहा जा सकता है कि भारत में अभी भी जन्मदर उच्च स्तर पर है। यद्यपि 1991 की तुलना में 2001 की जनगणना रिपोर्ट में जन्मदर में कुछ कमी आयी है, किन्तु अभी भी भारत में जन्मदर अधिक ही है। ऊँची जन्मदर होने के अनेक कारणों का उल्लेख किया गया है, यदि इन कारणों को दूर करने का प्रयास किया जाय तो जन्मदर में निश्चित कमी आयेगी।

इस प्रकार जन्मदर में गिरावट की प्रवृत्ति आरम्भ हो गयी है, किन्तु जनसंख्या नीति की सफलता के लिए सामान्य शिक्षा का प्रसार अत्यन्त आवश्यक है। जन्मदर को कम करने में शिक्षा की अहम् भूमिका है। शिक्षा ही एक ऐसा उपाय है, जिसके द्वारा लोगों की सोच बदलती है, रहन-सहन का स्तर उच्च होता है तथा आय में वृद्धि होती है और यह भी तथ्य जन्मदर को कम करने में महत्वपूर्ण योगदान करते हैं। यह सच है कि भारत में जन्मदर में गिरावट की प्रवृत्ति प्रारम्भ हो गयी है, किन्तु जन्मदर में गिरावट के दीर्घकालीन वांछित लक्ष्य की

प्राप्ति के लिए सजग व सचेत रहना तथा सतत् प्रयत्नशील रहना नितान्त आवश्यक है।

सन्दर्भ :

1. पाण्डेय, शा. नीलकण्ठ: सामाजिक जनांकिकी, विश्वविद्यालय वाराणसी, 1979, पृ. 166.
2. मौर्या, आर.के.: सामाजिक जनांकिकी अतुल्य पब्लिकेशन्स दिल्ली, 2018, पृ. 51
3. इस्कैप : “पापुलेशन ऑफ इण्डियाँ” कन्ट्री मानोग्राफ, सीरीज नं. 10, बैकाक, 1982, पृ. 91
4. रेले एवं केतकर : फर्टिलिटी स्टडीज इन इण्डियाँ” ऐन ओवर व्यू आफ टू डिक्ट्स, बुलेटिन ऑफ दी गांधी ग्राम, इंस्टीट्यूट ऑफ रुरल हेल्थ एण्ड प्लानिंग, अंक 12, सं. 2, नवम्बर 1977, पृ. 84.
5. ओ.एस. श्रीवास्तव : “आर्थिक एवं सामाजिक जनांकिकी शास्त्र”, विवेक प्रकाशन, मेरठ, 1995, पृ. 228.



बाल्यावस्था में भाषा-अर्जन की प्रक्रिया

○ शाज़िया परवीन

संक्षिप्ति :

सन् 1940 ई. के बाद से भाषा की अर्जन-प्रक्रिया को समझने के लिए मनोविज्ञान की मदद ली जाने लगी। मानवीय जैव प्रक्रिया में शाब्दिक व्यवहार की व्याख्या का यह नवीन प्रयोग है जिसके द्वारा मनुष्य की शाब्दिक आदतों के रूपायन और परिग्रहण की समस्या के समाधान और विश्लेषण को नई दिशा मिली। भाषाविज्ञान और मनोविज्ञान के इस संयुक्त प्रयास से अनेक ऐसे तथ्यों का उद्घाटन हुआ है जो पूर्व की प्रविधि से संभव न था। भाषाविज्ञान मनुष्य की भाषाई व्यवस्था का सैद्धांतिक विवेचन करता है, जबकि मनोविज्ञान मानसिक प्रक्रियाओं के भाषाई ज्ञान का सैद्धांतिकी स्पष्ट करता है। और, इन दोनों समन्वय से मनोभाषाविज्ञान का जन्म होता है जो इस तथ्य को स्पष्ट करता है कि भाषाई ज्ञान संज्ञानात्मक व्यवस्थाओं में किस प्रकार द्योतित होता है। इसके अलावा वह उन मनोवैज्ञानिक प्रक्रियाओं की ओर भी संकेत करता है जो इसका प्रयोग करती हैं। वस्तुतः भाषा सिद्धांत एवं अधिगम सिद्धांत दोनों पारस्परिक रूप से संबद्ध होकर भाषा-अधिगम के सिद्धांतों की रचना करते हैं। मनोभाषा विज्ञान मुख्य रूप से उन मानसिक क्रियाओं को समझने का प्रयास करता है जो भाषा ज्ञान, भाषा संप्राप्ति और भाषा-व्यवहार से संबंधित हैं। भाषा-अर्जन की प्रक्रिया में बालक क्या प्राप्त कर रहा है, किस प्रकार प्राप्त कर रहा है और संदेशों के बोधन तथा अभिव्यक्ति उसका किस प्रकार उपयोग कर रहा है, ये तमाम बातें मनोभाषा विज्ञान का कार्य क्षेत्र हैं। प्रस्तुत आलेख में मनोभाषा विज्ञान के इसी कार्य के तहत बालकों की भाषा-अर्जन की प्रक्रिया को समझने का प्रयास किया गया है।

बीज शब्द : मनोविज्ञान, भाषाविज्ञान, मनोभाषाविज्ञान, बालक, भाषा-अर्जन, संप्रेषण, संकेतन, ध्वनि, शब्द।

पॉल फ्रीज यह मानते हैं कि “मनोभाषा विज्ञान हमारी अभिव्यक्ति की आवश्यकताओं एवं संप्रेषण के बीच के संबंधों का अध्ययन करता है तथा हमारे बाल्यकाल या उसके बाद सीखी गई भाषा द्वारा प्रदत्त माध्यम से संबंधित है।” इसका सीधा अर्थ है कि बालक के भाषा-अर्जन की प्रक्रिया उसके मानसिक एवं शारीरिक विकास के साथ क्रमशः अग्रसर होती है। नवीनतम शोध इस बात का संकेत कर रहे हैं कि बालक का मानसिक विकास उसके भ्रूणावस्था से ही आरंभ हो जाता है। भ्रूण मात्र निष्क्रिय पिंड नहीं हैं, वह मानवीय जीवन का प्रारंभिक रूप है। माता के गर्भ में उसकी गतिशीलता बनी रहती है। उसकी समस्त गतिविधियाँ उसके अर्धपूर्ण मस्तिष्कीय गतिविधि का बोध कराती हैं। अद्यतन शोधों में इस बात के प्रमाण मिले हैं कि शिशु अपनी माता के गर्भ रहते हुए परिजनों की आवाज सुनते हैं और जन्म के पश्चात उस आवाज को पहचानते भी हैं। अमेरिकी मनोचिकित्सक डॉ. थामस बर्नी ने इस विषय पर शोध कार्य किया है। उनके शोधग्रंथ का नाम है- ‘द सीक्रेट

लाइफ ऑफ दी अन्बॉर्न चाइल्ड'। इस शोधग्रंथ के निष्कर्ष इस प्रकार हैं-

1. "गर्भवती माँ के क्रियाकलापों और सोच-विचार का प्रभाव शिशु के मानसिक बुनावट पर पड़ता है।
2. चार-पाँच मास का भ्रूण संगीत एवं अन्य हलचलों से प्रभावित होता है।
3. माता के भीतर होने वाले भवनात्मक एवं वैचारिक उतार-चढ़ाव और दैनिक व्यवहार से भ्रूण प्रभावित होते हैं।
4. भ्रूण प्रेम और घृणा के अत्यंत संवेदनशील होता है। वह केवल इसके प्रति प्रतिक्रिया ही नहीं व्यक्त करता, बल्कि उससे आगे बढ़कर पेचीदा एवं रहस्यात्मक भावनाओं के प्रति भी अपनी सचेतता का संकेतन करता है।
5. गर्भस्थ शिशु संवेदनशील स्मरण शक्ति का मालिक होता है। गर्भ में भी वह एक सचेत प्राणी है।
6. छठे माह के गर्भकाल में शिशु सुनने की क्षमता प्राप्त कर चुका होता है और माँ की आवाज पर प्रतिक्रिया देने लगता है, अर्थात् हिलने-डुलने लगता है।
7. गर्भस्थ शिशु की परिपक्वता इतनी पर्याप्त होती है कि वह माता प्रेम, करुणा, वेदना और क्रोध को साफ तौर पर महसूस करने लगता है और प्रतिक्रिया भी देता है।"

स्पष्ट है कि शिशु का मानसिक एवं शारीरिक विकास गर्भकाल में एक साथ होता है और इसलिए उसमें भाषा-अर्जन की प्रक्रिया की बुनियाद भी वहीं से पड़ जाती है। अद्यतन वैज्ञानिक शोध के अनुसार इस संभावना की पूरी गुंजाइश है कि गर्भ में ही बच्चों को प्राथमिक शिक्षा दी जा सके है। जर्मन अखबार 'सर्ज' की संकल्पना के अनुसार यह बिल्कुल संभव है। खास बात यह है कि गर्भस्थ शिशु प्राथमिक शिक्षा लेकर जन्म लेने के उपरांत भी अपने भोलेपन को खोएगा नहीं।

बालक का विकास दो स्तरों पर होता है; एक, सामान्य विकास में परिपक्वता के अनुक्रम में शरीर की सहज अभिवृद्धि होती रहती है; दूसरे, विशिष्ट विकास के रूप में परिपक्वता के परिणामस्वरूप जो अभिवृद्धि होती है, उसमें अधिगम की भूमिका अधिक होती है। अधिगम में प्रशिक्षण एवं अभ्यास का महत्व अधिक होता है। इससे बालकों में बौद्धिक, गत्यात्मक, संप्रत्यात्मक, प्रत्यक्षात्मक, भाषिक, नैतिक आदि चीजों का विशेष विकास होता है। भाषिक विकास मानव की विशिष्ट उपलब्धि है। इसकी उपलब्धता से ही मानव जगत के अन्य प्राणियों से श्रेष्ठ हो सका है। इसलिए भाषा-अर्जन की प्रक्रिया वस्तुतः बालक के श्रेष्ठ होने की प्रक्रिया है। मनोविज्ञान में इस विशिष्टता को प्राप्त करने की दो विधियाँ हैं जिसके लिए दो शब्द हैं- अर्जन और अधिगम। वास्तविक रूप में ये दोनों अलग नहीं हैं। अर्जन स्व प्रयत्न और अनुभव से कुछ प्राप्त करने की प्रक्रिया को कहते हैं; जबकि अधिगम किसी विषय या कौशल के संबंध में सूचना प्राप्त करने की प्रक्रिया है। अर्जन के लिए अनुकूल वातावरण एवं उससे संबंधित अनुभव को प्रमुख तत्व के रूप में स्वीकार किया गया है। दूसरी तरफ अधिगम के लिए सबसे प्रमुख है अध्ययन-अध्यापन एवं प्रशिक्षण। बालक के द्वारा भाषा सीखना अर्जन-प्रक्रिया के तहत आता है क्योंकि वह अपनी मातृभाषा को एक स्वाभाविक वातावरण एवं अपनी अंतर्दृष्टि व स्व प्रयासों से सीखता है। इसलिए बालकों में भाषायी विकास को भाषा-अर्जन कहा जाता है और अध्ययन-अध्यापन एवं प्रशिक्षण से सीखी गई भाषा की प्रक्रिया को भाषा-अधिगम के नाम से जाना जाता है। इस प्रकार अर्जन और अधिगम में कोई तात्त्विक अंतर नहीं है, दोनों सीखने की प्रक्रियाएँ हैं और दोनों का मनोवैज्ञानिक पक्ष एक ही धरातल पर अवस्थित है।

भाषा-अर्जन की प्रक्रिया :

बालकों में भाषा-अर्जन की प्रक्रिया के घटित होने के संदर्भ में मनोवैज्ञानिक के दो मत सर्वाधिक प्रचलित हैं। पहले मत को अनुभववाद के नाम से जाना जाता है और दूसरे को संज्ञानवाद या बुद्धिवाद के नाम से।

अनुभववादियों का मानना है कि “बालक के भाषा अधिगम में कोई विशिष्टता नहीं होती। भाषा भी केवल अनुभव द्वारा या अभ्यास द्वारा सीखी जाती है; अनुभव, प्रशिक्षण के द्वारा उसके मन पर कुछ भी अंकित किया जा सकता है।” लेकिन बुद्धिवादी यह मानते हैं कि,

“भाषा मानव की अपनी संपत्ति है। मानव शिशु भाषा अर्जन की सहजात प्रक्रिया के साथ जन्म लेता है। बालक के मस्तिष्क में पहले से ही एक प्रदत्त संसाधक यांत्रिक व्यवस्था होती है। बालक भाषा की दत्तक सामग्री को सुनता है और उसके बारे में प्राक्कल्पनाएँ करता है और मस्तिष्क के डाटा प्रोसेसिंग की सहायता से क्रमशः नियमों की खोज करता है और उन नियमों का अत्मीकरण करता है। प्रदत्त संसाधन के बाद उन नियमों की सहायता से नए-नए वाक्यों की सृजना करता है। इन नियमों की खोज में कभी बालक गलतियाँ करता है, लेकिन ये गलतियाँ भाषा सीखने की प्रक्रिया में बालक की प्राक्कल्पनाओं और पूर्व परीक्षण का प्रतिनिधित्व करती हैं। भाषा अर्जन में ‘उद्भासन’ का महत्व नहीं है, महत्व है उसकी प्राक्कल्पना से निर्माण और समस्या समाधान की प्रक्रिया का। बालक अपने अंदर स्वतः निहित एक निहित एक निश्चित कार्यविधि द्वारा सीखता है। भाषा बालक की एक सृजनात्मक प्रक्रिया है, यह एक अनिवार्य प्रक्रिया है। मंद से मंद बुद्धिवाला बालक एक भाषा अवश्य सीख लेता है। भाषा सीखने के लिए सामान्य प्रतिभा की भी जरूरत नहीं होती। बालकों के मन मस्तिष्क में एक जैविक घड़ी होती है, जो उसके भाषा-अर्जन की समय-सारणी की सरणियों का निर्धारण करती है। इसलिए भाषा-अर्जन निश्चित चरणों में संपन्न होता है।”

स्पष्ट है कि मनोवादी भाषा चिंतकों की दृष्टि में भाषा मानव जाति की अनुपम उपलब्धि है जिसका अर्जन मानव शिशु की सहज व अनिवार्य प्रवृत्ति है। भाषा-अर्जन में बाह्य जगत की अपेक्षा आंतरिक जगत अधिक महत्वपूर्ण है। इस बाम को नाअम चाम्सकी ने रेखांकित करते हुए लिखा है कि “किसी भी जीवतंत्र को समझने के लिए उसकी आंतरिक संरचना को समझना उतना ही महत्वपूर्ण है, जितना कि बाह्य उद्दीपनों या प्रेरणाओं को समझना।” मनोभाषाविज्ञानियों ने भी लगभग इन्हीं बातों को मान्यता दी है। दोनों की स्थापनाओं में ज्यादा फर्क नहीं है। मनोभाषाविज्ञानियों के चिंतन में बालक के जैविक विकास को आधार बनाते हुए स्थापना दी गई है कि शिशु में सहज भाषा-अर्जन की एक व्यवस्था होती है जो उसके जैविक विकास पर आधारित होता है।

मनुष्य के भाषा-अर्जन की प्रक्रिया उसके जैविक विकास पर निर्भर करती है। अगर बालक के वाग्यंत्र विकसित नहीं हैं तो ध्वनियों की श्रृंखला उत्पन्न करना कठिन हो जाएगा। पशु-पक्षियों के साथ ऐसा ही होता है। उनके पास कोई विकसित भाषा नहीं होती तो उसका कारण उनके वाग्यंत्रों की अक्षम अवस्था है। वे विभिन्न प्रकार की ध्वनियाँ नहीं निकाल सकते; और न ही अपने द्वारा उच्चरित ध्वनियों को श्रृंखलाबद्ध करके उससे कोई निश्चित अर्थ का निष्पादन कर सकते हैं। उनमें प्रदत्त संसाधन क्षमता नहीं होती। यही कारण है कि मनुष्य में भाषा-अर्जन की प्रक्रिया को उसकी सबसे बड़ी विशिष्टता माना गया है; क्योंकि मनुष्य में, जैसा कि संज्ञानवादियों का मानना है, प्रदत्त संसाधन क्षमता होती है। बालक जब भाषा-अर्जन की प्रक्रिया में प्रवृत्त होता है तो वह इन संसाधनों का उपयोग करके भाषायी निपुणता प्राप्त कर लेता है। प्रदत्त संसाधन क्षमता का अर्थ है- शिशु में जन्म से ही एक जैविक उपकरण का मौजूद होने, जो उसे भाषा-अर्जन में सहायता प्रदान करता है। यह ठीक वैसा ही है, जैसे किसी कंप्यूटर को प्रोग्रैमड (अभिक्रमित) करना। जन्मजात जैविक उपकरण में पहले से भाषा-अर्जन संबंधी अनुकूलताएँ मौजूद होती हैं जो बालक को भाषा-अर्जन हेतु आवश्यक अनुकूल वातावरण का निर्माण करती है, बालक के भाषायी अभ्यास को आसान बनाती है।

आम तौर पर बालक के शारीरिक, मानसिक, संवेगात्मक, गामक तथा सामाजिक विकास की विशिष्टताएँ बालक की भाषायी अधिगम प्रक्रिया से जुड़ी होती है। “विकास की एक विशिष्ट स्थिति में विशिष्ट वस्तु का अधिगम संभव है। आयु के साथ विकास में परिवर्तन होते हैं। परिवर्तनों के अभिलक्षणों के अनुरूप अधिगम

प्रक्रिया संभव होती है।” अर्थात् बालकों में भाषा अर्जन की प्रक्रिया विकास निरपेक्ष नहीं है। अतः बालको में भाषिक विकास को समझने के लिए उनके विकास से संबंधित विविध पक्षों में परिवर्तन, अभिवृद्धि, परिपक्वता को ध्यान में रखना आवश्यक है। किसी भी चीज को सीखने के लिए शारीरिक एवं मानसिक परिपक्वता का एक सामान्य स्तर आवश्यक है। जब तक शरीर की मांसपेशियाँ परिपक्वता के सामान्य स्तर को प्राप्त नहीं कर लेतीं, तब तक विकास की प्रक्रिया स्वाभाविक रूप से गतिमान नहीं होती। वोरिंग तथा लॉग फील्ड के अनुसार, “परिपक्वता एक ऐसा विकास है, जिसका अस्तित्व सीखी जाने वाली क्रिया या व्यवहार से पूर्व आवश्यक है।” इसलिए ये कहना समीचीन है कि बालक के भाषा अर्जन का संबंध उसके शारीरिक विकास से है। शरीर विकास की अलग अलग अवस्था में बालक अलग अलग ध्वनियों के उच्चारण में सक्षम हो पाता है। उच्चारण संबंधी अवयवों एवं मांसपेशियों को ठीक से संचालन करने में बालक जबतक सक्षम नहीं होता, तब तक वह ध्वनियों का उच्चारण नहीं कर सकता। भाषा अर्जन की प्रक्रिया में बालक पहले आसानी से उच्चरित होने वाले ध्वनियों को उच्चरित करता है। ‘स्वर’ ध्वनियाँ बालकों की भाषा में पहले स्थान पाती हैं।

आम तौर पर शिशु सरल और कोमल ‘अ’ या ‘आ’ ध्वनियाँ उच्चरित करता है। ‘इ’ या ‘उ’ अथवा ‘ए’ का उच्चारण अपेक्षाकृत कठिन होता है। उसके लिए बालक की प्रारंभिक उच्चारणांग पर्याप्त विकसित नहीं होते। आगे चलकर उच्चारण अंगों के विकसित हो जाने पर वह इन ध्वनियों का उच्चारण भी आसानी से करने लगता है। कालक्रमिक शारीरिक विकास के अनुसार आम तौर पर बालकों में जिन ध्वनियों व शब्दों के उच्चारण की क्षमता आ पाती है, वे इस प्रकार हैं-

20 सप्ताह	: प
6 मास	: मां, दो, दी,
12 मास	: मामा, दादा, पापा
14 से 16 मास	: दद, लल, तोती (रोटी), ताता (गरम)
16 से 18 मास	: स्वर - अ, आ, इ, ई, उ, ए स्वर व्यंजन - प, म, त, ब, द, न
23 से 24 मास	: ए, ओ
31 मास	: क, ग

इस प्रकार शारीरिक विकास की विभिन्न अवस्था में बालक विभिन्न ध्वनियों का उच्चारण सीखता हुआ ढाई-तीन वर्ष की अवस्था तक आते आते ओष्ठ्य, स्पर्श, संघर्षी के क्रम में ध्वनियों का उच्चारण करने लग जाता है। इसके बाद वाक्य विन्यास गढ़ने की बारी आती है। इसके लिए केवल शारीरिक विकास पर्याप्त नहीं है। भाषा अर्जन की अवस्था में आकर बालक के शारीरिक विकास के साथ मानसिक विकास की भी जरूरत पड़ती है। मानसिक विकास के अभाव में बालक के लिए अर्थगर्भित वाक्य विन्यास को गढ़ना अत्यंत मुश्किल होगा। अतः अब उसकी भाषा शारीरिक व मानसिक दोनों के विकास की मांग करती है।

दो-तीन वर्ष की अवस्था में आकर बालक के भाषा अर्जन की प्रक्रिया में शारीरिक एवं मानसिक दोनों प्रकार की परिपक्वता का समन्वय आवश्यक हो जाता है। मानस के विकास के साथ शब्दों की संकल्पनाएँ आकार लेने लगती हैं। संकल्पनात्मक विकास क्रमशः स्थूल से सूक्ष्म, निकट से दूर, मूर्त से अमूर्त और संपूर्ण से आंशिकता की ओर अग्रसर होती हैं। इस उम्र में बालक का जुड़ाव सामाजिक स्तर पर भी विस्तृत होने लगता है। परिणामस्वरूप उसकी शब्दावली में लगातार वृद्धि होती है। उम्र के हिसाब से बालकों की शब्द संपदा का

आकलन करें तो परिणाम कुछ इस तरह के होंगे -

1 वर्ष में	: 3 शब्द
2 वर्ष में	: 272 शब्द
3 वर्ष में	: 896 शब्द
4 वर्ष में	: 1500 शब्द
5 वर्ष में	: 2072 शब्द
6 वर्ष में	: 2562 शब्द

उच्चतर माध्यमिक स्तर तक : 15000 से 16000 तक

इस प्रकार देखा जा सकता है कि बालक की भाषा ओष्ठ्य ध्वनियों से आरंभ होकर 6 वर्ष की अवस्था तक आने तक शब्दावली एवं वाक्य निर्माण की प्रक्रिया पूरी हो जाती है। पाँच वर्ष की अवस्था बालक के भाषा अर्जन की दृष्टि से बेहद महत्वपूर्ण है। पाँच वर्ष की अवस्था शरीर और मस्तिष्क के लिए बहुत ग्रहणशील होती है, उसका प्रत्यय ज्ञान अधिक स्पष्ट और अर्थपूर्ण हो जाता है जिसका सीधा प्रभाव बालक के भाषा अर्जन की प्रक्रिया पर पड़ता है।

शब्दावली और वाक्य गठन की प्रक्रिया पूर्ण करने के बाद बालक संप्रेषण की प्रक्रिया में प्रवृत्त होता है। इस प्रक्रिया में वक्ता, श्रोता और परिस्थिति के संदर्भ में त्रिकोणात्मक संदर्भ उपस्थित होते हैं। यह भाषिक विकास का अंतिम चरण है।

निष्कर्ष :

बालक के भाषा-अर्जन की प्रक्रिया अंततः उसके व्यक्तित्व निर्माण की प्रक्रिया है। यह एक मानसिक प्रक्रिया है जिसमें अनेक चरण और क्रिया-प्रक्रिया का समावेश होता है। विभिन्न चरणों में क्रिया-प्रक्रिया के परिणामस्वरूप बालक का मानसिक गठन होता है और आगे भी यह क्रिया-प्रक्रियाएँ जारी रहती हैं जो मानसिक पुनर्गठन को अंजाम देती हैं और बालक का व्यक्तित्व आकार लेता हुआ विकास को प्राप्त होता है। इसी क्रम में उसके भाषा-अर्जन की प्रक्रिया भी पूरी होती है।

Work Cited:

1. मैकार्थी, डी, लैंग्वेज डेवलपमेंट इन चिल्ड्रेन, मैनुएल ऑफ चाइल्ड साइकोलॉजी, 1954
2. योडियाक, जे.जी, ए स्टडी ऑफ द लिंग्विस्टिक फंक्शनिंग ऑफ चिल्ड्रेन विच ऑब्रयूलेशन एण्ड रीडिंग डिसेंबिलिटी, 1947
3. विलियम्स, एच.एम., डेवलपमेंट ऑफ लैंग्वेज एण्ड वोकेब्युलरी इन यंग चिल्ड्रेन्स, 1937
4. वेल्टेन, एच.वी., द ग्रीथ ऑफ फोनेमिक एण्ड लैक्सिकल पैटर्न्स इन इफैंट लैंग्वेज, 1943.
5. शास्त्री, सूर्यदेव, मनोविश्लेषण और भाषा, बिहार हिंदी ग्रंथ अकादमी, पटना, 1976



माध्यमिक विद्यालय के अध्यापकों में कार्य नैतिकता का महत्व

○ सदफ अरशी

संक्षिप्ति :

शिक्षा को विकास का मूल आधार माना जाता है और शिक्षक सामाजिक प्रगति को प्राप्त करने और समुदाय के लक्ष्यों और आकांक्षाओं के मद्देनजर अध्यात्मिक, वैचारिक, भावनात्मक और नैतिक मूल्यों के साथ एक पीढ़ी तैयार करने का सबसे महत्वपूर्ण तत्व है। कैलपी (2005) बताती हैं कि शिक्षक की भूमिका का एक नैतिक आयाम है क्योंकि वह स्कूल और समाज के बीच की कड़ी है। वह छात्रों को पढ़ाता और निर्देश देता है, शैक्षिक गतिविधियों का आयोजन करता है और बच्चों की परवरिश करने में और उन में नैतिक मूल्यों का विकास करने में परिवार का सहयोग करता है। नैतिक और वैज्ञानिक दक्षताओं के साथ योग्य शिक्षक अपनी प्रथाओं के माध्यम से एक नई विकसित पीढ़ी बना सकता है। कार्य-नैतिकता एक मार्गदर्शक की तरह है, जो शिक्षक को गुणवत्तापूर्ण शिक्षा प्रदान करने और शिक्षार्थियों के बीच मूल्यों को विकसित करने की सुविधा प्रदान करता है। कार्य-नैतिकता शिक्षकों को बताएगी की छात्रों के व्यवहार में वांछनीय परिवर्तन लाने में उनकी प्रमुख भूमिका है। यह शिक्षकों को शिक्षक के रूप में उनके कार्य को समझने में भी उनकी मदद करता है। माध्यमिक विद्यालय के शिक्षकों में शोधार्थी यह देखना चाहती हैं कि किस तरह शिक्षक अपने उद्देश्य, गौरव, धैर्य, दृढ़ता, परिप्रेक्ष्य में कार्य-नैतिकता को महत्व देते हैं।

बीज शब्द : माध्यमिक विद्यालय, शिक्षकों, कार्य-नैतिकता, महत्व, धैर्य, परिप्रेक्ष्य

हम अपनी शैक्षिक प्रणाली में विविध बदलाव देख रहे हैं। चूँकि परिवर्तन अपरिहार्य है, शिक्षा के उद्देश्य शिक्षार्थियों की आवश्यकताओं और रुचियों के अनुसार बदल रहे हैं। अब शिक्षक और शिक्षण की अवधारणा भी दिन-प्रतिदिन बदल रही है। इस समकालीन युग में एक शिक्षक के पास कई कर्तव्य और जिम्मेदारियाँ हैं। अच्छी शैक्षणिक और व्यवसायिक योग्यता होने के अलावा उन्हें कार्य-नैतिकता का ज्ञान भी होना चाहिए। कार्य-नैतिकता एक मार्गदर्शक की तरह है जो शिक्षक को गुणवत्तापूर्ण शिक्षा प्रदान करने और शिक्षार्थियों के बीच मूल्यों को विकसित करने की सुविधा प्रदान करता है। कार्य-नैतिकता शिक्षकों को बताएगी की छात्रों के व्यवहार में वांछनीय परिवर्तन लाने में उनकी प्रमुख भूमिका है। यह शिक्षकों को शिक्षक के रूप में उनके कार्य को समझने में भी उनकी मदद करता है। शिक्षकों की भूमिका सिर्फ अपने छात्रों और सहयोगियों के सामने सर्वोच्च और सत्यवादी बनने की नहीं है बल्कि शिक्षकों की व्यापक और सार्थक भूमिका होती है।

स्कूल को समाज का लघु रूप माना जाता है। स्कूल वह औपचारिक एजेंसी है जो छात्रों को शिक्षा प्रदान करती है। समाज में विकास लाने में इस की प्रमुख भूमिका है। स्कूलों में शिक्षण और शिक्षक एक महत्वपूर्ण

तत्व हैं। इनके बिना शैक्षिक प्रक्रिया ठीक से काम नहीं कर सकती। शिक्षक शिक्षण प्रक्रिया में एक महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं शिक्षा प्रदान करते हैं और छात्रों के व्यवहार में वांछनीय परिवर्तन लाते हैं इसलिए अच्छी शैक्षणिक और व्यवसायिक योग्यता होने के अलावा शिक्षकों में कार्य-नैतिकता का ज्ञान भी होना चाहिए। कार्य-नैतिकता एक मार्गदर्शक की तरह है जो शिक्षक को गुणवत्तापूर्ण शिक्षा प्रदान करने और शिक्षार्थियों के बीच मूल्यों को विकसित करने की सुविधा प्रदान करता है।

अध्ययन का उद्देश्य :

- शिक्षकों में धैर्य के महत्व का पता लगाना ।
- शिक्षकों में दृढ़ता के महत्व का पता लगाना ।
- शिक्षकों के परिप्रेक्ष्य में कार्य-नैतिकता का पता लगाना ।

साहित्य समीक्षा :

संबंधित साहित्य की समीक्षा सीधे विषय से संबंधित है या विषय के क्षेत्र के बारे में थोड़ी बात करती है। अध्ययन का उद्देश्य विद्वान द्वारा चुने गए विषय पर व्यापक दृष्टिकोण रखना है इससे विद्वानों के अध्ययन के क्षेत्र में दोहराव से बचने में मदद मिलेगी। शोधार्थी को उसके अध्ययन के क्षेत्र में स्पष्ट अवधारणा होगी।

तबाचनिक एवं अन्य, (2016) का उद्देश्य शिक्षकों में मनोवैज्ञानिकों के परिप्रेक्ष्य में कार्य की नैतिकता की पहचान करना है। परिणामों से पता चला कि कार्य की नैतिकता में व्यवहार और विश्वास का एक सेट शामिल है, जैसे कि पाठ्यक्रम सामग्री, छात्रों का मूल्यांकन, शैक्षिक वातावरण, अपमानजनक व्यवहार, अनुसंधान और प्रकाशन के मुद्दे, वित्तीय और सामग्री लेनदेन, छात्रों के साथ सामाजिक संबंध ।

नादिया (2015) ने शैक्षिक संस्थानों में शिक्षकों के लिए कार्य-नैतिकता के महत्व की पहचान की। परिणामों से पता चला कि शिक्षकों की कार्य-नैतिकता लोगों के विश्वासों, मूल्यों, नैतिकता के ज्ञान को बढ़ाने में मदद करती है और उन्हें अपनी भलाई और खुशी को अधिकतम करने के लिए अभ्यास करती है ।

दास (2014) ने पंजाब राज्य में उच्च शिक्षा के संस्थानों में महिला शिक्षकों के बीच अनुभव के माध्यम से शिक्षण की कार्य नैतिकता के विकास का लक्ष्य रखा। अवलोकन के माध्यम से शिक्षण अनुभव के कार्य-नैतिकता को रिकॉर्ड करने के अलावा प्रयोगात्मक वर्णनात्मक दृष्टिकोण का उपयोग किया । परिणामों से पता चला कि केवल 9% शिक्षकों में उच्च स्तर की कार्य नैतिकता है, 60% शिक्षकों में मध्य स्तर की कार्य नैतिकता है और 30.5% शिक्षक हैं जिनमें निम्न स्तर की कार्य-नैतिकता दिखाई देती है।

बून (2011) का उद्देश्य शिक्षकों के बीच शिक्षण की कार्य नैतिकता की गुणवत्ता की पहचान करना था। परिणामों से पता चला कि स्नातक की डिग्री के शैक्षणिक वर्षों के दौरान शिक्षण की कार्य-नैतिकता से संबंधित कोई स्पष्ट वस्तुएं नहीं हैं । परिणामों ने शिक्षकों के प्रशिक्षण पाठ्यक्रमों में कार्य नैतिकता इकाइयों को शामिल करने की आवश्यकता पर प्रकाश डाला।

विश्लेषण और चर्चा

1. शिक्षकों में धैर्य का महत्व : शिक्षक कक्षा में एक बड़ी जिम्मेदारी निभाते हैं उन्हें एक ऐसी स्थिति में रखा जाता है जहाँ वह भविष्य की पीढ़ी को आकार देते हैं और शिक्षार्थियों की सफलता में योगदान देते हैं। इसलिए धैर्य एक महत्वपूर्ण गुण है जो शिक्षकों में होना चाहिए।

2. शिक्षकों में दृढ़ता का महत्व : दृढ़ता शिक्षक प्रभावशीलता के लिए महत्वपूर्ण है क्योंकि यह छात्रों के लिए उच्च उम्मीदों, शिक्षण कौशल के विकास, शिक्षकों की चिंतनशीलता, विविधता के प्रति जवाबदेही,

शिक्षण प्रभावकारिता और शिक्षण विधियों के सफल उपयोग को बढ़ावा दे सकता है। शिक्षण दृढ़ता के मानक :

- ◆ सीखना : शिक्षक समावेशी शिक्षण वातावरण सुनिश्चित करने के लिए व्यक्तिगत अंतर और विविध संस्कृतियों और समुदायों की समझ का उपयोग करते हैं जो प्रत्येक शिक्षार्थी को उच्च मानकों को पूरा करने में सक्षम बनाता है।
- ◆ सामग्री ज्ञान : शिक्षक केंद्रीय अवधारणाओं, जांच के उपकरण और अनुशासन की संरचनाओं को समझते हैं शिक्षार्थियों के लिए अनुशासन को सुलभ और सार्थक बनाते हैं।
- ◆ सामग्री का अनुप्रयोग : शिक्षक समझते हैं कि शिक्षार्थियों की सोच से अवधारणाओं को कैसे जोड़ा जाए जिससे शिक्षार्थियों में रचनात्मक सोच और शिक्षार्थी समस्या को हल करने के लिए अलग-अलग दृष्टिकोणों का उपयोग कर सकें।
- ◆ मूल्यांकन : शिक्षक अपने स्वयं के विकास में शिक्षार्थियों को संलग्न करने के लिए, शिक्षार्थी की प्रगति की निगरानी करने के लिए, और शिक्षार्थियों को मार्गदर्शन देने के लिए मूल्यांकन के कई तरीकों को समझते हैं और उनका उपयोग करता है।
- ◆ निर्देशात्मक रणनीतियाँ : शिक्षक शिक्षार्थियों में गहरी समझ विकसित करने के लिए विभिन्न प्रकार की अनुदेशात्मक रणनीतियों का उपयोग करते हैं और ज्ञान को सार्थक तरीकों से लागू करने के लिए कौशल का निर्माण करते हैं।

3. शिक्षण परिप्रेक्ष्य का महत्व : सामाजिक और भावनात्मक शिक्षण कौशल के निर्माण के लिए शिक्षण परिप्रेक्ष्य आवश्यक है। परिप्रेक्ष्य शिक्षकों में दुनिया को दूसरों के दृष्टिकोण से देखने में मदद करता है। शिक्षण के पाँच परिप्रेक्ष्य :

- प्रसारण - प्रभावी शिक्षण के लिए सामग्री या विषय वस्तु के लिए पर्याप्त प्रतिबद्धता की आवश्यकता होती है। प्रभावी शिक्षण का अर्थ है विषय वस्तु या सामग्री की महारत हासिल करना। शिक्षकों की प्राथमिक जिम्मेदारियाँ सामग्री का सही और कुशलता से प्रतिनिधित्व करना है। शिक्षार्थियों की जिम्मेदारियाँ उस सामग्री को उसके अधिकृत या वैध रूपों में सीखना है। प्रभावी शिक्षक सामग्री की महारत हासिल करने वाले कार्यों के माध्यम से शिक्षार्थियों को व्यवस्थित रूप से लेते हैं: स्पष्ट उद्देश्य प्रदान करना, व्याख्यान की गति को समायोजित करना, कक्षा के समय का कुशल उपयोग करना, गलतफहमी को दूर करना, प्रश्नों का उत्तर देना, समय पर प्रतिक्रिया प्रदान करना, त्रुटियों को ठीक करना, समीक्षा प्रदान करना, संक्षेप में प्रस्तुत करना, छात्रों को उपयुक्त संसाधनों के लिए निर्देशित करना, उपलब्धि के लिए उच्च मानक स्थापित करना और सीखने का मूल्यांकन करने के उद्देश्य साधनों को विकसित करना। प्रभावी शिक्षक अपनी सामग्री के बारे में उत्साही होते हैं और उस उत्साह को अपने छात्रों तक पहुँचाते हैं।

- आवेदन : प्रभावी शिक्षण नए व्यवहार मानदंडों और काम करने के पेशेवर तरीकों में छात्रों को सामाजिक बनाने की एक प्रक्रिया है। प्रभावी शिक्षक वे जो भी सिखाते हैं, उसके अत्यधिक कुशल चिकित्सक होते हैं। चाहे वे कक्षाओं में हों या नैदानिक सेटिंग्स में हों, प्रभावी शिक्षक अपने पेशेवर ज्ञान और विशेषज्ञता के लिए पहचाने जाते हैं। प्रभावी शिक्षक अपने कुशल प्रदर्शन के आंतरिक कामकाज को प्रकट करने के लिए समय लेते हैं और उस भाषा में अनुवाद करते हैं जो शिक्षार्थियों के लिए सार्थक और सुलभ है। वे छात्रों को कार्यों के एक निर्धारित सेट के माध्यम से काम में शामिल होने का अवसर देते हैं जो आमतौर पर सरल से जटिल तक बढ़ते हैं, जिससे सीखने वाले की क्षमता के आधार पर प्रवेश के विभिन्न बिंदुओं की अनुमति मिलती

है। इस परिप्रेक्ष्य में प्रभावी शिक्षक जानते हैं कि उनके शिक्षार्थी अपने दम पर क्या कर सकते हैं और उन्हें मार्गदर्शन और दिशा की आवश्यकता है; वे प्रत्येक शिक्षार्थी को उसके श्रवण के क्षेत्र में शामिल करते हैं। जैसे ही शिक्षार्थी परिपक्व होते हैं और अधिक सक्षम हो जाते हैं, शिक्षक की भूमिका बदल जाती है; वे कम दिशा प्रदान करते हैं और अधिक जिम्मेदारी देते हैं क्योंकि छात्र आश्रित शिक्षार्थियों से स्वतंत्र श्रमिकों तक प्रगति करते हैं।

- विकास : प्रभावी शिक्षण को शिक्षार्थी के दृष्टिकोण से नियोजित और संचालित किया जाना चाहिए। इस दृष्टिकोण से, प्रभावी शिक्षकों को यह समझना चाहिए कि उनके शिक्षार्थी कैसे सोचते हैं और सीखी जाने वाली सामग्री के बारे में क्या सोचते हैं। प्राथमिक लक्ष्य शिक्षार्थियों को सामग्री से संबंधित जटिल और परिष्कृत संज्ञानात्मक संरचनाओं को विकसित करने में मदद करना है। उन संज्ञानात्मक संरचनाओं को बदलने की कुंजी दो कौशल के संयोजन में निहित है: (1) शिक्षण जो शिक्षार्थियों को सामग्री के साथ संलग्न करता है, साथ ही उन्हें अपेक्षाकृत सरल से जटिल सोच के जटिल रूपों तक ले जाने के लिए चुनौती देता है, और (2) शिक्षार्थियों को सामग्री की अपनी समझ बनाने के लिए समय देने की अनुमति देता है। प्रारंभिक चरणों में, इस परिप्रेक्ष्य के भीतर शिक्षक अपने पेशेवर ज्ञान को शिक्षार्थियों की समझ के स्तर और सोचने के तरीकों के अनुकूल बनाते हैं।

- अंकुर - इस परिप्रेक्ष्य में, शिक्षकों का मानना है कि उपलब्धि के मानक स्पष्ट होने के साथ-साथ शैक्षणिक और भावनात्मक समर्थन के संतुलन के कारण लोग प्रेरित और उत्पादक शिक्षार्थी बन जाते हैं। प्रभावी शिक्षक सीखने का माहौल बनाते हैं जो चुनौतीपूर्ण, सहायक परिस्थितियाँ प्रदान करता है जिसमें शिक्षार्थी अपनी शिक्षा पर नियंत्रण की भावना महसूस करते हैं, दूसरों के साथ मिलकर काम करते हैं, उनका मानना है कि उनके काम को निष्पक्ष और ईमानदारी से माना जाएगा, और किसी भी उच्च के अग्रिम में प्रतिक्रिया प्राप्त करेंगे उनके प्रयासों का निर्णय लेता है। इस परिप्रेक्ष्य में, प्रभावी शिक्षक अपने मानकों को कम नहीं करते हैं; न ही वे सीखने वालों को वह करने से मना करते हैं जो आवश्यक है। बल्कि, प्रभावी शिक्षक शिक्षार्थियों को चुनौतीपूर्ण लेकिन साध्य लक्ष्यों को निर्धारित करने में मदद करते हैं, प्रयास के साथ-साथ उपलब्धि को सुदृढ़ करते हैं, और व्यक्तिगत विकास के साथ-साथ पूर्ण उपलब्धि को भी मानकीकृत परीक्षाओं में इंगित किया जा सकता है। वे दृढ़ता से मानते हैं कि शिक्षार्थी की आत्म-अवधारणा को खतरा होने पर सीखना में कमी आ जाती है।

- सामाजिक सुधार : समाज को बदलने के लिए प्रभावी शिक्षण की तलाश है। इस परिप्रेक्ष्य में शिक्षक समाज के सामाजिक मानदंडों या एक पेशे को बदलने से चिंतित हैं। इस दृष्टिकोण से, प्रभावी शिक्षक छात्रों को उन मूल्यों और विचारधाराओं के लिए जागृत करते हैं जो उनके अनुशासन या पेशे के भीतर ग्रंथों और सामान्य प्रथाओं में अंतर्निहित हैं। यह शिक्षक की जिम्मेदारी है कि वह यथास्थिति को चुनौती दे और छात्रों को यह विचार करने के लिए प्रोत्साहित करे कि वे विशेष प्रवचनों और प्रथाओं के भीतर कैसे निर्मित होते हैं। ऐसा करने के लिए, शिक्षक शिक्षार्थियों को उन तरीकों के लिए सामान्य प्रथाओं के विश्लेषण और विघटन में मदद करते हैं, जिनमें ऐसी स्थितियाँ अस्वीकार्य होती हैं। छात्रों को अपने स्वयं के जीवन और दूसरों के जीवन को बेहतर बनाने के लिए सामाजिक कार्रवाई करने के लिए एक महत्वपूर्ण दृष्टिकोण अपनाने के लिए प्रोत्साहित किया जाता है।

निष्कर्ष :

शिक्षा के सभी स्तरों पर शिक्षकों को गुणवत्तापूर्ण शिक्षा प्रदान करने पर ध्यान देना चाहिए। छात्रों में इष्टम

विकास लाना शिक्षक का प्रमुख कर्तव्य है। शिक्षकों को अपने कार्य, संस्थान, छात्रों और सहकर्मियों के लिए समान स्तर की गरीमा दिखानी चाहिए। शिक्षकों को विशेष रूप से स्वयं में कार्य-नैतिकता का विकास करने पर जोर देना चाहिए। शिक्षकों को अध्यापन के कार्य को गंभीरता से लेना चाहिए और अपने कर्तव्यों को कुशलता से निभाना चाहिए। इसलिए सफल शिक्षण के लिए कार्य-नैतिकता और इसके कार्यान्वयन का ज्ञान शिक्षकों के लिए बहुत आवश्यक है।

Work Cited:

- Boon, H. J. (2011). Raising the Bar: The teaching profession ethics for Quality Teachers. Australian Journal of Teacher Education, 36(7).
- <https://doi.org/10.14221/ajte.2011v36n7.2>
- Das, S. (2014). Professional ethics grow with teaching experience: A research of women teachers in higher education institutions in Punjab. European Academic Research, II(4).
- Nadia. (2015). Professional Ethics of Teachers in Educational Institutions Nanigopal Malo. International Research Journal of Interdisciplinary & Multidisciplinary Studies (IRJIMS), I(VI), 94-98.
- Tabachnick, B. G., Keith-Spiegel, P., & Pope, K. S. (2016). Ethics of teaching: Beliefs and behaviors of psychologists as educators. American Psychologist, 46(5), 506-515.
- <https://doi.org/10.1037/0003-066X.46.5.506>



उद्धव-शृंखला के पद

○ विवेक निराला

प्रस्तुति : कमलेश वर्मा

[विवेक निराला ने महाकवि सूरदास के 'भ्रमर-गीत' की पद्धति पर उद्धव-शृंखला के कई पद लिखे हैं जैसे सूरदास की गोपियाँ उद्धव को संबोधित करते हुए प्रायः व्यंग्यात्मक बातें कहती हैं उसी तरह विवेक निराला ने हमारे समय के विभिन्न मुद्दों पर व्यंग्य-वाण चलाए हैं। ये व्यंग्य राजनीति, जाति, समाज, अध्यापक, साहित्य, देश-विदेश आदि अनेक समकालीन मुद्दों पर हैं। हिन्दी कविता के इतिहास में सूरदास के उद्धव-संबंधी पद भरपूर प्रसिद्ध हैं। 'भ्रमर-गीत' की परंपरा तो इतनी ज्यादा प्रसिद्ध हुई कि अनेक कवियों ने भ्रमर-गीतों की रचना की। विवेक निराला ने जिस भिन्न आस्वाद के साथ इस शैली को अपनाया और प्रकट किया है उस पर गौर किया जाना चाहिए। इस प्रयास का एक और बड़ा महत्त्व यह है कि हास्य-बोध के साथ व्यंग्य को ये पद संभालते चलते हैं। ऐसा नहीं है कि आज की हिन्दी कविता में व्यंग्य नहीं है। मगर यह कहा जा सकता है कि हास्य चला गया है मंचीय कवियों के पास और केवल गंभीर व्यंग्य रह गए हैं मुख्य धारा के कवियों के पास! विवेक निराला ने हास्य और व्यंग्य को साहित्य-विवेक के साथ इन पदों में सँभाला है।

इन पदों में 'उद्धव' का कोई एक अर्थ नहीं है। कई बार वह कवि के व्यंग्य का लक्ष्य है तो कई बार हमदर्दी का भी। 'ऊधौ रोज खिचावैं फोटो' पद में उद्धव पर व्यंग्य है, मगर 'ऊधौ! सब प्रतिरोध निरर्थक, ऐसी दशा बना दी' जैसी पक्तियों में उद्धव के प्रति हमदर्दी है। पहले वाला उद्धव सत्ता का प्रतीक है और दूसरे वाला उद्धव जनता का! कवि ने जनता की तरफ से शिकायत की है कि उद्धव केवल अपने मन की बात करते हैं। 'हमारी मन की बात' तो कहीं सुनायी ही नहीं देती है। हालत यह है कि उद्धव खूब लंबी फेंकते हैं और बेचारे विपक्षी उसकी लम्बाई नापते रह जाते हैं, 'लंबी फेंकें, सबै विपक्षी नापें लै-लै फीते'।

एक सच्चा कवि जब राजनीतिक व्यंग्य लिखता है तब वह राजनीति की विडम्बनाओं को लक्षित करता है न कि किसी पार्टी या संगठन को! वह प्रत्येक पार्टी और संगठन की विसंगतियों को देख चुका है। इसलिए उसकी राजनीतिक आस्था का आधार जनता की तरफदारी है। जैसे गालिब ने कहा था कि 'हम सुखनफहम हैं गालिब के तरफदार नहीं'। विवेक निराला समाजवादियों पर व्यंग्य करते हैं, 'पाँच साल घर भीतर बैठे, वोट कहाँ से पैहैं'। एक और रूप देखिए, 'लिबरल लिबर-लिबरकर बड़टे मीटिंग में संडे के संडे'। कांग्रेस के पुराने दिनों को याद करते हुए कवि की टिप्पणी है कि 'इनका समय को कैसे भूले, इनहु मचाएन लूट'।

सर्वाधिक व्यंग्य आज की सत्ता पर हैं। एक भाषण में नामवर सिंह ने कहा था कि व्यंग्य का इस्तेमाल कमजोर लोग ताकतवर के खिलाफ करते हैं। कमजोर के खिलाफ किया गया व्यंग्य टिकाऊ नहीं हो सकता है। मगर वर्चस्वशाली लोगों ने भी उत्पीड़ितों पर व्यंग्य किए हैं। जाति-आधारित व्यंग्य उत्पीड़ित जातियों के खिलाफ मुहावरों-कहावतों में पैबस्त हैं। आज की सत्ता व्यंग्य के इस प्रतिगामी रूप का खूब इस्तेमाल कर रही

है। विवेक जी लिखते हैं, “भारत भर में भरन परे है, भारी भरकम टैक्स/पेट धँसाहैं भूख के मारे, कहत हौ छह-छह पैक्स॥” अभाव से धँसे हुए पेट को सत्ता ‘सिक्स पैक्स’ के रूप में प्रदर्शित करने का हुनर जानती है।

राजस्थान में एक दलित बच्चे को उसके अध्यापक ने मटकी छूने के कारण इतना पीटा कि वह मर गया। इस प्रसंग को कवि ने अम्बेडकर-पेरियार की वैचारिकी के कमजोर होने से जोड़कर देखा है। यह वाजिब चिंता है कि क्रांतिकारी विचारकों को माला-फूल चढ़ाने तो सभी धाराओं के लोग आते हैं मगर उनकी वैचारिकी को धीरे-धीरे निष्प्रभावी कर देते हैं,

“बालक हुइहै दलित तौ शिक्षक मारी औ पटकी।

अम्बेडकर औ पेरियार की रूह कहाँ तक भटकी॥”

विवेक निराला अध्यापक हैं। उन्होंने अध्यापकों की प्रवृत्तियों पर गहरे व्यंग्य किए हैं। अपने वर्ग पर व्यंग्य करके आत्मालोचन का दायित्व प्रत्येक को निभाना चाहिए। अत्यंत रोचक पद है, ‘ऊधौ कापी जाँचि रहे’।

नमूने के तौर पर विवेक निराला के 22 पद यहाँ रखे जा रहे हैं। उन्होंने ऐसे अनेक पद लिखे हैं। आशा की जा सकती है कि इन पदों का एक व्यवस्थित संग्रह देकर वे हिन्दी कविता में एक नयी बात जोड़ेंगे!]

- कमलेश वर्मा

1.

ऊधौ! हमरी मन की बात।

न अखबार, रेडियो, टी.वी, कतहूँ नहीं सुनात॥

दिन गिन-गिन के कटत जात हैं, डासत बीतति रात।

महंगाई तौ ऐसो मारै, ज्यों पिछवाड़े लात॥

हम भूखे रूखे सूखे कछु, जौने मिले सो खात।

दीन दुखी विपदा के मारे हम, तुम पुलकित गात॥

पूरे पेज के विज्ञापन मैं, तुम ठाढ़े मुस्कात।

तुम दिनही मैं घात लगाये, प्यारे क्यों न अघात॥

एक यथार्थ राष्ट्र का मानो धर्म जात अरु पाँत।

यासे वै सब भगति के भारे सिर्फ देखावैं दाँत॥

2.

ऊधौ समाजवाद लैहैं।

सड़कन पै फड़कन के अवसर, ट्वीटर पै जैहैं॥

असली कारजकर्ता इनके, पिट के खून बहैहैं।

पर चुनाव के बखत पै चाचा, औरन टिकट थमैहैं॥

कुनबे माँहीं फूट पड़ी है, क्षेत्र हो रहे ऊसर।

एक बहुरिया दुसरे दल मैं, एक बेहुरिया दूसर॥

खुद तौ पवनयान से चलिहैं, हमें साइकिल दैहैं।

पाँच साल घर भीतर बैठे, वोट कहाँ से पैहैं॥

वही पुराना गाना इनका, कब मौलिक हवै गैहैं।

समाजवाद तब आई, ऊधौ लाठी-गोली खैहैं॥

3.

काँग्रेस की डूबी नौका।

हरेक पाँच साल में लागे, अबकी इनको मिलिहै मौका॥

अर्धशती रससिक्त रही है, बहुत दिनन से सूखा॥

दफ्तर कौ अब नहीं किराया, मिम्बर रूखा-दूखा॥

आस-निरास भई है जबसे, गयो भरोसा टूट।

इनका समय को कैसे भूले, इनहु मचाएन लूट॥

लहकत नाहीं भट्टी इनकी, बार-बार हम धौंका।

ओही गंद मैं बोलड भएन ई, जेहि माँ लागत चौका॥

4.

ऊधौ भये क्रांतिकारी।

सब सिद्धांत और के खाते, अपने हेत विचारी॥

हर विमर्श इनही के जिम्मे, दलित होय या नारी॥

हमको तो विचलन समझावैं, कोटिक दै के गारी॥

भुइं-भुइं चलैं न, वायु-वेग से, पूरे गगन विहारी॥

कछु स्थाई नहीं है इनको, सबै भाव संचारी॥

सब प्रकार के लाभ से पूरित, कर मारामारी॥

वाग्वीर हैं बहस मैं उतरैं, अष्ट भुजा के धारी॥

इनकी गति ये पति लखटक के, बन के व्यवहारी॥

थर्ड फ्लोर से ज्ञान बघारैं, क्रान्ति रहै जारी॥

5.

ऊधौ! लंका के अधिपति भागे।
छोड़ देश कौ भगे राष्ट्रपति, नागरिकन के जागे॥
सड़कन पै लाठी चलवाये, चाहे गोला दागे।
सब इतिहास दर्ज कर लेइहै, शासक बने अभागे॥
कर्ज लेन मैं हर्ज न मानैं, सागर सतुआ साने।
हर अनीति कौ नीति बतावैं, सब निर्णय मनमाने॥
महँगाई आकाश छुवै तौ परे हैं, फूँके, छाने।
भूख की मारी जनता तड़पै, नहीं बचे हैं दाने॥
देखौ, का-का होत है, श्रीलंका में आगे।
सबकुछ खतम करे गोत बाया, हवीसिल ब्लोवर लागे॥

6.

ऊधौ धरी अधर मुस्कान।
सोभित सज्जित औरसयोजित, श्यामसखा समान॥
सारे शहर मैं आगी लागी, मुरलि-मनोहर तान।
आगी से नहीं, मुरली-धुन सै अब बिछुरत हैं प्रान॥
गढ़ महोबा कै लड़वइयन ने, धर दै तीर कमान।
हम गोपिन्ह के हेत निरर्थक, फिर भी रक्खा ध्यान॥
युग बदले, कैलेण्डर बदले, तुम बदले परिधान।
जन नहिं बदले, मन नहिं बदले, कियो तुम्हें मतदान॥
तलवारन कौ कचरा जान्यो, चमकायो बस म्यान।
रोम के नीरो, बिल्कुल हीरो, हौ पूरे शैतान॥

7.

ऊधौ! कान्ह से नेह का नाता।
जदपि नेह-नीर के बरसे, तान लेत हैं छाता॥
जो मन भावै सो बतियावै कछु आता नहिं जाता।
को खलिहर डिगरी ढुँढ़वावै, सब सरकारी खाता॥
हैं बहुरंगी, बने त्रिभंगी, ऐसो रच्यो विधाता।
कतौ-कतौ काशी मैं देखे, मस्त हैं मतदाता॥
चर्चित चरखा, तकती तकली, नये सूत कौ काता।
साबरमती मैं हाथ धोय के, रघुपति राघव गाता॥
गति न्यारी, भक्तन कौ प्यारी, गोबरधन को उठाता।
सुरपति हारे देख नजारे, नारे लगवाता॥

8.

ऊधौ! सत्य कहौ, तुम झूठे।
मिली महत्ता फर्जी बेर बने, शबरी के जूठे॥
सीधा-सादा मनई भेजे, दिल्ली जाय के रूठे।

वसुन्धरा में तुमसम को है, अद्भुत जगत अनूठे॥
छल कीन्हे भोले-भालन सों, करम हमारे फूटे।
अन्न, वस्त्र, घर, धन, मर्यादा, सबकुछ तुमने लूटे॥
पच्चिस-तीस साल योजना, आवे छाती कूटे।
हमकौ फाँस तौ ऐसी दीन्हीं, गला न एहिसे छूटे॥
पाँच साल तक श्रम से सींचे, रहे टूँठ के टूँठे।
बड़े गुरू बन बइठे, सब के कटवाये अँगूठे॥

9.

माधौ! असंसदीय मत बोलो।
भजन-कीर्तन जाप करौ जब, राम कहे मुँह खोलो॥
जुबाँ-कैसेरी फाँक के, सच बोले से पहिले तौलो।
जिसका देखौ पलड़ा भारी, उसी के बस तुम हो लो॥
कोरस के दिन बीते केशव, बैठ गाइये सोलो।
जहाँ भी खघतरा दीखै साथी, तुरत वहाँ से पोलो॥
पंक से पूरित हाथ तुम्हारे, गंगा जल से धो लो।
दुसह दुक्ख दक्षिण में देखे, मन हल्का हो, रो लो॥
एक छोड़ सब हैं प्रतिबंधित, कौन रंग को घोलो।
नक्सल समझे जैहौ माधव, मधुबन में मत डोलो॥

10.

ऊधौ! तुम तौ होइगै बागी।
देशप्रेम की मूल भावना, जबसे भीतर जागी॥
उधरै-उधर रहौ तुम ऊधौ, इधर लागि है आगी।
तड़तड़ की आवाजें जानो, पुलिस ने गोली दागी॥
सैन्सेक्स ऊपर को दौड़े, निफ्टी भागी-भागी।
आज द्वारकाधीश बने हैं, बचपन के बैरागी॥
हिरदय में संसार समाया, पुतरी रस से पागी।
लगभग लोल कपोल लालिमा, ललित लुनाई लागी॥
क्रोध से आँखियाँ लाल भयी हैं, या नैना अनुरागी।
देखकै दारुन दीन दशा तुम, स्याम सों कहेव अभागी॥

11.

ऊधौ फिर सत्ता से चूके।
बीती रुत बसन्त की बैसेहि, का कोइलिया कूके॥
कितने किस्से चमत्कार के, अपने साहेबजू के।
तुम्हरे दामन में भी लेकिन, छींटे बहुत लहू के॥
जब भी कोई घृणा से मुँह भर बादशाह पे थूके।
एकदम बगल से निकली गोली, बायाँ कन्धा छू के॥
झूमत-झामत गज के आगमन, गलीके कुकुर भूँके॥
है कबीर जो लिये लुकाठी, अब अपना घर फूँके॥

12.

ऊधौ रोज खिंचावैं फोटो।
कलयुग में कुछ करामात करि, कासी कर दें क्योटो॥
एक सै बढ़कर एक पनौती, कौन बड़ो को छोटो।
हिंसा, झूठ, फरेब, बकैती, यही तुम्हारा मोटो॥
लोकतन्त्र के मेला माँहीं मिलिहै सिक्को खोटो।
सिलबट्टे में भांग परी है, जाओ छानौ-घोटो॥
लूटपाट की लगन लगी है, चाहे जिधर बकोटो।
बार-बार तुम बदलौ कपड़े, हमको महज लँगोटो॥
थेथर भये फरक नहिं कौनो, अब पिरात नहिं चोटौ।
आखिर अपने आय अखारे, भुँइ में लोटो-पोटो॥

13.

ऊधौ तौ रहि गए फिसड्डी।
दुइ हजार की चिपवाली नोटन की पूरी गड्डी॥
टी.वी.पै एंकर समझाएन, काले धन की विदाई।
अब न पुरानी नोटें चलिहैं, मुद्रा बाहर आई॥
दही, छाँछ, लस्सी जीएसटी सहित होय गई भाई।
माखनचोर के मित्र हे ऊधौ, माखन में मँहगाई॥
पाजामे में कहाँ खुलापन, हवादार ज्यों चड्डी।
खो-खो में अभ्यास तुम्हारा, कूदे आज कबड्डी॥
बतकुच्चन से तितर-बितर भयीं, बातें बड्डी-बड्डी।
धर्म-ध्वजा धारण करने को धूल धूसरित हड्डी॥

14.

ऊधौ! देखे सब हथकंडे।
पापड़ बेले, चाय के ठेले, तले तेल में आलू-बंडे॥
नदी किनारे चौकी डारे, फिर जजमान निहारे पंडे।
सबके अपने-अपने दल हैं, दल के अपने-अपने झंडे॥
महाराज ने चले मूँड़े, दी ताबीजें बाँधे गंडे।
सब कुछ बेच-बाँच कै बड़ठे जम्बू द्वीपे भारतखंडे॥
राजभवन कर्तव्यभवन भा, भले खड़े बाहर मुस्टंडे।
नाम के बदले होत नहीं कछु वही लाठियाँ वइसे डंडे॥
केतनौ आपन खून उबालौ, लेकिन सारे मुद्दे ठंडे।
कौनौ कन्फ्यूजन नहिं उनकौ, क्लीयर उनके सारेफंडे॥
राष्ट्रवाद की चिड़िया निकली लउटी लैके बावन अंडे।
लिबरल लिबर-लिबरकर बड़ठे मीटिंगमें संडे के संडे॥

15.

ऊधौ! बूढ़ भई आजादी।

पूरे बरस पछत्तर बीते महँगी होइगै खादी॥
महादेश का निजीकरण है, है पूरी बरबादी।
ऊपर वाले बढ़त जात हैं, सवा अरब आबादी॥
इनकम दिनकम गिनत जात हैं बाबा हमरे, दादी।
हाई थिंकिंग के चक्कर मैं, जिनगी सीधी-सादी॥
सब होइ चुकेहैं धर्म और नफरतके बिल्कुल आदी।
जो लिंचिंग के बड़े समर्थक उनही की है चाँदी॥
लोकतंत्र में कहाँ के राजा, कहाँ की वे शहजादी।
ऊधौ! सब प्रतिरोध निरर्थक, ऐसी दशा बना दी॥

16.

ऊधौ! छुड़ न जाय कहूँ मटकी।
विद्यालय की बात विशारद, बात नहीं पनघट की॥
बालक हुइहै दलित तौ शिक्षक मारी औ पटकी।
अम्बेडकर औ पेरियार की रूह कहाँ तक भटकी॥
छुआछूत की परम्परागत रस्सी गले में लटकी।
भेदभाव की सूगर कोटेड पिल्स बचपने गटकी॥
महादेश के लोकतन्त्र मैं जिनकौ घटना खटकी।
उनहीं की देही पर प्यारे पुलिस की लाठी चटकी॥
स्वाभाविक परिणतिहै ऊधौ जातिधरम की रटकी।
सदियाँ बीतीं लेकिन बातें अब तक वहीं हैं अटकी॥

17.

ऊधौ! तुम्हें मोतियाबिन्द।
नंग-धडंग सरोवर उतरे, नाम धरे अरविन्द॥
रोजी-रोटी जाय रही कहि के बम्पर वैकेंन्सी।
कुछ न कहौ, चुपचाप रहौ, लागत है ईमरजेन्सी॥
तीन माह में जीएसटी का इतना बढ़ा कलेक्शन।
पूरे वित्त विभाग मैं जइसे यही दुधारू सेक्शन॥
भारत भर मैं भरन परे है, भारी भरकम टैक्स।
पेट धँसाहै भूख के मारे, कहत हौ छह-छह पैक्स॥
अपने दल मैं लै के आये, सिक्ख, राजभर, बिन्द॥
गोलबन्द जातिन्ह का कीन्हे, बोलत हैं जयहिन्द॥

18.

ऊधौ कापी जाँचि रहे।
घन्टा भर मैं सौ का बण्डल, निपटाएन औ नाचि रहे॥
जब तकहैं गोदाम मैं बण्डल, तब तक देहीं आँचि रहे।
थूक लगाए, पन्ना पलटे, लाल कलम का खाँचि रहे॥
कापी, ड्यूटी और प्रैक्टिकल, आमदनी के जरिया।

इन्है सँभारत बीत जाति है, उमर और नौकरिया॥
लौट रहे हैं लौकी थामे, चिन्ता मैं तरकरिया।
सब संकट हैं इनके जिम्मे, दें सरकार को गरिया॥
तीन तत्व मास्टरन के मानो, मूलतत्व तौ पाँच रहे।
जर्जर फटे पुराने पन्ने क्लास मैं जाय के बाँचि रहे॥

19.

ऊधौ एक से भये हजारे।
लोकपाल कौ लेवन निकले, चौकस चुप्पी मारे॥
भये भगीरथ भाग-दौड़ करि, सब पुरखनकौ तारे।
ब्रह्मा बन्दी कीन्ह कमण्डल, सिव सिर पर धारे॥
किरन कनक करि केजरि कायम रामदेव रखवारे।
सब सत्ता से भये संक्रमित, साधन साधे सारे॥
दैनन्दिन दिल्ली दहलाई, दिलकश दिल से हारे।
प्रेम परे पंजाब पधारे पंच पराजित प्यारे॥
बिस्वासी बिस्वास न कीन्हे, बिष के बान बिचारे।
महाराज कौ मान न माने, मनमोहन गए मारे॥

20.

ऊधौ बने रबर स्टैम्प।
अंधकार मैं बिरादरी का, अब दिखलैहैं लैम्प॥
केवल कृष्णको पहिचानेंगे, बोल के लिट्रिल चौम्प।
राजमहल से निकल छमासे, गांव मैं करिहैं कैम्प॥
संविधान की शपथ सरासर, देंहैं धरम दुहाई।
हमैं योग सहयोग बतावैं, सखियों आफत आई॥
एक पार्टी बने प्रवक्ता, नहिं औरन सुनवाई।
मरणासन्न हवै परे विपक्षी, भूलुंठित चतुराई॥
खलिहर रहैं, कृष्ण के भेजे भये हैं ई एजेंट।
टेम्परेरी समझावन आए, होइगे परमानेन्ट॥

21.

ऊधौ! शेर मँगाएन चीते।
बहुत समय से ऊब रहे थे, खून हमारा पीते॥
अच्छेदिन अबतक नहिंआये आठ बरस के बीते।
सबकुछ जुमला, झूठ निकरिगा जेहिके बूते जीते॥
उल्टी-सीधी बात बनावैं, भक्तन परे सुभीते।
लम्बी फेंकें, सबै विपक्षी नापें लै-लै फीते॥
ऊपर से तौ भरे-भरे हैं, भीतर रीते-रीते।
मीठे फल के लोभ में जनता, पाये कड़वे-तीते॥
खुदै दहाड़ैं, जब मिमियायें, वे आयातित चीते।
सबै पटाखे फुस्स निकरिगे, बातन लगे पलीते॥

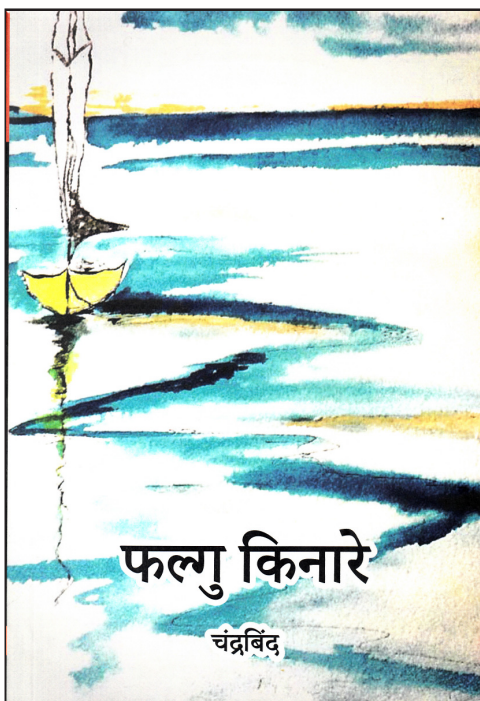
22.

ऊधौ! कइसी रही दिवाली?
सज-धज के औ घूम-घूम के तुम पिटवाए ताली॥
हम तौ अधियारे म बइठे, मावस रात है काली।
भरी-भरी आँखिन से देखित अपनी जेबें खाली॥
लोकतंत्र म बचौ न पावै कउनौ कहूँ सवाली॥
मारौ-पीटौ, जेल म डारौ, सीने ठोंक दुनाली॥
हम जनता हन, भीड़ बढ़ाई, हमहिं बजाई थाली॥
तुम तौ भाग्यबिधाता हमरे हिस्से तुम्हरी गाली॥
सत्ता में सब के सब समरथ, सब ससुरे भौकाली॥
चोर-उचक्के, रहजन-डाकू, गुण्डे और मवाली॥
लाख दीप जलवइया तुम, हम बुझतै तेल निकाली॥
तुमपै बायोपिक बन जइहै, हम घर देखी-भाली॥



फल्गु किनारे : होने और न होने का फर्क दिखाती कविताएँ

○ आनन्द बिहारी



प्रकाशक : बोधि प्रकाशन, जयपुर

मूल्य : 150 रुपए

‘फल्गु किनारे’ चंद्रबिंद जी का पहला काव्य-संग्रह है। इसमें कुल 47 कविताएँ हैं। विषय वस्तु की दृष्टि से इनमें विविधता भरपूर है। ऐसा प्रतीत होता है कि कवि अपने समय को विविध भावदशा में देख रहा है। इसलिए वह कभी अभाव की दृष्टि अपनाता है तो कभी प्रभाव की। कहा जा सकता है कि चंद्रबिंद की कविताएँ दृष्टि-भेद से जन्म लेती हैं। इसलिए इनकी कविताएँ कुछ होने और न होने का फर्क दिखाती हुई प्रतीत होती हैं। संग्रह की पहली कविता है, ‘लड़कियाँ’। यह कविता आधुनिक लड़की की साहसिक तस्वीर को लेकर उपस्थित होती है। आधुनिक लड़कियाँ नवीन चेतना से लैस हो चुकी हैं। इसलिए वे किसी के सहारे की मोहताज नहीं हैं। वे अपना रास्ता तलाश चुकी हैं। खास बात यह भी कि वे उसपर अकेले चलना भी सीख चुकी हैं। अतः वे अब इंतजार नहीं करती-

विवाह के शुभ मुहूर्त का

वे जानती हैं...

पति परमेश्वर नहीं

गृहस्थी का एक पहिया है

जिसे पंचर होने पर बदला जा सकता है।

आधुनिक लड़कियों की सबसे बड़ी उपलब्धि उनकी चेतना है। इस चेतना ने उन्हें इतिहास बोध की शक्ति दी है। इसलिए इन्हें भ्रमित नहीं किया जा सकता। जब भी कोई पेचीदा सवाल आता है, ये उसकी जड़ें तलाश लेती हैं। इन्हें शब्दों की छोर पकड़कर इतिहास के गहर में प्रवेश करना आ गया है। इसलिए ये आराम से चली जाती हैं, अतीत में....

और फिर लौट आती हैं / वर्तमान में / पहले से ज्यादा सशक्त और स्थितप्रज्ञ होकर

और / उड़ जाती हैं / उन्मुक्त गगन में / पहले छोर को पकड़कर।

ये उन लड़कियों की स्थिति है, जो चेतना संपन्न हैं और जिनके पास आधुनिक शिक्षा की शक्ति है। शिक्षित

और चेतनशील होने के कारण लड़कियों के जीवन में जो फर्क आया है, उसे यहाँ देखा जा सकता है। दूसरी तरफ ऐसी लड़कियाँ भी हैं, जो मुक्ति का सपना देखती हैं पर उनके पास शिक्षा की शक्ति और नवीन चेतना का अभाव है। इन चीजों के न होने के कारण उनकी जो स्थिति है, उसे 'खाप की लड़कियाँ' नामक कविता में बयाँ किया गया है-

भागी हुई लड़कियाँ... / अक्सर / पकड़ी नहीं जातीं / पायी जाती हैं...

नदियों, तालाबों या कुएँ में / या फिर / लटकती हुई एक जर्जर सफ़ेद फंदे से / किसी खाप के टूँठ पर।

लड़कियाँ मुक्तिकामी हैं। पर, मुक्ति सबको नहीं मिलती। उसके लिए आधुनिक शिक्षा और नवीन चेतना की आवश्यकता है। इसके होने पर मुक्ति है और न होने पर त्रासदी। चंद्रबिंद की कविताएँ इस बात को उपदेशात्मक तरीके से व्यक्त नहीं करतीं, अपितु घटनाओं के माध्यम से दिखाती हैं।

चंद्रबिंद एक द्रष्टा कवि हैं। वे अपने समय को विवेकशील आँखों से देख रहे हैं। वे वैश्विक विकास की गति भी नाप रहे हैं। विकास की गति इतनी तेज है कि मनुष्य आगे बढ़ता जा रहा है प्रकृति पीछे छूटती चली जा रही है। इसी क्रम में एक ऐसी दुनिया बन रही है, जहाँ जमीन है पेड़ नहीं हैं, नदी है पानी नहीं है, आसमान है बादल नहीं हैं, रिश्ते हैं प्रेम नहीं है। इसी होने और न होने के फर्क को रेखांकित करती चंद्रबिंद की कविताएँ हमें प्रेम की दुनिया में प्रवेश के लिए अमंत्रण भी देती हैं। और कोई रास्ता भी नहीं है। मनुष्यता बीमार है। उसे जाति और संप्रदाय नामक वायरस ने संक्रमित कर दिया है। उसकी मृत्यु कभी भी हो सकती है। उसे जीवित रखने के लिए एक वैक्सीन की जरूरत है। कवि वह वैक्सीन बनाना चाहता है। वह कहता है,

मैं बनाना चाहता हूँ

एक वैक्सीन

खून और पसीने से,

प्रेम को मिलाकर।

मैं करना चाहता हूँ

उसका परीक्षण

उन दिमागों के ऊपर

जिनके संक्रमित हो चुके हैं

दो तिहाई से अधिक हिस्से।

यद्यपि उन्हें माफ कर दिया है

राहित वेमुला के अपार स्नेह ने

अपनी यात्रा के अंतिम ख़त में।

मैं लेना चाहता हूँ

उसके इस्तेमाल की

आपातकालीन अनुमति,

मानव मस्तिष्क में विद्यमान

उन कोशिकाओं और प्रोटीन को

जिनसे निकलती और पनपती हैं

जाति और संप्रदाय की विषैली लताएँ

चंद्रबिंद की कविताओं का मुख्य स्वर प्रेम है। उनकी प्रेम कविताएँ स्त्री के प्रति होने वाले अत्याचार के विरुद्ध

प्रतिरोध रचती हैं। इस संदर्भ में कवि आलोक धन्वा की टिप्पणी है कि “प्रेम की जरूरत और प्रेम के अनुभव दोनों में कोई मेल नहीं है। एक ऐसी ही दुनिया आज सामने आई है। फिर भी प्रेम करने वाले प्रेम करेंगे। प्रेम कविताएँ, जो हमारे युवा कवि चंद्रबिंद अधिक लिख रहे हैं; उसके पीछे एक ऐसा समाज है जहाँ यौन हिंसा की बर्बर एवं मध्ययुगीन घटनाएँ घट रही हैं। ऐसे में इनकी प्रेम कविताएँ यौन हिंसा के विरुद्ध खड़ी हो रही हैं।” यह यौन हिंसा बहुस्तरीय है। पिछले बीस वर्षों में इसका एक भयानक रूप देखने को मिला है। एक आंकड़े के अनुसार गर्भ में और जन्म लेने के बाद 1 करोड़ से ज्यादा बच्चियों की हत्या की गई है। खास बात यह कि यह आँकड़ा बढ़ते दर से लगातार बढ़ रहा है। इस प्रत्यक्ष हत्या में परिजनों की भूमिका तो होती है लोकतांत्रिक संस्थाएँ भी सहयोग करती हैं। जो लड़कियाँ गर्भ से बाहर आकर बच जाती हैं, वे जैसे जैसे बड़ी होती जाती हैं उन्हें उम्र के हर पड़ाव पर एक मर्द मिलता है। वह मर्द प्रेम का अर्थ नहीं जानता। प्रेम तलाशती हुई लड़की को भी नहीं पहचानता। ऐसे में हमारे समाज की प्रत्येक लड़की कहीं न कहीं किसी न किसी रूप में यौन प्रताड़ना का शिकार होती है। शायद ही कोई लड़की होगी जो जिसने अपने जेहन में यौन हिंसा का सदमा न छिपा रखा हो। इस बात को ‘एक लड़की की डायरी से’ नामक कविता में बड़े सशक्त बिंबों के जरिए दिखाया गया है। एक बिंब देखिए—

‘पर...’

हर बार

मुझे मिला

बस ‘एक पुरुष’

जो ज़िद पर अड़ा था

और ‘प्यार’

उसके सामने घुटनों के बल खड़ा था।

चंद्रबिंद की कविताओं में ऐसी पंक्तियों की बहुतायत है, जहाँ शब्द बड़ी सादगी के साथ गंभीर अर्थ को स्पर्श करते हैं। आमतौर पर ये साधारण और प्रचलित शब्दों में बिंब का निर्माण करते हैं, पर जहाँ कहीं इन्होंने मिथकीय बिंबों को रचने का प्रयास किया है वहाँ इनके शब्द साधारण नहीं रह जाते। उनमें एक बाँकपन आ जाता है और उसके अभीष्ट तक अर्थ पहुँचने के लिए शास्त्रीय ज्ञान की आवश्यकता पड़ जाती है।

‘फल्गु किनारे’ नामक संकलन की कविताएँ वर्तमान जीवन (शहरी जीवन) की विसंगतियों से साक्षात्कार करवाती हैं। शहरी जीवन स्वस्थ नहीं रह गया है। विकास की विनाशलीला ने एक घुटन भरी दुनिया रच डाली है। भूख का साम्राज्य अत्यंत विस्तृत हो चुका है। विस्तार पाती भूख की दुनिया में प्रकृति सिकुड़ती जा रही है। यह प्रकृति केवल पर्यावरणिक नहीं है, संवेदनात्मक भी है। इस सिकुड़ाव के कारण हर रिश्ते से प्रेम की शीतलता क्षयित हो चुकी है। रिश्तों की सूक्ष्मता समाप्तप्राय है, उसका वजूद प्रायः स्थूल चीजों के सहारे कायम है। ऐसे में चारों तरफ प्रतिस्पर्धा, भूख, हवस, यौन हिंसा, भ्रष्टाचार, मूढ़ता आदि का वर्चस्व दिखाई पड़ रहा है। इन चीजों का होना इतना ज्यादा है कि जो चीजें नहीं हैं उनकी याद सताती है। माँ याद आती है, पिता याद आते हैं, नदियों के पानी की मिठास याद आती है, पृथ्वी का हरा भरा यौवन याद आता है और याद आती है फल्गु नदी, जिसका किनारा आज मृतकों के तर्पण का केन्द्र मात्र है। आज हम आधुनिक सभ्यता के दौर में हैं, हमने बहुत कुछ पाया है और उसी अनुपात में बहुत कुछ खोया भी है। हमें देखना होगा कि हमारे पास जो है, और जो नहीं है उसमें क्या फर्क है? ‘फल्गु किनारे’ काव्य संग्रह में चंद्रबिंद जी इसी फर्क को दिखाने का प्रयास करते हैं। हमें समझना होगा कि विकास की दौड़ में हम जो पा रहे हैं उसकी कीमत खोते जा रहे चीजों की अपेक्षा बहुत कम है। पृथ्वी, पर्यावरण, मनुष्य और मानवीय रिश्तों के उत्तम स्वास्थ्य में ही प्रेम की कल्पना की जा सकती है। और, प्रेम नहीं तो कुछ भी नहीं...!

लेखकीय सहयोग :

1. संतोष पटेल : नई दिल्ली, मो. 9868152874
2. प्रमोद मीणा : प्राध्यापक, हिंदी विभाग, भाषा एवं सामाजिक विज्ञान संकाय, तेजपुर विश्वविद्यालय, तेजपुर, पिन : 784028; मो. 7320920958.
3. पंकज चौधरी : 348/4 (दूसरी मंजिल), गोविंदपुरी, कालकाजी, नई दिल्ली, पिन : 110019; मो. 9910744984.
4. अमिष वर्मा : असिस्टेंट प्रोफेसर, हिंदी विभाग, मिर्जोरम विश्वविद्यालय, आइज़ोल, मिर्जोरम; मो. 9436334432
5. राजेन्द्र प्रसाद सिंह : प्राध्यापक, हिंदी विभाग, शांति प्रसाद जैन महाविद्यालय, सासाराम (बिहार)
6. चंद्रकांत सिंह : सहायक प्राध्यापक, हिंदी विभाग, हिमाचल प्रदेश केन्द्रीय विश्वविद्यालय, धर्मशाला, धौलाधार परिसर-1, धर्मशाला, जिला : काँगड़ा, हि.प्र. 176215; मो. 9805792455
7. अनीता कुमारी : प्राध्यापक एवं अध्यक्ष, संस्कृत विभाग, राजकीय महिला स्नातकोत्तर महाविद्यालय, गाजीपुर।
8. संगीता मौर्य : असिस्टेंट प्रोफेसर, हिंदी, राजकीय महिला स्नातकोत्तर महाविद्यालय, गाजीपुर, उत्तर प्रदेश।
9. नीरज कुमार मिश्र : नीरज कुमार मिश्र, मो. 9968323683
10. उज्ज्वल आलोक : सहायक प्राध्यापक, विश्वविद्यालय हिंदी विभाग, बी.आर.ए. बिहार विश्वविद्यालय, मुजफ्फरपुर, बिहार।
11. मुनिल कुमार वर्मा : सहायक प्राध्यापक, हिंदी, महंथ केशव संस्कृत कॉलेज, फतुहा, पटना; मो. 8527117771.
12. मोहन कुमार : शोधप्रज्ञ, हिंदी विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी; मो. 7839045007
13. अनिल कुमार अनिवार्य : शोधप्रज्ञ, स्नातकोत्तर हिंदी विभाग, वीर कुंवर सिंह विश्वविद्यालय, आरा; मो. 9431840994.
14. अनामिका शिल्पी : शोधप्रज्ञ, हिंदी विभाग, पटना विश्वविद्यालय, पटना; मो. 8210086679.
15. शंभुनाथ मिश्र : सहायक आचार्य, हिंदी विभाग, तेजपुर विश्वविद्यालय, तेजपुर (असम)
16. धनजी प्रसाद : सहायक प्राध्यापक, भाषा प्रौद्योगिकी, म.गां.अ.हि.वि., वर्धा; मो. 9579172191.
17. शशिकला : एसोसिएट प्रोफेसर, हिंदी विभाग, वसंत कन्या महाविद्यालय, कमच्छा, वाराणसी।
18. रंजना सिंह : चंद्रशेखर नगर, पल्हनी, आजमगढ़, पिन : 276001; मो. 8317020918
19. रेखा यादव : शोधप्रज्ञ, हिंदी विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली।
20. प्रीति सिंह : शोधप्रज्ञ, आसनसोल, पश्चिम बंगाल; मो. 9563030374
21. सोनी साव : अध्यापिका, हिंदी विभाग, पंचकोट महाविद्यालय, सरबडी, पुरलिया; मो. 9933551309

22. दिवाकर दिव्यांशु : असिस्टेंट प्रोफेसर, हिंदी, राजकीय पुरुष महाविद्यालय, कर्नूल, आंध्रप्रदेश; मो. 9441376548
23. विकास सूर्यकांत वाघमारे : शोधप्रज्ञ, हिंदी विभाग, डॉ. बाबा साहेब आंबेडकर मराठवाड़ा विश्वविद्यालय, औरंगाबाद, महाराष्ट्र, पिन : 431004; मो. 9518325363
24. सुचिता वर्मा : 1-20, सन्धिनी, त्रिदेव कॉलोनी, चाँदपुर, वाराणसी; मो. 9450536274
25. आशुतोष पार्थेश्वर : सह आचार्य, हिंदी विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, प्रयागराज; मो. 9934260232
26. अभिषेक कुमार यादव : असिस्टेंट प्रोफेसर, हिंदी विभाग, राजीव गाँधी विश्वविद्यालय, रोना हिल्स, दोईमुख, अरुणाचल प्रदेश; मो. 8132807991.
27. एस.तरंगिणी : साहित्यकार, श्री रामभवन, कुंवर सिंह नगर, जनता रोड, पटना-1.
28. एजाजुल हक : शोधप्रज्ञ, भारतीय भाषा केन्द्र, जवाहरलाल विश्वविद्यालय, नई दिल्ली।
29. उर्वशी कुमारी : शोधप्रज्ञ, हिंदी विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली; मो. 8130975591
30. शिलाची कुमारी : शोधप्रज्ञ, हिंदी विभाग, झारखंड केन्द्रीय विश्वविद्यालय, राँची।
31. पूनम : शोधप्रज्ञ, हिंदी विभाग, लवली प्रोफेशनल यूनिर्सिटी, फगवाड़ा, (पंजाब)
32. नीरज कुमार : सहायक प्राध्यापक, हिंदी विभाग, कु. मायावती राजकीय महिला स्नातकोत्तर महाविद्यालय, बादलपुर, गौतमबुद्ध नगर, उ.प्र.।
33. अजीत प्रताप सिंह : असिस्टेंट प्रोफेसर, इतिहास, मध्यकालीन एवं आधुनिक इतिहास विभाग, रमाबाई राजकीय महिला महाविद्यालय, अकबरपुर, अंबेडकरनगर, उ.प्र.; मो. 9616397075.
34. स्वर्णिम घोष : प्राध्यापक, अर्थशास्त्र विभाग, राजकीय महाविद्यालय, जमिखन, वाराणसी।
35. उरुज फात्मा : शोधप्रज्ञ, भूगोल विभाग, वीर बहादुर सिंह विश्वविद्यालय, जौनपुर
36. आर.के. मौर्य : प्राध्यापक, समाजशास्त्र विभाग, केशव प्रसाद मिश्र राजकीय महिला स्नातकोत्तर महाविद्यालय, औराही, भदोही।
37. शाजिया परवीन : असिस्टेंट प्रोफेसर, मनोविज्ञान विभाग, डॉ. एल.के.बी.डी. कॉलेज, ताजपुर, समस्तीपुर।
38. सदफ अरशी : एम.एड., एस.एक्स.सी.ई., पटना; मो. 7564051295
39. विवेक निराला : प्रयागराज, मो. 9415289529





सत्राची फाउंडेशन, पटना
शोध, शिक्षा एवं प्रकाशन की समाजसेवी संस्था

यह संस्था -

- साहित्यिक सम्मान देती है।
- शोध पत्रिकाएँ प्रकाशित करती है।
- पुस्तकें प्रकाशित करती है।
- सेमिनार आयोजित करती है।
- राजभाषा/राष्ट्रभाषा सेवियों को प्रोत्साहित करती है।
- शोधकर्ताओं को स्तरीय शोध के लिए प्रोत्साहित करती है।
- नेट/जे.आर.एफ. के अभ्यर्थियों को निशुल्क मार्गदर्शन देती है।
- हिन्दी साहित्य के शिक्षार्थियों को प्रतियोगी परीक्षाओं के लिए तैयार करती है।